ALOCHANA JULY-SEP 1968 G.K.U.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079550

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

Stock Verification-2[illegible]

Stock Verification-2[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

त्रैमासिक

आलोचना

सम्पादक : नामवर सिंह

079550

079550

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, ह...

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

सम्पादकीय ३

संवाद : कविता और राजनीति ८

अशोक वाजपेयी ९

श्रीकांत वर्मा १४

नेमिचन्द्र जैन १८

रघुवीरसहाय २४

कृष्णनारायण कक्कड़ २५

अज्ञेय २६

संवाद-पूरक

आवश्यक निर्णय — पीटर वाइस २७

तानाशाही के विरुद्ध : एक वक्तव्य — रघुवीरसहाय ३१

विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर (कविता) — गजानन माधव मुक्तिबोध ३३

मुक्तिबोध के पत्र — नेमिचन्द्र जैन ३६

मुक्तिबोध : एक संस्मरण — हरिशंकर परसाई ५०

मुक्तिबोध की सार्थकता — श्रीकांत वर्मा ५६

कहानीकार मुक्तिबोध : कौन मनु ? — अन्न्येश्का सोनी ६०

'अँधेरे में' तथा मुक्तिबोध की अन्य कविताएँ —एक अन्तस्सूत्र — विष्णु खरे ६७

मुक्तिबोध और अज्ञेय के काव्य-बिम्ब — रणजीत और रशाद अब्दुल वाजिद ७२

इस व्यवस्था में (कविता) — लीलाधर जगूड़ी ८२

आज की कविता का व्याकरण : कुछ संकेत सूत्र — काशीनाथ सिंह ९२

विरोध की वास्तविकता और विद्रोह की कविता — विष्णुचन्द्र शर्मा १००

अच्छे गद्य की पहचान — रामविलास शर्मा १०५

देखो न हक़ीक़त हमारे समय की (कविता) — विश्वनाथ त्रिपाठी ११४

कलात्मक प्रतिज्ञा — दि० के० बेडेकर ११५

स्वतन्त्रता का स्वरूप — यशदेव शल्य ११८

जिन्दगी के शिखरों से (कविता) — ऑस्तिला योज़ेफ़ १२३

● मूल्यांकन

रंगदर्शन : एक विवेचन — वीरेन्द्रनारायण १२६

कामायनी और आधुनिक समीक्षा-दृष्टि — जगदीश शर्मा १२९

● विनिमय

साहित्यिक कलाकृति का स्थान निर्धारण — लोठार लुट्से १३३

लेखकों द्वारा बलात्कार — यशदेव शल्य १३५

एक गुमराह बोध की दुर्भाग्यपूर्ण दिशा — रमेश कुंतल मेघ १३७

वर्ष १८ : नवांक ६, जुलाई-सितम्बर १९६८, मूल्य ३.०० वार्षिक १२.००
रजिस्ट्री से १४.८० विदेशों में १६.००
शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी/८/एस ई–/लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८
दिनांक २०-१-६८ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध
को

इक्यावनवीं
जन्म-तिथि
पर

CHECKED 1973

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

वर्ष : १८
नवांक : ६

जुलाई-सितम्बर '६८

सम्पादक
नामवर सिंह

प्रबन्ध सम्पादक
शीला सन्धू

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
८, फैज बाज़ार, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज एक दूसरे ही प्रकार का कवि-चरित्र चाहिए ! वह नहीं कि जो निरा कार्यकर्त्ता है, अथवा केवल चारण है; वह भी नहीं जो आरामकुर्सी-पसंद बुद्धिजीवी हो, वह भी नहीं जो किसी सम्पन्न उच्च-मध्यवर्गीय परिवार में उत्पन्न चित्रकार है, जो चित्रकला के लिए दुनिया-भर में अपनी प्रदर्शनियाँ आयोजित करता रहता है। आज ऐसे कवि-चरित्र की आवश्यकता है, जो मानवीय वास्तविकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे, उनके संचित जीवन-विवेक को स्वयं ग्रहण करे तथा उसे और अधिक निखारकर कलात्मक रूप में उन्हीं की चीज़ को उन्हें लौटा दे। सामान्य जनों की अपार आध्यात्मिक और बौद्धिक क्षमता में यदि हमारा विश्वास है, हमारी आस्था है तो हम अपने ही पिता के सच्चे पुत्र होंगे। अपने युग की विवेक-चेतना को मूर्तिमान करने का यह कार्य जितना गम्भीर और कठिन है, उतना ही प्रेरणाप्रद है, क्योंकि उससे तो हम अपने ही जीवन के मूल उत्सों के अमृत-रस का पान करेंगे और अपनी सृजनशील अनुभूति और कल्पना द्वारा उस जीवन की साहित्यिक कलात्मक पुनर्रचना करेंगे कि जो जीवन अपने सारे आलोक में हमें इतना प्रिय है। कवि-चरित्र के विकास का हमारा यह संघर्ष, युग की विवेक-चेतना बनने का हमारा यह मौन-प्रयास अपने-आपमें आध्यात्मिक महत्त्व रखता है।

—गजानन माधव मुक्तिबोध : **नयी कविता का आत्मसंघर्ष**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय

"हमने यह मान लिया है कि कविता और राजनीति के बीच बुनियादी विभाजन है। समस्या यह नहीं है कि दोनों छोर कभी मिल नहीं सकते बल्कि यह कि यदि वे मिल सकते हैं तो बड़ी कीमत पर। राजनीति की अस्पष्ट वक्तृतावादी और जड़ फ़िकरों वाली भाषा के साथ कविता की जटिलता, तनाव और यथातथ्यता का कोई मेल नहीं है। एव्तुशेंको के ख़िलाफ़, अधिकांश मायकोव्सकी के ख़िलाफ़, ऑडेन के 'स्पेन' के ख़िलाफ़ और युवा स्पेंडर के नगण्य मार्क्सवाद के ख़िलाफ़ यही तर्क दिया जाता है। इसकी परिणति इस विश्वास में होती है कि राजनीतिक कविता, कविता के रूप में, अपेक्षया ही नहीं बल्कि अशक्यतया सपाट होती है। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि ऐसी कविता कभी-कभी प्रभावशाली तो हो सकती है, किन्तु अन्ततः 'अच्छी' नहीं हो सकती; क्योंकि हमारा अच्छाई का प्रतिमान जितने आन्तरिक और सूक्ष्म विवेक वाले गुणों से निर्मित है उतने की गुंजाइश राजनीति नहीं छोड़ती।" ये शब्द अंग्रेज़ी के युवा आलोचक ए० अलवारेज़ ने पश्चिमी यूरोप के लिए कहे हैं, किन्तु यह मान्यता हिन्दी में भी इतनी ही प्रबल है। इस मान्यता के चौखटे के अन्दर कभी-कभी कुछ अपवाद भी स्वीकार कर लिए जाते हैं; जैसे अलवारेज़ के अनुसार युवा पोलिश कवि हर्बर्ट एक अपवाद है, क्योंकि वह पूरी तरह राजनीतिक होने के साथ ही प्रयोगशील 'अवाँ गार्द' भी है। कविता में इस अपवाद को मान्यता इसलिए दी गई है कि वह रूढ अर्थ में राजनीतिक नहीं है। राजनीति यहाँ भी है लेकिन यह विरोध की राजनीति है। विरोध भी सामान्य नहीं बल्कि स्थायी और निजी अर्थात् अकेले एक की पार्टी का विरोध। अलवारेज़ के अनुसार पश्चिम के सभी श्रेष्ठ कवि आज यही कर रहे हैं अर्थात् वे विरोध की राजनीति के लिए प्रतिश्रुत हैं, जिसे राजनीति-विरोध भी कह सकते हैं। इस प्रकार कविता के अपवाद राजनीति में भी अपवाद हैं और अपवाद बने रहकर नियम को पुष्ट कर रहे हैं।

हिन्दी में भी पिछले पाँच-छः वर्षों के अन्दर राजनीति के प्रति यही रुझान प्रकट हुआ है, जिसे राजकमल चौधरी ने परम्परागत 'राजनीति की कविता' के विरुद्ध 'कविता की राजनीति' की संज्ञा दी थी और केदारनाथ सिंह ने 'प्रतिपक्ष का साहित्य' कहा है जो निश्चय ही राजनीतिक प्रतिपक्ष अर्थात् प्रतिपक्षी राजनीतिक दलों से अलग है। आम राय है कि कविता इससे पहले राजनीतिक सन्दर्भ के इतना अधिक निकट कभी नहीं आई थी। कहा जा रहा है कि "राजनीति-पिछलगू न होकर सामाजिक सन्दर्भ में औसत आदमी को घटाने-तोड़ने-बाँधने वाली मर्यादाओं-मूल्यों से लड़ाई इसी पीढ़ी ने ली।" यह भी कहा गया है कि "कविता को सीधे समाज से जोड़ने वाले मुहावरे की अनायास ईजाद अब हुई है।" इसी प्रसंग में कुछ-एक कवियों को इस बात का भी श्रेय दिया गया कि उन्होंने राजनीति के चालू शब्दों और मुहावरों में निहित कविता को मुक्ति देकर "हिन्दी में सामाजिक-राजनीतिक काव्य को फिर से—बल्कि सचमुच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब जाकर—सम्भव बनाया है।" यह सब इसलिए सम्भव हुआ कि इन कवियों में कविता के लिए राजनीति से किसी कदर कम चिन्ता नहीं है—बल्कि कविता की चिन्ता कुछ अधिक ही है। रघुवीर सहाय ने लिखा है कि "राजनीति की ओर मेरा वही रवैया है—संकटकालीन रवैया कह लीजिए—कि 'वह बहुत ज़रूरी है' या 'वह फ़िज़ूल है' दोनों फ़तवे संकट से भागने के बहाने हैं—वह बहुत ज़रूरी है, पर मैं भी अपने लिए बहुत ज़रूरी हूँ—अपनी उस कला-परम्परा के लिए जिसमें मैं अपनी एक मूर्ति बनाता और एक ढहाता हूँ और आप कहते हैं कि कविता की है।" कविता के बारे में ऐसी ही अतिरिक्त चिन्ता श्रीकान्त वर्मा की उन पंक्तियों में कुछ 'काव्यात्मक' ढंग से व्यक्त हुई है जहाँ वे कहते हैं कि "मूर्खो! देश को खोकर ही/मैंने प्राप्त की थी/यह कविता/जो किसी की भी हो सकती है।" पिछली पीढ़ी के हाथों कविता की मृत्यु से क्षुब्ध होकर ही राजकमल चौधरी ने लिखा था कि "हम भी कविता को एक ताकत मानते हैं, जो आदमी के बाहर को सही, आदमी के अन्दर को मज़बूत और स्वाधीन करती है···और यह ताकत ही कविता की राजनीति है।" इस प्रकार आदमी के बाहर को सही और अन्दर को मज़बूत तथा स्वाधीन करने के लिए इन क़वियों ने 'कविता की राजनीति' को अपनाया तो इसलिए कि उन्हें अपने इस प्रयास में राजनीतिक क्षेत्रों से किसी प्रकार की मदद की उम्मीद न दिखाई पड़ी : शासक दल से तो ख़ैर कोई उम्मीद थी ही नहीं, प्रतिपक्ष के राजनीतिक दलों ने भी इन कवियों को बहुत-कुछ निराश ही किया; यही नहीं बल्कि जनता भी एक 'मुश्किल' ही मालूम हुई "जिस पर कि मेरा क्रोध बार-बार न्योछावर होता है।" निस्सन्देह यह 'संकटकालीन रवैया' है और यह भी सही है कि कविता को संकट से मुक्ति दिलाने में यह रवैया उपयोगी प्रमाणित हुआ।

किन्तु इधर उन्हीं कवियों की रचनात्मक स्थिति को देखकर ऐसा लगता है कि कविता फिर एक संकट-बिन्दु पर पहुँच गई है। इस दशक के साथ तथाकथित राजनीतिक कविताओं का—जिनमें राजनीति-विरोधी कविताएँ भी शामिल हैं—जो दौर शुरू हुआ था उसमें अब एक तरह का ठहराव आ गया है : ठहराव कहीं आवृत्ति के रूप में है तो कहीं मौन के रूप में। इस संकट से उबरने और ठहराव को तोड़ने के लिए इस दौर की असंगतियों की ओर ध्यान जाना अस्वाभाविक नहीं और इस प्रक्रिया में जिस राजनीतिक रुझान ने कविता को थोड़ी देर के लिए जीवंत बनाया था उसकी पड़ताल अप्रासंगिक न होगी।

सबसे पहले उन तथाकथित राजनीतिक कविताओं को लें जिनमें कविता को जीवन्त और मूर्तिमान करने के लिए समकालीन राजनाति के ठोस व्यक्तियों, शहरों, देशों, घटनाओं आदि का खुलकर उपयोग किया गया। उल्लेखनीय है कि इस प्रकार की कविताएँ कालक्रम से प्रायः लम्बी होती जा रही हैं और अब ये अन्तहीन विस्तार में पहुँचकर इस प्रकार हतप्रभ हो गई हैं कि किसी एक बिन्दु पर कविता को समाप्त करने के लिए कोई युक्ति नहीं मिल रही है। मुद्राराक्षस ने इन कविताओं की तुलना संविद सरकारों के 'न्यूनतम कार्यक्रम' से करते हुए इनमें निहित 'सुधारवादी' दृष्टि की ओर संकेत किया है। निस्सन्देह इनका आधार 'विरोध की राजनीति' है किन्तु इसका लक्ष्य सतही बदल से अधिक नहीं है। आकस्मिक नहीं कि इन कविताओं का ढाँचा भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सतही बदल से अधिक का आभास नहीं देता। एक ग़लत या सीमित राजनीतिक रुझान कविता की आन्तरिक संरचना के लिए किस हद तक नियामक होता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ये तथाकथित राजनीतिक कविताएँ हैं। विडम्बना यह कि ये कविताएँ राजनीति का उपयोग करते हुए भी राजनीति का विरोध करती जाती हैं। इस प्रकार विरोध की राजनीति, राजनीति के विरोध की मंज़िल तय कर कविता के विरोध पर दम तोड़ने के लिए अभिशप्त है। राजकमल चौधरी के 'मुक्ति प्रसंग' की आलोचना करते हुए सुरेन्द्र चौधरी ने ठीक कहा है कि "व्यवस्था के प्रश्न से लड़ाई राजकमल की भी थी, मगर एक व्यवस्था से लड़ता हुआ वह पूरी व्यवस्था के प्रश्न को ही नकारता चला गया। इसलिए व्यवस्था से लड़ता हुआ वह जितना ही जीवन्त और तीखा मालूम पड़ता था, व्यवस्था के प्रश्न को नकारता हुआ वह उतना ही अराजक और नाटकीय हो जाया करता था। 'मुक्ति प्रसंग' इसी अराजकता का शिकार हो गया। 'मुक्ति प्रसंग' में यह अराजकता न केवल कथ्य के स्तर पर है, बल्कि पूरे रचनात्मक प्रयत्न में उसे लक्षित किया जा सकता है।" क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि निर्विकल्प विरोध की राजनीति जिस तरह राजनीतिक जीवन में अराजकता को जन्म देती है उसी प्रकार कविता की बनावट को भी अराजकतापूर्ण बना देती है?

दूसरी ओर वे कविताएँ है जिन्हें कथ्य से लेकर संरचना तक राजनीति-विरोधी कहा जा सकता है। इनमें न तो स्थूल राजनीतिक घटनाओं, समस्याओं, व्यक्तियों, स्थानों आदि का उपयोग होता है और न ये स्पष्टतः राजनीति से कहीं टकराती ही हैं। जैसा कि श्रीकान्त वर्मा ने कहा है, ये विरोध की भी कविताएँ नहीं हैं, बल्कि इनमें 'गहरा आत्मसाक्षात्कार' होता है। यह उस 'संकट' की कविता है 'जिसके आगे मनुष्य अपने को गूँगा और अर्थहीन पाता है।' स्पष्ट है कि इस प्रकार की कविताएँ सतही बदल के स्थान पर आमूल बदल की कायल हैं—कथ्य में भी और कविता की संरचना में भी। स्वभावतः व्यावहारिक राजनीति से इस काव्यात्मक 'विज़न' का मेल बैठना असम्भव है। इसलिए यदि ये कविताएँ एक ओर से सभी राजनीतिक दलों और विचारधाराओं को अपने रास्ते से बुहारकर अलग कर देती हैं तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। किन्तु जैसा कि मुद्राराक्षस ने कहा है, इस मनःस्थिति के मूल में 'आतंकवाद' है जो राजनीति की तरह कविता में भी 'विस्फोट' के द्वारा आमूल बदल की कोशिश करता है; और कहना न होगा कि राजनीति की तरह कविता में भी इस आतंकवाद की परिणति आत्महत्या अथवा आत्महत्याधर्मी कार्रवाइयों में होती है। कविता में 'यौन-मर्यादा के निर्मम भ्रंश का आतंकवादी प्रयत्न' इसी रुझान की एक शाखा है। कविता के सामान्य तन्त्र को सिरे से तोड़कर प्रयोगशीलता के चरम-बिन्दुओं तक पहुँचने के प्रयास इसी आतंकवादी रुझान से उत्पन्न होते हैं; और आकस्मिक नहीं कि यौन-तन्त्र और काव्य-तन्त्र दोनों क्षेत्रों में भ्रंश के आतंकवादी प्रयास प्रायः एक ही स्थल पर साथ-साथ दिखाई पड़ते हैं। स्पष्टतः इस रुझान में एक प्रकार का अधीरतापूर्ण निरंकुश आदर्शवाद है। निस्सन्देह यह राजनीतिक दृष्टि नहीं बल्कि अतिनैतिक दृष्टि है। यह दृष्टि कविता के आमूल परिवर्तन में पूर्णतः सक्षम है। 'दादावाद' और 'सुररियलिज़्म' इसी दृष्टि की उपज थे; किन्तु उन काव्य-आन्दोलनों की परिणतियाँ इस आतंकवादी दृष्टि की सीमा भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाणित करती हैं। हिन्दी में यह आतंकवाद शुरू से ही अपने सीमित रूप में प्रकट हुआ किन्तु अब उसकी सम्भावनाएँ भी समाप्तप्राय दीख रही हैं। कविता पर ग़लत राजनीति के घातक प्रभाव का यह दूसरा उदाहरण है।

दरअसल विरोध की राजनीति का भी क्रमशः एक अपना 'रेटरिक' बन जाता है—फिर यह विरोध चाहे जितना 'निजी' हो; और नहीं तो अपनी ही आवृत्ति होने लगती है। यदि यह विरोध 'स्थायी' हुआ तो कविता में उसकी मुद्रा भी स्थायी हो जाती है, जिसे स्वीकार की स्थायी मुद्रा से अधिक आकर्षक मानने का कोई कारण नहीं। स्वीकार में जो सरलीकरण है उसी सरलीकरण का ख़तरा समग्र-विरोध में भी है। अपनी भाषा में दोनों दृष्टियाँ समान रूप से सरल होती हैं। निस्सन्देह समग्र-विरोध के तेवर में उत्तेजना कुछ अधिक होती है किन्तु शुरू-शुरू में ही, अन्त उसका भी एक ठंडेपन में ही होता है। इसलिए विरोध-मात्र महत्त्वपूर्ण नहीं, बल्कि महत्त्वपूर्ण है विरोध की यह आत्म-विडम्बना। विडम्बना का यह स्वचेतन-बोध ही कवि को एक ज़िम्मेदारी से बाँधता है जिसके कारण कविता हर तरह के सरलीकरण से बच पाती है। समाजवादी व्यवस्था के अन्दर निजी विरोध की कविता में यही द्वंद्वात्मक बोध विशेष है जो उसे ग़ैर-समाजवादी व्यवस्था की विरोधी कविता से अधिक जीवन्त बनाता है; और ग़ैर-समाजवादी व्यवस्था में रहने वाले जो मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि के समर्थ कवि हैं वे इसी द्वन्द्वात्मक बोध के द्वारा अपने सहकर्मियों से कहीं अधिक तनावपूर्ण नाटकीयता की सृष्टि कर ले जाते हैं।

विचित्र विडम्बना है कि इस दौर में समाजवादी कवियों का यह निजी विरोध भी शीत-युद्ध की राजनीति का शिकार बन गया। एक समय पश्चिम ने एव्तुशेंको को उछाला, फिर उसे छोड़कर वोज़्नेसेंस्की को उछाला गया और अब एव्तुशेंको के विरुद्ध वोज़्नेसेंस्की को उछालना ही पश्चिम के बुद्धिजीवियों का प्रिय व्यसन है। तर्क निश्चय ही काव्यमूल्यों के ही दिए जाते हैं, किन्तु उन काव्यमूल्यों के समर्थन में इन दोनों कवियों के राजनीतिक रवैये में जिस तरह भेद दिखाने की कोशिश की जाती है उससे स्पष्ट है कि राजनीति की कविता के साथ कविता की राजनीति भी पूरी तरह सक्रिय है। विरोध की राजनीति पर आधारित कविता की आलोचना में भी कितना सरलीकरण हो सकता है, इसका यह ज्वलंत उदाहरण है। विडम्बना यह है कि इस सरलीकरण के शिकार ज़्यादातर वही लोग हैं जो राजनीति को सरल और सपाट कहते हैं। इससे अधिक-से-अधिक यही निष्कर्ष निकलता है कि शीतयुद्ध की राजनीति सरल-सपाट होती है; वरना जीवन्त कविता के समान जीवन्त राजनीति भी काफ़ी जटिल, तनावपूर्ण और यथातथ्य होती है। इसीलिए जीवन्त राजनीति के साथ गहराई से संलग्न कविता में भी वैसी ही जीवन्तता आती है।

निस्सन्देह एक अर्थ में सभी कविताएँ राजनीतिक होती हैं—वे भी जिनमें कवि अपने राजनीतिक संदर्भ के प्रति सचेत नहीं होता। इस रुख़ की द्वन्द्वात्मकता को बर्टोल्ट ब्रेख़्ट ने इन प्रसिद्ध पंक्तियों में जैसे हमेशा के लिए व्यक्त कर दिया है :

यह कैसा ज़माना है।
कि पेड़ों के बारे में बातचीत भी लगभग जुर्म है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि इसमें बहुत सारे कुकर्मों के बारे में चुप्पी शामिल है।

जब एक चुप्पी भी संदर्भ के द्वारा अर्थ पा जाती है तो फिर किसी भी कविता का राजनीतिक अर्थ प्राप्त कर लेना स्वयंसिद्ध है। जागरूक कवि अपने कवि-कर्म के दौरान सतर्कता के साथ इस राजनीतिक संदर्भ को परिभाषित करते चलते हैं और इस प्रकार सीधे-सीधे राजनीतिक विषयों पर कविता न लिखते हुए भी अपनी प्रत्येक रचना को एक निश्चित राजनीतिक अर्थ देते हैं। महत्त्वपूर्ण है राजनीतिक संदर्भ का गहरा और सही बोध। ज़रूरी नहीं कि कवि इस राजनीतिक संदर्भ के बारे में लिखे ही—क्योंकि संदर्भ तो कविता में प्रायः व्यंग्य होता है; लेकिन इस संदर्भ को व्यंजित करने के लिए उसका वास्तविक बोध ज़रूरी है। इस संदर्भ-बोध के बिना अराजनीतिक तो क्या राजनीतिक कविता भी अर्थशून्य है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ठेठ राजनीतिक कविता जैसी कोई चीज़ होती ही नहीं। विश्व-साहित्य में उच्चकोटि की अनेक राजनीतिक कविताएँ सुलभ हैं। अवश्य ही हर अच्छी कविता की तरह राजनीतिक कविता की रचना के भी अपने विशेष नियम हैं—नियम का अर्थ कोई फ़ार्मूला नहीं, बल्कि रचना में अन्तर्निहित नियम। इस दृष्टि से बर्टोल्ट ब्रेख्ट की राजनीतिक कविताओं का अध्ययन आज के संदर्भ में प्रासंगिक है। राजनीतिक कविता में जिस सरलता और सपाटता से लोग इतना बिदकते हैं, ब्रेख्ट ने प्रतीकों और बिम्बों की भाषा को छोड़कर सीधे उपदेशात्मकता के गद्य को कविता के लिए इस्तेमाल किया, फिर भी कोई कह नहीं सकता कि यह कविता नहीं है। सवाल यह है कि वह सपाटबयानी कविता कैसे बनी? स्पष्टतः उस सपाटबयानी का कवित्व उसकी नाटकीयता में होता है जिसका विधान ब्रेख्ट की अपनी खास निष्कवच आत्म-विडम्बना करती है। यह आत्म-विडम्बना कोरा आलंकारिक नुस्खा नहीं, बल्कि एक गहरी जीवन-दृष्टि है जिसके मूल में ब्रेख्ट की अपनी परिपक्व राजनीतिक समझ है। एक समर्थ राजनीतिक कवि के नाते ब्रेख्ट तात्कालिक सार्वजनिक आवश्यकता और दूरगामी निजी स्वप्न-दृष्टि या विज़न के बीच संतुलन खोजने का उत्तरदायित्व अनुभव करते थे और संतुलन के इस प्रयास में ही उन्होंने आवश्यकतानुसार इन दोनों के बीच के तनाव को कविता में अभिव्यक्त किया। इस प्रकार एक ओर जहाँ उन्होंने वास्तविकता को ढकने वाले राजनीतिक माया-प्रतीकों या मिथकों को अनावृत किया वहीं दूसरी ओर लोगों में वास्तविकता का बोध भी पुनर्जाग्रत किया। यदि वे सरल समाधान से संतुष्ट नहीं हुए तो प्रश्न भी उन्होंने सरल ढंग से नहीं पूछे। हर सवाल दुधारा था जिसकी एक धार पर हमेशा कवि स्वयं अपने-आपको रखता था। यह ईमानदारी, यह समझदारी और यह ज़िम्मेदारी ही कवि की श्रेष्ठता के मूल मंत्र हैं। और इस दृष्टि से ब्रेख्ट के समान ही एक अन्य स्तर पर मुक्तिबोध भी हमारे लिए सर्वथा प्रासंगिक हैं।

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवाद

कविता और राजनीति

इस संवाद का आयोजन 'आलोचना' ने स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध की ५१वीं जन्मतिथि के उपलक्ष्य में १७ नवम्बर '६८ को नई दिल्ली में किया था। गोष्ठी की अध्यक्षता सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने की। अशोक वाजपेयी और श्रीकान्त वर्मा के निबन्धों ने विचार-विनिमय के लिए आधार प्रस्तुत किया तथा कृष्णनारायण कक्कड़, रघुवीर सहाय और नेमिचन्द्र जैन ते अपने विचार व्यक्त किये। यहाँ अज्ञेय, कृष्णनारायण कक्कड़ और रघुवीर सहाय के भाषणों का संक्षेप देना ही संभव हो सका है। संवाद-पूरक के रूप में पीटर वाइस और रघुवीर सहाय के दो वक्तव्य संलग्न हैं जिनसे प्रस्तुत विषय के कुछ अन्य पहलू प्रकाशित हो सकते हैं। इस संवाद में अन्य लेखकों के विचार भी आमंत्रित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९

अशोक वाजपेयी

टॉमस मान के तीस-चालीस बरस पुराने इस कथन से आज भी शायद कोई इन्कार नहीं करेगा कि हमारे समय में मानव-नियति अपने को राजनीति की शब्दावली में प्रकट करती है। इसलिए यह सवाल कि कविता, जिसे ज़ाहिर है समकालीन मनुष्य की हालत से सीधा और गहरा सरोकार है, और राजनीति का रिश्ता एक प्रासंगिक सवाल है। बल्कि रचनात्मक स्तर पर राजनीति के साथ लेखक के रिश्ते का सवाल एक विकसित होते प्रजातन्त्र में एक ऐसा सवाल है जिससे कतराना असंभव नहीं तो बहुत मुश्किल ज़रूर लगता है। लेकिन अजीब बात है कि नया कवि इस सवाल से दो-चार होने से बचता रहा है। यह बचाव राजनीति से कोई सरोकार न रखकर नहीं किया गया। बौद्धिक रूप से इस पर खासा सोच-विचार, बहस-मुबाहसा और वक्तव्यबाज़ी हुई, लेखक की आस्था जैसे सवाल के रूप में उसे सामान्यीकृत किया जाता रहा, लेकिन रचना के स्तर पर यह सरोकार प्रायः बिलकुल नहीं रहा या अधिक-से-अधिक काफ़ी कमज़ोर ढंग से प्रतिफलित हुआ। इसके कई कारण रहे हैं, पर प्रमुख वह ग्रन्थि है जो प्रगतिवाद में हुए राजनीतिक अतिचार से युवा-प्रतिभा को प्राप्त हुई थी। हिन्दी कविता के आधुनिक काल में प्रगतिवाद के दौरान पहली बार कविता और राजनीति में सीधी घनिष्ठता हुई थी। इस घनिष्ठता ने जहाँ एक ओर कविता में उजागर मानवीय सहानुभूति और सामाजिक वास्तविकता का क्षेत्र आगे बढ़ाया, वहीं दूसरी ओर कवि के निजी मुहावरे, उसके व्यक्तित्व और अद्वितीयता को एक सामान्य आडम्बर और बड़बोली सार्वजनिकता से आक्रान्त कर दिया। प्रगतिवादियों के राजनीतिक उत्साह और सामाजिक स्वप्नदर्शिता का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण नतीजा हुआ सरलीकरण के रूप में—कविता का सरलीकरण, राजनीति का सरलीकरण, और अन्ततः मनुष्य का सरलीकरण। स्टीफेन स्पेण्डर के शब्दों में कहा जा सकता है कि कविता के आन्तरिक मूल्यों का राजनीति के सार्वजनिक रेटारिक से साक्षात्कार कराये बिना प्रगतिवादी राजनीतिक कार्य और इच्छा के रेटारिक को लेकर उसका कविता के रेटारिक में अनुवाद करने के प्रलोभन में पड़ गये। मनुष्य की प्रतिभा छायावादी मुहावरों में अमूर्त हो ही गई थी, उसे ठोस और सामाजिक रूप से परिभाषित और प्रतिष्ठित करने में प्रगतिवाद में जो अतिचार और सरलीकरण किये गये उनसे वह फिर अमूर्त हो चली। इसलिए यह स्वाभाविक था कि कविता के आन्तरिक मूल्यों की, जो हमेशा सूक्ष्मता, तनाव और जटिलता के मूल्य हैं, रक्षा और खोज की परवाह करने वाले कवियों में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। इस स्वाभाविक प्रतिक्रिया का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह रहा कि समूची राजनीति लेखक के लिए अछूत-सी हो गई। अपनी दृष्टि के राजनीतिक आयाम को रचना के स्तर पर विन्यस्त और कभी-कभार स्पष्ट करने का मार्ग जो आधुनिक नागरिक लेखक के लिए स्वाभाविक होना चाहिए था कुछ हास्यास्पद और शक की चीज़ बन गया। आधुनिकता के बढ़ते दबावों और नागरिकता के विकास के रहते धार्मिक सम्वेदना पहले ही क्षीण और लुप्तप्राय हो चुकी थी—इस खास ढंग के राजनीति-विरोधी प्रतिक्रियावाद की वजह से राजनीतिक चेतना कविकर्म के लिए अनावश्यक ही नहीं अप्रासंगिक हो गई। धर्म, राजनीति और राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा के रूप में जो तीन पारस्परिक सहारे अभी तक कविता को उपलब्ध थे वे अगर एकदम खत्म न भी हुए हों तो कम-से-कम उल्लेखनीय नहीं रह गये। बल्कि यह कहा जा सकता है कि इससे एक तरह का वैचारिक शून्य उत्पन्न हुआ : कवि-कर्म वैचारिक शून्य में होनेवाला कर्म हो गया और कविताओं का आस-पास भी इस शून्य से घिर गया।

राजनीतिक विचारधारा के प्रति घृणा या अरुचि, क्योंकि उससे प्रेरित कविता अधिकांशतः तनावहीन और नामहीन ही रही, अज्ञान की हद तक बढ़ गई। पर प्रगतिवादी अतिचार और सरलीकरण के अलावा आम तौर पर दुनिया में जो हुआ वह भी इस अरुचि के लिए कारण बना। वामपन्थी और प्रतिक्रियावादी दोनों ही तरह के राजनीतिक आदर्शवादों का हश्र आखिर तानाशाही में हुआ और राजनीतिक विचारधाराओं से विकर्षण इतना चरम हो गया कि सारी राजनीति ओछी, टुच्ची, और मानवद्रोही जान पड़ने लगी। अर्द्धसत्यों, विराट् सरलीकरणों और तुच्छताओं से भरी राजनीति से पाक-साफ़ रहना कविधर्म ईमानदारी से निवाह सकने के लिए एकबारगी बहुत उचित लगने लगा।

यहाँ तक तो ठीक था। लेकिन राजनीति दो महायुद्धों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भयानक मानव-संहार आयोजित कराने के बाद शक्ति-क्षीण नहीं हुई बल्कि शीतयुद्ध, एशियाई-अफ्रीकी क्षेत्रों की स्वतंत्रता, दो महान् शिविरों में विश्व-राजनीति का विभाजन, फिर उनके बीच सौहार्द, निशस्त्रीकरण इत्यादि के बीच से वह मनुष्य की दुनिया के और बड़े हिस्से को घेरती गई, इस कदर कि आज वह मनुष्य को नियमित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति है। इसलिए कविता की स्थिति में एक बुनियादी अन्तर्विरोध घर करता गया। राजनीति से दूरी, बचाव और विकर्षण मनुष्य की समकालीन स्थिति की पूरी जटिलता, तनाव और ट्रेजेडी से विकर्षण हो गया। मनुष्य के सरलीकरण से इनकार करने के लिए राजनीति से दूरी दूसरी तरह का सरलीकरण बन गयी। नयी कविता का अधिकांश अगर मानवीय प्रासंगिकता की दृष्टि से क्षीण और शक्तिहीन लगता है तो उसका एक प्रमुख कारण अवश्य ही राजनीति के प्रति नये कवि की अरुचि और उदासीनता रही है। इस सिलसिले में अज्ञेय और मुक्तिबोध के उदाहरण दिलचस्प हैं। अपनी कलात्मक सक्षमता के बावजूद अज्ञेय की कविताओं की दुनिया का बुनियादी और प्राथमिक सरोकार समकालीन मनुष्य की नहीं सार्थकता और स्वायत्तता की खोज है—उनकी कविता समकालीन ब्यौरों से भरी-पूरी दुनिया नहीं बल्कि ज्यादातर पारस्परिक और लगभग शाश्वत तत्त्वों का सुगठित संसार है। मुक्तिबोध की दुनिया सीधे-सीधे समकालीन है—उसमें अज्ञेय-जैसा क्लैसिकी ठण्डापन नहीं, उद्वेग है। वह राजनीति से केन्द्रित-शासित मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष और उम्मीद का भयावह जटिल संसार है जहाँ विवेक अज्ञेय की तरह शाश्वत तत्त्वों से मन्द तनाव की स्थिति में रहकर नहीं उभरता बल्कि हमारे समय की सचाइयों, षड्यन्त्रों, दबावों से उलझता, पददलित होता और मनुष्य की अपराजेय उम्मीद से विन्यस्त होता है। मुक्तिबोध की दुनिया आदमियों की दुनिया है, मनुष्यता के अनगिनत ठोस जीवन्त तात्कालिक संस्करणों से भरी छटपटाती-चीखती दुनिया, जबकि अज्ञेय की संस्कारी दुनिया में आदमी नहीं है—सामान्यीकरण और अमूर्तन है। इस अन्तर के लिए प्रतिभा, सरोकार और सामर्थ्य की भिन्नताएँ भी ज़रूर उत्तरदायी होंगी, पर क्या यह कहना निराधार होगा कि मनुष्य से सरोकार और सार्थकता और स्वायत्तता की खोज कई बार इतनी अलग हो सकती हैं कि कलात्मक परिपक्वता और मानवीय समृद्धि में असामंजस्य या अलगाव पैदा हो जाए?

मुझे लगता है कि कुछ इसी तरह का अहसास कुछ युवा कवियों को राजनीति से फिर रिश्ता जोड़ने की ओर ले गया है। नई कविता की मुख्य धारा की मानवीय विपन्नता ने उन्हें बाध्य किया है कि वे हमारे समय के मनुष्य की हालत परिभाषित करने के लिए उसकी आन्तरिक और बाहरी सचाइयों की जड़ों की खोज करें। यह खोज उन्हें वहाँ ले आई है जहाँ राजनीति से साक्षात्कार अनिवार्य हो उठा है। अपने-अपने सर्वथा निजी प्रतीक-धर बनाये बैठे रहना एकाएक कायरता लगने लगा है, इसलिए साहसपूर्वक अपनी सम्वेदना और अनुभव को बाहरी ठोस दबावों के प्रति खुला रखकर उनसे प्रतिकृत होने देना कविता की आन्तरिक आवश्यकता हो गई है, मगर उसे हाशिये पर की रहने के बजाय मनुष्य की केन्द्रीय स्थिति से तात्कालिक ढंग से अपने सरोकार को गहरा और प्रासंगिक बनाना है।

इसका मतलब इस खास शताब्दी में हमारे मनुष्य होने का जो अनुभव है, सम्पूर्ण और साक्षात्कृत, उसकी जटिलता को, राजनीति के प्रति उदासीनता या अरुचि के सरलीकरण ने जिसे दरकिनार कर दिया था, कविता की मानवीय सार्थकता के हित में रचनात्मक स्तर पर राजनीति से नया रिश्ता कायम कर परिभाषित करना है। राजनीति से नया सम्बन्ध अन्ततः मनुष्य की सम्पूर्ण परिभाषा की खोज है—वह सुरक्षित साहित्य से जोखिम-भरे साहित्य की ओर जाना है। वह नयी कविता की बिम्बमालाओं, प्रतीक मुद्राओं और रूढियों में फँसकर अमूर्त हो गई मानव-प्रतिभा को फिर जीवन्त, ठोस और तात्कालिक बनाने की कोशिश है—वह उसे सभा-जुलूस, नारेबाज़ी, भाषण, कर्फ्यू, मतदान, बहस, षड्यन्त्र, क्रान्ति, लाठीचार्ज, युद्ध, गुप्त नियन्त्रण, मार्शल लॉ, चुनाव, संसद् आदि में यानी उसकी रोज़मर्रा की दुनिया में रखने, पहचानने और प्रतिष्ठित रहने की कोशिश है।

राजनीति का नया अहसास सिर्फ़ कलात्मक आंतरिक मूल्यों को मानवीय समृद्धि देने के लिए ही हो ऐसा नहीं है। राजनीति का दबाव इतना आक्रामक और तीव्र होता गया है कि उससे बचना वयस्क कविता के लिए मुमकिन नहीं रह गया है। समकालीन सच्चाई राजनीतिक कर्म, इच्छा, तथ्यों से उलझी सचाई है और बिना राजनीति से दो-चार हुए उसका साक्षात्कार अधूरा और अप्रामाणिक रहेगा। राजनीति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सुरक्षित संसार इच्छित संसार है, अतीत-जीवी या भविष्यत् संसार है, समकालीन संसार नहीं, जिसे चरितार्थ करने के लिए कविता, नयी कविता, अगर उसकी मूल प्रतिज्ञाएँ अभी भी सही हैं, प्रतिश्रुत है। राजनीति से अछूता काव्य-संसार कलात्मक ढंग से सार्थक हो सकता है, स्वायत्त भी, पर मानवीय ढंग से समृद्ध और तात्कालिक नहीं। यह भी सत्य है कि सारे समाज में पिछले कुछ वर्षों में कुछ गहरी उथल-पुथल हुई है और स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध आज नागरिक का स्वर स्पष्ट और तीखा हुआ है। सामाजिक स्तर पर, जिसमें राजनीति शामिल है, अब तक अन्तर्निहित हिंसात्मकता भी उभरकर आगे आई है। मुख्तसर यह कि कविता की आन्तरिक ज़रूरतों और हमारी तात्कालिक बाहरी दुनिया के दबावों और चुनौतियों ने एक साथ कविकर्म और राजनीति के पारस्परिक साक्षात्कार को अनिवार्य बना दिया है, जैसा कि ऋतुराज ने अपनी एक ताज़ा कविता में कहा है :

एक काला दरवाज़ा और
उसके भीतर बनबिलावों का रुदन
—ऐसा यथार्थ हमें सहना पड़ता है।

इस यथार्थ की पहचान एक नई साहसिकता की माँग करती है—ऐसी साहसिकता जिसमें "अपने-आपका ज़हरीला विश्लेषण" करना पड़े। रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकान्त वर्मा, ऋतुराज, धूमिल, कमलेश आदि युवा कवियों की कविता इसलिए जोखिम की कविता है—एक ऐसी कविता जिसके लिए रघुवीर सहाय के शब्द सार्थक हैं :

भाषा कोरे वादों से
वायदों से भ्रष्ट हो चुकी है सबकी
न सही यह कविता
यह मेरे हाथ की छटपटाहट सही

खासकर रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह और श्रीकान्त वर्मा के उदाहरण इस सिलसिले में दिलचस्प हैं। वे पहले ही प्रतिष्ठित युवा कवि थे, लेकिन उनके मूलतः तथाकथित 'कलात्मक' और रूमानी मुहावरे और उससे चरितार्थ दुनिया में एक बड़ा भारी परिवर्तन आया है। रघुवीर सहाय में यह अन्तर सबसे स्पष्ट है। सन् '६० में प्रकाशित उनके पहले संग्रह 'सीढ़ियों पर धूप में' की समीक्षा करते हुए, मैंने उनकी कविता को जीने के कर्म की परिभाषा कहा था। तब उनकी कविता में प्रेम था, स्त्री थी, सहज भावना थी, विस्मय, उत्साह और उत्सुकता थी : प्रकृति-प्रेम और जिजीविषा के साथ छोटी चीज़ों के बीच मनुष्य होने का हर्ष, सुख और तनाव थे। वह कविता कुछ आदिम-से लगते सम्बन्धों और उनके विकल होकर बदलने की सुन्दरता और कोमलता की कविता थी। 'आत्महत्या के विरुद्ध' शीर्षक ही बदला हुआ तेवर सूचित करता है। नये संग्रह की कविता अभी भी जीने के कर्म को परिभाषित करने की कोशिश करती है, लेकिन उसका दृश्य शान्त और सहज नहीं बल्कि आक्रामक, छटपटाहट और चीत्कार-भरा, अधिक सीधे समकालीन और सार्वजनिक है। वह अधिक सीधे आज के हिन्दुस्तानी आदमी के जीने के कर्म को परिभाषित करने की ओर प्रवृत्त है। जैसा कि रघुवीर सहाय ने अपने वक्तव्य में कहा है : "लोकतन्त्र—मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतन्त्र ने हमें इन्सान की शानदार ज़िन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।" इस चाँप को खोजने और उसका बखान करने की कोशिश ही रघुवीर सहाय का नया काव्य-संस्कार है।

इस काव्य-संस्कार के रहते कविता में मनुष्य होने के सुख या हर्ष के बजाय "हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द है।"

'आत्महत्या के विरुद्ध' शीर्षक कविता का एक अंश देखिए :

कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का
मेरे अन्दर एक कायर टूटेगा टूट
मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ अब मत रूठ
मत डूब सिर्फ़ टूट जैसे कि परसों के बाद
वह आया बैठ गया आदतन एक बहस छेड़कर
गया एकाएक बाहर ज़ोरों से एक नकली दरवाज़ा
भेड़कर
दर्द दर्द मैंने कहा क्या अब नहीं होगा
हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द···

रघुवीर सहाय जिस कायर के टूटने का ज़िक्र कर रहे हैं वह राजनीतिक सचाइयों, सार्वजनिक दुनिया से बचे रहने की कायरता से जुड़ा है। अगर इन कविताओं को किसी एक मूल्य से प्रेरित देखना हो तो वह मूल्य साहस का होगा जो पिछली कायरता को तोड़ता और सीधे साक्षात्कार की ओर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ले जाता है। इस साक्षात्कार का सौन्दर्य कोमल या रूमानी नहीं होता है।

ज़ाहिर है इस सार्वजनिक और किसी हद तक भयावह दुनिया के लिए मुहावरा और प्रतीक-व्यवस्था की गई होगी। काव्यरचना के तथाकथित सौन्दर्य-परक मूल्य इस दुनिया के लिए अपर्याप्त हो जाते हैं। रघुवीर सहाय इस दुनिया को चरितार्थ करने के लिए अपनी भाषा और मुहावरे का उचित विस्तार करते हैं। उनकी भाषा में पहले भी चौक-बाज़ार का सुथरापन और रवानगी थी। जीने के कर्म की अपनी इस परिभाषा के लिए वह बाज़ार, संसद्, राजनेता, अखबार, भीड़, भाषण, नारे आदि के कई मुहावरों को गूँथकर अपना निजी मुहावरा विकसित और विन्यस्त करते हैं।

कोरे वादों और वायदों से भ्रष्ट हो चुकी भाषा के पुनरुद्धार के लिए यह प्रायः अनिवार्य-सा है कि भाषा कवि जान-बूझकर विपर्यस्त करे—उसे चीरे—फाड़े—तोड़े। ऐसी हालत में भाषा स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं रह जाती बल्कि कविता भी कविता नहीं लगती। नाप-जोख वाले नये-पुराने पैमाने उसके समझने के लिए नाकाफ़ी हो जाते हैं। तब एक तरह से कविता 'हाथ की छटपटाहट' हो जाती है जो अधिक प्रासंगिक, अधिक मानवीय और अधिक तात्कालिक होती है। रघुवीर सहाय की कविता कुछ ऐसी ही कविता है—वह ऐसे युवा कवि की रचना है जो अपने इस ख़ास प्रजातन्त्र के ख़ास मोड़ पर खड़ा अपनी आँखें खोले पूरे साहस से अपनी कविता में हमारी दुनिया को देख रहा है, छटपटा रहा है, चीख रहा है। अगर प्रार्थना काव्य हो सकती, जैसे कि अक्सर पुराने काव्य में हुई है, तो चीख़ भी कविता हो सकती है बल्कि उतनी ही उद्दाम, सहज और सार्थक—उतनी ही मार्मिक और प्रभावशाली।

ऊपर जिन कवियों का ज़िक्र है उनसे बीसियों उदाहरण देकर यह बताया जा सकता है, भले उनमें कुछेक अहसासों की बिरादरी-सी बन गई हो—उनके सरोकार, उन पर पड़ रहे दबाव और तनाव अलग-अलग हैं, विशिष्ट और पहचाने जा सकने वाले हैं। धूमिल जब कहते हैं :

मैं जानता हूँ कि 'इनकार से भरी हुई चीख़'
और एक 'समझदार चुप'
दोनों का मतलब एक है—
भविष्य गढ़ने में, 'चुप' और 'चीख़'
इतनी अपनी जगह एक ही किस्म से
अपना अपना फ़र्ज़ अदा करते हैं

तो उनकी मुद्रा केदारनाथ सिंह से स्पष्ट अलग पहचानी जा सकती है :

भाषा जो मैं बोलना चाहता हूँ
मेरी जिह्वा पर नहीं
बल्कि दाँतों के बीच की जगह में
सटी हुई है
मैं बहस शुरू तो करूँ
पर चीज़ें एक ऐसे दौर से होकर
गुज़र रही हैं
कि सामने की मेज़ को
सीधे मेज़ कहना,
उसे वहाँ से उठाकर
अज्ञात अपराधियों के बीच में रख देना है।

संक्षेप में यह कि ये कवि प्रगतिवादियों की तरह किसी बड़बोली सार्वजनिकता और राजनीतिक दर्शन से आक्रान्त नहीं हैं। रघुवीर सहाय को अपवाद के रूप में छोड़ दें तो इन कवियों ने राजनीति की अपनी भाषा से काव्य-भाषा को भ्रष्ट और हवाई नहीं होने दिया है। रघुवीर सहाय ने राजनीति के अस्पष्ट रेटारिक और क्लीशेज़ को अपने काव्य-मुहावरे में गूँथकर व्यंग्यात्मक इस्तेमाल किया है—एक तरह के एक्सपोज़र के लिए जो उतना ही अपना है जितना दूसरों का। हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द सामाजिक भर्त्सना ही नहीं आत्म-भर्त्सना भी है बल्कि इसीलिए वास्तविक लगती है। प्रगतिवादियों की तरह इन कवियों ने अपनी-अपनी विशिष्ट सम्वेदनाओं से प्राप्त ठोस और सूक्ष्म ब्यौरों की सम्पदा को एक हीरोइक सार्वजनिक रेटारिक से हित में तिलांजलि नहीं दे डाली है। बचे-खुचे शब्दों, क्लीशेज़ और अपरीक्षित परिभाषाओं से जड़ीभूत होकर उनकी भाषा ज़िन्दगी की भावात्मक और नैतिक जड़ों से कट नहीं गयी है। बल्कि जैसा कि मुक्तिबोध की कविता में, जो निश्चय ही इस कविता का अग्रदूत है, सामाजिक दृश्य सिर्फ़ एक पीड़ा-भरा 'बाह्य' नहीं वैसी ही पीड़ावाला 'अन्तस्' भी है और इसलिए अत्यन्त सामाजिक होते हुए अत्यन्त निजी है। व्यक्तित्व की अद्वितीयता और सामाजिक चेतना, कविता के निजी मूल्य और राजनीति की सार्वजनिक भाषा ये द्वैत उनकी कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में समाप्त हो जाते हैं। आम प्रगतिवादी की कविता में भी यह द्वैत मिट जाता था, लेकिन इसलिए कि अन्तर्मुखता को सम्पूर्ण बहिर्मुखता के सामने कोई स्थान नहीं था। लेकिन मुक्तिबोध की कविता 'इनक्लूज़िव' है; उसमें राजनीति का गान या प्रचार नहीं, आन्तरिक-करुण हुआ है। अगर 'अँधेरे में' पिछले बीस वर्ष की कविता की सम्भवतः श्रेष्ठतम उपलब्धि है तो इसलिए भी कि उसमें मनुष्य की आत्मा और निजीपन तथा सार्वजनिक घटनाओं और राजनीति की ठोस तात्कालिता को एक अनिवार्य और अटूट संयोग में चरितार्थ किया गया है।

इन कवियों की राजनीतिको किसी स्पष्ट विचार-प्रणाली या दलीय पक्षधरता से जोड़ना मुमकिन हो भी तो ग़लत ज़रूर होगा। उनकी कविता की स्वतन्त्रता और वयस्कता के लिए यह तथ्य काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार है कि वे किसी विशिष्ट और संकरी विचारधारा से, उसकी चौखटा-सचाइयों से बँधी-सीमित नहीं है। पिछले बीस वर्ष में हर राजनीतिक विचारधारा को अन्ततः तानाशाही में परिणत होते देखने के बाद इन कवियों का अपने शब्दों को किसी विचारधारा की सेवा में समर्पित न करने का निश्चय और कभी-कभी हठधर्मी निश्चय ही सहज विवेक कहा जा सकता है। उन्होंने राजनीति के लिए कविता का नहीं कविता के लिए राजनीति का इस्तेमाल किया है। किसी विचारधारा से स्पष्ट प्रतिबद्धता के अभाव का मतलब यह नहीं है कि इन कवियों ने विचारधाराओं से कोई सरोकार ही नहीं रखा है। मसलन, मुक्तिबोध ने सामाजिक यथार्थ के अपने गहन काव्यान्वेषण के लिए मार्क्सवाद का इस्तेमाल किया है, उसके विश्लेषणों और उसके रूपकों का भी, लेकिन उन्हें मार्क्सवादी कवि कहना उनके काव्य के कलात्मक और मानवीय अर्थों और परिणतियों को अकारण सीमित, लगभग विकृत करना होगा। मार्क्सवादी कवि उनके लिए एक बिलकुल अधूरी और अपर्याप्त संज्ञा होगी।

मुक्तिबोध फिर भी अपवाद हैं, क्योंकि मार्क्सवाद के प्रति उनका लगाव स्पष्ट रहा है। लेकिन बाकी युवतर कवियों की राजनीति, या शायद उसे प्रतिराजनीति कहना आज के मुहावरे में बेहतर हो, ज़्यादा-से-ज़्यादा सामान्य रूप से वामपक्षीय कही जा सकती है: पर वह क्रान्तिकारी या आदर्श-प्रेरित वामपक्षीयता नहीं है। वह निजी प्रोटेस्ट, विद्रोह या विरोध की राजनीति है—अल्वारेज़ के शब्द उधार लेकर कहें तो वह स्थायी रूप से विरोध पक्ष में रहने की राजनीति है। नयी राजनीतिक शब्दावली 'एस्टेब्लिशमेण्ट' 'एण्टीएस्टेब्लिशमेण्ट' की है, क्रान्ति, मुक्ति। समानता इत्यादि की नहीं क्रान्तिकारिता और आदर्शों के रहते जो सरलीकरण अपरिहार्य होते हैं उनसे इसलिए यह कविता अछूती है। कवियों में अपने-अपने ढंग के छोटे-मोटे सरलीकरण भले हों, लेकिन मनुष्य की हालत, समकालीन पीड़ा, उसके भविष्य के बारे में कोई विराट् सरलीकरण, बँधे-बँधाए नुस्खे उनकी कविता या सम्वेदना में नहीं हैं। इस तरह के सरलीकरणों के बावजूद भावोच्छ्वास-भरी मुद्राओं की कवि-सम्वेदना में जो अलगाव-सा आ जाता है वह इन कविताओं में नहीं है—ये हिस्सा लेती कविताएँ हैं—सचाई को उसकी अराजक, जटिल तीव्रता में घेरती, खोजती, चरितार्थ करती। यह आकस्मिक नहीं है कि रघुवीर सहाय या श्रीकान्त वर्मा की श्रेष्ठ कविताओं का स्वर मूलतः चरितार्थता का है। उत्सवधर्मिता का नहीं। प्रगतिवादी को सुलभ ऐतिहासिक आश्वस्ति के कारण उसकी कविता सरल दिमाग़ी थी—पर इस कविता को यह भोला आत्म-विश्वास और बाहरी सहारा दुर्लभ है। इसलिए वह जटिल है। कविता के जो नये प्रतिमान जटिलता, तनाव और सूक्ष्मता के रूप में पिछले दो दशकों में विकसित हुए हैं उन्हें यह कविता अवमूल्यित नहीं करती—नयी प्रतिष्ठा और सार्थकता देती है। थोड़े-से मानव-सम्बन्धों, मध्यवर्ग के भद्रलोक, स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की क्रूर सचाइयों और निजी प्रतीक-धरों तक सीमित हो रही जटिलता इन कवियों में नया संस्कार पा रही है। वह मनुष्य को नियमित करने वाली भयानक, अमूर्त पर सदा उपस्थित शक्तियों की छाया के नीचे चित्रित करती है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की आत्यन्तिकता का अनादर किये बिना वह उनके निरर्थक होते जाने की क्रूर अमानवीयता को एक बृहत्तर मानवीय संदर्भ में रख देती है।

लेकिन राजनीति से इस पुनर्घनिष्ठता के रहते, यह बिलकुल सम्भव है कि राजनीतिक लगती 'थीमों' को चरितार्थ करने के बजाय उन्हें 'सेलीब्रेट' किया जाने लगे। अपने 'प्रोटेस्ट' को कवि फिर अलंकार या आभूषण की तरह मुखरता के साथ धारण करे। श्रीकान्त वर्मा की कविता **'चेकोस्लोवाकिया'** ऐसी ही एक कविता है:

जलने दो पुस्तकालयों को, बहने दो लेनिन की मूर्तियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरने दो सीढ़ी पर गोली खा **लिंकन** को।

जैसी पंक्तियाँ साफ़-साफ उत्सवधर्मी हैं और बावजूद कविता में दिये गये नामों और ब्यौरों के, कविता हिस्सागिरी की कविता नहीं जान पड़ती। उसमें एक तरह का **सपाट** बड़बोलापन है। तुकों के साथ श्रीकान्त का सुपरिचित खिलवाड़ चेकोस्लोवाकिया में हुए की क्रूरता और मानवीय अपमान के साथ तनाव की स्थिति में नहीं रहता बल्कि कई बार तो स्थिति में व्याप्त गहरी मानवीय यातना को तुकों और नामों का खेल ओछा-सा कर देता है।

जाहिर है, कविता के इस तरह राजनीति के पास जाने से पुराना डर जागता है : कहीं कविता को फिर राजनीतिक हथियार तो नहीं बनाया जा रहा है? कहीं फिर संकीर्ण मतवादिता रुचि की तानाशाही स्थापित कर कविता के रूप में उजागर होने वाली अनन्त मानवीय सम्भावनाओं को दबा तो नहीं देगी? जैसा मैंने ऊपर बताने की कोशिश की है, इस तरह की आशंकाओं का समुचित उत्तर स्वयं कविताएँ देती हैं। प्रगतिवाद में और संसार में अन्यत्र तथाकथित राजनीतिक कविता का जो हश्र हुआ है उसे नज़र में रखते हुए वे वयस्क विवेक की कविताएँ हैं। काव्य-भाषा को नयी तात्कालिकता, चमक और विस्तार उनमें मिल रहा है तो इसलिए भी कि वे किसी सामूहिक आन्दोलन का परिणाम नहीं हैं—वे कवियों की निजी मुद्राएँ हैं स्वयंस्फूर्त और मुक्त। मुक्तिबोध ने कहा था कि हमारे युग में अनुभूत वास्तव का जैसा अनादर है वैसा कभी नहीं था। खुद उनकी कविता और इन युवतर कवियों की रचनाएँ 'अनुभूत वास्तव' को पूरे साहस, बिना लाग-लपेट के चरितार्थ करने की मूल्यवान कोशिश है। यह उनके विवेक की वयस्कता का ही प्रमाण है कि वे जानते हैं कि कविता मनुष्य की हालत या उनकी समकालीन यन्त्रणा को बदल नहीं सकती—एक ऐसे संसार में जिसमें भाषा और कविता अप्रासंगिक और अवमूल्यित होते जाते हैं, कविता मनुष्य के अपमान और अमानवीयकरण के विरुद्ध निजी 'प्रोटेस्ट' भर कर सकती है। हमारी युवा कविता ऐसे ही निजी 'ट्रेजिक प्रोटेस्ट' की कविता है।

२

श्रीकांत वर्मा

प्लेटो ने जिन किन्हीं भी कारणों से कविता को अपने गणतंत्र से देशनिकाला दिया हो; कवि के पास अपने गणतंत्र से राजनीति को देशनिकाला देने के यथेष्ट कारण नहीं। स्थूल अर्थों में कविता किसी भी चीज़ का निषेध नहीं करती, सूक्ष्म अर्थों में वह बहुत-सी चीज़ों का निषेध करती है—शायद कविता को छोड़ हर चीज़ का निषेध करती है। कवि का अनुभव-संसार जितना भी व्यापक हो; अनुभव की परिणतियों का संसार सीमित है। सारा अनुभव कविता नहीं—सारा संसार अनुभव भले ही हो। एक स्तर पर सर्वधर्मिता और दूसरे स्तर पर आत्मधर्मिता—कविता का यह दोहरा स्वभाव ही उसे अनिश्चित और परिवर्तनशील बनाता है। कविता का यह एक बुनियादी अन्तर्विरोध है जो स्वयं कविता के स्वरूप को लेकर भ्रान्तियाँ पैदा करता है और हर युग की कविता के आगे प्रश्नचिह्न लगाता है। हर युग कविता से स्पष्टीकरण माँगता है और कविता हर युग के प्रश्नों और शंकाओं से जूझती हुई, दरअसल, केवल अपने ही प्रश्नों से जूझती है। कवि के लिए किसी भी युग के प्रश्न उसी हद तक संगत हैं जिस हद तक वे कविता के प्रश्न हैं। राजनीति का प्रश्न भी उसके लिए उसी हद तक संगत है जिस हद तक वह कविता का प्रश्न है।

कविता को अपने जन्म और मृत्यु में तीन तरह के नरक से गुज़रना होता है : अनुभव का नरक, सृजन का नरक और मूल्यांकन का नरक। जहाँ तक मूल्यांकन का सम्बन्ध है, राजनीति का प्रश्न असंगत है। कविता की परीक्षा केवल उसके अपने नियमों से की जा सकती है। जो आलोचक, चाहे वह राजनीति के आग्रही आलोचकों में सबसे कम आग्रही जार्ज लूकाच ही क्यों न हों, रचना के मूल्यांकन के लिए किसी ऐसे संदर्भ की तलाश करता है, जिससे जाकर जुड़ना उस विशिष्ट रचना की नियति या आकांक्षा नहीं रही, वह केवल अपनी ही विफलता को प्रमाणित करता है। काफ़्का का साहित्य संगत है या टॉमस मान का, इलियट की कविता प्रामाणिक है या येट्स की, इसकी पहचान उस युग की प्रचलित मान्यताओं के आधार पर नहीं बल्कि समस्त शंकाओं के साहित्यिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप-परिवर्तनों को समझकर ही किया जा सकता है। जो आलोचक काफ़्का के उपन्यासों में बीसवीं सदी के बुनियादी भय की बनावट को नहीं समझ सकता, स्पष्ट है कि वह टॉमस मान की बहुत हद तक नंगी, रूपविहीन शंका को ही प्रामाणिक मानकर, काफ़्का को असंगत कहकर बरख़ास्त करेगा। वह इलियट की कविता की बनावट को 'क्रान्तिकारी' मानता हुआ, उसके अनुभव को ओछा करार देगा। इस तरह का आलोचक अनुभव और भाषा को पृथक् करता हुआ कविता को जाने या अनजाने नष्ट करता है। अनुभव और भाषा को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। कोई भी कवि केवल भाषा में ही अनुभव करता है, भाषा से बाहर नहीं। अगर किसी कवि का अनुभव ओछा है तो उसकी भाषा भी उतनी ही ओछी होनी चाहिए। अनुभव को महान् और भाषा को अवरुद्ध या कि भाषा को क्रान्तिकारी और कविता को तुच्छ कहने का कोई अर्थ नहीं। कविता के प्रश्न उसकी भाषा और बनावट में ही हैं; उन वक्तव्यों में नहीं जो कि अपनी कविता के दौरान कवि देता है। वक्तव्यों के ज़रिये खड़ी की गयी शंकाएँ रचयिता की शंकाएँ हो सकती हैं, रचना की नहीं। एलियट की एक कविता (जेरोन्शन) की इन पंक्तियों का आशय, किस चीज़ को समझने में सहायक है :

"थिंक नाउ हिस्ट्री हैज मेनी कनिंग पैसेजेज़, कंट्राइव्ड कॉरिडर्स
एण्ड ईशूज़, डिसीव्स विथ व्हिसपरिंग एम्बिशन्स,
गाइड्स अस बाई वैनिटीज़।
× × ×
थिंक नाइदर फीयर नॉर करेज सेव्स अस। अननेचुरल वाइसेज़
आर फादर्ड बाइ अवर हीरोइज़्म। वर्च्यूज़ आर
फोर्स्ड अपॉन अस बाइ अवर इम्प्युडेंट क्राइम्स।"

इलियट के इस उद्धरण को उसके संदर्भ से काटकर कोई आलोचक सुविधा के साथ यह कह सकता है कि इलियट की यह कविता बीसवीं सदी के नैराश्य और संशय को उपस्थित करती है। अगर यह बात सही भी है, और यह सही है, तो उसके सही होने का आधार यह उद्धरण नहीं बल्कि वह समग्र कविता है जिसकी भाषा और बनावट इस शताब्दी के अन्तर्विरोध से जुड़ी हुई है। यह उद्धरण केवल अपने से पहले की पंक्तियों के संदर्भ में ही संगत हो सकता। इलियट ने इस वक्तव्य का इस्तेमाल काव्य-विडम्बना के रूप में किया है। अपने विशिष्ट बिम्ब-विधान के तुरन्त बाद ही वक्तव्य का उपयोग कर बिम्ब और वक्तव्य के बीच तनाव उत्पन्न करना ही उनका अभीष्ट था। वक्तव्य और बिम्ब के बीच का तनाव ही वह अर्थ था जिसकी सृष्टि के ज़रिये उन्होंने अपने युग की कविता की सृष्टि की :

"इन दि जुवेसेंस ऑफ़ द इयर
केम क्राइस्ट द टाइगर
इन डिप्रेव्ड मे, डागवुड एण्ड चेस्टनेट, फ्लावरिंग
जुडास,
टु बी ईटन, टु बी डिवाइडेड, टु बी ड्रंक
एमंग व्हिस्पर्स; बाइ मिस्टर मिल्वेरो
विथ केरेसिंग हेंड्स, एट लिमोजेस
हू वाक्ड ऑल नाइट इन दि नेक्स्ट रूम्स;
बाइ हाकागावा, बोविंग एमंग द टिटियन्स;
बाइ मादाम दे तार्नक्वि, इन द डार्करूम
शिफ्टिंग द कैंडल्स; फ्राडलिन वॉन कुप
हू टर्न्ड इन द हॉल, वन हैंड ऑन द डोर। वेकेंट
शटल्स
वीव द विंड। आई हैव नो गोस्ट्स।
ऐन ओल्ड मैन इन ए ड्राउटी हाउस
अंडर ए विंडी नॉब।"

कविता को उसकी समग्रता और अंतर्विरोध में न देखकर केवल सुविधाजनक वक्तव्यों के आधार पर कविता के सम्बन्ध में किसी नतीजे पर पहुँचना कवि के अनुभव-संसार और उसकी कलात्मक परिणतियों की उपेक्षा करना है। किसी भी अनुभव की काव्य-परिणतियों में ही वे मूल्य निहित होते हैं, जिनसे आक्रान्त होकर कविता को बार-बार कठघरे में खड़ा किया जाता है या कि खड़ा किया जाना चाहिए। जहाँ तक ये मूल्य इन परिणतियों में हैं वहीं तक वे संगत हैं, उससे आगे नहीं। कविता को मूल्य-प्रक्रिया मानने वाले आलोचकों की ग़लती यह है कि वे कविता के कर्तव्यों का निर्धारण करना चाहते हैं। कविता कर्तव्यवश कुछ नहीं करती, स्वभाववश बहुत-कुछ करती है। हर युग की कविता का स्वभाव बदलता है, उसकी ग्रहणशीलता का क्षेत्र बदलता है और इसीलिए उसके प्रश्न बदलते हैं। आलोचक तभी ठीक निष्कर्षों पर पहुँच सकता है जबकि वह कविता के प्रश्नों को कविता के ही प्रश्नों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में ले। जो संसार कविता में नहीं है, वह इसलिए नहीं है कि कविता ने अपने कारणों से उसका निषेध किया है। मूल्यांकन के प्रसंग में वह असंगत और अनर्गल है क्योंकि उस विशिष्ट रचना के प्रसंग में वह असंगत और अनर्गल था। आलोचक को केवल यह निर्णय करना होगा कि क्या सचमुच ही उस कविता के प्रसंग में वह संसार असंगत था; क्या उस संसार के निषेध के लिए कविता के पास अपने कारण थे या कि यह महज़ एक ढकोसला है। इसकी पहचान आसान नहीं। भाषा के ज़रिये केवल संसार की परिभाषा ही नहीं की जाती, छला भी जा सकता है। भाषा के छल को पहचानना कठिन है। लेकिन जो आलोचक भाषा के छल को पहचानने में समर्थ है उसे यह पहचानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि कवि का संसार प्रामाणिक है या नहीं; दूसरे शब्दों में निषेध का औचित्य है या नहीं।

कविता का दूसरा, अनुभव का, संसार वास्तव में कवि का संसार है जिसमें वह रहता है, झेलता है, जीता और मरता है; राजक्रान्तियों में हिस्से लेता और राजनेताओं के तलुए चाटता है; राजनीति के मंच से क्रान्ति का आह्वान करता और साहित्य अकादमी के मंच से पुरस्कार ग्रहण करता है। कवि का संसार बहुत विवादयोग्य नहीं। बहुत हद तक वह आम आदमियों का संसार है जिसमें पाप, आत्महत्याएँ, क्रान्तियाँ, उत्थान और पतन, कवि और आलोचक सबका अस्तित्व है और कविता किसी के आड़े नहीं आती। बल्कि कविता कवि को इस संसार में अधिक-से-अधिक हिस्सा लेने की छूट देती है। यह प्रतीकों का नहीं घटनाओं का, अर्थ का नहीं, ध्वनियों का संसार है। अपने-आपमें, कविता के लिए, यह बेमतलब संसार है। कविता इसी अर्थहीन संसार को अर्थ देने की प्रक्रिया है।

सृजन के संदर्भ में ही साक्षात्कार की समस्या रचना की समस्या का रूप ग्रहण करती है। वहीं यह प्रश्न संगत है कि क्या रचना राजनीति से साक्षात्कार करती है और अगर करती है तो किस स्तर पर?

कविता राजनीति से दो स्तरों पर साक्षात्कार करती है। एक घटना के स्तर पर और दो, उसकी परिणतियों और अभिप्रायों के स्तर पर। साक्षात्कार के स्तर ही कविता के भी स्तर हैं। बहुत-कुछ कवि के मन की बनावट और युग के दबाव पर निर्भर करता है। जो कवि केवल प्रतिक्रियाएँ करता है और जिस पर दबाव गहरा नहीं उसकी कविता केवल घटनाओं के क्रम को स्थापित करती है। वह कविता के मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं करता केवल ऊपरी ढाँचे को बदलता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण युवा सोवियत कवि यूजीन एव्तिशेंको की कविताएँ हैं। उनकी कविताओं की सार्थकता राजनीति के उन संदर्भों में है जिनसे वे पैदा हुई हैं। कोई कविता अगर बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहती है तो यह उतनी चिन्ता का विषय नहीं जितना कि यह विरोध कि कविता लिखने वाले कवि की कविता की बनावट में कोई परिवर्तन नहीं आया। एव्तिशेंको की कविताओं का रूप बहुत हद तक परम्परागत है और उसमें कविता का संहार नहीं हुआ है जो कि आधुनिक कविता की पहली शर्त है। इसके विपरीत एव्तिशेंको के ही समकालीन कवि आन्द्रे वोज्जेनेस्सेंस्की की कविताएँ रूसी कविता के बदले हुए रूप से परिचय कराती हैं। वोज्जेनेस्सेंस्की की कविताएँ पढ़ते हुए अनुभव होता है कि वे केवल अपने समय की कविताएँ हैं; एव्तिशेंको की कविताएँ पढ़ते हुए लगता है कि अगर सोवियत समाज का भाग्य-परिवर्तन बीसवीं की जगह अट्ठारहवीं पार्टी कांग्रेस में हो गया होता तो भी उनकी बनावट वही होती। 'काम्सोमोल' की भाषा और येसेनिन के अंदाज़ में लिखी गई एव्तिशेंको की कविताएँ सोवियत समाज के गहरे संकट और अवसाद से परिचय नहीं करातीं। इसका यह अर्थ नहीं कि एव्तिशेंको की कविताएँ कविताएँ या कि उनकी कोई संगति नहीं। एव्तिशेंकों की कविताएँ अपनी जगह पर सार्थक और संगत हैं। लेकिन उनकी उस संकट से कोई संगति नहीं जो कि कविता को गहरा अर्थ देता है। मनुष्य के भीतरी अवरोध का, जिसकी सबसे अधिक संगति बदलते हुए सोवियत समाज में है, या कि समृद्धि के नरक में पड़े हुए व्यक्ति के अवसाद का या कि एक समूची सभ्यता की विफलता से उत्पन्न नैराश्य का कोई चिह्न एव्तिशेंको की कविताओं में क्यों नहीं? क्या इसका कारण यह है कि एव्तिशेंकों में साहस की कमी है? या कि यह कि राजनीति की क्रांति की सामाजिक और आध्यात्मिक परिणतियों से उन्होंने साक्षात्कार ही नहीं किया।

अपने पूर्ववर्तियों और समकालीनों की इसी विफलता की ओर इशारा करते हुए वोज्जेनेस्सेंस्की ने झुँझलाकर कहा :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कला और प्रेम, दोनों अनिश्चित थे,
निश्चित था एक-एक प्रश्न : वीएतनाम।"

जहाँ कवि की सारी शंकाएँ और सारे प्रश्न वीएतनाम, राज्य-क्रान्ति और चौथा चुनाव पर जाकर चुक जाती हैं वहीं कविता का ढोंग भी खत्म हो जाता है। समाज के गहरे संकट से पलायन अपने असली रूप में आ जाता है।

अपने समाज से किसने पलायन किया—मायाकोव्स्की ने या पास्तेरनाक ने। सतह पर नज़र आने वाले दृश्यों से साक्षात्कार को ही कवि का साक्षात्कार माननेवाले आलोचक यह कह सकते हैं और कहते रहे हैं कि मायाकोव्स्की ने अपने समय से नंगा साक्षात्कार किया और पास्तेरनाक ने उससे पलायन किया, जबकि स्थिति इससे विपरीत थी। अगर मायाकोव्स्की ने सचमुच ही अपने समय से साक्षात्कार किया तो क्यों नहीं उसमें सोवियत सभ्यता के उस संकट की छाया है जिसमें १९२४ में ही दरारें पड़ चुकी थीं। जार्जिया के किसानों के दमन और यहूदी बुद्धिजीवियों की हत्या के साथ ही सोवियत सभ्यता के भीतर अन्तर्विरोध पैदा हो चुका था; 'पतलूनधारी बादल' नंगे हो चुके थे। इस संकट से साक्षात्कार मायकोव्स्की की कविताओं में नहीं, उनकी आत्महत्या में और उनके अन्तिम नाटक 'खटमल' की उन पंक्तियों में हैं जो एक तरह से समूची सभ्यता के विरुद्ध मायाकोव्स्की का आर्तनाद है :

"नागरिको! भाइयो! मेरे अपने लोगो! प्रियजनो! तुम यहाँ कैसे आये? इतनी बड़ी संख्या में तुम सब! तुमने कब मुक्ति पा ली? इस पिंजरे में मैं अकेला क्यों हूँ? प्रियजनो! दोस्तो! आओ! मेरे साथ आओ! मुझे यह यातना क्यों? नागरिको!"

कविता कवि से आत्महत्या की माँग नहीं करती बल्कि उस मृत्यु से साक्षात्कार का आह्वान करती है जो अदृश्य है, भीतर है, गुमनाम है। सोवियत सभ्यता के लिए यदि पास्तेरनाक की संगति अधिक है तो इसका कारण यह नहीं कि पास्तेरनाक ने सोवियत क्रांति की विफलताओं का ब्यौरा प्रस्तुत किया, बल्कि इसलिए कि उन्होंने समूची सभ्यता के संकट से साक्षात्कार किया। राजनीति की सामाजिक और आध्यात्मिक परिणतियाँ कविता के लिए चुनौती होती हैं और बदले में कविता की स्थूल परिणतियाँ राजनीति के लिए चुनौती बनती हैं। कविता परिणतियों के स्तर पर राजनीति से साक्षात्कार करती है और राजनीति भी कविता की परिणतियों के स्तर पर उससे मुठभेड़ करती है। यद्यपि एक आलोचक को पास्तेरनाक के साहित्य की राजनीतिक परिणतियों से सरोकार नहीं होना चाहिए, मगर जहाँ राजनीति को कविता का धर्म मानकर पास्तेरनाक या उनके समानधर्मा कवियों को अ-राजनीतिक कहकर खारिज किया जा रहा हो वहाँ यह स्मरण दिला देना उचित होगा कि इस तरह की कविता का राजनीतिक आशय, जो कि सम्पूर्ण कविता के ढाँचे और अर्थ में है, अधिक गहरा और गम्भीर है। यह अकारण नहीं है कि पास्तेरनाक को उनके साहित्य के लिए उत्पीड़ित किया गया।

टॉमस मान ने यह ज़रूर कहा था कि हमारे युग में मानव-नियति अपने को राजनीति के माध्यम से व्यक्त करती है। मगर उन्होंने यह कब कहा था कि राजनीति अपने को कविता के माध्यम से व्यक्त करती है। यह सही है कि बीसवीं सदी के समस्त मानवीय सम्बन्धों पर राजनीति की छाया है। कवि या कि रचनाकार का क्षेत्र राजनीति के नियमों की खोज नहीं बल्कि इसी मानव-अनुभूति की तलाश है। 'हिरोशिमा : मेरे प्रेम' की लेखिका मार्ग्रेट दुरा ने 'हिरोशिमा' की भयावहता और मृत्यु को दर्शाने के लिए क्यों एक प्रेम-प्रसंग को चुना? क्यों नहीं उन्होंने 'हिरोशिमा' के संहार की राजनीति से साक्षात्कार के लिए एक राजनीतिक प्रसंग चुना? मनुष्य की सूक्ष्म अनुभूतियों पर युग की विकराल छाया के ज़रिये अपने संसार को उसकी समग्रता में पेश करना ही रचनाकार का दायित्व और नियति है। युग का स्वभाव निश्चित करने वाले नियमों की खोज उसका कार्य नहीं। आलोचक का, समाजशास्त्री का हो सकता है।

राजनीति के साथ ही युग की बनावट में भी परिवर्तन होता है और उसी के साथ-साथ स्त्री-पुरुषों के, राज्य और व्यक्ति के, रचनाकार और रचना के सम्बन्धों में परिवर्तन होता है और बदले हुए सम्बन्धों को पहचानना और उन्हें अर्थ देना ही कला की सार्थकता है।

साधारणतया जिसे विरोध की कविता कहा जाता है उसके अस्तित्व में वंचना होती है। विरोध की कविता का अर्थ है राजनीति से विरोध की कविता। इस तरह की कविता राजनीति की शर्तों पर उसका विरोध करती है; दूसरे शब्दों में, वह विरोध नहीं करती, वह राजनीति को कविता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्ष कार्य-क्षेत्र मानकर उसी के नियमों से अपना संगठन करती है। यह आकस्मिक नहीं है कि राज्यसत्ताएँ इस तरह के काव्य का स्वागत करती हैं बल्कि अभिनन्दन करती हैं। विरोध का विकल्प पलायन नहीं—बल्कि गहरा आत्म-साक्षात्कार है। आत्मसाक्षात्कार का साहित्य मनुष्यता, ममता, मुक्ति, स्वाधीनता जैसे अर्थ-खो-चुके शब्दों का साहित्य नहीं होता। वह उस संकट का साहित्य है, जिसके आगे मनुष्य अपने को गूँगा और अर्थहीन पाता है। संसार को संहार की ओर ले जा रही राज्यसत्ताएँ अपने लिए वास्तविक चुनौती इसी साहित्य में पाती हैं। छद्म-विरोधी साहित्य के स्वर-में-स्वर मिलाती हुई वे उसे 'अमानुषिक' और 'मानव-विरोधी' करार देती हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि सार्त्र के विरोधी संसार को सत्ताप्रतिष्ठान ने स्वीकृति दे दी; लेकिन बेकेट के नरक से साक्षात्कार करने का माद्दा उसमें नहीं। कारण स्पष्ट है। उसका असली चेहरा 'अल्तोना' या 'बंद कमरा' में नहीं बल्कि 'सुख के दिन' और 'गोदो का इंतज़ार' में है। तथाकथित राजनीतिक कविता की बनावट कला के मूल्यों का विरोध करती है। राजनीतिक कविता का आधार अनुभव नहीं विचार होता है। वह या तो किसी विचार को प्रतिष्ठित करती है या किसी प्रतिष्ठित विचार का विचार के स्तर पर विरोध करती है। दोनों ही सूरतों में वह विचार का समर्थन करती है और विचार के समर्थन के ज़रिये अनुभव को झुठलाती है। जिस कविता में, जैसे कि मुक्तिबोध की कविता में, विचार और अनुभव का अन्तर्विरोध हो उसे राजनीतिक कविता नहीं कहा जा सकता। मुक्तिबोध के लिए राजनीति एक तात्कालिक उत्तेजना है लेकिन उनकी चिंता का विषय समाज के भीतर चल रहा वह द्वंद्व है जिसकी गड़गड़ाहट 'अँधेरे में' या 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में सुनायी पड़ती है।

यदि 'मुक्तिबोध ने मूल्य के स्तर पर, आध्यात्मिक स्तर पर, या कि परिणतियों के स्तर पर अपने युग और उसकी राजनीति से साक्षात्कार न कर परिणतिविहीन, संकट-रहित, अर्थच्युत राजनीतिक संसार से साक्षात्कार किया होता तो उनकी कविताएँ अपने समस्त विशाल संदर्भों और गहरे अर्थों से विहीन होतीं। तब भी कविता और राजनीति पर बहस होती। मगर तब मुक्तिबोध के जन्मदिन पर नहीं।

३

नेमिचंद्र जैन

यह आकस्मिक नहीं है कि कविता और राजनीति के सम्बन्ध का प्रश्न, जो हिन्दी-लेखन के क्षेत्र में बीस-पच्चीस वर्ष पहले इतना प्रमुख बनने के बाद परवर्ती युग में कुछ दब गया था, अब पिछले दिनों फिर से उठने लगा है। कुछ वर्ष पहले मुक्तिबोध के काव्य और विचारों की ओर ध्यान जाना और उनका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में व्यापक स्वीकृति प्राप्त करना साहित्य के असली सरोकार के सम्बन्ध में बदलती हुई समझ की पूर्वसूचना जैसा था। किन्तु वास्तव में उसके पहले से ही, और उसके बाद से विशेष रूप से, पिछले दिनों के प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण लेखन में आज के आदमी की ज़िन्दगी को बड़ी सम्पूर्णता से नियमित और नियंत्रित करने वाली शक्ति के रूप में राजनीतिक सत्ता और उसके परोक्ष-प्रत्यक्ष प्रभावों और सम्बन्धों की अभिव्यक्ति इतनी अधिक बढ़ती गयी है कि इन प्रभावों और सम्बन्धों को परिभाषित करने और समझने के प्रयास से बचना असंभव है। यह सही है कि एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ के कारण हिन्दी-लेखक के लिए इस प्रयास में कुछ अतिरिक्त तीखापन आ जाता है। इसलिए सबसे पहले इस ऐतिहासिक संदर्भ को ही देखें।

यों तो इस जाँच-पड़ताल को रास्ते से ढकेलकर भटकाना हो तो कहा जा सकता है कि राजनीति और कवि का सम्बन्ध कोई ऐसा नया नहीं है। ऋग्वेद और महाभारत से लगाकर शूद्रक, विशाखदत्त, चंदवरदाई और भारतेन्दु तक न जाने कितने नाम गिनाये जा सकते हैं जो अपनी रचना में राजनीति को किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त करते रहे हैं। और भी हाल में नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, दिनकर आदि का नाम भी तथाकथित राष्ट्रीय कविता के संदर्भ में लिया जा सकता है। पर ऐसा करना प्रश्न को अनावश्यक अतिव्यापकता देकर उसे निरर्थक बनाना मात्र है। रचनाकार के लिए एक तीव्र सर्जनात्मक तथा नैतिक उलझन के रूप में, और पाठक तथा आलोचक के लिए एक महत्त्वपूर्ण मूल्य के रूप में, राजनीति और कविता के सम्बन्ध का प्रश्न चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में ही प्रकट हुआ। और इसके आन्तरिक और वाह्य दोनों ही प्रकार के बड़े तीखे और साफ़ कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। एक ओर हिन्दी कविता अपने उस छायावादोत्तर दौर में बड़ी संकुचित और क्षुद्र व्यक्तिगत सीमाओं में जकड़ती जा रही थी, उसका आन्तरिक और बाह्य परिवेश बड़ा सतही और भावुकतापूर्ण होता जा रहा था जो भावावेग, कल्पना के विस्तार और बौद्धिक प्रखरता और सजगता, सभी दृष्टियों से सीमित छायावादी काव्य की तुलना में भी कहीं अधिक सीमित था। वह शब्दशः टुटपूँजिया काव्य था जो निजी क्षुद्र सुख-दुःख, आशा-निराशा, सफलता-असफलता की अत्यन्त छोटी परिधि में चक्कर काटने लगा था। और छायावादी काव्य की तुलना में वह अधिक 'यथार्थ' और 'सच्चा' भले ही हो, उसमें न तो दृष्टि का विस्तार था न व्यक्तित्व का। इसलिए उस दौर के सर्जनशील कवियों में इस क्षुद्र और संकीर्णकारी दमघोंटू काव्य-स्थिति के विरुद्ध छटपटाहट और नया रास्ता खोजने की बेचैनी होना स्वाभाविक था।

दूसरी ओर बाह्य परिस्थितियों में भी वह एक गहरी उथल-पुथल का दौर था। विदेशी सत्ता के विरुद्ध आज़ादी की लड़ाई, जो पूरे राष्ट्रीय जीवन की सर्वप्रमुख केन्द्रबिन्दु थी, अब और भी तीखी होकर देश के अधिकाधिक वर्गों को, समुदायों को, व्यक्तियों को अपने भीतर खींच रही थी और किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के लिए उससे दूर रहना या उसकी भीतरी दुनिया का इस आँच से अछूता रह जाना असंभव होता जाता था। इसलिए उस दौर में बहुत-से कवियों का उग्र, क्रान्तिकारी और प्रायः वामपंथी राजनीति से कई स्तरों पर कई रूपों में नाता जुड़ा। इससे उनके जीवन की गतिविधि में तो बड़ा परिवर्तन आया ही, साथ ही अपने परिवेश के साथ उनका एक भिन्न प्रकार का सम्बन्ध बना, उनकी संवेदनाओं और सहानुभूतियों में, तथा समग्रतः उनके अनुभव-क्षेत्र में, विस्तार हुआ, और उनकी जीवन-दृष्टि अधिक प्रखर और सजग, व्यापक और समृद्ध हुई। कवि और परिवेश से उसके इस बदले हुए सम्बन्ध की अभिव्यक्ति हिन्दी की उस कविता में हुई जिसे, कुछ परवर्ती आलोचकों की मूढता के कारण, और कुछ स्वयं उस दौर के कवियों में से कुछ के निजी उद्देश्यों के तथा कुछ की मानसिक अस्पष्टता के कारण, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी नामक दो खानों में बाँटकर देखा-पहचाना गया। इस कविता के समर्थ अंश में—और वह अंश बहुत बड़ा है—राजनीति की कई स्तरों पर अभिव्यक्ति हुई थी : राजनीतिक परिस्थितियों और संघर्षों के सीधे विवरण के रूप में, उनसे उत्पन्न विभिन्न मानवीय सम्बन्धों के चित्रण के रूप में, अथवा समग्र परिवेश अथवा विशेष राजनीतिक परिवेश के साथ कवि-व्यक्ति के निजी सम्बन्ध के रूप में। ये कवि यथाशक्ति अपनी नयी प्राप्त जीवन-दृष्टि को कविता में अभिव्यक्त करके अपने बाह्य और आन्तरिक जीवन को समझने और परिभाषित करने का, और इस प्रकार इंसान की हालत को पहचानने का प्रयास कर रहे थे।

निस्संदेह यह व्यापक अर्थ में राजनीति के साथ 'संपूर्ण-लगाव' को सूचित करता था, पर यह कहना ईमानदारी नहीं है कि ये कवि संकुचित अर्थ में राजनीतिक कविता को ही एकमात्र प्रकार मानकर बाकी सब कविता को रद्दी समझते थे। वास्तव में कवि का अपने परिवेश के साथ, जिसे वह व्यापक अर्थ में राजनीति के माध्यम से पहचान रहा था, यह नया उलझाव पूर्ववर्ती अथवा समकालीन राष्ट्रीय कवियों से मूलतः इस बात में भिन्न था कि वह सर्जनात्मक कवि-कर्म की तलाश का एक हिस्सा था। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इस कविता में राष्ट्रीय कवियों की भाँति परिवेश के प्रति सामान्य भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के बजाय उसके यथार्थ विभिन्नीकृत स्वरूप तथा उसके भीतर चलने वाले द्वन्द्व को भी पहचानने, तथा विदेशी सत्ता के साथ-साथ अपने समाज के भी मानवद्रोही और परोपजीवी तत्त्वों को देखने और परिभाषित करने का प्रयास था। फलस्वरूप ये कवि अनिवार्यतः उग्रपंथी राजनीतिक दलों की ओर खिंचे और बहुत-से साम्यवादी दल के भी सक्रिय सदस्य हुए। यह बात एक पूर्वग्रहपूर्ण सरलीकरण है कि उस दौर के कवियों ने किसी दल का सदस्य होने के कारण ही तथाकथित राजनीतिक कविताएँ लिखीं; असलियत यह थी कि अपनी कविता में एक उग्र राजनीतिक दृष्टि और यथार्थ को अभिव्यक्त करने की आन्तरिक बाध्यता और प्रयास में ही वे बहुत बार उनके अनुरूप राजनीतिक दल की ओर आकर्षित हुए।

किन्तु इस सारी परिस्थिति में ही एक अंतर्विरोध और आन्तरिक संघर्ष के बीज मौजूद थे जिसका शीघ्र ही इन कवियों ने कई स्तरों पर कई प्रश्नों के रूप में सामना किया। कवि का अपने परिवेश के साथ क्या सम्बन्ध है ? वह क्या केवल उसका द्रष्टा, पर्यवेक्षक, आलोचक, टिप्पणीकार रहे या उसके बदलने के कार्य में—जो प्रत्यक्ष राजनीतिक कार्य का ही दूसरा नाम है—सक्रिय भाग ले ? परिवेश के प्रति वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्दोलनकारी का दृष्टिकोण अपनाये या नहीं ? राजनीतिक कर्मी अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपने समस्त कार्य को बहुत-से छोटे-छोटे अतिसरलीकृत चरणों में बाँटकर देख सकता है और देखता है। पर कवि यदि समग्रता को उसके जटिल, उलझे हुए, बहु-आयामी रूप में देखता है तो वह क्या करे ? अपने राजनीतिक कर्मी या सहभागी और कवि-व्यक्तित्वों में कैसे और किस प्रकार का सामंजस्य स्थापित करे ? इसके अतिरिक्त राजनीतिक परिस्थिति और कार्य जीवन का महत्त्वपूर्ण अंश होने पर भी वह सम्पूर्ण जीवन तो नहीं है, कम-से-कम अपने सीमित अर्थ में तो नहीं ही है। यदि राजनीतिक कर्तव्य और निजी इच्छाओं-आकांक्षाओं में संघर्ष हो, या ऐसा जान पड़े, तो कवि क्या करे ? बाकी जीवन की आवश्यकताओं और राजनीतिक जीवन तथा कार्य की आवश्यकताओं के बीच कैसे और क्या संतुलन अथवा सामंजस्य पैदा हो ? उस दौर के बाह्य तथा आन्तरिक जगत् के प्रति नयी दृष्टि से आत्मसजग कवि ने इन सभी प्रश्नों को बड़ी तीव्रता से अपने सामने पाया। और वह इनके कई प्रकार के समाधान खोजने में उलझता रहा।

किन्तु उसके अन्तर्द्वन्द्व का केवल यही स्तर न था। राजनीतिक संघर्ष के तीव्र, प्रबल और अधिक सजग होने की एक अनिवार्य परिणति यह भी थी कि राजनीतिक आदर्शों और व्यवहार में, व्यापक मानवीय मूल्यों और तात्कालिक राजनीतिक सिद्धान्तों और कार्यों में, साध्य और साधन में, अन्तर्विरोध भी धीरे-धीरे प्रकट होकर तीव्र होने लगा। तेज़ी से बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के व्यापक नैतिक-मानवीय मूल्यों के साथ सम्बन्ध के बारे में कवि और राजनीतिक कर्मी की दृष्टि में मौलिक अन्तर हो सकता है, होता भी है। जहाँ दलगत अनुशासन कवि से एक विशेष प्रकार की तात्कालिक प्रतिक्रिया की अपेक्षा या माँग कर सकता है, वहाँ कवि का अपना आन्तरिक अनुशासन और समग्र जीवन-बोध किसी भिन्न परिप्रेक्ष्य और परिणति की प्रतिक्रिया के लिए बाध्य कर सकता है।

हमारे देश की विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियों में पाँचवें दशक में यह संघर्ष बड़ा तीव्र हो गया और बहुत-से कवि अपने परिवेश और अपने अनुभव तथा उसकी काव्यगत अभिव्यक्ति के सम्बन्ध को फिर से निर्धारित तथा परिभाषित करने के लिए बाध्य हुए। राजनीतिक दलों के व्यवहार और कार्यक्रम तात्कालिक लाभ के लिए जिस अवसरवादिता और सिद्धान्तहीनता, सरलीकरण और यथार्थ को इच्छित रूप में पेश करने की प्रवृत्ति से ग्रस्त थे, उसमें कवि का विद्रोह करना अनिवार्य था। उसी समय और उसी पृष्ठभूमि में 'अनुभूति की प्रामाणिकता' की बात इन कवियों ने उठाई थी। एक प्रकार से यह प्रश्न को सरल करके देखना ही था, पर उसके पीछे एक प्रेरणा स्पष्ट थी कि कवि के लिए सचाई की तलाश में, किताबी, सैद्धान्तिक अथवा प्रचारात्मक नुस्खों की बजाय, अपने निजी अनुभव पर ही भरोसा करना अधिक विश्वसनीय है। किन्तु इस आवाज़ में सिद्धान्त या जीवन-दृष्टि को, सचाई को पहचानने में बुद्धि के इस्तेमाल को, महत्त्वहीन मान बैठने की सम्भावना और प्रवृत्ति भी मौजूद तो थी।

व्यापक जीवनदृष्टि और प्रत्यक्ष अनुभव के बीच सम्बन्ध खोजने और स्पष्ट करने के कवियों के इस अन्त:संघर्ष को पाँचवें दशक की एक अन्य राजनीतिक परिस्थिति ने दुर्भाग्यवश और भी गलत दिशा की ओर मोड़ दिया। यह परिस्थिति थी दूसरे महायुद्ध के बाद से संसारव्यापी शीतयुद्ध का वातावरण, जिसमें कविता में राजनीति-विरोध एक विशेष राजनीतिक दृष्टि का आधार बन गया था। फलस्वरूप कवि का राजनीति से, बल्कि किसी भी प्रकार की व्यापक जीवनदृष्टि मात्र से, अपने को जोड़ना संकीर्णता का पर्याय समझा जाने लगा। शाश्वत मानव-मूल्यों के नाम पर एक विचित्र प्रकार की सरलीकृत अनुभववादिता का आग्रह होने लगा। इस बात पर ज़ोर दिया जाने लगा कि कवि को राजनीतिक जीवन से, राजनीतिक संघर्ष और आन्दोलन से, सम्बद्ध ही नहीं होना चाहिए। किसी राजनीतिक दल से सम्बद्ध होना या सहानुभूति रखना कवि के भ्रष्ट होने का सूचक बताया जाने लगा। दिलचस्प बात यह है कि यदि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' या माखनलाल चतुर्वेदी का कांग्रेस का सक्रिय कार्यकर्ता होना कवि-धर्म से भटकना नहीं माना गया, भले ही उनकी कविता हीनतर कविता समझी गई हो, तो उसका कारण यही था कि उनकी और कांग्रेस की राजनीति एक सर्वसामान्य और अविभक्त राजनीति थी। किन्तु पाँचवें दशक के कवियों की राजनीति अधिक उग्र और वामपंथी थी और पाँचवें दशक का राजनीति-विरोध राजनीति मात्र का विरोध न होकर वास्तव में उस उग्र राजनीति का विरोध था। यही कारण है कि इसी दौर में लिखे गए धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' की प्रायः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

021550

अप्रच्छन्न राजनीति पर यह आपत्ति न उठी, पर नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल की कविता को लेकर और सामान्यतः प्रगतिवादी कहे जाने वाले कवियों-लेखकों के कृतित्व के संदर्भ में यह आलोचना होती रही। उस पूरे दौर में मुक्तिबोध के उपेक्षित रह जाने का अन्य कई कारणों में यह भी एक बड़ा कारण था कि उनकी कविता एक उग्र, दोटूक जीवनदृष्टि और राजनीतिक सहानुभूतियों तथा मान्यताओं पर आधारित थी। जो हो, महत्त्वपूर्ण बात यह समझ लेना है कि कविता में और व्यापक जीवनदृष्टि तथा संकीर्ण दलगत राजनीतिक कार्यक्रम में यह अलगाव, कविता का एक अलग स्वायत्त शाश्वत जान पड़ने वाला संसार रचने का आग्रह, दो स्पष्ट तथा सर्वथा भिन्न दबावों के कारण और दो अलग-अलग स्तरों पर था। और स्वयं कवियों के मन में एक दैनन्दिन राजनीति की सरलीकृत और फार्मूलाबद्ध व्याख्याओं को छोड़कर अपनी निजी प्रामाणिक अनुभूति पर आग्रह था तथा घिसी-पिटी, विवरणात्मक, सतही नारों की भाषा की बजाय अपनी अद्वितीय मौलिक और व्यंजनापूर्ण भाषा की तलाश थी। दूसरी ओर कुछ अन्य लोग जाने-अनजाने एक विश्वव्यापी राजनीतिक दृष्टि के फलस्वरूप सर्जनात्मक कार्य को व्यापक जीवन-परिप्रेक्ष्य से काटकर, प्रभावी सामाजिक कार्य और अनुभव से विच्छिन्न कर, एक सीमित निजी बिम्बलोक की सृष्टि पर ज़ोर दे रहे थे। इस प्रकार हिन्दी कविता के व्यापक परिवेशगत प्रश्नों और जीवनदृष्टि और अनुभव से विच्छिन्न हो जाने के पीछे जहाँ कवि के अपने निजी आन्तरिक दबाव सक्रिय थे, वहीं एक अन्य राजनीतिक रुझान भी उसे स्वयं अपनी सार्थकता से काटकर एक ऐसी मरीचिका में ठेले लिए जा रहा था जो परवर्ती वर्षों में हिन्दी कविता के लिए बहुत घातक सिद्ध हुई।

ऐतिहासिक संदर्भ की यह इतनी लम्बी चर्चा इसलिए आवश्यक है कि कविता और राजनीति की आज की बहस में भी, एक भिन्न और नए स्तर पर, वे सारे सवाल मौजूद हैं जो पिछले दौर में थे। उत्तरछायावादी काव्य की भाँति ही पिछले आठ-दस वर्ष की अधिकांश हिन्दी कविता 'भोगे हुए यथार्थ' के नाम पर एक विचित्र प्रकार की मानसिक रुग्णता, संकीर्णता और क्षुद्रता में भटकती रही है, उसने क्रमशः अपना एक काल्पनिक काव्य-संसार रच लिया है जो कभी-कभी सुन्दर और तीखा होने पर भी मूलतः सीमित और सार्थकताहीन है और जीवन्त दुनिया के हाशिये पर स्थित है। कविता को सार्थक बनाने के लिए उसे जीवन के वृहत्तर और महत्त्वपूर्ण अनुभव और परिप्रेक्ष्य से, ज़िन्दगी को किसी-न-किसी प्रकार से रचने और बदलने के अनुभव से, जोड़ना सर्वथा आवश्यक हो गया है। दूसरी ओर हमारे देश का पूरा जीवन एक ऐसे तीव्र उथल-पुथल और संकट के दौर से गुजर रहा है कि कोई भी संवेदनशील और जागरूक व्यक्ति, मानव-नियति के बारे में उद्विग्न और उसके भविष्य से सरोकार रखने वाला व्यक्ति, सर्वथा आत्मस्थ होकर नहीं बैठ सकता। विश्व के स्तर पर, एक ओर सीमाहीन प्राविधिक विकास और मानवीय सर्जनात्मक क्षमता के नए-नए क्षितिजों का उद्‌घाटन और दूसरी ओर स्थापित व्यवस्था के दिनोंदिन बढ़ते हुए विराट् संवेदनहीन अमानवीय तन्त्रों की स्वार्थपरता के कारण सर्वग्रासी मानव-विनाश की छाया; और देश के स्तर पर, शताब्दियों से जड़ताग्रस्त करोड़ों नर-नारियों के भीतर सिर उठाती आत्मचेतना और दूसरी ओर जीवन के हर स्तर पर आडम्बर, पाखंड, ढोंग, झूठ और भ्रष्टाचार का दौरदौरा—इस युग के मूलभूत अन्तर्विरोधों के ये निरन्तर चुभने वाले छोर किसी ईमानदार आदमी को चैन नहीं लेने देते। राजनीति आज इस प्रकार इतने विविध रूपों में और इतनी दूर तक समुदाय और व्यक्ति के जीवन में घुस आई है कि उससे किसी के लिए तटस्थ होने की गुंजाइश नहीं। किसी-न-किसी स्तर पर राजनीति में उलझे बिना तो आज की ज़िन्दगी के यथार्थ को, उसकी सचाई और उसके झूठ को, पहचानना तक असम्भव हो गया है। और यह आकस्मिक नहीं कि फिर एक बार कवि अपनी अस्मिता की खोज में ही, सचाई की तलाश में ही, अपने को राजनीति से घिरा हुआ पाता है। यह स्पष्ट है कि जो कवि अपनी कविता में इन्सान की हालत को समझने और परिभाषित करने का दावा करता है, जो अपने ज़माने के सार्थक अनुभव को मूर्त करने के लिए उलझ रहा है, वह राजनीतिक परिस्थिति, कार्य और दृष्टि से अपने को विलग नहीं कर सकता। और यह भी आकस्मिक नहीं कि पिछले दौर की भाँति **आज भी कविता को राजनीति से दूर रखने की बात अन्ततः एक मानवविरोधी राजनीति की ही एक युक्ति है—उन स्थापित व्यवस्थाओं के हित में है जो नहीं चाहतीं कि अपनी नियति को स्वयं अपने हाथ में लेने और**

R
८४
दि ३.६.आ
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे बदलने की इन्सान की कोशिश में कवि और कविता किसी प्रकार सहायक हो। कविता और राजनीति के संबंध को समझने में इस सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य की सुस्पष्ट चेतना आवश्यक जान पड़ती है।

किन्तु यह संदर्भ और उसकी ऐसी चेतना अपने-आपमें कविता और राजनीति के अत्यन्त उलझे हुए सम्बन्ध को समझने के लिए नाकाफ़ी है। इस बात की कुछ गहराई में जाकर पड़ताल ज़रूरी है कि कविता के संदर्भ में राजनीति से क्या अभिप्राय है, कवि राजनीति से सम्बन्ध किस प्रकार और किन-किन स्तरों पर बनाता है और फिर वह सम्बन्ध किस प्रकार कविता में प्रकट होता है। जहाँ तक आम आदमी का सवाल है वह राजनीति से प्रायः दो रूपों में सामना करता है: नागरिक की हैसियत से चुनाव आदि में हिस्सा लेकर और विभिन्न दलों के कार्यक्रमों, आन्दोलनों, प्रचार आदि में सक्रिय सहयोग द्वारा अथवा उदासीन दर्शक की भाँति; दूसरे, राज्य की विभिन्न नीतियों से उत्पन्न परिस्थितियों, नियंत्रणों अथवा वैयक्तिक लाभ का, सुविधाओं अथवा दमन का अनुभव अथवा सामना करके। अधिक सुशिक्षित, संवेदनशील और जागरूक नागरिक इन सभी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष स्थितियों के पीछे कार्यशील विभिन्न शक्तियों के पारस्परिक तथा आन्तरिक द्वन्द्वों की भी तलाश या पहचान करता है। नागरिक के रूप में कवि भी इस अनुभव के सभी रूपों से गुज़रता है, या कम-से-कम उसे गुज़रना चाहिए. बल्कि औसत से अधिक संवेदनाशील और इन्सान की नियति के बारे में अधिक जागरूक और बेचैन व्यक्ति की हैसियत से उसका ज़िन्दगी के इस अनिवार्य महत्त्वपूर्ण अनुभव से और भी गहरा लगाव होना आवश्यक है।

दरअसल, आम आदमी से कवि की भिन्नता इस बात में नहीं कि कवि का जीवन की इस अनिवार्य और बुनियादी परिस्थिति से कोई सरोकार नहीं, बल्कि इस बात में है कि इस अनुभव को वह किस रूप में ग्रहण या आत्मसात करता है, मानवीय सम्बन्धों और स्थितियों के बारे में उससे क्या नतीजे निकालता है, उन्हें किन मूल्यों से और किस प्रकार जोड़ता है, और फिर इस सबको किस तरह निचोड़कर कविता में व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए, दलगत कार्यक्रम या राजनीतिक लक्ष्य और उनके लिए होने वाले आन्दोलनों को ही लें। क्या उनसे सर्वथा बचकर, केवल द्रष्टा, अवलोकनकर्ता रहकर ही वह इस पूरी प्रक्रिया और आदमी की परिस्थिति पर पड़ने वाले उसके प्रभाव को जान सकता है? क्या राजनीतिक लक्ष्य मानवीय मूल्यों के साथ जुड़े हुए नहीं हैं? और ठोस व्यवहार में उनकी जाँच-पड़ताल के बिना क्या मूल्यों की मानवीय सार्थकता और प्रासंगिकता समझी जा सकती है? एक और स्तर पर भी ये प्रश्न बहुत ज़रूरी हैं। क्या कवि का काम इतना ही है कि वह दूर से सब-कुछ देखता और टिप्पणी करता रहे? या अपने अनुभव को जाँचने-परखने के लिए उसे स्वयं सहभागी और सहकर्मी भी होना चाहिए, किसी लक्ष्य की प्राप्ति के कार्य में दायित्व लेकर सक्रिय प्रयास करना चाहिए? क्या केवल **बौद्धिक दिलचस्पी** से यथार्थ की पहचान हो जाती है, या उस पहचान के लिए उस यथार्थ को बदलने के कामों में हिस्सा लेना भी आवश्यक है? अधिकतर आदमी के सामने कोई चरम स्थितियाँ नहीं होतीं, यानी इन्सान की अपूर्णताओं को देखते हुए, चुनाव पूरी तरह अच्छे और पूरी तरह बुरे के बीच कभी नहीं होता; अधिकांश मानवीय व्यापार की भाँति राजनीति में भी निरन्तर दो बुराइयों में से किसी छोटी बुराई को या शायद सबसे सार्थक संभावना को चुनने की अनिवार्यता होती है। यह आदर्श स्थिति नहीं है, पर यही तो कठिनाई है कि आदर्श स्थिति कभी उपलब्ध नहीं होती, इसके बावजूद इंसान अपनी स्थिति को बदलने के लिए निरन्तर जूझता रहता है। तो फिर कवि ही बहुत बार क्यों यह सुविधा चाहता जान पड़ता है कि वह केवल अस्वीकार करे, सबकी और सब-कुछ की आलोचना करता रहे, सबसे ऊपर अलग खड़ा रहे, दो बुराइयों में से किसी एक को चुनने की अनिवार्य ज़िम्मेदारी से बचे? क्या बहुत हद तक राजनीति से कविता को अलग रखने की बात स्वयं कवि के इस ज़िम्मेदारी से बचने का बहाना मात्र नहीं होती?

बचने की इस प्रवृत्ति का ही एक अन्य रूप यह घोषणा भी है कि आज तो समस्त राजनीति टुच्ची और मानवद्रोही हो गयी है; कि स्थापित व्यवस्था के बड़े-बड़े तन्त्रों के बीच मानव-व्यक्ति एकदम अकेला है, असहाय है, कुछ भी कर सकने में असमर्थ है; कि हर राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार ने इंसान के साथ दग़ा की है, और वे सब फ़रेब, पाखंड और विराट् सामूहिक शक्ति के द्वारा प्रतिरोध के दमन पर कायम हैं। किसी हद तक आज की राजनीतिक हालत का यह मूल्यांकन शायद सही है। पर फिर? क्या इस स्थिति में उसका विरोध और भी आवश्यक नहीं हो जाता? अपना सब-कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दाँव पर लगाकर उसको चुनौती देने के कार्य में क्या कवि को सबसे आगे नहीं होना चाहिए ? पर क्या यह केवल चरम अस्वीकार के द्वारा हो सकता है ? दूसरे शब्दों में **राजनीति मात्र** का विरोध आवश्यक है अथवा **राजनीति विशेष** का ? कवि को आत्महत्या या चरम ध्वंस की अनिवार्यता की घोषणा करनी है या आत्महत्या के विरुद्ध खड़े होना है ? आज की ज़िंदगी का अर्थ तलाश करने वाला कोई भी सार्थक कवि अन्ततः इस प्रश्न से बच नहीं सकता। **मानव की चरम व्यर्थता और अनिवार्य अन्धकारपूर्ण भविष्य की घोषणा भी अन्ततः एक राजनीति ही है चाहे कवि स्वयं उसे राजनीति के रूप में पहचानता हो अथवा नहीं। स्थायी रूप से विरोध में रहने की प्रतिज्ञा भी किसी-न-किसी प्रकार की पक्षधरता या प्रतिबद्धता के संदर्भ में ही मूल्यवान हो सकती है।** प्रश्न सहज आशावादिता का नहीं, किसी-न-किसी स्तर पर जीवन के साथ, मानव-भविष्य के साथ प्रतिबद्ध होने का, और उस प्रतिबद्धता के परिप्रेक्ष्य में अपने अनुभव को जाँचने का है। इस प्रकार कवि राजनीति से अनेक रूपों में और अनेक स्तरों पर जुड़ा हुआ है, चाहे यह सचेतन रूप में हो चाहे अनजाने ही, यद्यपि जिस हद तक कवि इस विषय में सचेतन होगा, उसी हद तक वह व्यक्ति के रूप में और कवि के रूप में, अपने कार्य को अधिक सक्षम और सार्थक बना पायेगा।

राजनीति के साथ कवि के इस बहुमुखी सम्पर्क को देखते हुए यह कहना प्रायः बेमानी है कि कविता का राजनीति से कोई वास्ता नहीं। जो अनुभव कवि के जीवन और व्यक्तित्व से इतना गहरा जुड़ा है, उसका कविता से कोई सम्बन्ध न होना कैसे तर्कसंगत हो सकता है ? वास्तव में इस वक्तव्य के पीछे एक विचित्र प्रकार का भय और सरलीकरण है : कवि से राजनीति के सम्बन्ध को उसके अनेक स्तरों पर स्वीकार करते हुए भी, कविता में राजनीति को उसके सबसे प्राथमिक और यांत्रिक रूप में, किसी दल के आदेशानुसार अथवा उसके कार्यक्रम को चरितार्थ करने के लिए रचे जाने के अर्थ में ही समझा जाता है। इस भय का एक कारण शायद वह पिछला अनुभव हो जब बहुत-से कवि इस परिस्थिति में सचमुच उलझकर अपने मार्ग से हट गए थे। पर ऐसा सरलीकरण तो किसी भी अनुभव को लेकर हो सकता है—स्त्री-पुरुष के तथा अन्य मानवीय सम्बन्धों के विषय में, व्यक्तिगत सुख-दुख, आशा-निराशा, कुण्ठा-उल्लास के विषय में, अथवा किसी भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभव के विषय में। वास्तव में कवि अपने किसी भी अनुभव को भाषा में किस प्रकार संगठित करता है या कर पाता है, यह प्रतिभा के अतिरिक्त उसके अनुभव के रूप, विस्तार, गहराई और उसके उपयुक्त सही भाषा की तलाश पर ही निर्भर है, चाहे वह अनुभव किसी टूटती हुई समाज-व्यवस्था का हो, चाहे किसी औरत के साथ सोने का। असमर्थ कवि के हाथ में दोनों ही अनुभव निरा निर्जीव शब्दजाल मात्र रह जा सकते हैं; उससे किसी अनुभव-विशेष का कविता के लिए विशेष उपयुक्त या अनुपयुक्त होना नहीं साबित होता। वास्तव में **कवि के लिए राजनीति एक स्तर पर इंसान की हालत का साक्षात्कार है तो एक अन्य स्तर पर इस साक्षात्कार का साधन भी है।** कवि का उद्देश्य कविता द्वारा चाहे अपनी अस्मिता की खोज करना हो, चाहे मानव की दशा और समाज के संकट से साक्षात्कार करना, हर हालत में राजनीति का उपयोग किये बिना, और उसी के माध्यम से असली हालत को पहचाने बिना आज वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। कवि सीधे राजनीतिक संसार की रचना भले ही नहीं करता हो, पर जो भी संसार वह कविता में रचता है वह यदि सार्थक है तो राजनीति के अनुभव से और उसी के औज़ारों से बना हुआ संसार होता है। सारी सार्थक और समर्थ कविता किसी-न-किसी स्तर पर परिवेश से आदमी के सम्बन्ध को, आदमी-आदमी के सम्बन्ध को, अपने-आपसे आदमी के सम्बन्ध को, नये सिरे से परिभाषित करती है जो राजनीति से बचकर और बाहर जाकर नहीं किया जा सकता। एक पूरे लम्बे दौर में हम इस ग़लतफ़हमी में पड़े रहे कि राजनीति के संसर्ग से कविता भ्रष्ट हो जाती है। इस बहाने हम एक घटिया राजनीति के शिकार तो होते ही रहे, साथ ही इस प्रक्रिया में कविता से हमने उस जीवन्त और सर्जनात्मक तत्त्व को निकाल दिया जो कविता को इन्सान का सबसे मूल्यवान और अनोखा दस्तावेज़ बनाता है। और आज भी यह कहना कि राजनीति और कविता के सम्बन्ध पर चर्चा से रचनाकार को कोई मतलब नहीं, न केवल घटिया और 'लचर' राजनीति है, बल्कि बुद्धि के दिवालियेपन का भी सूचक है। जैसा प्रारम्भ में ही कहा गया, मौजूदा दौर में परिवेश के साथ कवि के सर्जनात्मक सम्बन्ध के मानक राजनीति में सिर से पैर तक डूबे हुए मुक्तिबोध के काव्य में मिलते हैं, किसी चक्रान्त शिला के खोजी अज्ञेय की कविता में नहीं। और यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य ही है कि आज का हर संवेदनशील और क्षमतावान् कवि अपने निजी खोल से निकलकर व्यापक मानवीय जगत् के साथ अपने सम्बन्धों की नये सिरे से तलाश को अपने कविकर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण दायित्व माने और इसके लिए राजनीति के माध्यम से मिलने वाले असलियत के 'नंगे संस्पर्श' की ओर बेझिझक बढ़े।

४

रघुवीर सहाय

'कविता और राजनीति'—इस विषय से पहले-पहले तो मन में उलझन है कि यह कोई विषय है भी या नहीं। मैं तो यह मानता रहा हूँ कि कवियों को कविता पर बहस करनी चाहिए राजनीति पर नहीं। राजनीति पर बहस से कवि उलझन में पड़ सकता है इसलिए वह हमेशा कतराता रहा है। मैं चाहता हूँ कि राजनीति पर अलग बहस करूँ, कविता पर अलग। कवि जब भी इस सवाल पर बोलने चलता है तो वह अपने-आपको सफ़ाई देने के लिए मजबूर नहीं पाता, सुनने वाले सफ़ाई चाहते हैं। मेरे मन में स्पष्ट है कि कवि-कर्म अलग है राजनीति अलग। जीवन-वृत्ति के स्तर पर दोनों एकदम अलग हैं। अगर मैं अभी कहूँ कि मैं अपने देश में नेताशाही नहीं होने दूंगा तो कोई राजनीतिक दल समर्थन नहीं करेगा। मेरे लिए बहुत बड़ा मूल्य है स्वातंत्र्य का। जब सत्ता मेरे पास होती है तब वह होती है। दोनों बातों को चलाने का प्रयत्न ग़लत है। जो दोनों बातों को जोड़ देते हैं वे अँधेरे कोने की फिसलन में फिसल जाते हैं, जब तक कोई राजनीतिक नहीं लिखता तब तक वह राजनीतिक कविता नहीं होती। कविता राजनीतिक नहीं होती, कविता कविता ही होती है। दोनों तरह की जीवन-विधियों में जो अन्तर होता है वह रहता ही है। जहाँ दोनों जुड़ते हैं वह कवि का अंतस् है। आपको कविता से मतलब है। मैं अपने अंदर अपने को कितना पाता हूँ, मैं कैसी विचारधारा को मानता हूँ, इन सबसे आपको कोई मतलब नहीं। आपको मेरी कविताओं से मतलब है। मैं इस बात को तरह-तरह से कई बार कह चुका हूँ।

मैं जानता हूँ कि इस जीवन को, समाज को, मनुष्य को, हो सके तो मनुष्य की जाति को बदलना है। यह मैं अपना परम कर्त्तव्य मानता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि इसको बदलने के लिए मुझे यह जानते हुए कि यह व्यवस्था अधूरी है, यह जानते हुए कि वह मनुष्य का दमन करने लगता है। समाज में संगठन चाहिए। संगठन का मतलब है सरकार। जब तक ऐसा मनुष्य समाज की कहीं परिणति होते नहीं देखता तब तक हमें सरकारों की ज़रूरत है। सरकार ज़रूरी है। सरकार ही एक साधन है समाज को बदलने का, सही और अनुकूल साधन। आप किसी दूसरे के माध्यम से जानते हैं तो उसके प्रति अन्याय होगा। अपनी चिड़िया वाली कहानी का हवाला देते हुए कहूँ तो कवि वह चिड़िया है जो अपनी पीड़ा में फँसा हुआ है। आलोचक वह व्यक्ति है जो यह समझता है कि शायद उसने सब समझ लिया है और कवि को मुक्त कराने के लिए बेचैन हो जाता है।

यह एक बड़ा अद्भुत सत्य है अपनी राजनीतिक मान्यताएँ कहीं न प्रकाशित करना। विश्वविद्यालय को आप लें, वहाँ जिन मान्यताओं को लेकर साहित्य की समीक्षा की जाती है, वे सर्वविदित हैं। विश्वविद्यालय से बाहर कोई भी आलोचक आधुनिक रचना को लेकर जैसे ही अपना आलोचना-शास्त्र बनाना चाहता है वैसे ही वह एक दूसरे दर्जे का प्रतिष्ठान बन जाता है। वैसे ही उसकी क़ीमत हो जाती है। जब मैं कविता लिखता हूँ तो आपके सामने कविता रख देने के बाद मेरा काम समाप्त हो जाता है। लेकिन जब आलोचक व्यंग्य करता है तो वह तमाम ऐसे प्रतिष्ठानों की ओर चलना शुरू कर देता है जो उसके विरोधी हैं। कवि का सबसे अच्छा साथी उसका पाठक है। मैं जो कुछ भी लिखता हूँ वह समाज बदलने के लिए पहले से प्रतिश्रुत होकर नहीं लिखता, अपने से प्रतिश्रुत होकर लिखता हूँ इसलिए मैं किसी भी आलोचक को यह अधिकार नहीं दे सकता कि वह मेरी कविता की आलोचना राजनीतिक दृष्टि से करे।

आज से तीन साल पहले, नेहरू की मृत्यु से थोड़ा-सा पहले एक धारा चली थी कि राजनीति से हमें कोई मतलब नहीं। वह राजनीति की एक बहुत बड़ी धारा से सम्बद्ध थी। राजनीतिक तरीकों को अपनाने से साहित्य का हमेशा क्षय होता है, लेकिन उससे अलग कोई तरीक़ा नहीं होता, इसलिए उसे स्वीकार करना पड़ेगा—पीड़ा से स्वीकार करना पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० लोहिया का तमाम साहित्यिकों से परिचय था, फिर भी साहित्य के सम्बन्ध में साहित्यिकों पर अपनी राय लादने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। मैं कवि हूँ, मैं राजनीति में हिस्सा लेता हूँ। मैं राजनीति में हिस्सा लेता हूँ इसलिए कविता करता हूँ, जैसे ही यह कहूँगा मेरी मृत्यु निश्चित है। यह जो समय है वह तमाम राजनीतिक व्यवस्थाओं के टूटने का समय रहा है। ऐसे समय पर सतही तौर पर यह मान लेना कि कविता और राजनीति का सम्बन्ध है, बहुत बड़ा धोखा होगा। वास्तव में हम जानते हैं कि भाषा के माध्यम से किसी भी तरह के सम्वेदन को व्यक्त करना कठिन और प्रायः असंभव होता है। जिसे सामान्य भाषा में विरोध कहा जाता है वह तो और भी असंभव। सारे समाज में लोग अपना मित्र नहीं अपना शत्रु ढूँढते फिरते हैं। शासनतंत्र भी यही चाहता है।

जो पहले कहते थे कि उन्हें राजनीति से कोई मतलब नहीं, बाद में कहने लगे हैं कि वे ही इस विरोध के वाहक बने रहे हैं। एक और राजनीतिक चक्र चलता है जो कहने लगता है कि राजनीति सबसे भ्रष्ट है। लेकिन उस विद्रोह को मनुष्य की नियति का वाहक बनाना होगा।

५

कृष्णनारायण कक्कड़

मुझसे कहा गया है कि मैं एक आलोचक के रूप में बोलूँ। मेरे लिए यह कठिन है। श्रीकान्त वर्मा जब कुँवर नारायण पर लिखते हैं तब वह आलोचक होते हैं, जब मैं दूसरे कवि पर लिखता हूँ तो मैं भी आलोचक होता हूँ। श्रीकान्त वर्मा की बहुत-सी बातों से मैं सहमत नहीं हूँ। कवि और आलोचक में जो 'डेकाटामी' बनाया जाता है वह बहुत ही ग़लत है। इस प्रकार की द्वन्द्वात्मकता साहित्य में नहीं होती। जो यह कहते हैं कि आलोचना के सिद्धान्त और हैं वे यह प्रभाव देते हैं कि कवि ईमानदार और आलोचक, कभी-कभी बेईमान होता है। लेकिन जिस तरह श्रीकान्त वर्मा अपने को ईमानदार कवि मानते हैं उसी तरह मैं भी अपने को एक ईमानदार आलोचक मानता हूँ और मुझे ऐसा मानने का पूरा हक है। श्रीकान्त वर्मा ने कुँवर नारायण की आलोचना करते हुए लिखा है कि कवि बौद्धिक नहीं होता। मैंने उसे आलोचना माना और आलोचना की तरह उसकी आलोचना की।

कविता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि कविता एक संयम है, फिर इसे परिभाषित क्यों नहीं कहा जाता ? यह वक्तव्य मान लेना मेरे लिए कठिन है। राजनीति भी एक संयम है। उसे परिभाषित क्यों नहीं किया गया ? श्रीकान्त जी की एक कविता में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग दो जगह दो अर्थों में हुआ है। कवि को इसका अधिकार है, लेकिन आलोचक को नहीं। अपने अन्दर आत्मसंगति होना बहुत ज़रूरी है। 'आलोचना' शब्द का एक अर्थ मूल्यांकन माना जाता है। नामवरजी ने इसे बहुत घिसा है। कुछ लोग कहते हैं कि आलोचना का काम वर्णन करना है। मूल्यांकन खतरनाक बात है। आज के आलोचक मूल्यांकन की बात बार-बार करते हैं। क्या वे अपने मूल्यों का अंकन बार-बार करते हैं ? इन सब पर मेरा एतराज़ है।

आलोचकों ने यह विषय आरम्भ नहीं किया। मैं उन आलोचकों के विरुद्ध हूँ। कविता और राजनीति के सम्बन्धों की चर्चा आलोचक ने लगभग दस वर्षों में आरम्भ नहीं की। कुछ लोग कह रहे हैं राजनीति और कविता का सम्बन्ध है, क्योंकि कविता पर राजनीति का दबाव है। कुछ लोग कह रहे हैं कि नहीं है। आत्महत्या की कविताओं पर बहुत आलोचना हुई, लेकिन किसी एक कविता को लेकर उसका विश्लेषण करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए हम क्यों नहीं तैयार हैं ? विजय देवनारायण साही राजनीतिज्ञ हैं, लेकिन उनकी कविता में राजनीति किस हद तक है मेरे लिए कहना कठिन है। मिल्टन ने भी राजनीतिक कविता लिखी है। पर वास्तव में 'राजनीतिक कविता' की बात मेरी कल्पना से परे है। राजनीतिक कविता तो नहीं होती। कविता का कहीं-न-कहीं राजनीति से सम्बन्ध हो सकता है और हम उस सम्बन्ध का अध्ययन भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कर सकते हैं। भाषा-विज्ञान के जो नये तरीके निकले हैं, कुछ सीमा तक मैं उनका समर्थन करता हूँ। हम लोग यथासंभव आलोचना में भी ऐसे सूत्र पैदा करने की कोशिश करेंगे जिनका परीक्षण होता चले। और वह आत्मसंगति में हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६

सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

यह कहना ग़लत है कि पहले-पहल प्रगतिवाद ने ही कविता और राजनीति की समस्या का साक्षात्कार किया या करवाया। जब से कविता है तब से उसका उपयोग सामाजिक या सामूहिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए किया जाता रहा है। ऋग्वेद तक के मंत्रों से युद्ध जीतने का काम लिया गया है। महाभारत में क्या समाज और राजनीति की आलोचना कम है? क्षेमेंद्र की 'देशोपदेश'-जैसी कृतियाँ समकालीन परिस्थिति पर, राजनीतिक स्थिति पर भी, तीखे व्यंग्य करती हैं। भारतेन्दु-काल के सभी कवियों में प्रबल राजनीतिक चेतना थी। फिर आज़ादी की लड़ाई के ज़माने के सभी प्रमुख कवियों ने ऐसी कविताएँ लिखीं जिन्हें राजनीतिक माना जा सकता है। अगर हम काव्य को राष्ट्रीय या राष्ट्रीयतावादी कह सकते हैं तो राजनीतिक क्यों नहीं कह सकते?

तो प्रगतिवाद ने पहले साक्षात्कार तो नहीं किया, लेकिन जो किया वह उससे पहले की कविता से एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में भिन्न ज़रूर था। पहले राजनीतिक कविता काव्य के अनेक प्रकारों में से एक प्रकार-भर मानी जाती थी, वह भी एक हीनतर प्रकार। प्रगतिवाद ने उसे **एकमात्र प्रकार** माना और बाकी सब कविता रद्दी कर दी। इस प्रकार एक नया संपूर्ण लगाव (टोटल कंसर्न) प्रकट हुआ जिसे धर्म का संपरीय बना दिया गया। राष्ट्रीय काव्य भी राजनीतिक काव्य था पर उस की राजनीति के मूल्य धर्म के मूल्य थे, उसकी राष्ट्रप्रतिमा भारत माता, दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी ही थी। यही कारण था कि राष्ट्रवाद के युग के कवि छायावादी या रहस्यवादी भी हुए। प्रगतिवाद ने राजनीति को अनुप्राणित करने वाली उस आध्यात्मिक दृष्टि के बदले एक स्थूल लौकिक दृष्टि प्रस्तुत की।

मैं किसी तरह नहीं मान सकता कि काव्य या साहित्य का समाज पर या उसको बदलने में कोई असर नहीं होता। मैं तो मानता हूँ कि कविता समाज को बदल सकती है और बदलती रही है। ऐसा नहीं होता तो आज न कविता पढ़ने वाले होते न लिखने वाले। लेकिन बदलने से हमारा अभिप्राय क्या है यह स्पष्ट होना चाहिए। कविता का असर समाज पर सीधे-सीधे नहीं होता। यह भी हम मान सकते हैं कि हमेशा ठीक वही असर नहीं होता जो कवि डालना चाहता है, लेकिन होता ज़रूर है। अगर कविता से हमारे संवेदन की गहराई बढ़ती है, कवि-चेतना का विकास होता है, तो क्या यह बदलना नहीं है? समाज का बदलना नहीं है?

इस समस्या की चर्चा मैं बीस साल पहले से करता आ रहा हूँ। प्रश्न असल में कविता और राजनीति का नहीं, कवि और राजनीति का है, और समकालीन राजनीति में एक महत्त्व की बात यह है कि हमारे जीवन के हर क्षेत्र में सरकार का दख़ल बढ़ता जा रहा है और सरकार दिन-प्रतिदिन और अधिक निर्वैयक्तिक होती जा रही है। एक समय विद्रोह का मतलब था राजा नाम के एक व्यक्ति का विरोध, लेकिन अब यह स्थिति नहीं रही है। सामन्त-विरोध, बुर्जुआ-विरोध, पूँजीपति-विरोध, यहूदी-विरोध, गोरी या काली चमड़ी का विरोध—नयी परिस्थिति में घृणा उँडेलने के लिए अलग-अलग देशों, समाजों में अलग-अलग पात्र चुने गये हैं। वह इसीलिए कि सरकार का तो कोई चेहरा नहीं है। यह निर्वैयक्तिक राज्यसत्ता आज नागरिक के जीवन में सर्वत्र दिखायी देती है लेकिन उसका कोई चेहरा या रूपाकार न होने से यह भी नहीं समझ में आता कि लड़ा कैसे जाए। इस माया युद्ध का एक पहलू यह भी है कि लड़ने वाले को अपने पर भी शक होने लगता है कि क्या मैं भी ऐसा ही बिना चेहरे और व्यक्तित्व का जीव तो नहीं हूँ? इस प्रवृत्ति का उदाहरण आज की कविता में ढेरों मिलेगा।

आज कवि की समस्या यह है कि वह एक अनैतिक या नीति-अतीत सूत्र से एक नैतिक युद्ध (क्योंकि मूल्यों के लिए युद्ध) लड़ रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक निर्णय

इस विभाजित विश्व में लेखक के लिए दस कर्म-सूत्र

पीटर वाइस

१

मैं जो भी शब्द लिखता और प्रकाशित करता हूँ वह राजनीतिक होता है। उसका उद्देश्य यही होता है कि वह एक विशाल पाठक-वर्ग तक पहुँचे और एक निश्चित प्रभाव उत्पन्न करे। मैं अपनी रचनाएँ किसी-न-किसी संचार-संस्थान को दे देता हूँ और तब वे उपभोक्ताओं द्वारा अपना ली जाती हैं। मेरे शब्दों का कैसा स्वागत होता है यह बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि वे किस प्रकार की समाज-व्यवस्था में वितरित किये जाते हैं, क्योंकि मेरे शब्द उपलब्ध मतों का एक छोटा-सा अंश होते हैं, और सो भी ऐसा अंश जो निरन्तर घटता जाता है, इसलिए अगर मुझे अपने मत को कारगर बनाना है तो मुझे अधिक-से-अधिक निश्चयात्मकता प्राप्त करनी है।

२

जिस भाषा में मैं लिखता हूँ उसका चुनाव शिल्पगत प्रयोजन मात्र है। मैं वही भाषा चुनता हूँ जिस पर मेरा सबसे ज़्यादा अधिकार है। मेरे संदर्भ में यह भाषा जर्मन है।

इस भाषा के प्रयोग का लाभ यह है कि उसका प्रत्येक शब्द तत्काल उत्कट रूप से प्रभावित हो जाता है। नितान्त विरोधी सामाजिक संरचना वाले दो राज्यों में जर्मनी का विभाजन विश्व के भंजन को प्रतिबिम्बित करता है। जर्मन-भाषी लेखक की घोषणाएँ तुरन्त तराजू पर चढ़ा दी जाती हैं, जहाँ दो भिन्न मूल्य-व्यवस्थाएँ उसकी जाँच-परख करती हैं। इससे मेरा काम आसान हो जाता है। मैं जो कुछ भी लिखता हूँ वह सर्वदा मतामत के आलोक में रहता है। तथापि, यह लक्ष्य करना चाहिए कि मैं जिन समस्याओं और द्वन्द्वों का निरूपण करता हूँ वे विशेष रूप से जर्मन भाषा-क्षेत्र के नहीं हैं। वे तो उन्हीं विषयों के अंश-मात्र हैं जो आज प्रत्येक भाषा में उठाये जा रहे हैं।

३

यद्यपि विश्व के भंजन में बहुतेरे छोटे-छोटे भंजन निहित हैं जिनकी प्रवृत्तियाँ जटिल और अक्सर विरोधिनी होती हैं, तथापि दो स्पष्ट शक्ति-गुट उभरते हैं। एक गुट में वे समाजवादी शक्तियाँ हैं जो या तो स्थापित हो चुकी हैं या उभर रही हैं और पुराने उपनिवेशों या पराधीन क्षेत्रों के स्वातंत्र्य-आन्दोलन हैं। दूसरे शक्ति-गुट में पूँजीवाद पर आश्रित सामाजित व्यवस्था है, जिसकी जड़ें सीमाहीन और निर्बाध प्रतियोगिता की साहसिक भावना में हैं और जो बड़े-बड़े साम्राज्यवादी केन्द्रीकरण को जन्म देती हैं। इस गुट के अन्तर्गत, विशेषतया स्कैण्डिनेवियाई राज्यों में, ऐसे दूरगामी जनतंत्रीकरण के गोजे हैं जहाँ वर्ग-संघर्ष ने बरबस कतिपय सामाजिक परिवर्तन करा लिये हैं। अन्ततोगत्वा ट्रेड यूनियन आन्दोलन और 'मज़दूर' सरकारों की सामर्थ्य पूँजीवादी एकाधिपत्य की ताकतों से बँधी है जो अपनी सम्पत्ति को स्वेच्छा से कभी नहीं त्यागेंगी। सर्वाधिक विकसित कल्याण-राज्य भी स्पष्ट रूप से एक ऊँचे स्तर का वर्गीय समाज ही है जहाँ का पूर्वकालीन क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग अभिजात-वर्ग के मान स्वीकार करने लगता है।

४

यह पता करना मेरा काम है कि इस विभाजित विश्व में वाद-विवाद के उभयपक्ष मेरे शब्दों का किस रूप में स्वागत करेंगे।

मुझे अनुभव ने बताया है कि अपने-आपको मुक्त पाश्चात्य विश्व कहने वाले गुट में ऐसी प्रत्येक कलात्मक अभिव्यक्ति का स्वागत किया जाता है जिसमें अन्तर्मुखी अनुभूति और रूप-गत प्रयोग की छाप होती है, अथच सामाजिक आलोचना का भी आदर होता है लेकिन तभी तक जब तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह मानववाद और जनतंत्र की ओट में छिपी समाज-व्यवस्था की सीमाओं का अतिक्रमण न करे। सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से, कोई सीमाएँ नहीं खींची जातीं, और इस क्षेत्र में प्रत्येक नवीन आविष्कार को समर्थ दलाल भी मिलते हैं और उपभोक्ता भी; लेकिन सामाजिक दृष्टि से, प्रहारों पर अत्यन्त कठिन नियंत्रण होता है। लेखक को इन सामाजिक सीमाओं के अन्वेषण में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि वह अक्सर लेखक के प्रति प्रतिश्रुत स्वातंत्र्य को चरम स्वातंत्र्य समझने की भूल कर बैठता है। उसे काफ़ी दूर पीछे लौटकर उस बिन्दु तक आना होता है जहाँ उसका स्वातंत्र्य समाज के लिए निरापद न रह जाए।

५

पाश्चात्य गुट में अगर उस कलात्मक श्रम का सर्वाधिक व्यावसायिक मूल्य है जो अपने उपभोक्ताओं को बौद्धिक अथवा सौन्दर्यशास्त्रीय आनन्द संप्रेषित करता है या संवेगात्मक उत्तेजन देता है, तो पूर्व में कलाकृति का मोल व्यावहारिक प्रयोजन के अनुसार आँका जाता है। रूप-गत प्रयोग, आन्तरिक एकालाप, काव्यात्मक बिम्ब—यदि वे समाज को बदलने के काम में उपयोगी न हों तो थोथे माने जाते हैं।

हम लोग, जो अभिव्यक्ति के चरम स्वातंत्र्य की आस्था में बड़े हुए हैं, हमें यह बात अपनी परियोजनाओं को सीमित करती प्रतीत होती है—तब तक जब तक कि हम कला के उद्देश्य की अपेक्षा उसके अन्तर्निहित मूल्य का अधिक आदर करते हैं। पर यदि हमें लक्ष्य मिल जाये तो हम उद्धत-से-उद्धत रूपों की उपलब्धि के लिए संघर्ष कर सकते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि क्रान्तिकारिणी कला सामाजिक व्यवस्थागत क्रान्ति में ही बसती है।

अतएव यह एक अन्तर्विरोध है—क्योंकि कला में ऐसी अन्तर्जात शक्ति है इसलिए कुछ समाजवादी देशों में उसे पालतू बनाकर सामान्यता में जकड़ दिया जाता है जबकि अभिजात देशों में वह मर्यादाहीन होकर उच्छृंखल रूप से विकास करती है।

६

यही वह स्थल है जहाँ मुझे निर्णय लेने की समस्या का सामना करना पड़ता है। मैं दोनों में से कौन-सा पक्ष चुनूँ? सारी अपूर्णताओं, अन्तर्विरोधों और भूलों के पीछे, दोनों में से किस पक्ष में मैं मानवता और न्याय की अपनी धारणाओं के अनुरूप विकास की सम्भावना देखता हूँ? क्या मैं अपने अज्ञान और द्वैध पर विजय पाकर सचेत रूप से अपनी रचना में वह राजनीतिक प्रभाव समन्वित कर सकूँगा जो अबतक उसमें परोक्ष रूप से ही प्रकट होता रहा है, क्योंकि मैं पाठक-समाज के सामने एक नामहीन संवादी की नाईं आता रहा हूँ? क्या मैं तीसरे शिविर की वह सुविधाजनक स्थिति छोड़ सकता हूँ जो हमेशा मेरे लिए पिछवाड़े का दरवाज़ा खुला रख आती है ताकि मैं उसमें होकर विशुद्ध कल्पना की अवान्तर भूमि में खिसक सकूँ?

७

इस सवाल को उठाना ही जवाब की शुरुआत है। जवाब की अपनी तलाश के दौरान मैं देखता हूँ कि केवल दो ही विकल्प हैं, और कि अनिश्चय में मैं पड़े रहना और भी बड़ी व्यर्थता (विफलता) की ओर ले जाता है।

जब मैं अपने काम के प्रतिमान के रूप में जर्मन भाषा-क्षेत्र को लेता हूँ तो मैं पाता हूँ कि पश्चिम में मेरा संशय और असमंजस केवल स्वीकार ही नहीं किया जाता, सराहा भी जाता है। यह स्वाभाविक है: जब तक मैं सिर्फ़ अपनी दुश्चिन्ता को अभिव्यक्ति देता हूँ, समाज के प्रति अपने क्षोभ को व्यक्त करता हूँ, तब तक वह केवल एक मनोवैज्ञानिक समस्या ही रहती है जो सत्ताधारियों को ख़तरा नहीं बन सकती। जब मैं अपनी हताश स्थिति का वर्णन करता हूँ तब किसी को कोई आपत्ति नहीं होती, क्योंकि मेरी हताशा उनकी संस्थाओं की शक्ति की ही पुष्टि करती है। मेरे ऊलजलूल-से-ऊलजलूल विचार, मेरी तितीक्षा, मेरा व्यंग्य—सबको ग्राहक मिल जाते हैं क्योंकि इनके माध्यम से मैं सिर्फ़ इसी बात की गवाही देता हूँ कि जो शक्ति-सम्पन्न हैं वे कितने उदार हैं। वे अपनी जगह पर इतने सुरक्षित महसूस करते हैं कि मुझे ऐसी बहुत-सी बातों का पक्ष-समर्थन करने दिया जाता है जो मुझे प्रगतिशील लगती हैं। अगर मैं यह मत व्यक्त करता हूँ कि वर्तमान सामाजिक विभेद पूर्णतः मिटाये जा सकते हैं तो वे विशाल हृदयतापूर्वक सहमत हो जाते हैं। सच पूछिये तो हमारे शासकों का एक केन्द्रीय तर्क यह बताता है कि ये विभेद काफ़ी हद तक मिटाये जा चुके हैं और कि आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मालिक और मज़दूर पाते हैं कि उनके हित एक-से हैं। यहीं आकर मैं उनके यथार्थ के सूक्ष्म मिथ्याकरण के समस्त संसार के विरोध में खड़ा होता हूँ। क्योंकि वे संचार के साधनों के स्वामी हैं और शिक्षा पर उनका नियंत्रण है, अतएव उन्होंने जनता के प्रत्येक स्तर पर अपने मूल्य व्याप्त कर दिये हैं। क्योंकि उन्होंने एक वामपंथी विरोध को आंशिक रूप से अ-हानिकर बना डाला है, या कि समृद्धि की छलना की बाह्य सफलता के आधार पर यह विरोध आंशिक रूप से अनुगामी बन गया है, अतएव इस समृद्धि के संदर्भ के सवाल और उसे उपलब्ध करने में लगाये गए खर्च के सवाल विरले ही उठते हैं। जब कभी ऐसा होता है तो सवाल उठाने वाले को स्वयमेव घृणिततम अपवचनों का लक्ष्य बनना पड़ता है, और हम देखते हैं कि सम्पत्तिधारी जनों के Scutcheon पर मानवता और जनतंत्र की धारणाएँ कितनी धुँधली पड़ जाती हैं।

८

किसी झण्डे के नीचे इकट्ठे होने में मेरी असमर्थता पूर्वी जर्मन राज्य में अधोगति का चिह्न समझी जाती है। अगर मैं अपने अलगाव को समाप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं करता तो अभिजात समाज के मेरे प्रबलतम नकारात्मक वर्णन भी कोई महत्त्व नहीं रखते। जब तक मैं यह मानता हूँ कि इस समाज में मेरी इयत्ता और मेरा कर्म-स्वातंत्र्य सुरक्षित है तब तक मैं इस समाज का बन्दी बना रहता हूँ; और यह मानकर कि सामाजिक दबाव मात्र से इस समाज को बदला जा सकता है, मैं अपने अंतःकरण को हलका कर लेता हूँ और इस तथ्य को युक्ति-मण्डित कर देता हूँ कि मैं इसी समाज से अपनी आजीविका प्राप्त करता हूँ।

भ्रष्टाचार पर, शोषण पर और निजी स्वामित्व के एकाधिकारों द्वारा जन-मानस के विषाक्तीकरण पर प्रहार कोई फल नहीं दे सकते अगर वे कोई स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत न करें। जिस प्रकार पश्चिम जर्मनी में लेखक से और सब बातों के ऊपर राजनीतिक चुप्पी की अपेक्षा की जाती है, ठीक उसी प्रकार पूर्वी जर्मनी में एक स्पष्ट राजनीतिक दृष्टिकोण आवश्यक माना जाता है।

९

यहाँ मैं एक बार फिर एक विशेष भाषा-क्षेत्र की संकीर्ण धारणा से विदा लेता हूँ और समस्त विश्व को कलात्मक श्रम के कार्यक्षेत्र के रूप में ग्रहण करता हूँ।

यही वह विश्व है जिसमें निर्णय लिया जाना चाहिए।

सारी धरती के सम्पत्तिवान जन, जिनका दल अपेक्षया छोटा-सा है, दिन-रात अपनी स्थिति को दृढ़ और सुरक्षित बनाने में लगे हैं। युद्धोत्तर संकट से लाभ उठाकर और अपने-आपको फिर से प्रभूत समृद्ध बनाकर वे अब लुटे हुए जनों की शक्तियों को उभरते देख रहे हैं। उनके सामने जो भूत प्रकट हो रहा है वह उन्हें केवल यूरोप में ही नहीं, अपितु सर्वत्र नज़र आ रहा है। अफ्रीका, एशिया या लातीनी अमरीका— जहाँ भी वे अपने दुर्ग बनाते हैं वहीं मुक्ति के आन्दोलन उभरने लग जाते हैं और उन्हें रोकना अब संभव नहीं है। पर बहुतेरे स्थानों में वे अपने हथियारों और सिपाहियों के बल-बूते पर अब भी हावी हो रहे हैं। वे अब भी गाँवों को जलाकर और भूमि को उजाड़कर आतंक फैला सकते हैं, वे अपनी नृशंसता और आर्थिक धौंसबाज़ी से अब भी राष्ट्रों को बस में कर सकते हैं। पर ऐतिहासिक दृष्टि से वे बाज़ी हार चुके हैं।

एक शक्ति धीरे-धीरे उनको बस में करती जा रही है— एक ऐसी शक्ति जो इस सिद्धान्त पर टिकी है कि धरती के पदार्थ समान रूप से हर मनुष्य के हिस्से में आने चाहिए। हम अब भी इस दूरव्यापी परिवर्तन के प्रथम चरणों में हैं। कुछ देशों ने विश्व के भंजन से उत्पन्न बहुत-सी आर्थिक कठिनाइयों पर विजय पा ली है और साम्यवादी या समाजवादी व्यवस्था स्थापित कर ली है। कुछ अन्य देश प्रधानतः एक राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष के झण्डे के नीचे इस व्यवस्था की ओर प्रयत्नशील हो रहे हैं। पर शीतयुद्ध, जिसकी भीतरी गरमी लगातार प्रकट द्वन्द्व में फूटती रहती है, इस नयी सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या में सर्वत्र एक असंतुलन और द्वन्द्व को जन्म देता रहता है। ऐसी स्थिति में, समाजवाद के शत्रु उसकी अपूर्णताओं और असंभावना के प्रदर्शन के लिए भरपूर मसाला पा जाते हैं।

इस प्रसंग में लेखक का यह कर्तव्य है कि वह सदा अपने आधारभूत सत्य का उद्‌घाटन करता रहे, विकृति के पीछे छिपे सत्य का आविष्कार करता रहे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०

मेरे लिए वास्तविक सत्य समाजवाद की सामान्य-नीति में निहित है। समाजवाद के नाम पर जो भी ग़लतियाँ हुई हैं या अब भी हो रही हैं उनसे हमें सीखने का अवसर प्राप्त करना चाहिए और समाजवादी धारणा के बद्धमूल सिद्धान्तों के आधार पर उनकी मीमांसा करनी चाहिए। आत्मालोचन, द्वन्द्वात्मक विचार-विमर्श, परिवर्तन और अग्रिम विकास के प्रति निरन्तर उन्मुक्त भाव—समाजवाद के स्थायी तत्त्व हैं। मेरे लिए जिन दो विकल्पों की संभावनाएँ खुली है उनमें से मैं केवल समाजवाद में ही विश्व की वर्तमान विषमताओं पर विजय पाने की संभावना देखता हूँ।

मैं अभिजात समाज में बड़ा हुआ हूँ, और अपने निजी जीवन और कर्म का अधिकांश समय मैंने अपने-आपको उन प्रतिबन्धों, पूर्वग्रहों और अहम्मन्यता से मुक्त करने में बिताया है जो मेरे सामाजिक परिवेश ने मुझमें समाहित कर दिये थे। मेरा यह सुदीर्घ विश्वास रहा है कि कलात्मक कर्म वह स्वाधीनता प्रदान कर सकता है जो मेरे लिए विश्व का द्वार उन्मुक्त कर दे। पर आज मैं देखता हूँ कि टेक के बिना कला औद्धत्य बन जाती है, क्योंकि जिन देशों में जातीय भेद-भाव और वर्ग-विरोध बलपूर्वक बनाये रखे जाते हैं वहाँ की जेलें परिवर्तन के हामी उत्पीड़ित योद्धाओं से भरी हुई हैं। विश्व के अधिकांश में विद्यमान दुरवस्था के सम्मुख तथाकथित स्वातंत्र्य में उपलब्ध मेरी सारी कलात्मक सफलताएँ निपट उपहास जान पड़ती हैं।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि मेरा कर्म तभी फलदायक हो सकता है जब वह उन शक्तियों के साथ अधिक प्रत्यक्ष रूप से जुड़े जो मेरे तईं विश्व की हितकारिणी शक्तियाँ हैं। ये शक्तियाँ आज सर्वत्र, यहाँ तक कि पश्चिम में भी खोजी जा सकती हैं। अगर पूर्वी गुट में और अधिक स्पष्टवादिता आ जाए, यदि विचार-विनिमय अधिक मुक्त और कम हठधर्मी हो, तो ये शक्तियाँ और भी बलशालिनी होंगी, उनमें एकता की वृद्धि होगी और उनकी संगति अधिक दूरगामी हो जायेगी।

(न्यू लेफ्ट रिव्यू-४७, जनवरी-फरवरी १९६८ से साभार)

पीटर वाइस : जन्म १९१६। जर्मन लेखक। इंग्लैंड, चेकोस्लोवाकिया, स्विट्ज़रलैंड में शरणार्थी। १९३९ से स्वेडेन में निवास और १९४५ से स्वेडेन के नागरिक। प्रमुख रचनाएँ मरात साद (नाटक); आव्शाइट फॉन डेर एल्टर्न, फ्लुख्टपुंक्ट (उपन्यास), गेस्प्राख डेर ड्राइ गेहेन्डेन (आख्यान) इत्यादि। १९६५ में 'जर्मन जनवादी गणतंत्र' (पूर्वी जर्मनी) का पक्ष लेने की घोषणा के लिए पश्चिम जर्मनी के उदारपंथी और वामपक्षी लेखकों के कोपभाजन बने।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तानाशाही के विरुद्ध : एक वक्तव्य

रघुवीर सहाय

यह वक्तव्य इस समय मेरे लिए अनिवार्य हो गया है, क्योंकि १९६७ के आम चुनाव के बाद राजनीतिक भारत में धीरे-धीरे करके यह स्थिति आ गई है कि यदि मैं अपनी राजनीतिक मान्यताएँ स्पष्ट नहीं करता तो यह काम मेरे लिए कोई राजनीतिक संगठन नहीं करेगा। और इससे बड़ी कोई घुटन हो नहीं सकती कि व्यक्ति का कोई राजनीतिक समर्थन न हो।

मैं जानता हूँ कि १९४७ से '६७ के बीस वर्ष में राजनीतिक सत्ता किस तरह से केन्द्राभिमुख, दिशाहीन और गद्दीवादी हुई है और यह भी जानता हूँ कि राजनीतिक तन्त्र संविधान, मन्त्रिमण्डल, संसद और राजनीतिक दलों ने शुद्ध सत्तापरक कारणों से किस प्रकार असली जीवनदायी कार्यों से पलायन किया है। नेहरू के बाद केवल एक व्यक्ति और एक राजनीतिक दल ने लोकतंत्रीय राष्ट्रीय दृष्टि से मनुष्य की नियति को दिशा देने का प्रयत्न किया था : राममनोहर लोहिया और संसपा ने, और यह याद रखना चाहिए कि इनके पास सत्ता न थी। केन्द्र से कांग्रेस को हटाने में ये सफल न हो सके, यह सत्य है। पर यह केवल एक अर्द्धसत्य है कि राज्यों से कांग्रेस को हटाकर भी ये विफल रहे। नहीं कहा जा सकता कि यदि सत्ता से परिवर्तन के लोहिया-कार्यक्रम में विहित छः मास की अवधि का अन्त उनकी मृत्यु से न होता तो आज लोहिया के विचारों की राजनीतिक परिणति किस कार्यपद्धति में होती। संसपा के सामने इस समय जो समस्याएँ हैं वे सत्ता से परिवर्तन न करने से उत्पन्न हैं और ये कम्युनिस्ट, कांग्रेस और जनसंघ की समस्याएँ हैं, लोहिया की समस्याएँ नहीं हैं। अगर लोहिया होते तो शायद संसपा भी कुछ और होती, शायद दो संसपा होतीं और उनमें से एक जनसंघ और कांग्रेस की तरह होती, एक उनसे अलग होती। पर यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि जो नहीं है उसके होने से क्या होता, जो है वह है १९६७ के बाद संसदीय लोकतन्त्र के क्षय के सन्दर्भ में कांग्रेस, कम्युनिस्ट, संसपा और जनसंघ का वर्तमान कार्य।

कांग्रेस के वर्तमान केन्द्रीय सत्ताधारी हर कीमत पर केन्द्रीय गद्दी दबाये रखने पर कमर कसे हैं। हर कीमत पर। भारतीय मनुष्य की, भारतीय भूमि और भारतीय भविष्य की। उनमें संसदीय लोकतंत्र की टूटफूट से और नये राजतंत्र की रचना के लिए विकलता है तो यह है कि अधीनस्थ नौकरशाही, पुलिस और सेना के तथा बचे-खुचे संसदीय लोकतंत्र के माध्यम से वे किस तरह सत्ताधारी बने रहें।

कम्युनिस्ट पार्टियों में यह प्रतीति स्पष्ट है कि यह तंत्र बदल देना है। रूस और चीन के परस्पर सम्बन्ध के अनुसार देश में कम्युनिस्ट पार्टियों की कार्यनीतियाँ स्थिर होती हैं और कुल मिलाकर वे भारतीय मनुष्य की नियति में परिवर्तन के लिए कोई मौलिक नीति नहीं देतीं—सिवाय इसके कि इस तंत्र में केन्द्र की सत्ता को नष्ट कर देना होगा। जनसंघ की शुद्ध नकारात्मक—मनुष्य-विरोधी सभी प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक और भयभीत मनुष्य-विरोधी दीवार चाहे वह गुंडागर्दी की हो या जाति प्रथा की—खड़ी करने की दृष्टि है—अन्ततः यह भारतीय मनुष्य को किसी भी कम्युनिस्ट नतीजे में ले जाकर फँसा दे सकती है।

भारतीय मनुष्य का संकट बहुत गहरा है। उसकी अपूर्ण राजनीतिक आकांक्षा का अब तक का मान्य वाहक, संसदीय लोकतंत्र और राजनीतिक दलों से उसका सम्बन्ध प्रायः टूट चुका है : वर्तमान राजतंत्र के लिए, कांग्रेस और जनसंघ के पास विकल्प नहीं है : कम्युनिस्ट पार्टियों के पास है। अन्ततः पहले दोनों दल या पहले दोनों में से एक और तीसरा या तीनों मिलकर किसी विकल्प पर चुपचाप समझौता कर ले सकते हैं : वह विकल्प एक भारतीय राष्ट्रवादी तानाशाही हो या किसी और किस्म की हो, वह भारतीय जन के हर तरह से विरुद्ध होगा। कैसी भी हो तानाशाही उन तमाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दासताओं की सम्पूर्ण परिणति होगी, जिनसे पिछले २० वर्षों में भारतीय जन को बाँध रखा गया है। मुझे यह सोचकर कोई उत्साह नहीं होता कि जब यह घटना घट जायेगी तब पाप का घड़ा भर जायेगा या तब वास्तविक स्वतंत्रता की ज्योति विद्रोही जन-मानस में उदित होगी। यह नितान्त कविकल्पना है जो दीखती तो अराजनीतिक है, परन्तु वास्तव में व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता को सबसे अधिक पुण्य मानती है। मैं यह भी नहीं मान पाता कि जब वह दिन आयेगा तब मैं उसका विरोध कर लूँगा। मैं अभी से लेकर उस दिन तक किसी भी प्रकार की तानाशाही का विरोध करूँगा। ठीक वैसे जैसे संसदीय लोकतन्त्र में प्रच्छन्न प्रत्येक सर्वसत्तावादी प्रयास का विरोध किया है। अन्तर यह होगा कि इस विरोध में कभी-न-कभी राजनीतिक दल भी सहभागी रहे हैं—उस विरोध में न शायद कोई राजनीतिक दल साथ है न शायद होगा।

तानाशाही का यह भय मेरे मन में एक वास्तविकता है क्योंकि मैं भारतीय मनुष्य की मुक्ति के लिए प्रयत्न करके अपने को परास्त पा रहा हूँ। उसकी मुक्ति का मूल है भाषा। और उसी के मामले में उन कुछ एक व्यक्तियों ने सबसे ज़्यादा मुँह की खायी है जो तुरन्त आज अभी भाषा का निर्णय चाहते हैं। पर हमें अब भी ज़ोर देना है कि भाषा के विषय में यानी अँग्रेज़ी हटाने के विषय में कोई निर्णय हो सकता है तो वही जोकि तुरन्त, अभी, अँग्रेज़ी हटाए। धीरे-धीरे हटाने वाली बाकी सब बहसें अँग्रेज़ी को बनाये रखने की हैं।

भाषा के मामले में पिछले २० वर्ष में उन लोगों को, जो भाषा को बरतने के पक्ष में हैं, उन लोगों से लड़ा दिया गया है जो भाषा को पूजने के पक्ष में हैं। अब एक तरफ़ हैं अपनी भाषा न पाकर छटपटाते और घुटते असंख्य युवजन, असंख्य बच्चे, असंख्य निरक्षर भारतीय और असंख्य आने वाली सन्तानें। दूसरी तरफ़ हैं भाषा के पुजारी—अंग्रेज़ी के भी—और इसीलिए अपनी भाषा के भी पुजारी, जो अंग्रेज़ी की जगह, ठीक उसी तरह उसी जगह हिन्दी की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं ताकि हिन्दी भी एक तरह की अंग्रेज़ी बन जाये, जो अंग्रेज़ी और हिन्दी को साथ-साथ बनाये रखना चाहते हैं ताकि एक जनभाषा, हिन्दी, कभी राजभाषा न हो पाये ताकि जब हिन्दी राजभाषा हो भी तो वह जनभाषा न हो सके। इसलिए आज यह साफ़-साफ़ समझ लेना ज़रूरी हो जाता है कि जनभाषा या हिन्दी समाज और सरकार के सम्बन्ध में मौलिक परिवर्तन लाने और जड़ से समाजवादी समाज बनाने के लिए ज़रूरी है। केवल राजभाषा का साइन-बोर्ड बदलने के लिए नहीं।

राजभाषा और जनभाषा का व्यवधान मिटने से एक बहुत बड़ी स्फूर्ति भाषा और उसके इस्तेमाल करने वालों के बीच में फूटती है और यह स्फूर्ति भाषा के अन्य क्षेत्रों पर भी असर डालती है। इस समय हिन्दी में आधुनिक साहित्य में उन शब्दों को नये अर्थ देने की छटपटाहट है जो पास हिन्दी में जड़ हो गये हैं। परन्तु हम उन रचनात्मक सम्भावनाओं को जान ही नहीं सके हैं जो कि सामान्यजन और सत्ता की भाषा के बीच व्यवधान होने से उत्पन्न हो सकती हैं। इसीलिए हम नहीं जान पाते कि हम सब लोग वास्तव में कुंठित भावनाओं के लिए संसार में आसमानी सितारे तोड़ लाने के लिए छटपटा रहे हैं।

भाषा के सम्बन्ध में कोई भी परिवर्तनकारी दृष्टि तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम यह न समझ लें कि यह राष्ट्रीय एकता का मूल आधार नहीं है बल्कि मनुष्य की भौगोलिक, आर्थिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं का एक स्थान पर संपुंजित होना ही राष्ट्र का आधार है। समय-समय पर ऐसे संपुंजनों से जो परम्पराएँ बनी हैं और जो हमारी संस्कृति में शामिल हो चुकी हैं वे सब किसी भौगोलिक और आर्थिक समन्वय की उपलब्धियाँ हैं। भारतीय भाषाओं के वैविध्य के आन्तरिक एकता-सूत्रों को पकड़ने के लिए सब भाषाओं का एक साथ और एक समान व्यवहार होना चाहिए, किन्तु सबसे पहले बिना शर्त अंग्रेज़ी सत्ता से हटनी चाहिए। देश को अंग्रेज़ी कभी एक नहीं होने देगी और यह भी कह दूँ कि यदि अंग्रेज़ी की जगह ठीक उसी तरह से इस्तेमाल के लिए कोई भारतीय भाषा रखी गयी तो वह भी कभी देश को एक नहीं होने देगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर

गजानन माधव मुक्तिबोध

ये सब—हम हैं, यह ज़मीन है
        यह जगह जहाँ
        सब बँधे खड़े
जिनके मुँह से
प्रज्ज्वलित गैस-सी साँस आग
वे बड़े करिश्मे वाले
गहरे स्याह तिलिस्मी तेज़ बैल
तगड़े-तगड़े
अपने-अपने खूँटों से सारे बँधे खड़े।
यह खूँटा—स्वर्ण-धातु का है
स्वार्थैक ज्योति का है
आत्मैक प्रीति का है!!

जो दिव्य चिरन्तन अनन्त अब तक कहलाता
वह युगानुयुग से तना हुआ
कोमल उदार आकाश
मनोहर व्यापक स्वप्न
अरे काग़ज़-छत सा
वह अकस्मात् भभका
जल उठा किसी दुर्घटना से
वह दुर्घटना क्या है, क्या है।
आज के उठाईगिरे ज़माने में दिन-भर
क्यों जी मितलाता रहता है।
वह भभक अचानक है
आदमी बदल जाने की यह प्रक्रिया भयानक हैं।

(अब स्वर्गारोहण करता रहता यह भूमिनाश का
    धुआँ)

हमने सब चीरफाड़ देखा
सब ताक-झाँक कर देखभाल रक्खा
सबको नंगा उघाड़कर, हम भी उघड़ गये
सबको उधेड़कर, खुद उधड़े।
अनुभूत सत्य के प्रेतों से भर गया हाय ब्रह्माण्ड कुआँ
क्या किया
हाय रे! हमने यह क्या किया?
जल गया नील आवरण
श्याम है गगन।
काला-काला फैलाव दूरियों का सिर पर
लहराता स्याह सिफ़र
                इस हाथ और उस हाथ।
गम्भीर!!
हमारा चेहरा स्याह गोल धब्बा
जो चला हमेशा साथ, हमेशा साथ
हम किसी भयंकर उपग्रह के
                टेकड़ी-शीश पर खड़े-खड़े
बिगड़े चिल्लाये एक-दूसरे पर
अपनों से खूनाखून लड़े।
यह सही है कि वह गगन दहन
था एक चरण युग का
वह युग जिसमें कि प्रजापतियों का
दृप्त व्यभिचरण था।
यद्यपि काले शून्याकाशी फैलावों में
मानव-जग का था नाम नहीं
फिर भी फिर भी,
दूर ही सही,
सुन्दर रहस्यमय चन्द्रलोक सामने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बराबर दिखता था
जिसका उड़ता प्रकाश-अंचल थामने
स्पष्टतर नये साहस प्रसंग की क्षमता भी चाहिए
दीखता शून्य में कोटि योजनों दूर सूर्य
पर, उससे निज सम्बन्ध बनाने की इच्छा
को धमकाता रहता विचित्र-सा भय
विचित्र आशय—
"हमको अपना घूरा प्रिय है
निज के ऊँचे कचरे के ढेर शीश पर ही
जीना मर जाना श्रेयस्कर
घूरे का घर, घर का घूरा
अपना-अपना सबको प्रिय है
बस उसी हमारी कक्षा में निज रक्षा है"
काले सूने उस अंतरिक्ष विस्तर
पर लेटा है बेफ़िक्र
अरे कोई विचित्र !!
वह कौन,
कौन वह
—हाँ, निःसंग विराट्
ले रहा भीषण खर्राटे
हम सन्नाकर सुन रहे भयानक सन्नाटा
यह वही शून्य का जोर
हमारी वर्तमानता का वह अद्भुत शोर
अनहद नाद
कि जिससे खीझे चिढ़े-चिढ़े
अपने भीतर ही धँसी नोक से हमीं गड़े
अन्दर है एक भयद अटकाव
कहाँ हम जायँ।

थर्राता रहता विराट् हिम का जाड़ा
तन कण-कण में
वह दुष्ट ब्रह्म कर रहा ज़बर्दस्ती वसूल
हमसे-तुमसे
यह रक्त-किराया, अस्थि-मांस-भाड़ा

धरती पर रहने का।
अब किससे टंटा करें
कहाँ हम जायँ
अपनों से ऐंठा करें
जिन्दगी…एक कबाड़ा है,
भूतों का बाड़ा है।

उलटा-पुलटा छिछला सतही जो जिन्दापन
पल-पल के क्षण-क्षण के अपव्यय का अन्धापन
जो एक असार्थक वृथा निरर्थक
निज केन्द्रित जीवन-यापन का गन्दापन
वह चढ़ा धड़कते दिल पर जड़
चमड़े की मोटी परतों-सा
मढ़ गया…
क्या किया, जब रन्दे और बसूले से
खुद को छीला
तो अपना खून पिया
इसलिए, अनाशा की गहरी शैम्पेन
विनाशक नशा
स्वयं के गहन बोध की देन
ज़हरीला दुःख बहा
अपना ही खून पिया।
पर, देख नहीं पाये शिखरों की आकृतियाँ
आत्मा की भूमि पहाड़ हुई जाती हो जब
मीठे-मीठे अंगारों की मनोज्ञ गतियाँ
तुम देख नहीं पाये उदार ज्वालाओं के सन्दर्भ
निज अंश-सत्य की खण्ड प्रतीत सहारे से
पहुँचे उजाड़ सुनसान उदार कगारों पार
अपना सब-कुछ हारकर
तुम देख नहीं पाये—जीवन की भव्य चमत्कृतियाँ

उलटा-पुलटा छिछला सतही जो ज़िन्दापन
उसका मैं कर्ता कारक कारण या उपकरण
वह परम्परा रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थिति घेरे ही सा मुझे मिला
उस एक भयानक तक्षक के सर्पिल गुम्फन
में फँसी बँधी भी चाय पी रही
शकुन्तला-ऊर्मिला।

सच, जन्म-कक्ष में शिशु की मेरी आँखों को
दिख गया खुली खिड़की में एक विरूपाकृति जानवर
उसने मुझको कमरे में से ही उठा लिया
ले गया घने पेड़ पर भयानक जंगल में
झुरमुट में जाकर छिपा दिया···
मानव-जग ही से चुरा लिया।
मेरा धाता–पिता–और रक्षक वह वानर है।
वह मर्कट दिव्य-सृष्टि-कर्ता
विघटन में रचना में उसकी विचित्र आकृति
मुँह चिढ़ा रही।
वह कवि भी है,
ब्रह्माण्ड-रेडियो स्टेशन के बरामदे में
उसका फोटो द्युति-छवि भी है,
पर कविताएँ गड़बड़ा रहीं,
प्रतिपल स्वतन्त्र व्यक्तित्व
स्वनिर्भर लीलाशील पूर्ण सत्ता
बड़बड़ा रही।
अनगिनत साथियों ने मेरे
देखे ही नहीं आत्म-तल में
नीलाभ झील-जल में
अपने चेहरे
कि जिसमें कभी एक मुनि को
दिख पड़ा अचानक मर्कट-मुख
अपना निज का
संध्या के श्याम क्षुब्ध पल में गहरे-गहरे
ज़िन्दगी यहाँ—
अनसधा अनफला थका इरादा है
अच्छे-अच्छे प्यारे-प्यारे
दिल भरे खयालों का बारीक बुरादा है।
ओ घोर निराशा के अघोरपन्थी
तुम स्वयं स्वकल्पित एक किंवदन्ती
या लावारिस लाशों की काली मोटर-ट्रक
जो स्वयं घोर-दृश्यों का सार-दृश्य बनती।
जो हारा हुआ ज़िन्दगी से उसका दिमाग़
हो उठे अरे जब-कभी ख़राब
एक ख़याली स्याह झाग
उसका हो उठे जब कभी ख़ौफनाक
तुम वही, तुम वही हो
नित खुली-खुली पर कुछ न देखती आँख
गहरी निषेधवादी ज़हरीली तुम सलाख
रात में उठे खंज़र की तेज़ खुदकुशी हो
जिस व्यक्ति-मूल सभ्यता क्षेत्र में रहते हो
उसकी आसन्न-मृत्यु
का एक इरादा तुम
कारावासी तुम स्वयं जगत् की कारा तुम

झूलने लगे जब व्यक्ति-व्यक्ति के आसपास
गहरे-गहरे लम्बे-लम्बे शून्यावकाश
तब शून्य तरंगों अदृश्य लहरों का
अध्ययन वेदनाकारक है
मन की काली सूनी अकादमी में
कोई दिलचस्पी नहीं आदमी में।
इसलिये, मनोबल-ह्रास, भयानक चारित्रिक
विघटन।
से प्रेरित घोर कल्पना
विद्रूप कल्पनाओं से प्रेरित व्याख्याएँ
सच तो यह है
इन्द्रियानुरागी जीवन के पथ पर चल पड़े सभी
विक्षुब्ध अहं, विक्षुब्ध उदर,
विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध के कुछ पत्र

श्री गजानन मुक्तिबोध के सम्बन्ध में पिछले वर्षों में बहुत-कुछ लिखा गया है। स्वयं उनकी भी बहुत-सी रचनाएँ प्रकाश में आई हैं और इस सबसे उनके व्यक्तित्व और मानसिक संसार को समझने में सहायता मिली है। पर यह बात शायद बहुत-से लोग न जानते हों कि मुक्तिबोधजी के पत्रों में उनके प्रखर किन्तु हार्दिक, निश्छल किन्तु तेजस्वी व्यक्तित्व का एक अलग ही अत्यन्त अन्तरंग और लुभावना परिचय मिलता है। यह बात भी दिलचस्प है कि उनके पत्र भी उनकी कविताओं-कहानियों की भाँति ही प्रायः लम्बे और एक गहरी बेचैनी से भरे होते थे। १९४१-४२ से लगाकर १९६४ तक वे निरन्तर ही मुझे पत्र लिखते रहे, जिनमें से अधिकांश, मेरे जगह-जगह भटकते रहने के बावजूद, सुरक्षित रह गए हैं। कई मित्रों को यह बात पता थी और उनका बड़ा आग्रह रहा है कि ये पत्र प्रकाशित किए जाएँ। किन्तु ये सभी पत्र अत्यन्त भावाकुल और प्रखर विश्लेषणयुक्त होने पर भी बहुत ही व्यक्तिगत हैं, और मैं अभी तक आश्वस्त नहीं हो पाता कि उनका प्रकाशन अभी उचित होगा या नहीं। मुझे यह भी लगता है कि उन सबको एक साथ छापने पर ही उनकी मानसिक पृष्ठभूमि और उनमें अभिव्यक्त निजी तथा वैचारिक प्रतिक्रियाएँ किसी हद तक सही परिप्रेक्ष्य और सन्दर्भ पा सकेंगी, अन्यथा उनके ठीक-ठीक न समझे जाने अथवा भ्रम पैदा करने का भी भय है। एक कठिनाई और भी है कि अधिकांश पत्र अँग्रेज़ी में हैं, और यह प्रश्न भी उलझन-भरा है कि उन्हें यथावत् अँग्रेज़ी में प्रकाशित किया जाए या अनुवाद करके। अनुवाद का काम बहुत आसान होगा यह भी नहीं लगता।

इन सब दुविधाओं के बावजूद बन्धुवर नामवरसिंहजी ने इस बार मेरे लिए कोई रास्ता न छोड़ा। उन्होंने बहुत आग्रहपूर्वक मुझे आश्वस्त किया है कि व्यक्तिगत सन्दर्भों के बावजूद ये पत्र प्रकाशनीय हैं, और मुक्तिबोधजी को, उनके रचनाकार व्यक्तित्व को, समझने में निश्चय ही बहुत सहायक होंगे। इसलिए सम्प्रति कुछेक हिन्दी में लिखे पत्र मुक्तिबोधजी की जन्मतिथि के अवसर पर 'आलोचना' के इस विशेष स्मृति-अंक में प्रकाशित किए जा रहे हैं।

ये पत्र अविकल छापे जा रहे हैं। केवल एक पत्र को छोड़कर, जिसमें अँग्रेज़ी का अंश जो बहुत लम्बा था, छोड़ दिया गया है। अन्य पत्रों में आए अँग्रेज़ी के शब्द नागरी

मुक्तिबोध के इन पत्रों का पुस्तकाकार प्रकाशन आगामी वर्ष में राजकमल प्रकाशन द्वारा हो रहा है। इस पुस्तक में लगभग ७५ पत्रों के अतिरिक्त श्री नेमिचन्द्र जैन की एक लम्बी भूमिका भी होगी। —सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिपि में रखे गए हैं। दो-एक पत्रों पर तारीख नहीं है, उनके वर्ष का अनुमानतः संकेत दे दिया गया है। पर उनमें जिन व्यक्तिगत सम्बन्धों की झलक मिलती है वह एक खास सामाजिक-राजनीतिक दौर के हैं। यह असम्भव नहीं कि वे सम्बन्ध आज यथेष्ट तर्कसंगत और स्पष्ट जान पड़ें—न उनकी बुनियादी प्रतिज्ञाएँ ही और न उनका स्वरूप ही। इन पत्रों के पुस्तकाकार प्रकाशन के समय शायद उनकी पृष्ठभूमि को किसी हद तक उजागर किया जा सके।—**नेमिचन्द्र जैन**

: १ :

सरस्वती प्रेस,
बनारस कैंट,
२६-१०-४५

प्रिय नेमि बाबू,

आपका पत्र नहीं। समय का अभाव नित्य से अधिक ही होगा। पर, याद आपकी आती रहती है। आजकल धूप बहुत अच्छी खिलती है और मन तैर-तैर उठता है, और आपकी याद भी इसी सुबह के रास्ते से उतर आया करती है।

गो मैं यह सोचता हूँ कि यह सब ग़लत है। दिन के बँधे हुए कार्य को अधिक बाँधकर करने के पक्ष में रहते हुए भी कामचोरी से दिली मुहब्बत टूट नहीं पाती। मैं मानता हूँ कि कर्तव्य ही सब-कुछ है, पर उसके न करने का उत्तरदायित्व मानो मैं अपने ऊपर नहीं लेना चाहता। क्या ज़रूरी है कि कर्त्तव्य किया ही जाए, और उस समय आनेवाली आपकी याद को बाहर ही खड़ा रख मन के दरवाज़े को बन्द कर दिया जाए। कर्त्तव्य के फ़लसफ़े की बात ज़्यादा समझ में नहीं आती।

इसी कर्त्तव्य ने तो लोगों को पंगु कर दिया है, उनके हृदय के पंख तोड़कर उसे अधिक सामान्य बना दिया है। सरदी की पारदर्शिनी हल्की-हल्की चोटें करने वाली यह धूप और उसका उष्ण स्पर्श मानो मुझे जगा देता है। मन दैनिक नींद से जाग उठता है। वृक्षों के पत्र संभार पर फैलकर उनके गाढ़ हरियाले अन्तराल में छाया प्रकाश उत्पन्न करने वाली यह धूप मन में सपने जगा देती है। कोई विलास-स्वप्न नहीं वरन् विजय-स्वप्न। जिन्हें देख लें पुराने मकान की जीर्ण मुण्डेर पर बैठकर दूसरे के आँगन में ताकने वाले लोग —कर्त्तव्य के पुराने महल्ले के बाशिन्दे।

सचमुच अब सारे कर्त्तव्य से आज़ादी चाहता हूँ। चाहता हूँ मात्र कार्य, अपने अनुकूल। यह नहीं कि पेटीबुर्जुआ कर्त्तव्य चलते ही चले जाएँ और मैं उसमें फँसता हुआ ही चला जाऊँ।

अब मैं ज़िन्दगी के प्रति उदास नहीं हूँ। पहले उसकी शिकायत थी। अब तो उससे तकाजा है, माँग है।

रोज़ लिखने की सोचता हूँ। लिखता भी हूँ, पर बहुत थोड़ा। आप विश्वास नहीं करेंगे, एक कविता को दुरुस्त करने के लिए छः घण्टे लगते हैं। मैंने कई सुधार भी दी हैं। कई तो सुधारने की प्रक्रिया में परिवर्तित हो गई हैं। पता नहीं कब तक मैं कविताओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यों सुधारता बैठूंगा।

आपसे बड़ी-बड़ी शिकायतें हैं। पर अभी इस समय नहीं। बाहर बहुत नरम धूप खिली है और इस समय सोचने का कोई उत्साह नहीं। यदि आप यहाँ होते तो आपको पकड़कर मैं रेस्तराँ में ले जाता और काम की और अपनी ऐसी-तैसी करता।

यह बतलाइए कि आपने इधर कुछ लिखा ? लेकिन फ़ुरसत तो आपको भी नहीं मिलती होगी, जो भी आपका समय खूब मज़े में कट जाता होगा।

वाकई अब बनारस छोड़ने की इच्छा हो रही है। दो दिन के लिए ही सही। कुछ जरूरी मालूम होता है। मैंने भी शादी क्या कर ली, अपने को धोखा दे दिया, आज़ादी का मुहताज हो गया। और अब शक्ति होते हुए भी शक्ति-हीन और सामर्थ्य-हीन मालूम होता हूँ। खुद को ही बेवकूफ़ लगने लगता हूँ। घर-गिरस्ती भी एक बला है। सचमुच उज्जैन में मैं काफ़ी आज़ाद था (जो भी यहाँ सुखी अधिक हूँ) ईश्वर करे कोई लेखक अब शादी न करे, और करे तो घर-गिरस्ती के चक्कर से खुदा उसे मुआफ़ रखे। घर-गिरस्ती भी एक बला है, जिसके दो सींग हैं, जो गधे के होते हैं। बाल-बच्चेदार आदमी सोलह आना गधा होता है, इसमें शक नहीं।

दुनिया के करोड़ों गधों में से मैं भी एक हो गया हूँ, लेकिन अभी नया हूँ। दुलत्तियां झाड़ देता हूँ और अभी पूरे तौर से गधे का फ़लसफ़ा—उसका बौना आदर्शवाद—आत्मसात् नहीं कर सका हूँ। पर इससे तकलीफ तो होती ही है।

डॉक्टर साहब के क्या हाल हैं ? उनसे भेंट होती है ? मैं उन्हें अभी तक लिख नहीं सका। वे नाराज़ तो होंगे ही।

मेरे कविता-संग्रह की भूमिका के बारे में क्या सोचा ? आप क्यों नहीं लिख देते ? अब तक बड़े-बड़े लोग ही लिखा करते हैं, अब यह बात भी सही। उत्तर जल्दी दीजिए। पुस्तक के नाम-वाम के चक्कर में नहीं पड़ता। कुछ तो भी रख दूँगा। पर छायावादी नाम नहीं रखूँगा।

मेहनत करूँ तो लेखन से पैसे मिल सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। पर साहित्यिक श्रम जितना अधिक आवश्यक है उतना ही अभाव है समय का। दुनिया के सारे कार्यों से निवृत्त हो, थकी हुई पीठ और बोझिल मस्तिष्क ले, टिमटिमाते कन्दील के धुँधले प्रकाश में कलम चलने तो लगती है पर खुद को कोसती हुई। इस मेहनत को देखते हुए, मुझे हर कविता के पाँच रुपए प्रकाशक से चार्ज करना चाहिए।

पर अब साहित्यिक श्रम मुझे करने ही पड़ेंगे। हिन्दी सुधारने की कोशिश शुरू हो गई है। छोटी-सी फ्रेज़, कोई चुस्त ज़बान-बन्दी झट नोट कर लिया करता हूँ, बिल्कुल शा के लेडी ऑफ दि डार्क के शेक्सपियर की भाँति।

इसके पहले, मैं हिन्दी के साहित्यिक प्रयासों के सिवाय, कभी भी लिखा नहीं करता था। मेरे अत्यन्त आत्मीय विचार मराठी या अँग्रेज़ी में निकलते थे; जिसका तर्जुमा यदि अवसर हो तो हिन्दी में हो जाता था। इसीलिए जान-बूझकर यह पत्र हिन्दी में लिख रहा हूँ। मेरा खयाल है कि मेरी भाषा सुन्दर न भी हो सके, वह सशक्त होकर रहेगी, क्योंकि उसके पीछे अन्दर का ज़ोर रहेगा। बतलाइए, क्या मेरा सोचना गलत है ? इसके बारे में आप ज़रूर लिखिए। मुझे साज-सँवार की प्रतिष्ठित बोली पसन्द नहीं। चाहता हूँ कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके विषय में आप मत-प्रदान करें। क्या मैं अपनी हिन्दी सुधार सकता हूँ? उसे सक्षम, सप्राण और अर्थ-दीप्त कर सकता हूँ?

पत्र आप लम्बा लिखें; देखिए, मैं आपके बारे में कुछ भी नहीं जान रहा हूँ, और अभी साल काटना है जिसके बाद आप मुझे मिलेंगे। यह भी लिखें कि पत्र की भाषा कैसी है। और···और···सब लिखें। मेरे लिए किसी भी तरह से दो घण्टे निकाल लें, शीघ्र ही।

शान्ता स्कूल जाया करती है। शायद मैं उसे अब अधिक प्यार करता हूँ। कुछ आप-ही-आप अन्दर से तब्दीली हो गई है। मुझमें और उसमें भी। परन्तु मेरी आँखों के सामने घर-गिरस्ती को देखकर काले सपने आया करते हैं। मैं वज़न सम्हाल नहीं पाता; और हर महीने की बीस तारीख के बाद दिवालियापन सताता रहता है क्रुद्ध प्रेत-सा। और अब सरदी आ गई है।

बपन साहब ने स्कूल छोड़ दिया है, और वे वकालत करने लगे हैं। दादा (हमारे पिता) के पत्र नित्य आते रहते हैं। बड़े ही विह्वल पत्र। सचमुच वात्सल्य भी आपत्ति है। ईश्वर करे, मुझे न सताए यह रोग। बेरुखी सबसे अच्छी। श्रीपतरायजी जयपुर गये हुए हैं; उन्तीस तक वापस आ जाएँगे। अज्ञेयजी को एक पत्र लिखा था अर्थहीन (नान्सेन्सी-कल) पत्र। जिसका उत्तर था कि मैं कलकत्ते पर जाने वाली ट्रेन पर उन्हें मिलूँ। मिला था। देख-भर लिया। बातचीत होती ही क्या!

श्रीमती रेखाबाई की क्या स्थिति है? और आगे का कार्यक्रम क्या? क्या ही विवेक बाध्य (इर्रेशमल) तृषा है कि जिन-जिन लोगों से आपको लगाव है उन्हें मैं भी जानूँ-पहचानूँ और निकट आऊँ! यही कारण है कि भारतभूषणजी के प्रति नित्य से अधिक उत्सुक रहता हूँ।

आजकल कुछ उर्दू कविताएँ मन में ठहर गई हैं उसके कुछ शेर···

फकीराना आये सदा कर चले
मियाँ, खुश रहो हम दुआ कर चले
क्या चीज़ है आह जिसके लिए
हरयक चीज़ से दिल उठाकर चले
कोई नाउम्मेदाना करके निगाह
सो तुम हमसे मुँह भी छिपाकर चले
दिखाई दिये यूँ कि बेखुद किया
हमें आपसे भी जुदा कर चले
ज़बीं सिजदे करते ही करते गई
हके बन्दगी हम अदा कर चले
परस्तिश की याँ तक कि ऐ बुत तुझे
नज़र में सभी की खुदा कर चले
गई उम्र दर बन्द फिक्रे गज़ल
सो इस फ़न को ऐसा बड़ा कर चले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहे क्यों जो पूछो कोई हमसे 'मीर'
जहाँ में तुम आये थे क्या कर चले ।।

हक़े बन्दगी अदा करते हुए,
आपका सस्नेह
ग० मा० मु०

: २ :

हमारा दफ्तर
३०-१०-४५

प्रिय नेमि बाबू,

सहसा आपकी याद आ गयी है, मीठी बयार के औचक जगाने वाले झोंके-सी। जैसे जाग उठा हूँ अपनी समस्त चेतना लेकर। समस्त चेतना अपने अन्तर्विश्व की। मन के वे ज्ञान के और प्रेम के झिलमिलाते स्वप्न, हृदय की अनुभूतियों के विकास के स्रोत क्षण-भर के लिए जाग उठे हैं। अभी क्षण-भर के बाद ही वे सो जायेंगे और धुँधली ज़िन्दगी का मटमैला स्पर्श उन्हें सुला देगा कि सहसा आपका ख़याल आ गया।

याद है, आपकी बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी है। आपने एक व्यक्ति के साथ नाज़ुक खेल खेला है। उसे कम्यूनिस्ट बनाया, दुर्धर्ष घृणा के उत्ताप से पीड़ित। और उसकी स्त्री के प्रति उसका रुख पलटा। अधिक सहनशील भावनामय उसे बनाया। यह काम बहुत बड़ा ही नहीं, नाज़ुक भी है।

और इन क्षणों में, जीवन के विचित्र तर्क-प्रवाह के द्वारा, आज, जबकि क्षण-भर के लिए ही सही, मैं जागृत हो उठा हूँ तो सहसा यह वाक्य निकल आता है—देखो, विक्षुब्ध आत्मा लेकर एक आदमी ने जन्म लिया—अपने युग की उच्चतम आकांक्षाओं और अपने ज़माने की महानतम दुर्बलताओं से विक्षुब्ध। हाँ, मैं अपने को यही समझता हूँ। इस विशाल व्यक्तिवाद की विशालतम ट्रैजेडी को शब्द-बद्ध कर सकूँ तो मेरा जीवन-कार्य समाप्त हो जायेगा। क्योंकि न सिर्फ मैं अपनी राह को खोजता हूँ बल्कि वह भी मुझे खोजती है, और इसी में सारी उलझन की बदमाशी है।

दैनिक जीवन के पूर्ण रूप से आबद्ध कार्यक्रम में आदर्शवाद की बू तक नहीं रहती। कहीं मन का विस्तार नहीं हो पाता। और सहसा बिजली कौंधने की भाँति याद आ गया कि विवाहित जीवन का आदर्शवाद मनुष्य की समस्त चेतना को सुलाने का काम करता है। इस आदर्शवाद के विरुद्ध मैं तर्क के द्वारा बगावत नहीं कर पाता, परन्तु मैं सोचता हूँ कि मन के सारे अधूरेपन, व्यक्तित्व के सारे बौनेपन की जड़ यहीं है। ज़िन्दगी के एंजिन के लिए लोहे की पटरी यानी विवाहित जीवन। दिन-भर आर्थिक प्रयास का फ्रस्ट्रेशन और रात में बे-आराम, सपनों से टूटती-जुड़ती ज़िन्दगी। अब बतलाइए, मनुष्य का वास्तविक सामर्थ्य और उसकी शक्ति—जिसकी कमी मैं अपने अन्दर कभी नहीं अनुभव करता हूँ—मात्र सो जाती है। शरीर और मन दोनों को चैन कहाँ ?

फिर अध्ययन और लेखन की वह चिन्तनशील मादकता, और राजनीति का वह उत्साह जैसे काफ़ूर हो जाता है। मन में एक द्वन्द्व होने लगता है—पारिवारिक लायल्टी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आन्तरिक विकास-बुद्धि में। इन दोनों में मानो सामंजस्य होने वाला ही नहीं। और मैं अपने से, ज़िन्दगी से और इस विश्व से नाराज़ हो उठता हूँ।

किन्तु आज सहसा मैं अपनी सही जगह आ गया था, क्षण-भर के लिए ही सही, मैं अपने से चेतन हो उठा। मेरी ज्ञान-तृषा, सौन्दर्य-शक्ति, मुक्त हृदयदान तथा स्वानुकूल कर्मण्य शक्ति का मानो मुझे, क्षण-भर के लिए ही सही, बोध हो गया जिसकी आग अभी-अभी राख हो जाएगी। जिस ज़िन्दगी को जीने का मुझे आदेश मिला है, वह कुछ दूसरी ही थी। यह नहीं। परन्तु फिर भी, यही चाहता हूँ कि मैं इस दलदल को भी पार कर जाऊँ। सचमुच मुझे ज़िन्दगी की तब्दीली की बहुत बड़ी ज़रूरत है।

फिर भी नैराश्य के गीत लिखना मैंने बन्द-सा कर दिया है। और जो भी चमकीले गीत मैंने इधर लिखे हैं उनमें मात्र क्षोभ और उत्ताप की अग्नि-लताएँ हैं। इन नये गीतों से भी मैं नाराज़ हूँ, और आधुनिकतावाद के गीतों में भरी हुई सर्दी की ठिठुरन से तो मैं अब ऊब उठा हूँ।

परन्तु आज की वास्तविक परिस्थिति के आदर्शवाद को सही समझते हुए भी बार-बार लगता है कि जब तक मैं अपने को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं कर लेता, और अपना तन-मन-धन एकाग्र नहीं कर लेता तब तक ज़िन्दगी गधे की चाल में चलती रहेगी। रहेगी न ?

आपका पत्र न आना एक विपत्ति ही है। फ़ुरसत का अभाव तो हम-आपको है ही। परन्तु कभी-कभी जब मन बहक जाय, मुझे याद कर लिया करना। जैसा कि मैं आपको कर लिया करता हूँ।

देखिए, मैं न मालूम क्या-क्या कह गया और मुझे अब डर लगने लगता है कि कहीं आपको मैं सता न बैठूं। पता नहीं क्यों, पर आपसे संकोच ज़रूर होता है जैसे सारी बातें कह जाऊँ तो आपके मन पर प्रतिकूल परिणाम हो। कभी-कभी अविवेकपूर्ण तर्क उठने लगते हैं आपके बारे में। लगता है कि जैसे आप खुलते ही बन्द हो जाते हैं। जैसे कि हम एक-दूसरे से झेंपते हैं; खिंचे चले आते हैं, पर दूर भागने की तैयारी करके, अवचेतन रूप से निस्सन्देह। पता नहीं क्या बात है। पर अन्दर की ऊष्ण मदिर धारा एक दफा फिर खुल ज़रूर जाती है और मन के सारे पाप गलकर घुल जाते हैं। इससे अधिक और क्या कोई चाह सकता है।

श्रीपतरायजी की बातचीत से पता चला—मैंने सूँघा—कि आप मेरे बारे में उत्सुक, यदि कहूँ चिन्तित तो ठीक होगा, रहते हैं। पर क्या याद है आपको कि आपने कोई विस्तृत चिट्ठी नहीं भेजी है।

साँझ हो रही है। पुराने मकानों की वीरान छतों और उड़े रंगों की दीवारों से ढलती हुई। घर की मीठी सुगन्ध यहाँ तक आ-सी रही है। और चाहता हूँ कि पैर चलने लगें।

मेरा पत्र अब सम्पूर्ण हुआ चाहता है आधी बात ओठों में दबाकर। और पूरी बात 'फिर कभी' के लिए रखें। इसके पहले कि प्रणाम करूँ।

'याद आती है तुम्हारी तैरती-सी,
राह से जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी कोई आ नहीं सकता
न माता, पुत्र या पत्नी, पिता'

मेरी बेसब्र बेकाबू ज़िन्दगी जब किसी की ज़रूरतमन्द हो उठती है तो पहले वह आपको ज़रूर याद कर लिया करती है, ध्यान न देते हुए, मात्र अवचेतन रूप से।

कहते हैं जो कहता है वह करता नहीं है, यानी ये बातें कहने की नहीं। पर मन है कि कर बैठता है, ज़िन्दगी है कि जी बैठती है। श्री रेखा बाई को प्रणाम।

बस अभी इतना ही

सस्नेह आपका
ग० मा० मु०

: ३ :

वही स्थान और
वही टेबिल
७-११-४५

प्रिय नेमि बाबू,

न, नेमि बाबू, इस प्रकार से तो काम नहीं चलने का। आख़िर फ्रस्ट्रेशन है तो रहे, वह इतनी बुरी चीज़ नहीं, जितना उसका ग्लूम। न, इसको दूर करना ही पड़ेगा। यह नहीं कहता कि आप हमेशा इसी मूड में रहते होंगे। पर ज़रा सोचिये तो सही कि ज़िन्दा रहने का हक तो हमें है ही। और यदि लोग हमारी वैलिडिटी नहीं मानते तो न मानें। अभी हमने किया ही क्या है। हम अभी पुस्तक के भाव हैं—अलिखित पुस्तक हैं। अभी से उस पर आलोचना कैसी? अभी से यदि हम निश्चयात्मक आलोचनाएँ भोगने लगें, या लोग करने लगें तो हमारे सबसे बड़े मैग्नम ओपस की भ्रूण-हत्या ही हो जाएगी। न, बाबा, ऐसी गलती न करो।

हमारी सबसे बड़ी विपत्ति यह नहीं कि हममें फ्रस्ट्रेशन है, वरन् यह कि उसकी जैसी परिस्थिति हमें चारों ओर से घेरे है। यदि उचित परिस्थिति रहे, बने, या हम बनायें तो फ्रस्ट्रेशन के काले नाग का फन हम मरोड़कर तोड़ देंगे।

बात यों है कि हमने अभी अपनी निजी ज़िन्दगी बनाना शुरू नहीं किया है। हम अभी तक वायवी आदर्शवाद से ही प्रेरित हैं, यानी हमारे थाट्स विचार नहीं, वरन् मा मानसिक प्रतिक्रियाएँ हैं। और हम एक अर्थ में ज़रूर बह जाते हैं बाहरी परिस्थिति के प्रवाह में; परिणाम—हमारा अपना काम यों ही अधूरा रह जाता है। कम-से-कम मेरे अपने बारे में तो यह सोलह आना सही है; और इसके प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न होती है घोर ग्लानिपूर्ण अन्तर्मुखता जिसे आप फ्रस्ट्रेशन कहते हैं।

इसके लिए आवश्यक है हम अपनी ज़िन्दगी को ठीक-ठाक जमाएँ एक स्थान पर, और फिर अपने मन की पूरी एकाग्रता से ऐसा कार्य हाथ में लें और पूरा कर डालें। आख़िर फ्रस्ट्रेशन वही व्यक्ति अनुभव करता है जिसका कोई निश्चित जीवन-कार्य (मिशन) है, और उसके आरम्भ करने में आन्तरिक और बाह्य अनेक बाधाएँ हों। गलती हमने यह की है कि पूरे बनने की (के) पहले ही प्रकाश में आ गये हैं। यानी, हमारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति से लोग अपरिचित हैं और गुण-दोष से परिचित। अब उन्हें हमारी शक्ति का भी परिचय हो जाना चाहिए। अपनी अन्तःशक्ति का यों अपमान न कीजिए नेमि बाबू।

क्या यह सही नहीं है कि शक्ति की एकाग्रता और वैज्ञानिक ईमानदारी हममें सब-कुछ करा सकती है? इसका अभाव हममें निश्चित रूप से नहीं है, जो भी बहुत बार हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। हमारी अनेक आत्मवंचनाओं में से वह भी एक है। हमारी गलती यही है—महान् अपराध भी यही है कि हम अपने निजी कार्य को स्थगित कर देते हैं, पोस्टपोन कर देते हैं।

बस, अब जाने दो। आप मुझसे अधिक सशक्त हैं और बातों को जानते भी हैं। परन्तु बम्बई की ज़िन्दगी आपको ठीक नहीं पड़ती, यह सच है।

अब वास्तविक परिस्थितियाँ बतलाइये, यानी वह बतलाइए जो घेरे हैं, जो काबू में नहीं आ रहा है। और कि भविष्य के बारे में आपने क्या सोचा है? रेखा बाई के फ्यूचर प्रोग्राम्स क्या हैं और उनके साथ आपके क्या होंगे?

पिता बनने का मेरा आयोजन बस समझ लीजिए कि एक आपत्ति है। और अन्तिम आश्रय तो अपना धैर्य है ही। यदि ज़िन्दगी में ठिठुरते ही रहना है तो इसके सिवा कि रोओ और कोई चारा तो है ही नहीं। इसलिए, अब तो बिल्कुल पेटीबुर्जुआ दृष्टिकोण यानी दो हँस के मीठी बातें कर लो, परस्पर का सौहार्द्र और स्नेह जता लो और अधिक-से-अधिक दो कप चाय पी लो, इससे अधिकऔर कुछ तो है ही नहीं। न हो सकता है। इधर रमेश काफी बीमार था और मैं भी। लेकिन उसे उज्जैन नहीं भेजना चाहता। जैसा है वैसा चलेगा।

जैसे आप बिलकुल अकेले पड़े हैं, वैसा मैं भी। निःसंगता अखरती है। आप अपने पत्र में भी, सचमुच बहुत दूरता से बोलते हैं। मालूम होता है मेरे पहले पत्र से आपको तकलीफ हुई, काफी। शायद, इसीलिए आप किसी ऐब्सट्रैक्शन का सहारा ले रहे हैं, या आपने बहुत भारी, सघन अवस्था में पत्र लिखा है।

कविताएँ सुधारते नाक में दम आ गई है। कैसी विपत्ति मोल ले ली! पर अब तो करना ही पड़ेगा। रास्ता ही वह है। अपनी नकेल को खुद हाथ में लेकर ही अब चलना पड़ेगा।

देखिए, फुर्सत तो आपको मिलती ही नहीं, सो तो मिलना ही मुश्किल है; पर पत्र की आवश्यकता कम नहीं होती, वरन् वह बढ़ती ही जाती है। आखिर एक ही तो भार हल्का करने का उपाय है। जानने-बूझने और पाने-पहचानने का एक ही तो मार्ग है। फिर उसकी इतनी अवज्ञा क्यों?

और आप कुछ नहीं लिख पाते, तो पत्र तो लिखिये। इस बहाने से ही मुझे पत्र आया करेंगे। देखिए कितना स्वार्थी हो गया हूँ, जैसे बच्चा स्वार्थी हो।

बस अब आपके पत्रों की ही आवश्यकता है। साथ, दो पत्र और हैं, मेरी झक के नवजात पुत्र हैं। शेष बातें विस्तार के साथ लिखिए और नियमित रूप से अवश्य लिखें। श्री रेखा बाई को प्रणाम।

आपका सस्नेह
ग० मा० मु०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनश्च—अभी पत्र दूसरी बार पढ़ा और जीनियस वाली बात मन में अटक गई। हैं नहीं, और समझते हैं जीनियस। वास्तविकता यह है कि हम जीनियस हैं यानी वह शक्ति बीज-रूप में है, परन्तु हम उससे इन्कार करते हैं अपने प्रतिदिन के चलनेवाले जीवन में। यानी उसका एसर्शन नहीं करते, अर्थात् हम उसके विकास और प्रसार के आग्रही उचित मात्रा तक हो नहीं पाते। क्यों? इसलिए कि उस शक्ति के विकास के लिए हम प्रयास नहीं करते दृढ़ निर्घृण। परिणाम, हम अपनी ज़मीन छोड़कर दूसरे की कुर्सी पर जा बैठते हैं। और फिर? आस्था और विश्वास खो बैठते हैं। यह है एक दुष्ट वर्तुल विशस सर्किल। सांकृत्यायन को कोई बुर्जुआ क्यों नहीं कहता? क्योंकि जिस ज़मीन पर वे खड़े हैं वहाँ कोई टकरा नहीं सकता। हममें भी त्याग की, सहनशीलता की, कार्य की, बुद्धि की और लेखनी की शक्ति है। क्यों नहीं हो सकती? वह है ही।

: ४ :

नागपुर
२७-४-५५

नेमिजी,

रूह मँडराती रही, वहाँ जहाँ आप बैठते हैं। ऐसा ही होता है?

इलाहाबाद में आपको अधिक समय तक रहना ज़रूरी हो गया; मन में कुशंका उठी, कहीं ऐसा न हो कि किसी उलझन या आफत में फँस गए हों। आजकल जो न हो जाए सो थोड़ा।

अभी भी जब कोई रिक्शा मेरी गली के मुहाने सहसा खड़ा होता-सा दीखता है, मन सोचता है—हो-न-हो, आप ही उस रिक्शे से उतर रहे हैं। आजकल साक्षात् मिलन का कार्य मानसिक विभ्रम ने अंगीकार कर लिया है।

आपने पिछले पत्र में अपना पता नहीं लिखा था। माचवेजी का पत्र जिसमें वह था, खो गया था। इसलिए आपको पत्र नहीं लिख सका। अब दिल्ली जाकर पता लेते आया।

तनाव और दुराव की दुनिया में मन दूर भागता है और पास वाले आदमी को दूर से पकड़ लाता है। मन का यह लम्बा सफर व्यर्थ नहीं जाता; लेकिन शक्ति तो क्षीण होती ही है। और यह क्षीणता क्या साधारण मनुष्य के मन में 'दर्द का कीड़ा' नहीं बन जाती।

ज़माना गलत है, ये कहने पर भी आदमी गलत नहीं होता। इसलिए गम गलत करने की कोई ज़रूरत नहीं। हमें यह भी गम है कि मुलाकात नहीं हो सकी। खैर, अब नहीं और कभी होगी। हम इसी तरह, मन को तसल्ली देते आए।

सुना है, आपने खूब कविताएँ लिखी हैं। हमको कब पढ़ने को मिलेंगी, खुदा जाने।

जो कविताएँ, यहाँ-वहाँ देखने को मिलीं वे बहुत अच्छी लगीं—एक 'हंस' में और दूसरी 'कवि-भारती' में। यहाँ के लोगों को भी पसन्द आई।

आपकी भाभी और रमेश आपको सस्नेह नमस्ते कहते हैं।

बेकारी में नौकरी की ज़रूरत होती है। क्या यह दिल्ली में या और किसी जगह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भव है? इस तीस के आगे बन्देशरीफ बेकार हैं। बड़ी इज़्ज़त बख्शी है थारां ने। किस कदर 'अवांछनीय' समझा गया!!

बाकी सब बुरी तरह कुशल है। कुशल के फल-फूल खूब सड़ाये गए हैं। उनके फर्मेन्टेशन से नयी ठर्रा शराब पैदा हो रही है। हम यही देसी माल लेते-देते हैं।

रेखाजी का क्या हाल है? किस तरह क्या चला हुआ है? अब तो यह है कि बैलगाड़ी में जुते हुए हैं। पति—एक बैल, दूसरा बैल—पत्नी। गाड़ी में बच्चे-बच्चियाँ, माँ-बाप। बुद्धि-विवेक, आवश्यकता, मोह, हृदय, किसी को भी गाड़ीवान बना दीजिए। गाड़ी चल रही है। कभी चढ़ान पर, कभी उतार पर, कभी सपाट मैदानों पर। खेद इसी का है कि कोई नहीं कहता—"बारे पट्ठे होशियार, बढ़ते जाओ होशियार!"

अपने बारे में लिखिये। कुछ इतिहास का भी महत्त्व होता है। भावनाओं का भूगोल तो याद कर चुके। इसलिए, ज़रूरी है कि अपने सम्बन्ध में कुछ वार्ता कहें।

जहाँ तक मेरी बात, सब-कुछ अनिश्चित है। पता नहीं कहाँ, क्या, कैसे होगा!! अगर सुविधा से प्राप्त कर सकें तो चित्रकार रामकुमारजी और वात्स्यायनजी का पता लिख भेजें।

बच्चों को प्यार, रेखाजी को सादर नमस्ते।

सस्नेह
ग० मा० मुक्तिबोध

: ५ :

१९५६ में (?)

प्रिय नेमि बाबू,

पत्रोत्तर तो मैंने बहुत-बहुत पहले लिख दिया था, लेकिन भेजने में देर हो गई। ग्लानि और शिथिलता का एक युग-सा बीत रहा है। पिछले लगभग डेढ़-दो महीनों में, विश्वास कीजिए, एक दर्जन से ज्यादा पत्र अनुत्तरित रहे हैं। पिताजी को तो मैंने यह कहकर क्षमा माँग ली कि दिन-रात चाहते हुए भी उनके लिए एक सतर नहीं लिख सका। हाल ही में उन्हें पत्र भेजा है। विश्वास कीजिए नेमि बाबू, इन्हीं दिनों कई बार आपसे स्वप्न में भेंट हुई!! यह कहना भी शायद मुझे शोभा नहीं देता!! इस आधुनिक बौद्धिक युग में ड्राइंगरूम का महत्त्व बढ़ा है, घर की छोटी-सी बैठक का नहीं जहाँ घनिष्ठ बातें होती हैं। पत्र लिखना मुझे बहुत अच्छा लगता है और पत्रोत्तर देने में, वस्तुतः मैं बिलकुल शिथिलता नहीं बरतता। किन्तु, कभी-कभी कोई चीज़ सर पकड़ लेती है। आपको लिखा पत्र भी इसी तरह पड़ा रहा। लेकिन यह मेरी आदत नहीं है। आजकल मैं अपने पास अलग से चिट्ठी-पत्री का सामान रखता हूँ और यथासम्भव उत्तर जल्दी दे देता हूँ।

यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि पत्रोत्तर में मेरी ओर से देर का कहीं मुझे दण्ड न मिले, यानी आप मुझे देर से उत्तर न दें।

इसलिए, मैं यह सोचता हूँ कि कम-से-कम आप मुझे जल्दी उत्तर दें और बताएँ कि हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं; साहित्य के क्षेत्र में भी, अन्य क्षेत्र में भी। एक बात मुझे याद आई—आपने लिखा था कि कविता की एक लाइन लिखते वक्त आपको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानो तकलीफ होती हो। किन्तु, मेरा खयाल है कि जब खूब कहने का मन हो, निबन्ध के क्षेत्र में, तब शायद कविता न लिखी जा सके। एक बार विचारों का उद्वेग निकल जाने पर फिर कविता को भी नयी गति और दिशा तथा क्षेत्र मिल जाता है। मेरा खयाल है कि असल में आपके लिए यह एक मोड़ है। मोड़ से निकल जाने पर राह सुथरी-साफ दिखाई देती है।

पत्रोत्तर शीघ्र दें। मैं राह देखता रहूँगा। और सब बातें विस्तार से लिखें।

सस्नेह
आपका ही
ग० मा० मुक्तिबोध

: ६ :

१९५७(?)

प्रिय नेमि बाबू,

आपका पत्र क्या मिला, आप आधे मिल गये। कितनी ही बार उसे पढ़ता रहा। मैं दिल्ली आने के लिए बिल्कुल तैयार हूँ। लेकिन, सच तो यह है कि मैं बगैर ठीक-ठिकाने के कैसे रह सकता हूँ। अब यह नामुमकिन-सा है। अगर ऐसा ही होता तो मैं यूँ ही कई बार दिल्ली आ जाता। वैसे मेरा यहाँ भी कोई ठौर नहीं। मौजूदा नौकरी सवा दो सौ देती है। वह बिल्कुल नाकाफी है। और सोच तो यह रहा हूँ कि आमद के सुनिश्चित जर्ये (जरिये) पैदा किये जाएँ, लेकिन अब तक हो नहीं पाया है। दिल्ली में ढाई सौ मुझे बहुत ही कम होंगे। अगर कोई तीन-सौ साढ़े-तीन-सौ की नौकरी आपके ध्यान में आये तो ज़रूर सूचित कीजिएगा।

वैसे, मेरा जी दिल्ली आने को ललक रहा है। मैंने यहाँ यह रंग बाँधकर रखा है कि दिल्ली में मैं नौकरी की कोशिश कर रहा हूँ। लोगों को विश्वास है कि मैं जल्दी ही वहाँ निकल आऊँगा। लेकिन, असलियत मैंने आपको लिख दी।

आपने बहुत-सी बातें लिखीं, जिसमें 'बस मिस' करने की बात भी थी। मैं तो यह कहता हूँ कि आपके लिए स्पेशल बस आयेगी। आखिर, जो बस पर चढ़ ही गये थे, और आगे बढ़ गये, उन्होंने कौन-से तीर मार लिए!! हाँ यह सही है कि उनके नाम बजते हैं (गूँजते तो क्या हैं!!)

मैंने नई कविता के सम्बन्ध में आपका लेख पढ़ा था। बहुत शक्तिशाली लेख था। हमारे यहाँ उसे, मुझे शामिल करके, कई लोगों ने पढ़ा और सबको पसन्द आया। मुझे जो मज़ा आया वह और किस्म का था।

आपके पुराने गद्य से नया गद्य कोई मुकाबला नहीं रखता। नये गद्य में हार्दिक ओज है, जिससे शैली मनोहर हो सकी है। भाव-तत्परता और चुटीली वैचारिक वेदना के साथ, विश्लेषण गम्भीर हो उठा है। लगता है कि अगर आप कलम उठायें और लिखते चले जाएँ——तो विचारों और भावों की गंगाएँ और नर्मदाएँ बहा देंगे!! अब इस ओर आपको जुट जाना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि कवि का पद अनिवार्य रूप से विचारक के पद से बड़ा ही हो। मेरा तो खयाल है यह कि आज हिन्दी को अच्छे विचारक की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जितनी अधिक आवश्यकता है उतनी कवि को नहीं। प्रकृति और वेदना से जो व्यक्ति कवि होकर परिस्थितिवश विचारक हो जाता है, उसकी वह यात्रा, जो उसने काव्य से लेकर विचार तक की है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान है और उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त आवश्यक है। पुराने कवि-व्यक्तित्व के प्रति आपका मोह होना अत्यन्त मानवीय है, किन्तु कवि से लेकर विचारक तक की यात्रा में आपने जो कुछ मानव-सत्य पाये हैं उनका महत्त्व बहुत अधिक है। अगर यह देश अधिक उन्नत और सुशिक्षित होता तो आप देखते कि उन विचारों द्वारा आप कितने प्रथित-यश हो गये हैं। अब हिन्दी में ज़माना आ रहा है कि जो विचारों को बहुत महत्त्व देता है। विचार का सम्बन्ध, आपके लिए, जितना आन्तरिक है, उतना ही वह प्रभावशाली भी है।

'आजकल' में नई कविता-सम्बन्धी आपके लेख को पढ़कर तबियत बहुत खुश हुई थी। मैंने उस लेख के नोट्स भी लिये थे। किन्तु, आपकी ओर से रेसपोंस के अभाव की सम्भावित स्थिति में मैंने उस पर अपने विचार लिखकर नहीं भेजे। दो-एक जगह मुझे लगा कि आपके आब्सर्वेशन ठीक नहीं हैं और अगर वे ठीक हैं तो उनका ठीकपन बहुत सीमित है। तभी से मुझे यह प्रतीत हुआ कि विचारों के क्षेत्र में हम सब लोगों का कोऑपरेशन बहुत आवश्यक है।

कुल मिलाकर, मुझे उस लेख की ऐटीट्यूड बहुत पसन्द आयी। भाषा भाव और शैली का तो क्या कहना! आपने फूल बरसाये हैं।

ऑल इंडिया रेडियो की नौकरी मैं न छोड़ता; लेकिन मंथली कान्ट्रैक्ट पर मैं भोपाल जाने के लिए तैयार न था। अगर आपको गवर्नमेंट डिपार्टमेंट अथवा यूनिवर्सिटी में कोई अच्छी नौकरी दिखाई दे तो मुझे ज़रूर सूचित कीजिएगा। वैसे, मुझे लेक्चरशिप की भी तलाश है, लेकिन उसमें पैसे इतने कम मिलते हैं यानी १५०.३० कि अब प्रतीत होता है इतनी कम तनख्वाह में मैं गतप्राण हो जाऊँगा। सब जगह एम० ए० फर्स्टक्लास या डॉक्टरेट माँगते हैं। मैं मात्र सेकण्ड क्लास हूँ। वैसे लेक्चरशिप के लिए मेरा जी अभी भी ललकता है।

और यहाँ सब कुशल है। मेरी लिखाई यहाँ चल रही है, जैसी-तैसी!!

आपसे मिलने की इच्छा बहुत अधिक है। और मुझे प्रतीत होता है हम लोग अवश्य शीघ्र ही मिलेंगे? वह योग निश्चित है। देखिए, आगे क्या होता है?

वैसे, मन शिथिल है। ग्लानि और अवसन्नता वैसे ही स्वभावजात है, अब मित्रहीन और साधनहीन होने के कारण, अधिक अवसन्नता है।

श्री श्रीकान्त वर्मा से मिलकर आपके बारे में जो बातें हुईं, उनसे ऐसा लगा कि बस अब आपसे मिलना अवश्यम्भावी-सा है।

रेखाजी से सस्नेह प्रणाम कहिए। बच्चों को प्यार!! पिताजी कहाँ हैं? आपके पास हैं या और कहीं!!

आशा है, पत्र आप ज़रूर लिखेंगे।

आपका ही
ग० मा० मुक्तिबोध

नागपुर,
२३०, भारती भवन,
तेलघानी रोड, गणेश पेठ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ७ :

नागपुर
२८-५-५८

प्रिय नेमि बाबू,

आपके सब उपहार, पुस्तकें और प्रिय शब्द––सब मिल गये । हम लोगों के लिए तो आप, रेखाजी, बालवृन्द एक किंवदन्ती बन गये हैं––किंवदन्ती, जो मनोहर है, जो यथार्थ है और यथार्थ का उन्मूलन भी । शायद, नहीं पक्का, इन्हीं महीनों में ठीक दस वर्ष पूर्व, मैं आपके साथ इलाहाबाद में था । यादें पीछे की ओर दौड़ जाती हैं, मन दिल्ली की ओर भागता है । आपकी, आपके निबन्धों की (जो मुझे पढ़ने को नहीं मिलते) आपकी अन्यान्य गतिविधियों की चर्चा निकलती है । और, हम लोग, श्रीकान्तजी व मैं, उसके रस में डूब जाते हैं ।

किन्तु, न कही हुई जिन्दगी की धारा में अनेक बार आपके चित्र उभरते रहते हैं याद आती रहती है । यह किसे कहें ! ! आप एक अपना फोटो और एक बाल-बच्चों सहित फोटो हमारे पास भेजिये न । कम-से-कम, चेहरा तो दिखा करेगा ! !

आपका अनुवादित उपन्यास मैंने आधा पढ़ लिया है । अनुवाद खूब अच्छा हुआ है । लेकिन, लगता है उसे रिवाइज़ नहीं किया गया था ।

आप तो कुछ अपने सम्बन्ध में लिखते ही नहीं । दिल्ली से आने-जाने वालों से ही आपके हालात मालूम होते रहते हैं ।

अब जल्दी ही अपना निबन्ध-संग्रह प्रकाशित करवाइये और कविता-संग्रह भी। आप फ़िज़ूल अपनी कविता के बारे में बेरुखी रखते हैं । कविता का मूल्य, क्षण-स्थायी नहीं हुआ करता ।

जब श्रम ही करना है तो 'इमेजिनेटिव लेबर' ही क्यों न किया जाये ? क्यों नहीं आप एक उपन्यास लिखते ! ! इतनी सामग्री है आपके पास कि तीन-चार उपन्यास लिख सकें ।

बाकी यहाँ सब कुशल है । स्थानान्तर की सम्भावनाएँ बढ़ गई हैं । बाकी सब श्रीकान्तजी बतायेंगे । सब ठीक होगा ।

आपका अपना
ग० मा० मुक्तिबोध

: ८ :

राजनांद गाँव
२८ फरवरी (१९६४)

प्रिय नेमि बाबू,

आपका पत्र अकस्मात मेघ-वर्षा की भाँति ही आह्लाददायक है । आप मेरे बौद्धिक और हार्दिक सहचर रहे हैं । आप से हमेशा ही सहायता प्राप्त करता रहा हूँ । इस समय भी उसे स्वीकार करूँगा । श्री प्रभाकर माचवे का पत्र आया है । उन्हें विश्वास दिलायें कि मुझे उनके पत्र से विशेष सुख हुआ । अलग से उन्हें उत्तर दिया है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रिय श्री भारतभूषण अग्रवाल को कभी-कभी मेरा स्मरण दिला दिया करें।

अभी मैं इस मानसिक स्थिति में नहीं हूँ कि कोई अपना मैनुस्क्रिप्ट आपके पास भेज दूँ। थोड़ी-सी शक्ति और स्वास्थ्य प्राप्त करने पर मैं उसे अवश्य ही करूँगा।

आपके बुलाने पर मैं नई दिल्ली अवश्य ही आऊँगा, यद्यपि, मैं अब खाट पर से नीचे नहीं उतर सकता हूँ। आप सबकी बहुत-बहुत याद आती है। सौ० रेखाजी को स्नेह-स्मरण और अभिवादन भेजते हैं। कृपया उन तक अवश्य ही पहुँचा दें।

आपका ही

ग० मा० मुक्तिबोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध : एक संस्मरण

हरिशंकर परसाई

भोपाल के हमीदिया-अस्पताल में मुक्तिबोध जब मौत से जूझ रहे थे, तब उस छटपटाहट को देखकर मोहम्मद अली 'ताज' ने कहा था :

उम्र भर जी के भी जीने का न अन्दाज़ आया।
ज़िन्दगी छोड़ दे पीछा मेरा मैं बाज़ आया।।

जो मुक्तिबोध को निकट से देखते रहे हैं, जानते हैं कि दुनियावी अर्थों में उन्हें 'जीने का अन्दाज़' कभी नहीं आया। वरना यहाँ ऐसे उनके समकालीन पड़े हैं, जो प्रगतिवादी आन्दोलन के कन्धे पर चढ़कर 'नया पथ' में 'फ्रंट पेजित' भी होते थे, फिर पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र की 'कृष्णायन' का धूप-दीप के साथ पाठ करके फूलने लगे और अब जनसंघ-राजमाता की जय बोलकर फल रहे हैं। इसे मानना चाहिए कि पुराने प्रगतिवादी आन्दोलन ने भी मुक्तिबोध को प्राप्य नहीं दिया। (बहुतों को दिया) कारण, जैसी स्थूल रचना की अपेक्षा उस समय की जाती थी, वैसी मुक्तिबोध करते नहीं थे। न उनकी रचना में कहीं 'सुर्ख परचम' था, न प्रेमिका को प्रेमी लाल रूमाल देता था, न वे उसे 'लाल चूनर' पहनाते थे। वे गहरे अन्तर्द्वन्द्व और तीव्र सामाजिक अनुभूति के कवि थे। मज़े की बात यह है कि जो 'निराला' की सूक्ष्मता को पकड़ लेते थे, वे भी मुक्तिबोध की सूक्ष्मता को नहीं पकड़ते थे।

दूसरी तरफ के लोग उनके पीछे 'विह् हंट' लगाये थे। उनके ऊबड़-खाबड़पन से आभिजात्य को मतली आती थी। वे उनके दूसरे खेमे में होने की बात को इस तरस के साथ कहते थे जैसे—'ए गुड मेन फॉलन एमंग फेवियन्स'।

ऐसा भी नहीं है कि मुक्तिबोध को समझने वाले लोग नहीं थे। पर निष्क्रिय ईमानदार और सक्रिय बेईमान मिलकर एक षड्यंत्र-सा बना लेते हैं। मज़े की बात यह है, प्रगतिवादी सत्ता प्रतिष्ठान के नेता भी, जिन्हें 'प्रतिक्रियावादी' कहते थे, उन्हीं की चिरौरी करके उन्हें अपने बीच सम्मान से बिठाकर 'रिस्पैक्टेबिलिटी' प्राप्त करते थे, मगर जो अपना था उसे अवहेलित करते थे। वह तो अपना है ही, उसकी नियति तय है—वह कम्बख्त कहाँ जाएगा? पूर्वी यूरोप से साहित्य के आयात-निर्यात की जो फर्म है, उसके माल की लिस्ट में भी मुक्तिबोध की एक लाइन नहीं थी। हाँ, उन्हें बराबर भेजा जाता था, जिन्हें घर में 'फासिस्ट' कहा जाता रहा है।

मुझे याद है, जब हम उन्हें भोपाल के अस्पताल में ले गए और मुख्यमंत्री की दिलचस्पी के कारण थोड़ा हल्ला हो गया, पत्रकार मित्रों ने प्रचार किया, तब कुछ लोग जो साहित्य की राजधानियों के थे या वहाँ से बढ़कर आए थे, यह कहते थे कि हम प्रान्तीयता से ग्रस्त लोग उसे 'हीरा' बना रहे हैं। हम लोग 'प्रविंशल' संस्कार के लोग कहलाते थे। प्रोफेसरान और ऊँचे लेखक उन्हें देखने शुरू-शुरू में इसलिए नहीं आते थे कि कहीं प्रयाग, दिल्ली और कलकत्ता में बदनामी न फैल जाए कि हम 'प्रविंशल' में दिलचस्पी ले रहे हैं। प्रयाग और दिल्ली वालों ने जब 'गेटपास' दे दिया और 'अदीब' ने 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' में अँगरेज़ी में तारीफ कर दी, तब इनका दिलचस्पी लेने का साहस बढ़ा। बाद में तो लेख के शुरू में मुक्तिबोध की पंक्तियाँ मंगलाचरण के रूप में लिखने लगे—'वंदे वाणी विनायकौ' होने लगा। उनकी मृत्यु के बाद फूल बाँटने की झपटा-झपटी में कबीर की चादर की बड़ी फजीहत हुई।

यह सब—बाई दी वे। मुझसे तो नामवरजी ने कुछ संस्मरणात्मक लिखने को कहा है। संस्मरणात्मक कुछ भी लिखने में अपने को बीच में डालना पड़ता है। संस्मरण की यह मजबूरी है। यह सावधानी बरतते हुए कि उनके बहाने अपने को 'प्रोजेक्ट' न कर दूँ, कुछ चीज़ें लिखता हूँ—गो सफल संस्मरण का वही गुण है, जिससे मैं बचना चाहता हूँ।

जबलपुर में जिस स्कूल में मुक्तिबोध ने नौकरी की थी, उसी में बाद में मैंने की। अपनी मुदर्रिसी का वह आखिरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दौर था, उनकी मास्टरी भी उसी अहाते में खत्म हुई थी। पुराने अध्यापक उनकी बात करते थे। साहित्य में (बल्कि पत्रकारिता में) मेरा प्रवेश तब हो चुका था। सुनता था, यहाँ 'तार-सप्तक' वाले मुक्तिबोध रहते थे। उन्होंने 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना की। फिर वे नागपुर प्रकाशन-विभाग में चले गए। तब मुक्तिबोध की नई जवानी थी। छरहरे खूबसूरत आदमी थे। तब का उनका एक चित्र है, जो 'राष्ट्र वाणी' के मुक्तिबोध अंक में छपा है। बड़ी-बड़ी गहरी भावुक आँखें हैं। नाक बहुत 'सेंसुअस' है। शरीर सूख जाने पर भी मुक्तिबोध की आँखें धुँधली नहीं हुईं, सूखा चेहरा भी खूबसूरत रहा।

मैं कुछ लिखने लगा था। वे देखते रहते थे। मित्रों ने भी बताया होगा। मैं नागपुर शिक्षक-सम्मेलन के सिलसिले में गया था। मित्र मुझे उनसे मिलाने शुक्रवारा स्थित (शायद) उनके मकान पर ले गए। सच कहूँ मुझे मुक्तिबोध से डर लगता था। मित्रों, प्रशंसकों में वे 'महागुरू' कहलाते थे। एक आतंक मेरे ऊपर था। मैं अपने अज्ञान में सिकुड़ा-सिकुड़ा पहुँचा। वे दरी पर पालथी मारे बैठे थे। पास पानी का लोटा और उस पर प्याला। हम लोग दरी पर बैठ गए। मुझसे बोले—आइये साहब! निहायत औपचारिक। दो-चार मामूली बातें हुईं। यह जानकर कि मैं शिक्षकों के श्रम-संगठन के काम से आया हूँ, उन्होंने आँखें फाड़कर गौर से देखा। मुझसे न लिखने की बात की, न कोई तारीफ। चाय जरूर पिलाई। आगंतुक के बहाने खुद चाय पीने का मौका वे चूकते नहीं थे। यह मुलाकात बहुत सूखी रही। मुक्तिबोध मुझे शंका से देख रहे थे। जाँच रहे थे। वे एकदम गले किसी से नहीं मिलते थे। प्रकृति से वे शंकालु थे। किसी को जैसा-का-तैसा स्वीकार नहीं करते थे। बाद के कटु अनुभव और अकेलेपन ने यह शंका की प्रवृत्ति और बढ़ा दी थी। राजनाँद गाँव में तो वे कई लोगों की कल्पना में न जाने कैसे, कैसी तस्वीरें बनाकर परेशान हुआ करते थे। दिल्ली, कलकत्ता, प्रयाग के बहुत-से लोगों की इतनी अतिरंजित तस्वीर वे बनाते थे कि लगता ये सब विकट शैतान हैं, जबकि वे अपने काम में लगे तटस्थ लोग थे। शंका व असुरक्षा की भावना इतनी तीव्र हो उठी थी, बाद में, कि वे भयावह कल्पना करते रहते थे कि अमुक-अमुक लोग मेरे खिलाफ षड्यंत्र कर रहे हैं—जबकि उन्हें अपना भला करने से ही इतनी फुरसत नहीं मिलती थी कि उनका बुरा करें। उनके मित्रों को शायद यह नहीं मालूम कि मुक्तिबोध कभी-न-कभी भयंकर शैतान के रूप में उनकी कल्पना कर चुके हैं। सामान्य आदमी का वे एकदम भरोसा करते थे, लेकिन राजनीति और साहित्य के क्षेत्र के आदमी के प्रति शंकालु रहते थे। कोई सहज ही उनके समीप होना चाहता या उनकी मदद करना चाहता, तो वे सशंकित हो जाते। कहते—पार्टनर, इसका इरादा क्या है? ज्यों-ज्यों उनकी मुसीबतें बढ़ती गईं, ज्यादा कड़ुए अनुभव होते गए, उनके कई विश्वसनीयों का चारित्रिक पतन होता गया, उनकी शंका बढ़ती गई। वे अपने को असुरक्षित अनुभव करते गए। अन्त के एक-दो साल तो वे अपने चारों तरफ डर के काँटे लगाकर जीते थे। उन्हें लगता, कोई भयंकर षड्यंत्र चारों तरफ से उन्हें घेर रहा है। यह स्थिति तब बहुत तीव्र हो गई, जब सरकार ने उनकी पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगाया। इस बात को आगे लिखूँगा।

नागपुर में चार-पाँच दिन रहकर भी मैं उनसे दोबारा नहीं मिला। उन्होंने भी ऐसी कोई इच्छा नहीं की। यह सीधा कहलानेवाला आदमी, कुछ मामलों में बड़ा काँइयाँ था। वह चुपचाप बैठा जाँच रहा था। आगे साल-भर तक कोई सम्बन्ध नहीं रहा। एक दिन 'नया खून' का ताज़ा अंक खोला तो तीन कॉलम की एक टिप्पणी का शीर्षक था—'थॉट' और परसाई की स्पिरिट में अन्तर है। टिप्पणीकार—गजानन माधव मुक्तिबोध। मेरी एक कहानी का अनुवाद 'थॉट' ने छापा था। मुक्तिबोध ने 'थॉट' की राजनीति बतलाई थी और मेरी कहानी को जैसे 'मिसफिट' कहा था। चेतावनी थी कि ये पत्र प्रचार और पैसे का लोभ देकर कैसे किसी बनते लेखक को फँसाते हैं। मेरी उस कहानी का अर्थ 'थॉट' ने साम्यवादी व्यवस्था में 'रेजिमेंटेशन' के सन्दर्भ में लगाकर छापा था। यों मेरी एक 'फेंटेसी' को 'पांचजन्य' ने पौराणिक कथा समझकर धर्मार्थ उद्धृत कर लिया था। अपनी समझ का उपयोग करने का हरएक को हक है।

मैंने उन्हें नहीं लिखा। वे भी चुप रहे। सालेक बाद जब 'वसुधा' निकालने की योजना बनी, तो मैंने उन्हें पत्र लिखा। वे भरे बैठे थे। बड़ा लम्बा पत्र आया। लिखा था कि 'नया खून' की उस टिप्पणी के बाद यहाँ लोगों ने मुझसे बार-बार कहा कि आपको बहुत बुरा लगा है। मैं दूर हूँ। लोगों से सम्पर्क होता नहीं है। सुनता रहता हूँ। सोचा, सीधे आपसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात कर लूं। मैं साफ बात करना पसन्द करता हूँ। आप मुझे साफ बताइये कि क्या उस टिप्पणी से आपको बुरा लगा।

मैं समझ गया, मेरी-उनकी निकटता को घटित न होने देने में किन्हीं लोगों ने अपना फायदा देखा होगा। अपना फायदा देखने का भी हर एक को हक है। बाद में पता चला कि इन लोगों ने अपने समकालीनों के लिए खुफिया विभाग भी खोल रखा था और जगह-जगह एलची नियुक्त कर रखे थे। हमारे मित्र, प्रमोद वर्मा जब तबादले पर जबलपुर आये, तब उन्हें हेड ऑफ़िस से चिट्ठी मिली थी कि यहाँ किस से सम्बन्ध रखना और किससे नहीं, इस बारे में अमुक से हिदायत ले लो। प्रमोद ने लिख दिया था कि शत्रु और मित्र मैं खुद बनाता हूँ। उस चिट्ठी को मुक्तिबोध के सामने हम लोगों ने पढ़ा और खूब हँसते रहे। खैर, ये स्थानीय मधुर पॉलिटिक्स की बातें हैं। मगर परिवेश से कटकर आदमी रह नहीं सकता। मुक्तिबोध जैसे पारदर्शी सचाई के सरल आदमी को अपने आसपास की यह अविश्वसनीयता और अकेलापन दे देती थी।

'कामायनी पुनर्विचार' को छापने के लिए एक पुस्तक-विक्रेता मित्र शेष नारायणराय राजी हो गये थे। वे पेशे से प्रकाशक नहीं हैं। पैसा लगा देने को तैयार थे। मुक्तिबोधजी पर उनकी श्रद्धा थी। तब मुक्तिबोध को कोई प्रकाशक नहीं मिलता था। पुस्तक का कम्पोज़िंग चल रहा था, तब वे जबलपुर आये। तीन दिन हो गये, पर उन्होंने न किताब की बात की, न राय से मिलने की इच्छा। पहले तो रात-दिन पुस्तक छपने की लौ लगी रहती थी और अब यह विराग। मैंने कहा--आप प्रकाशक से तो मिल लीजिये। वे यहीं पास में रहते हैं। मुक्तिबोध खिन्न भाव से बोले--मिल लेंगे, पार्टनर। कोई उससे मिलने थोड़े ही आये हैं। मैंने कहा--सच बताइये मामला क्या है? वे बोले--अब तो पांडुलिपि दे ही चुके। अमुक साहब कह रहे थे कि आप बुरे फँस गये। वह राय तो बहुत खराब आदमी है। खैर। मैंने राय से कहा, राय हँसा। कहने लगा--वही साहब मुझसे कह गये कि तुम पैसा पानी में डाल रहे हो। उस किताब को कौन खरीदेगा? मुक्तिबोध उनका विश्वास करते थे। वे बड़े हैरान हुए। कहने लगे--आखिर उसने ऐसा किया क्यों? बाद में राय ने उन्हें रुपये पेशगी दिये। दुकान से वे कुछ किताबें भी ले गये। बहुत गद्गद थे। ऐसे मौके पर वे बच्चे की तरह हो जाते थे--वाह पार्टनर, आपका यह राय भी मज़े का आदमी है। उसने इतने रुपये दे दिये। अगर उन्हें किसी से मुश्किल से १००) मिलने की उम्मीद है और वह २००) दे दे, तो वे चकित हो जाते। कहते--पार्टनर, यह भी बड़ी मज़े की बात है। उसने तो २००) दे दिये। इतने रुपये कोई कैसे दे देता है। इस पुस्तक का प्रकाशन वे अपने ऊपर एहसान मानते थे। राजनांदगाँव से उन्होंने राय को अंगरेज़ी में ऐसी चिट्ठी लिखी जो कोई लेखक प्रकाशक को नहीं लिखेगा। लिखा था--पुस्तक अच्छी छपनी चाहिए। मैं आपको लिखकर देता हूँ कि मुझे आपसे एक भी पैसा नहीं चाहिये, बल्कि आपका कुछ ज्यादा खर्च हो जाए, तो हरजाना देने को तैयार हूँ।

राजनांदगांव में वे अपेक्षाकृत आराम में रहे। शरद कोठारी तथा अन्य मित्रों ने उनके लिए सब-कुछ किया। पर वे बाहर निकलने को छटपटाते थे। वे साल में एक-दो बार किसी सिलसिले में जबलपुर आते और खूब खुश रहते। रंगीन सपने में डूबते हुए कहते—पार्टनर, ऐसा हो कि एक बड़ा-सा मकान हो। सब सुभीते हों। कोई चिंता न हो। वहाँ हम कुछ मित्र रहें। खूब बातें करें, खूब लिखें-पढ़ें और जंगल में खूब घूमें। फिर कहते—आप राजनांदगाँव आइये। वहीं कुछ दिन रहिये। बहुत बड़ा मकान है। कोई तकलीफ नहीं होगी। नो, नो, आइ इनवाइट यू।

मुक्तिबोध की आर्थिक दुर्दशा किसी से छिपी नहीं थी। उन्हें और तरह के क्लेश भी थे। भयंकर तनाव में वे जीते थे। पर फिर भी बेहद उदार, बेहद भावुक आदमी थे। उनके स्वभाव के कुछ विचित्र विरोधाभास थे। पैसे-पैसे की तंगी में जीनेवाला यह आदमी पैसे को लात भी मारता था। वे पैसा देनेवाली पत्रिकाओं में लिखकर आमदनी बढ़ा सकते थे, पर लिखते नहीं थे। कहते—अपनी पत्रिका में लिखेंगे। बस मुझे तो कागज़ आप दे दीजिये। यों वे बहुत मधुर स्वभाव के थे। खूब मज़े में आत्मीयता से बात करते थे। मगर कोई वैचारिक चालबाज़ी करे या ढोंग करे, तो मुक्तिबोध चुप बैठे तेज नजर से उसे चीरते रहते। उस वक्त उनके ओंठ किसी बदमाश स्कूली लड़के की तरह मुड़ जाते। आपस में मित्रों में एकरस हो जाते, मगर तभी वर्ग-चेतना जाग उठती, तो अजनबी होने लगते। जबलपुर आये, तो मेरे घर पर एक मित्र हनुमान वर्मा से मुलाकात हुई। हनुमान कालेज में पढ़ाते हैं। खूब यारबाश आदमी हैं। दो-तीन दिन खूब मज़े में उनसे मुक्तिबोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जमती रही। फिर हनुमान अपने घर ले गया। वहाँ अच्छा-सा सोफा था। डाइनिंग-टेबिल भी थी। मुक्तिबोध को खटका लग गया। वे शिष्ट व्यवहार करने लगे। लौटते वक्त रास्ते में मुझसे बोले—पार्टनर, इस आदमी से अपनी कैसे पट सकती है! उसका सोफा देखो, डाइनिंग-टेबिल देखो। यह अपनी दुनिया का आदमी नहीं है। ही बिलांग्ज़ टू ए डिफ़रेंट वर्ल्ड। मैंने कहा—कुल छः-सात सौ ही पाता है वह। अपनी ही दुनिया का आदमी है। पर यह बात गले उतरने में देर लगी।

वर्ग-चेतना के तीव्र बोध की दो-एक घटनाएँ दिलचस्प हैं। मुझ पर एक प्रकाशक ने कापीराइट का मुकदमा चला दिया था। मुक्तिबोध आये हुए थे। दिसम्बर का महीना था। भोजन करके वे सामने के मैदान में बैठे थे। मैं कचहरी जाने लगा, तो पूछा—पार्टनर, मैजिस्ट्रेट कौन है? मैंने नाम बताया। वे बोले—नाम से मालूम होता है कि वह नीची जाति का है। विदर्भ में होते हैं ये लोग। आप छूट जायेंगे। मैंने पूछा—यह अन्दाज़ आपको कैसे लगा? उन्होंने कहा—वह नीची जाति का है न! उसकी वर्ग-सहानुभूति लेखक के प्रति होगी, प्रकाशक के साथ नहीं। संयोग से मुकदमा खारिज भी हो गया।

एक साहित्य-समारोह में एक वयोवृद्ध ब्राह्मण आचार्य थे। विवाद की स्थिति थी ही। आचार्य के मातहत एक अध्यापक ने भी भाषण में आचार्यजी का समर्थन किया। बाद में मुक्तिबोध अकेले में हम लोगों से बड़ी गम्भीरता से बोले—वह जो अध्यापक है, उसकी सहानुभूति हमारी तरफ है। नौकरी के लिए आचार्य की बात बोल रहा था। वह जाति का अहीर है न! वह हमारा ही साथ देगा, ब्राह्मण आचार्य का नहीं।

पर एक दूसरे मौके पर दूसरी ही तरह की बात कहकर उन्होंने हमें चौंकाया। एक आदमी बड़ा ओछा व्यवहार कर रहा था। हम सब लोगों की पीठ-पीछे निन्दा करता था। मुक्तिबोध सुनते-सुनते बोले—पार्टनर, वह जात का लोधी है न! इसीलिए।

मुक्तिबोध विचारों से आधुनिक वैज्ञानिक लेकिन इसके साथ ही व्यवहार में कई बातों में बिलकुल सामंती। किसी को अपने घर में साग्रह खाना खिलाना, अपनी हैसियत से बाहर खातिर करना उनकी खास प्रकृति थी। लगता था, कोई पुराने ठाकुर साहब हैं, जिन्हें मूँछें मुड़ाना पड़ेगा, अगर मेहमाननवाज़ी में कमी आई एक बार नागपुर में जब वे तीव्र ज्वर में 'नया खून' के टीन के नीचे काम कर रहे थे, मैं पहुँच गया। भर दोपहर में पास की दुकान पर मुझे मिठाई खिला लाये तब चैन पड़ी। मैंने बहुत मना किया, पर वे कहते—नहीं साहब, आप आये हैं, तो कुछ खाना तो पड़ेगा। पक्षाघात से जब वे पीड़ित थे, तब हम उन्हें भोपाल के लिए लेने पहुँचे। उस हालत में भी वे हड़बड़ा रहे थे कि इनके लिए क्या कर दिया जाए। कहने लगे—आप मेरे मेहमान हैं। आप मेरे यहाँ क्यों नहीं ठहरेंगे, कोठारी के यहाँ क्यों? कोठारी से भी शिकायत की—क्यों साहब, यह क्या हरकत है? इन्हें आपने रास्ते में क्यों रोक लिया? इसमें बनावट नहीं थी। उनकी सच्ची ममता थी, उनके आन्तरिक संस्कार थे। वे नई-से-नई वैज्ञानिक उपलब्धि से मुग्ध होते थे, पर परिवार-नियोजन के खिलाफ थे। परिवार-नियोजन को पूँजीवादी सभ्यता की प्रवृत्ति मानते थे। विचारों के मामले में जितने सधे हुए, ज़िन्दगी की व्यवस्था में उतने ही लापरवाह। स्वास्थ्य के प्रति अत्यन्त असावधान थे। सम्बन्धों में लचीले, मगर विचारों में इस्पात की तरह। कहीं कोई समझौता नहीं। पैसे-पैसे के लिए तंग रहते थे, पर पैसे को लात भी मारते थे। कभी बिलकुल निस्संग हो जाते, कभी मोहग्रस्त।

मुक्तिबोध विद्रोही थे। किसी भी चीज़ से समझौता नहीं करते हैं। स्वास्थ्य के नियमों और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से भी नहीं। उनकी राजनीति है, यह बात सर्वविदित थी। नागपुर में सरकारी नौकरियों में थे, तब उनके पीछे साम्यवाद-विरोधी भूत लगे रहते थे। उनके विचारों ने कभी उन्हें नौकरी में ऊपर नहीं उठने दिया। राजनांदगाँव के प्राइवेट कालेज की नौकरी उन्हें अनुकूल पड़ी। वहाँ उन्हें लोगों ने बड़े श्रद्धा-प्रेम से रखा।

मुक्तिबोध भयंकर तनाव में जीते थे। आर्थिक कष्ट उन्हें असीम थे। उन जैसे रचनाकार का तनाव साधारण से बहुत अधिक होगा भी। वे संत्रास में जीते थे। आजकल संत्रास का दावा बहुत किया जा रहा है। मगर मुक्तिबोध का एक-चौथाई तनाव भी कोई झेलता, तो उनसे आधी उम्र में मर जाता। मृत्यु से दो साल पहले वे जबलपुर आये थे। रात-भर वे बड़बड़ाते थे। एक रात चीखकर खाट से फर्श पर गिर पड़े।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभले, तब बताया कि एक बहुत बड़ी छिपकली सपने में सिर पर गिर रही थी।

उन दिनों उनकी पुस्तक 'भारत : इतिहास और संस्कृति' पर प्रतिबन्ध लग चुका था। वह पुस्तक कोर्स में लग चुकी थी। उसके खिलाफ आन्दोलन कराने वाले मुख्यतः दूसरे प्रकाशक थे। आन्दोलन में जनसंघ प्रमुख था। इसके साथ ही ग़ैर-साम्प्रदायिक पत्रों के भी बिके हुए सम्पादक थे। जनसंघ उनके पीछे पड़ गया था। राजनांदगाँव में उसके स्वयंसेवक उन्हें बहुत परेशान करते थे। उस वक्त विद्वान लेकिन अधिकारहीन राज्यपाल था और भ्रष्ट तथा मूर्ख मुख्य-मंत्री। राज्यपाल ने डेढ़ घंटे बात की, बात मानी भी, पर कहा—मैं क्या कर सकता हूँ! मुख्यमंत्री के पोर्टिको के पास मुक्तिबोध घंटे-भर खड़े रहे। वह बँगले से निकला तो ये बात करने बढ़े। बात शुरू ही की थी कि बोला—उसमें अब कुछ नहीं हो सकता। इन्होंने कहा—पर आप मेरी बात तो सुन लीजिए। वह बोला—मेरे पास इतना वक्त नहीं है। मुझे जरूरी काम है।

जबलपुर लौटे तो बहुत टूटे हुए और बहुत क्रोधित। वह आदमी चट्टान जैसा था। लेकिन इस घटना ने उनके भीतर भय और असुरक्षा की भावना पैदा कर दी थी। वे बेहद उत्ते-जित थे। इस प्रतिबन्ध से उनकी अपार क्षति हुई। यदि पुस्तक चलती, तो उन्हें इतनी रायल्टी मिलती कि सारा संकट खत्म हो जाता। व्यक्तिगत क्षति का आघात तो था ही। पर इस पूरे कांड को व्यापक राजनीतिक संदर्भ में देखकर वे बहुत त्रस्त थे। कहते थे—यह नंगा फासिज़्म है। लेखक को लोग घेरें, शारीरिक क्षति की धमकी दें। इधर सरकार सुनने तक को तैयार नहीं। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता जा रही है। गला दबाकर आवाज़ घोंटी जा रही है।

'अँधेरे में' कविता का यही रचनाकाल है। उन दिनों मुक्तिबोध बहुत आशंकाग्रस्त थे। छोटी-से-छोटी बात उन्हें विचलित कर देती थी। चाबी जिस जेब में रखी होने की उन्हें याद थी, अगर वह उस जेब में नहीं है तो वे ऐसे सशंकित हो उठते थे, जैसे कोई बड़ा षड्यन्त्र उन्हें घेर रहा है। उन दिनों वे बहुत उत्तेजित होकर घंटों बहुत ज़ोर से बोलते रहते थे। गले की नसें तनी हुई साफ दिखती थीं। कनपटी लौकती थी, दम भर आता था और वे 'डबल स्ट्रांग' चाय की माँग करते थे।

अन्तिम बीमारी के महीने-भर पहले वे जबलपुर आए थे। हाथ और पाँव में एक्ज़िमा था। पाँव सूजे थे। वे नीम की बहुत-सी पत्ती पीसकर साथ ले आए थे। सुबह पाँवों को धोकर नीम की पट्टी करते। बहुत दुर्बल हो गए थे। बहुत परेशान थे। पर शारीरिक और आर्थिक कष्ट की बात लग-भग नहीं करते थे। रात को उन्होंने हम लोगों को 'अँधेरे में' कविता सुनाई थी। डेढ़ घंटे के पाठ के बाद वे शिथिल होकर बिस्तर पर लुढ़क गए थे। हम लोगों ने उन्हें थोड़ी ब्रांडी देकर सुला दिया था। सुबह बोले—पार्टनर, दवा बहुत अच्छी थी।

महीने-भर बाद ही उन्हें पक्षाघात हो गया। आदमी यह सोचने को मजबूर है कि अगर ऐसा हो गया होता, तो वैसा नहीं होता। बहुत-से मित्र यहाँ सोचते हैं, अगर वे तभी जबलपुर रुक गए होते तो बीमारी इतनी न बढ़ती। यहाँ मेडिकल कालेज में उन्हें कुछ दिनों के लिए भरती करा देने का हम लोगों ने तय किया था। पर उन्हें बीमार पिताजी से मिलने नागपुर जाना था। वे कह गए थे कि महीने-भर में मैं लौटकर आता हूँ और कुछ दिन रहकर यहीं आराम करूँगा और इलाज कराऊँगा। पर महीने-भर बाद उन्हें पक्षाघात हो गया। दिल्ली से जब मैं चल ही रहा था कि श्रीकांत के नाम उनके पत्र से यह खबर मिली।

मुक्तिबोध अपनी बीमारी की भयंकरता जानते थे। वे जानते थे कि यह बीमारी प्राणांत भी कर सकती है। शारी-रिक कष्ट उन्हें बहुत था। छोटे-छोटे बच्चों के भविष्य की चिन्ता भी थी। रात कराहते बीतती थी। भोपाल के मित्र रात-भर कमरे के बाहर बरामदे में बैठे 'आई ग' (ओ माँ) और 'अग' (पत्नी को बुलाने के लिए) सुना करते थे। पर मुक्तिबोध का उत्साह कम नहीं हुआ था। वे टूटे नहीं थे। संज्ञाहीन होने के पहले तक वे बीमारी की शिकायत लगभग नहीं करते थे। वे साहित्य और राजनीति की बातें करते थे। खूब उत्साह से बोलते थे। कभी हम उन्हें स्वास्थ्य के बारे में झूठा भरोसा दिलाते तो वे पलकें नीची करके कहते—हाँ, पार्टनर। ठीक तो हो ही जाएँगे। उनके भाव से हम समझने लगे थे कि यह आदमी जानता है कि ये लोग मुझे दिलासा दे रहे हैं। वे संकेत से बता देते थे कि मैं सब जानता हूँ। मुझे क्यों बहलाते हो?

अपनी तरफ बढ़ती हुई मृत्यु को जो साफ़ देख रहा था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी ज़िन्दगी की जकड़ कम नहीं हुई थी। यह किसी भी तरह जीवन से अटके रहने का घटिया मोह नहीं था। ऐसा नहीं था कि जीवन के सारे संदर्भ कटकर सिर्फ आतम-मोह बचा हो। आतम-मोह अन्तिम क्षण तक उस आदमी में नहीं आया। वह सिर्फ जीवन-सन्दर्भों में उलझा हुआ था। सिगरेट और चाय के लिए अलबत्ता वे बाल-हठ जैसा करते थे। बाकी अपने बारे में कुछ नहीं। नेहरूजी की तबियत कैसी है? देश की राजनीति किस ओर से गुजर रही है? साहित्य में इन दिनों क्या चला हुआ है? यही सब बातें वे करते थे। पीड़ा होती तो कराह देकर वे फिर वैसे ही नार्मल हो जाते थे।

बीमारी से लड़कर मुक्तिबोध निश्चित जीत गए थे। बीमारी ने उन्हें मार दिया, पर तोड़ नहीं सकी। मुक्तिबोध का फौलादी व्यक्तित्व अन्त तक वैसा ही रहा। जैसे ज़िन्दगी में किसी से लाभ के लिए समझौता नहीं किया, वैसे मृत्यु से भी कोई समझौता करने को वे तैयार नहीं थे।

वे मरे। हारे नहीं। मरना कोई हार नहीं होती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध की सार्थकता

श्रीकांत वर्मा

कविता का प्रत्येक युग अपने संदर्भ-ग्रन्थ की तलाश करता है। बीट कवियों ने अपने सन्दर्भ के रूप में विलियम कार्लोस विलियम की लगभग खोती हुई कविता को ढूँढ़ निकाला और युवा सोवियत कवियों ने अपने युग की 'ट्रेजेडी' के गवाह के रूप में पॉस्तेरनाक को स्वीकार किया। यूरोप और अमेरिका के युवा चित्रकारों को पिकासो और मातीस में नहीं, पॉल क्ले में अपने युग का चरित्र नज़र आता है।

मुक्तिबोध के साथ भी ११ सितम्बर, १९६४ को उनकी भयावह मृत्यु के बाद से कुछ ऐसा ही हुआ है। इन चार वर्षों में मुक्तिबोध हिन्दी के युवा कवियों का सन्दर्भ-ग्रन्थ बन गए। उनके जीवन और मृत्यु में युवा कवियों ने अपने लिए एक अर्थ प्राप्त किया और उनकी कविता में उन्होंने वे सभी चुनौतियाँ पाईं जो कि उनके मन में अस्पष्ट रूप से मौजूद थीं।

किसी भी कवि के मसीहा बनने में उसके नष्ट होने का खतरा होता है। मुक्तिबोध के साथ भी यह खतरा है। मगर इस खतरे से न कोई बचाव है और न ही इसकी कोई खास चिन्ता ही होनी चाहिए। अपने युग को अर्थ देने से अधिक सार्थक कार्य कोई कवि क्या कर सकता है। अगर कविता के जरिए इस युग के प्रश्नों से जूझने की कोशिश में मुक्तिबोध की कविता नष्ट हो भी गई तो क्या फर्क पड़ता है! केवल साधारण कवियों की जगह 'सुरक्षित' होती है—महान् कवि केवल अपने युग का कवि होता है। इतिहास के क्रम में वह बनता और नष्ट होता चलता है। शताब्दियों के अन्तराल में वह सैकड़ों बार बनता और सैकड़ों बार नष्ट होता है। अँग्रेज़ी साहित्य के इतिहास में वर्ड्सवर्थ और टेनीसन के 'स्थान' को कौन चुनौती दे सकता है—ऑक्सफोर्ड या कैम्ब्रिज में हमेशा उनकी कुर्सी बनी रहेगी; जबकि मिल्टन या जॉन डन येट्स या एलियट पर बार-बार निर्णय होता रहा है और होता रहेगा।

अपने जीवनकाल में या मृत्यु के बाद बुत की तरह स्थापित हो जाना नहीं बल्कि आने वाले युगों के लिए चुनौती के रूप में बना रहना अमरता है। अनिर्णीत साहित्य ही इतिहास की कड़ियों में बार-बार जुड़ने वाला साहित्य है। मुक्तिबोध का साहित्य अब भी अनिर्णीत है और आगे भी रहेगा—एक चुनौती के रूप में बना रहना ही उसकी नियति है।

शंका केवल महान् साहित्य को लेकर की जाती है। केवल महान साहित्य को लेकर यह प्रश्न उठता है कि वह साहित्य है या नहीं? केवल 'यूलीसिस' ही यह प्रश्न उत्पन्न करता है कि वह उपन्यास है या नहीं? अपनी 'सतही प्रामाणिकता' से सबको या बहुतेरों को आश्वस्त करने वाली कृति अपने विषय में शंकाएँ नहीं पैदा करती। उसकी एक निश्चित और नियत संगति होती है। महान साहित्य की ऐसी कोई निश्चित संगति नहीं होती। विशिष्ट सन्दर्भों में ही उसकी संगति होती है। सन्दर्भ से हटते ही वह असंगत और ग़ैर-साहित्य प्रतीत होने लगता है।

मुक्तिबोध का साहित्य भी विशिष्ट सन्दर्भों का साहित्य है। ये सन्दर्भ हैं वे तमाम प्रश्न जो कि मुक्तिबोध ने अपने समूचे साहित्य, कविता, कहानी और डायरी में उठाए हैं। जिनके लिए ये सवाल महत्त्वपूर्ण नहीं उन्हें स्वाभाविक है, मुक्तिबोध का साहित्य भी महत्त्वपूर्ण नहीं लगेगा। मगर इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि जिन्हें ये सवाल संगत नहीं लगते स्वयं उनकी संगति क्या है? या तो ये प्रश्न असंगत हैं या इन प्रश्नों को असंगत मानने वाले आलोचक-अध्येता कवि असंगत हैं।

स्वयं को प्रमाणित करने के अलावा एक लेखक के साहित्य में उठाये गए प्रश्न उन तमाम लेखकों के साहित्य को असंगत कर देते हैं जो कि इन प्रश्नों से कतराते रहे हैं या कि इन्हें झुठलाते रहे हैं। कविता केवल रचना नहीं बल्कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्वंस भी है।

मुक्तिबोध की कविता भी केवल कविता न होकर ध्वंस भी है। मुक्तिबोध की कविता के साथ ही जो परिवर्तन हुआ उसमें मान्यताओं के बहुत-से दुर्ग गिर गए। इसमें कुछ भी अप्रत्याशित नहीं। जो भी कविता लिखता है उसे समझ लेना चाहिए कि कविता क्षुद्र प्राप्तियों का संसार नहीं। यह धर्मयुद्ध की दुनिया है, जिसमें कवि अपने प्रश्नों की अकेली और बहुत हद तक अमूर्त लड़ाई लड़ता है। अपनी साहित्यिक परिणतियों में ये प्रश्न उन सब साहित्यिक मूल्यों का संहार करते हैं जो कि अपने युग के द्वन्द्व, नैराश्य और आकांक्षा से पैदा नहीं हुए थे। वास्तव में संघर्ष साहित्यिक परिणतियों का नहीं प्रश्नों का होता है।

नई कविता की शुरुआत ग़लत नहीं हुई थी। 'तार-सप्तक' एक सही शुरुआत था। वह भाषा के कर्तव्यों को पहचानने का हिन्दी कविता में पहला प्रयत्न था। भाषा और अनुभव दो अलग चीज़ें नहीं बल्कि एक ही चीज़ हैं, इस तथ्य को पहली बार 'तारसप्तक' ने ही पहचाना था। भाषा और अनुभव के अविभाज्य हो जाने के बाद ही कविता के प्रश्न शुरू होते हैं। इन प्रश्नों को, जिन पर कि छायावादी कवियों ने ग़ौर नहीं किया था, 'तारसप्तक' ने उठाया। 'तारसप्तक' का सम्पादकीय और अज्ञेय, गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन तथा भारतभूषण अग्रवाल के वक्तव्यों और कविताओं में कविता तथा मनुष्य की स्थिति से सम्बन्धित शंकाओं ने पहली बार हिन्दी कविता को एक वयस्क धरातल प्रदान किया। हिन्दी कविता की यह सबसे बड़ी दुर्घटना है कि कुछ 'तार-सप्तक' के और कुछ 'तार-सप्तक' के बाद के कवियों ने छायावाद के अदृश्य आक्रमण के आगे घुटने टेकते हुए रचना का यह जटिल धरातल छोड़ दिया और भाषा तथा मनुष्य से सम्बन्धित बुनियादी प्रश्नों से पलायन कर रचना के लिए एक अपेक्षाकृत सरल सार चुना, जिसमें विविधता चाहे जितनी हो, सार्थकता बहुत कम है।

'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही कविता का एक 'टाइप' बन गया। यह 'टाइप' नई कविता के नाम से जाना जाने लगा और एक विशिष्ट मुहावरे में कविता की जाने लगी। 'दूसरा सप्तक' और उसके कवियों की कविताएँ इतनी कामयाब हुईं कि अपने परवर्तियों की कामयाबी से घबराकर और आतंकित होकर स्वयं 'तारसप्तक' के अधिकतर कवि नई कविता के मुहावरे में कविता करने लगे।

'सप्तकों' की परम्परा बनाने का एक खतरनाक नतीजा यह हुआ कि 'दूसरा सप्तक' और 'तारसप्तक' को एक-दूसरे से जोड़ दिया गया; जबकि वास्तविकता यह है कि रचना के सार पर दोनों का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। 'तार-सप्तक' एक शुरुआत है और एक शुरुआत का अन्त है। 'तारसप्तक' के कवियों ने 'तारसप्तक' को दफ़नाकर उन प्रश्नों से छुट्टी पा ली जिनसे जूझता हुआ कवि कविता को नष्ट करता है।

'तारसप्तक' के प्रति अपनी निष्ठा को आखिर तक निबाहते हुए मुक्तिबोध ने जीवन-भर कविता को नष्ट किया। जब तक नयी कविता केवल संयोजन-धर्मी रही तब तक मुक्तिबोध की प्रतिष्ठा एक भाषा-विरोधी कवि के रूप में रही। लेकिन जैसे ही भाषा ने करवट ली और यह तथ्य उभरकर आया कि आज की कविता के लिए संयोजन आवश्यक नहीं बल्कि स्वयं भाषा और इस तरह कविता का संहार ज़रूरी है, मुक्तिबोध की कविता अपने युग का सबसे प्रामाणिक स्वर हो गई।

नौजवान कवियों को यदि आज नयी कविता का बहुत-सा हिस्सा छायावादी और रूमानी जान पड़ता है तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं। नयी कविता का एक महत्त्वपूर्ण अंश सचमुच ही रूमानी और छायावादी है। छायावाद से मुक्ति पाने के लिए भाषा का संहार ज़रूरी था। मगर अधिकतर नये कवियों ने भाषा का संहार न कर, उसका संस्कार किया। नयी कविता के गठन और छायावादी कविता के अंतःसंगठन में ऊपरी फ़र्क कितना ही अधिक हो, भीतर बहुत-सी सम्भावनाएँ हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि नयी कविता की कामयाबी का कारण उसका वह भावबोध है जिसकी परिणति संगीत में हुई है। नयी कविता अपने युग की प्रतिनिधि विधा चित्रकला की शर्तों को नहीं बल्कि परम्परा से प्राप्त संगीत की शर्तों को निबाहती है।

मुक्तिबोध का काव्य संगीत का निषेध करता है। यही नहीं बल्कि वह संगीत को कविता-विरोधी मानता है। संगीत कविता की अमूर्त परिणति है। मुक्तिबोध जिन प्रश्नों से जूझ रहे थे उनकी अमूर्त्त परिणति क्या हो सकती थी ? मनुष्य के नरक को उपस्थित करने वाले काव्य की परिणति संगीत कैसे हो सकता है ? अपने युग के बर्बर सवालों को उठाने वाली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता का गठन संगीतात्मक कैसे हो सकता है ? इस तरह की कविता भाषा में संगीत के मूल्यों को नष्ट करती है, उसे सख्त, नुकीली और चट्टानी बनाती है।

संगीत के न रहने से कविता में शून्य पैदा हो जाता है और कविता कविता नहीं रह जाती। मुक्तिबोध ने संगीत से पैदा हुए शून्य को तनाव से भरा। संगीत का स्थान तनाव ने ले लिया। छायावादी कविता के संगीत से मुक्तिबोध का यह तनाव अधिक सच्चा और सार्थक है। सुमित्रानन्दन पंत के 'परिवर्तन' और जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' की निस्सारता मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' पढ़ने के बाद ही मालूम होती। 'परिवर्तन' और 'कामायनी' का कविता-संसार नाट्य-कौशल और संगीत की बुनियाद पर खड़ा है—'अँधेरे में' कविता में न कोई कौशल है न कोई संगीत—केवल एक तनाव उसके अन्तर्विरोधों से भरे हुए संसार को जोड़े हुए है। इस तनाव के कारण ही यह कविता, कविता है; अन्यथा, उसके अभाव में, उसमें और गद्य में कोई फर्क नहीं रह जाता। नयी कविता की चरम परिणति गद्य की लय में हुई। मुक्तिबोध की कविता गद्य की लय नहीं, गद्य का तनाव है।

क्यों नहीं मुक्तिबोध ने संगीत की दुनिया को अपनाया ? क्यों उन्होंने तनाव को अपने लिए आवश्यक माना ? क्यों उन्होंने भाषा को नष्ट करते हुए अपने को नष्ट कर डाला ? क्यों नहीं उन्होंने भाषा से समझौता किया ?

इसका एकमात्र उत्तर यह है कि मुक्तिबोध के लिए कविता की नियति का प्रश्न मनुष्य की नियति के प्रश्न से जुड़ा हुआ था। कविता स्थूल स्तरों पर समाज को परिवर्तित नहीं करती लेकिन कर्त्तव्यवश नहीं बल्कि स्वभाववश कविता संकट का, मृत्यु का अहसास कराती है। मनुष्य का भीतरी संकट ही कला का कर्मक्षेत्र है; दूसरे शब्दों में, रचनाकार का रचना-क्षेत्र है। जिस कवि की कविता में संकटबोध जितना ही गहरा और व्यापक होता है वह अपने युग का उतना ही समर्थ प्रतिनिधि होता है।

मुक्तिबोध की कविता मनुष्य की दशा को सैकड़ों स्तरों पर और सैकड़ों रूपों में उपस्थित करती है। ये कविताएँ अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं; मनुष्य के आत्मसंहार के भयानक और आक्रामक चित्र हैं। इनका माध्यम शब्द नहीं। मुक्तिबोध की कविता में शब्दों का कोई अर्थ नहीं रह गया है। शब्द केवल समूह होकर रह गये हैं अर्थ उनसे अलग जा पड़ा है। शब्द और अर्थ के अलग-अलग हो जाने से एक असंगत संसार पैदा हो गया है जो कि जितना ही पैशाचिक है उतना ही मानवीय है।

मनुष्य और पिशाच, अर्थरहित शब्द और शब्दहीन अर्थ का संघर्षपूर्ण सह-अस्तित्व ही मुक्तिबोध का रचना-संसार है। वास्तविकता यह है कि यही हमारा असली संसार भी है; जिसे मुक्तिबोध ने अपनी अपूर्व प्रतिभा से इतना काल्पनिक बना दिया कि वास्तविकता और काल्पनिकता का फ़र्क नष्ट हो गया। मुक्तिबोध का दावा भी था कि यथार्थ अपनी कलात्मक परिणति में 'फ़ैंटेसी' में परिणत हो जाता है। कम-से-कम मुक्तिबोध का यथार्थ ज़रूर इतना भयानक है कि फ़ैंटेसी के स्तर पर ही उससे साक्षात्कार किया जा सकता है।

समकालीन मनुष्यता का यथार्थ सचमुच ही इतना भयावह है कि उसे देखकर आदमी अन्धा हो सकता है; सम्बोधित कर गूँगा हो सकता है और उससे नंगा साक्षात्कार आत्मघात कर सकता है। कविता इस यथार्थ को देखने योग्य, सम्बोधन योग्य और संवाद योग्य बनाती है। गूँगे और अन्धे हो जाने के भय से हिन्दी की यशस्वी कवि-पीढ़ी ने जिस यथार्थ से साक्षात्कार करने से इन्कार किया, मुक्तिबोध ने उसे संवाद योग्य बनाया।

'यथार्थ' का नाम लेते ही कई तरह की प्रत्याशाएँ पैदा हो जाती हैं। कवि से यह उम्मीद की जाने लगती है कि वह अपने युग का ब्यौरा देगा या उसका कोई स्थूल खाका तैयार करेगा। कविता इस तरह की किसी स्थूल परिणति को अपना निर्दिष्ट मानकर नहीं चलती। अपनी बनावट के ज़रिये वह अपने युग की मानसिक बनावट का आभास कराती है।

मुक्तिबोध की प्रतिनिधि कविता 'अँधेरे में' अपने युग की घटनाओं से नहीं बल्कि उसकी बनावट से सामना कराती है। इस कविता में वे सभी ख़तरे हैं जो कि उसे कविता की जगह उपन्यास में परिणत कर सकते थे। 'अँधेरे में' के अनुभव की समग्रता चरित्रों और घटनाओं में बिखरकर स्थूल अर्थों में एक यथार्थवादी उपन्यास बन सकती थी। मुक्तिबोध ने इस ख़तरे को पहचानते हुए अपने अनुभव को और भी गुमनाम होने दिया। वास्तव में 'अँधेरे में' इस युग के यथार्थ की काव्य-परिणति है।

इस कविता के विषय में यह ठीक ही कहा गया है कि इसका एक काव्य-नायक है। यह काव्य-नायक मुक्तिबोध नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यह काव्य-नायक बेचैन, खंडित, जर्जर, व्यग्र हिन्दुस्तान है। यह स्वाधीनता के बाद का भारतवर्ष है जिसका शरीर और मन क्षत-विक्षत है। उसके चेहरे पर इतिहास की झुर्रियाँ, सीने पर गोली के घाव और अन्तरात्मा में बेचैनी है :

'ज़िन्दगी के···
कमरों में अँधेरे
लगाता है चक्कर
कोई एक लगातार;
आवाज़ पैरों की देती है सुनाई
बार-बार···बार-बार,
वह नहीं दीखता···नहीं ही दीखता
किन्तु वह रहा घूम
तिलस्मी खोह में गिरफ़्तार कोई एक,
भीत पार आती हुई पास से,
गहन रहस्यमय अन्धकार ध्वनि-सा
अस्तित्व जनाता
अविवार कोई एक,
और मेरे हृदय की धक्-धक्
सुनाई जो देता, पर नहीं देता दिखाई !
इतने में अकस्मात् गिरते हैं भीतर से
फूले हुए पलिस्तर
खिरती है चूने-भरी रेत
खिसकती हैं पपड़ियाँ इस तरह
ख़ुद-ब-ख़ुद
कोई बड़ा चेहरा बन जाता है,
स्वयमपि
मुख बन जाता है दिवाल पर
नुकीली नाक और
भव्य ललाट है,
दृढ हनु,
कोई अनजानी अन-पहचानी आकृति।
कौन वह दिखाई जो देता, पर
नहीं जाना जाता है ! !
कौन मनु ?'

हिन्दुस्तान केवल नक्शे में नहीं कविता में भी है। और शायद कविता का हिन्दुस्तान ज़्यादा सच है। इस हिन्दुस्तान को पहचानने में हिन्दी कविता को लगभग पचास वर्ष लग गये। और जब इस प्रश्नाहत 'मनु' को पहचाना गया तब तक देश सचमुच ही 'अँधेरे में' जा चुका था। मुक्तिबोध की सार्थकता इसमें है कि उन्होंने इतिहास के प्रश्नों को केवल इतिहास के प्रश्न कहकर नहीं छोड़ दिया, बल्कि उन्हें कविता के प्रश्नों में बदल दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानीकार मुक्तिबोध : 'कौन मनु ?'

अग्न्येश्का सोनी

"और फिर हम दोनों के बीच दूरियाँ चौड़ी होकर गोल होने लगीं। हमारे साथ हमारे सिफ़र भी चलने लगे।

अपने-अपने शून्य की खिड़कियाँ खोलकर मैंने—हम दोनों ने—एक-दूसरे की तरफ़ देखा कि आपस में बात कर सकते हैं या नहीं!"

—'क्लॉड ईथरली'

: १ :

गजानन मुक्तिबोध की साहित्यिक साधना मूलतः कविता के क्षेत्र में हुई। वे मूलतः और अनिवार्य रूप से कवि ही थे—शुरू से आखिर तक।

कवि और विचारक, ऐसे विचारक जिन्होंने स्वयं अपनी कला के विस्तृत सिद्धान्त और समकालीन साहित्य को परखने की निजी मज़बूत कसौटियाँ बहुत साफ़ और सुलझे हुए ढंग से अनेक ओजपूर्ण निबन्धों में सामने रखी हैं।

उनकी गद्य-शैली प्रायः आकर्षक और सजीव होती है, इसमें शक्ति भी है और लचीलापन भी; पर यह बात भी असन्दिग्ध है कि उनके लेखक की मुख्य प्रवृत्ति गद्य रचने की नहीं थी; न ही बन सकी। उसका सबूत खुद उनके शब्दों में मिलता है, जिन्हें यहाँ पर याद करना वाजिब होगा :

"ट्रैजेडी यह है कि लोग मुझे गद्य लिखने को कहते हैं··· मुझे सलाह दी गई है कि मैं उपन्यास लिखूँ और अपना दलिद्दर मिटाऊँ।"[१]

'एक साहित्यिक की डायरी' में यह व्यंग्यपूर्ण शिकायत कितनी मार्मिक है! और साथ ही, कवि-मन का जो मूलभूत आग्रह है, वह इस विडम्बना को कितना कटु बना देता है :

"मैंने इस ओर काम भी शुरू कर दिया है। लेकिन क्या बताऊँ, कि एक चीज़ है, जिसका नाम है धुन, जिसका नाम है लौ।··· वह मुझे कविता की ओर ही ले जाती है। लेकिन मैं वचन देता हूँ कि मैं कविता नहीं, बल्कि गद्य लिखूँगा।"[२]

और विडम्बना का यह चरम बिन्दु आता है जब वे अपनी कविता का गद्यानुवाद करने का विचार करते हैं :

"सोचता हूँ कि अपनी इस प्रदीर्घ कविता को किसी कहानी का रूप दे दूँ। सम्भव है कि कहानी की कोई मासिक पत्रिका मुझे कम-से-कम पन्द्रह-बीस रुपये दे दे। इससे मैं अपने मित्रों के सामने यह सिद्ध कर सकूँगा कि मैं अयोग्य नहीं हूँ और रुपये कमा सकता हूँ!"[३]

यों कविता उनका "पिण्ड नहीं छोड़ती थी।" "समय के कई काल क्षणों को प्रायः एक साथ आयामित करने"[४] पर जो उनका आग्रह था ("जैसे स्वप्न के भीतर स्वप्न आते हों—उलट-पुलट होकर"[५])—उस अद्भुत अत्याधुनिक 'उलट-पुलटपन' का निर्वाह वे कविता में ही कर सकते थे। लेकिन बीच-बीच में कहानियाँ भी लिखीं; और उनमें से कई हैं जो अपना अलग महत्त्व रखती हैं। (कुछ इस तरह, जैसे मिकेलांजेलो के वे कतिपय 'म्योरल' चित्र जो विख्यात मूर्तिकार की अभिव्यक्ति के प्रिय और सही माध्यम न होने पर भी—अपनी सौंदर्य-कल्पना में अपूर्व बन गये)।

: २ :

मुक्तिबोध की कहानियों की संख्या कविताओं की तुलना

श्रीमती अग्न्येश्का सोनी सम्प्रति दिल्ली विश्वविद्यालय में पोलिश भाषा की प्राध्यापिका हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बहुत कम है : 'काठ का सपना' के नाम से जो संग्रह पाठकों के सामने आ चुका है[6] इसमें कुल ग्यारह कहानियाँ एकत्रित की गई हैं।

ये सब कहानियाँ समान मूल्य की नहीं हैं। इनके स्तर में फ़र्क है—जिसका ज़िक्र श्रीकान्त वर्मा ने संग्रह की भूमिका में किया है। और यह फ़र्क काफ़ी हद तक "ज़माने के साथ बदलते कहानी-कौशल" का नतीजा है[7]—बिला शक। लेकिन—अन्तर केवल शिल्प-कौशल का नहीं, कहानियों के भीतरी ताप-मान का है ! यह ग़ौर करने की बात है।

वैसे, इन सभी कहानियों में नैतिक प्रश्न प्रधान हैं; और हर एक में, कोई नैतिक निष्कर्ष भी मिलता है—कोई उत्तर। फ़र्क है—उन प्रश्नों की कठिनाई में, उन उत्तरों की कठोरता में। या यों समझें, कि फ़र्क है—कहानियों के अन्दर इस विशेष तत्त्व की मात्रा में, जिसे हम 'मुक्तिबोधपन' कह सकते हैं। इस बात को उदाहरणों से पुष्ट करना होगा।

संग्रह की कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, जिन पर मुक्तिबोध के लेखक-व्यक्तित्व की 'छाप' अपेक्षाकृत कम है; जो मानो किसी और से भी लिखी जा सकती थीं; जो मुक्तिबोध की उलझी, गुम्फित भावनाओं का परिचय नहीं देतीं। ऐसी कहानियाँ हैं—**'दो चेहरे', 'प्रश्न', 'मोह और मरण'**।

इन छोटी, सीधी और सजीव कथाओं में साधारण लोगों की भावनाओं के प्रति सहानुभूति की उष्मा है, मानवीय आत्मा की मूल पवित्रता और उदार शक्ति पर गौरवपूर्ण विश्वास है, जो मुक्तिबोध का अपना है। कहानी को पेश करने में एक नाटकीय मुद्रा भी दिखाई देती है। इस पर भी ये मुक्तिबोध की विशिष्ट, 'असली' कहानियाँ नहीं हैं। फलतः, ये तीखी कम हैं—आधुनिक भी कम।

'मुक्तिबोधपन' का आभास **'ब्रह्मराक्षस का शिष्य'** शीर्षक वाली कहानी में ज़रूर झलकता है; पर यह केवल एक आभास है, एक छाया है ! आखिर यह कहानी, जो पहले एक बाल-पत्रिका में छपी थी, लिखी भी गई **किशोर** पाठकों के लिए उपयुक्त ढंग से (कथा का आदिम प्रारूप लेखक के मन में चाहे जैसा भी रहा हो)। इस बात का पहला सबूत है—कहानी की भाषा और शैली, जो जयशंकर प्रसाद की गद्य-कृतियों की जैसी मालूम पड़ती है। और, श्रीकान्त वर्मा की इस धारणा से असहमत होना पड़ेगा, कि यही "इस संग्रह की सबसे अच्छी कहानी" है। यह उस प्रौढ, **अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान** कविता का साथ कैसे दे सकती जहाँ "अतिरेकवादी पूर्णता की व्यथाएँ" इतने विलक्षण ढंग से अंकित हुई।

कविता के इस ट्रैजिक, पागल ब्रह्मराक्षस के सामने, जो उगलता है :

"अनोखा स्तोत्र, कोई क्षुब्ध मन्त्रोच्चार
अथवा शुद्ध संस्कृत गालियों का ज्वार"

कहानी का ब्रह्मराक्षस बहुत फीका है। इसलिए, कहानी के अन्त में, 'ज्ञान का लाया हुआ उत्तरदायित्व' केवल शिष्य को एक सुन्दर उद्बोधन बनकर रह जाता है : शिष्य के मन में इस उत्तरदायित्व की **पीड़ा** नहीं है (वह तो "भीतर से किसी प्रकाश" का अनुभव करते हुए, गुरु का "सिखाया पाठ मन-ही-मन गुनगुनाते हुए" घर लौटता है)। ग़ौर से देखने पर पता चलता है कि—**'ज्ञान'** शब्द यहाँ प्रचलित अर्थ में आया है—यह परम्परागत सत्-चित्-आनन्द से सम्बन्ध रखता है, मुक्तिबोध की **"भीषण सत्-चित-वेदना"** से नहीं ! 'मुक्तिबोधपन' को सरलीकृत नहीं किया जा सकता !

: ३ :

संग्रह में दूसरी श्रेणी की कहानियाँ हैं जिनका वस्तुतत्त्व सीधे लेखक के जीवन-संघर्ष के क्षेत्र से लाया गया है। इन कहानियों के भावों और विचारों का मुक्तिबोध की 'डायरी' से गहरा रिश्ता है; जगह-जगह पर—परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से—कविताओं से भी।

यहाँ भी स्तर में फ़र्क दिखाई देता है : 'टेकनीक' की क्षमता का, अन्तर्योजना की दृढ़ता का, और समस्याओं के स्तर का—हालाँकि 'मुक्तिबोधपन' इन सबमें मौजूद है।

और यह आकस्मिक नहीं है, इत्तिफ़ाक की बात नहीं, कि इनमें जो सबसे अनोखी, सबसे साहसिक कृतियाँ हैं—उनका नायक **'उत्तम पुरुष'** में ही बयान करता है। इस कथा-नायक के भाव और प्रतिक्रियाएँ प्रत्यक्ष रूप से स्वयं मुक्तिबोध की—कवि मुक्तिबोध की—हैं। कथानक (जो कि बाहरी चीज़ है) चाहे काल्पनिक ही हो।

स्वयं की ही आलोचना इतनी पाताल-स्पर्शी हो सकती है—और इतनी निर्मोह, क्रूर, जैसे उन **'मैं' (या 'हम') की कहानियों** में 'क्लॉड ईथरली', 'पक्षी और दीमक', 'विपात्र', 'जंकशन'।

जहाँ-जहाँ कहानी का नायक इस 'मैं' से इतर होकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'प्रथम पुरुष' में उपस्थित है, वहाँ उसके प्रति लेखक की सहानुभूति भी रहती है—जैसे **'काठ का सपना'**, **'अंधेरे में'** या **'नयी जिन्दगी'** कहानियों में।

पहले इन्हीं पर दृष्टिपात करें।

'काठ का सपना' एक सफल, सुसंगठित कृति है, जो—'नयी कहानी' के मान्यताप्राप्त ढंग से ही—रोज़मर्रे के छोटे-छोटे ठोस चित्रों द्वारा उस घुटन-भरी ग़रीब मध्यवर्गीय ज़िन्दगी के अँधेरे का अवलोकन करती है, जहाँ "ख़यालों से माथे का दुखना नहीं थमता, देह की थकन दूर नहीं होती, असंतोष की आग और बेबसी का धुआँ दूर नहीं होता।"

पर यही सब-कुछ नहीं है। कहानी का वह थका, हताश नायक, जिसे "सिर्फ़ एक सन्देह है।···कि इस निष्क्रियता में एक अलगाव है—**एक भीतरी अलगाव है**", जो अपने अन्दर की जड़ता से मुक्त नहीं हो पाता—अन्त में एक सपना देखता है: वह और उसकी पत्नी, दोनों "निष्प्राण काठ हो गए हैं", जो जल-विप्लव में एक-दूसरे से "गुँथे-बँधे बहे जा रहे हैं"। लेकिन 'उन पर एक बालिका बैठी हुई है'—अपनी बच्ची। और पिता अनुभव करता है कि "उस बाल-मूर्ति की रक्षा करनी ही होगी ! उन दोनों काठ-लट्ठों का यही कर्त्तव्य है।"

इस प्रसंग में, मुक्तिबोध की कई कविताओं में उपस्थित यह प्रतीक याद आता है—एक शिशु, जिसकी रक्षा करनी है :

"छाती से, कन्धे से चिपका है नन्हा-सा आकाश
स्पर्श है सुकुमार प्यार-भरा कोमल
किन्तु है भार का गम्भीर अनुभव।"[८]

अन्य स्थानों से प्रकट है कि इस शिशु से जिस चीज़ की उपमा दी गई है—वह है "जीवन का आत्मोत्पन्न सत्य।"[९]

'अंधेरे में' और **'नयी जिन्दगी'** कहानियाँ सफल शायद नहीं मानी जा सकेंगी, यद्यपि दोनों के कथ्य की अर्थवत्ता पर कोई सन्देह नहीं कर सकता।[१०]

'नयी जिन्दगी' का रमेश, जो 'लीडर और विचारक' था, जिसकी "सशक्त गद्य-वाणी में से ज़िन्दगी के अनुभव, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृश्य, स्थानीय और प्रान्तीय हल-चलों के नज़ारे कविता की भाँति फूट पड़ते", पर जिसके दिल को अपने ग़रीब "घर की अवरुद्ध हवा" कचोट लेती थी—कहानी के अन्त में अपने पारिवारिक जीवन में ही सच्चा परिवर्तन लाने का फ़ैसला कर लेता है। समस्या का समाधान कहानी में चाहे कुछ अतिसहज रूप से प्रस्तुत किया हो (रमेश जब "अपनी बीवी को अखबार पढ़कर सुना रहा है")—समस्या वास्तविक और ज्वलन्त है। इसी समस्या को मुक्ति-बोध ने अपने निबन्धों में भी उठाया है।

"बाहर राजनीति या साहित्य में 'नये जीवन', 'मानव-मूल्य' की बात चलती है।···लेकिन जहाँ कार्य की बात आई—ख़ास तौर पर **'परिवार में'** मूल्यों की स्थापना की बात आई कि बड़े विचारक कन्नी काट गए। मानो घर समाज के बाहर हो।"[११]

'अँधेरे में' का कथ्य अधिक जटिल है। कहानी के भीतर जो 'नुकीला एक कीला तेज़' गड़ा हुआ है, वह शुरू में दिखाई नहीं देता, गहरे में छिपा है।

उस युवक को, जो बरसों बाद मध्य प्रदेश के 'अपने' शहर में आकर, रात को सोई हुई सड़कों पर घूमने निकला है—शहर का सारा निम्न-मध्यवर्गीय वातावरण, उसके विभिन्न दृश्य, "अत्यन्त प्रिय", "आत्मीय जैसे" महसूस होते हैं। कहानी धीमी अलसाई गति से चलती है, उसके रंग व्यक्तिगत लगते हैं, जैसे वे किसी वास्तविक पूर्व-संस्मरण के पृष्ठ हों। चाय की दुकान पर लोगों की गप्पें, एक शरीफ बुजुर्ग मुसलमान से बातचीत, अब तक कोई घटना नहीं, केवल प्रलम्बित रात्रि-भ्रमण, और अचानक अख़ीर में, अँधेरे से आवृत वह—घटना ? या संवेदना पर घोर आघात ?

"उसका शरीर काँप गया। उसकी बुद्धि, उसका विवेक काँप गया। वह यदि कदम न रखता तो एक ही शरीर पर—न जाने वह बच्चे का है या स्त्री का, बूढ़े का या जवान का—उसका सारा वज़न, एक ही पर, जा गिरे···। वह भाग लगा एक किनारे की ओर। परन्तु कहाँ—वहाँ तक आदमी सोए हुए थे। इनके शरीरों की गरम कोमलता उसके पैरों चिपक गई थी···। वह पुण्यात्मा विवेक शक्ति केवल का रही थी···। मानो इस गहरे अँधेरे में भी भूखी आत्माओं की हज़ार-हज़ार आँखें उसकी बुज़दिली, पाप और कलंक को देख रही हों।"

यही घोर भयानक अनुभव जो कविता ("चकमक की चिनगारियाँ") की उन पीड़ित उद्विग्न पंक्तियों में :

"अधूरी और सतही ज़िन्दगी के रास्तों पर गर्म,
अचानक सनसनी भौंचक
कि पैरों के तलों को काट खाती कौन-सी वह आग ?
·········

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भयानक, हाय, अंधा दौर
कि जीवित छातियों पर और चेहरों पर
कदम रखकर
चले हैं पैर!
अनगिन अग्निमय तन-मन व आत्माएँ
....
कुचलता चल निकलता हूँ।"

कविता की इन पंक्तियों के साथ, कहानी की गूँजती हुई आवाज़ कहती है : "पाप, हमारा पाप, हम ढीले-ढाले, सुस्त, मध्यवर्गीय आत्म-सन्तोषियों का घोर पाप !"

यह अनुभव—अपने ही वर्ग के पाप का—मुक्तिबोध के सिवा हिन्दी नवलेखन में नहीं मिलता; इसलिए, 'जंक्शन'-जैसी कथा वे ही लिख सकते थे।

यहाँ ज़हरीला तजुर्बा लेखक की अपनी ही ओर से बताया जाता है।

दो अलग ग़रीबियों का साक्षात्कार :

एक वह स्वयं की, गर्वीली, सचेत निर्धनता—जिस पर लेखक, मनहूस प्लेटफ़ार्म पर टहलता हुआ, कड़वा मज़ाक करता है ("विचित्र समस्या है। खुद ही अकेले में, अपने को अकेले ही शानदार समझते रहो"—'शानदार' अच्छे गरम कपड़ों के कारण जो उधार लिये हुए हैं, जबकि घर में बच्चों के पास "रजाई भी नहीं है"। इसी ग़रीबी का आदर करना, इसे अपनी 'जन्मभूमि' समझकर उसके प्रति वफ़ादार रहना तो इन्होंने "अपने बच्चों को सिखा दिया है" ("तुम कटे-पिटे दाग़दार चेहरेवालों की सन्तान हो। उनसे द्रोह मत करो। अपने इन लोगों को मत त्यागना।")

और वह दूसरी ग़रीबी, जो इन्सान को "आदमी नहीं, आदमीनुमा गन्दा सामान" बना देती है, जो ख़ामोश, सिमटी-सिमटी रहती है, जो "दूसरे और निचले किस्म के, निचले तबके के लोगों की" ख़ानदानी विरासत है। उसके सामने मध्यवर्गीय 'आदर्शवादी मन' निरुत्तर रह जाता, "जड़ हो जाता" है, उसका उपकार नहीं कर सकता। इसी बोध से वह "अपने भीतर ही नंगा हो जाता" है "और अपने नंगेपन को ढाँपने की कोशिश भी नहीं करता"।

: ४ :

"अच्छा आदमी वह होता है जिसकी **बुराई ढँकी रह जाती** है, चाहे आप-ही-आप, चाहे किए-कराए।"

'विपात्र' में यह कटु परिभाषा केवल एक स्फुट व्यंग्य-उद्गार नहीं है! इसके पीछे जो सन्ताप, जो तड़पन है उसे मुक्तिबोध की उन सब व्याकुल कहानियों में महसूस किया जा सकता है।

पर उस तड़पन के 'गुप्त नाटक' प्रकट करने में ख़ास तौर से पारदर्शी, अपने-अपने ढंग से 'क्लासिक' तीन कहानियाँ हैं : **'क्लॉड ईथरली'**, **'पक्षी और दीमक'** तथा—अपनी विस्तृत बहसों और व्याख्याओं में कहीं-न-कहीं शिथिल पड़ने के बावजूद!—**'विपात्र'**।

ये ही तीन कहानियाँ हैं जिनका कला-पक्ष सबसे समृद्ध, मौलिक और चुनौती देने वाला है। ये मानो 'आलोचनाओं के चमकते तारों' से बनी हैं; तारों की कठोर चमक, और उनकी बारीक बुनाई, दोनों चीज़ें निराली हैं।

बयान के अनेक स्फुट, रोमांचक टुकड़े स्पष्ट रूप से प्रतीकात्मक हैं—जैसे कि साँप की चर्चा ('पक्षी और दीमक', 'विपात्र') या अपने चेहरे के बिगड़े हुए, डरावने अक्स के दर्शन ('पक्षी और दीमक', 'क्लॉड ईथरली'), या वह शुरू में हँसी का ठहाका ('विपात्र') जो आख़िरी सीन में क्रूर उपहास का रूप लेता है; यहाँ तक कि कहानी-पात्रों की शक्लें-सूरतें भी प्रतीकात्मक हैं—जैसे भ्रष्टाचारी 'बॉस' का गदबदापन ('पक्षी और दीमक', विपात्र') या ('क्लॉड ईथरली' में) गुप्तचर के "जिस्म की ज़नाना लचक" (जिसके बारे में स्वयं लेखक कहता है कि "इस शख़्स का ज़नानापन ख़ास मानी रखता है")।

उन व्यंग्य-भरे प्रतीकों का घुमावदार आवर्त्त निरन्तर केन्द्रीय बिन्दु की ओर संकेत करता चलता है, इसी तरह जैसे 'क्लॉड ईथरली' में रास्ता हर बार अनिवार्यतः जाता है—"पागलखाने की ओर।"

'पक्षी और दीमक' तथा **'विपात्र'** की केन्द्रीय समस्या एक ही है : भारतीय समाज की असली शासक सत्ता के सामने—प्रभाव, धन और भ्रष्टाचार की सत्ता के सामने, अकेला प्रबुद्ध व्यक्ति किस हद तक, किस शर्त पर, अपने चरित्र का खरापन और अपना मानवीय गौरव बनाये रख सकता?

गुप्त स्वार्थों और चालाक बेईमानियों की उस सभ्य तानाशाही का दबाव दोनों कहानियों में तीखे 'सैटायर' के साथ पेश किया गया है। इस दबाव के दो चलते-फिरते प्रतीक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं—'पक्षी और दीमक' का नाटा-मोटा भगवे खद्दर कुरते वाला नेता, और 'विपात्र' के "ठिगने क़द के और चौरस पीठ के" (बॉस')। दोनों किसी सांस्कृतिक संस्था के 'सर्वेसर्वा', दोनों फितरती दिमाग के मालिक, दोनों 'अपने आदमियों' के "कृपालु-मित्र और सहायक" होने के नाते, उनकी वफ़ादारी के हकदार!

'पक्षी और दीमक' का नायक जब अपने कृपालु नेता से खुलेआम झगड़ा मोल लेने का, विद्रोह करने का निर्णय करता है—तो यह उसकी सहज प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि अपनी "भद्रता की कल्पना और सुविधा के भाव" के विरुद्ध एक तीव्र और कष्टप्रद, गुप्त संघर्ष की परिणति है!

"बुराई की इस अनेक चक्रों वाली दैत्याकार मशीन में" फँसा रहने की तकलीफ उसे ज़रूर है ("पैर भिंच गये हैं, पसलियाँ चूर हो गई हैं, चीख निकल नहीं पाती, आवाज़ हलक में फँसकर रह गई है"—मानसिक क्लेश का यह चित्र वही है, जो मुक्तिबोध की कई कविताओं में।) लेकिन वह किसी झगड़े में फँसना नहीं चाहता, अपनी आमदनी के ज़रिए खत्म करके सच्चाई का शहीद बनने की उसे कोई इच्छा नहीं।

इस पर भी, जब वह पहले अपनी प्रेमिका के सामने दुःखपूर्ण आत्मालोचना करता है (संकेतात्मक कथा सुनाकर जिसका सार कविता के छन्दों में यों व्यक्त हुआ : **"उदर-भरी बन अनात्म बन गए"**[12] और फिर पाता है कि **"अपने भीतर के असामान्य के उग्र आदेश का पालन"**[13] अभी भी कर सकता है, **"प्राण शक्ति शेष है, शेष!"**—तो देखना होगा कि 'असामान्य' की इस कठिन विजय का बहुत-कुछ श्रेय उस स्त्री-व्यक्तित्व को है, जो "एक गांधीवादी कार्यकर्ता की" है, जिसमें "बारीक बेईमानियों का सूफ़ियाना अन्दाज़" बिलकुल नहीं है, जिसका "अमिश्रित आदर्शवाद" केवल कहता है—"जहाँ साँप देखो, मार डालो!"

'विपात्र' में ऐसे 'अमिश्रित आदर्शवाद' का वाहक कोई पात्र नहीं है; इसलिए, परिणाम केवल यही हो सकता है : अपने ऊपर व्यंग-विस्फोट!

असल में, इस लम्बी कहानी का, जिसका विषय उलझी चरित्र-स्थितियों का विश्लेषण है—कोई 'नायक' भी नहीं है; या एक **सामूहिक नायक** है—'बॉस' साहब का 'दरबार'।

बयान के दौरान में यह समूह, उसके "खास व्यक्ति और उनके व्यक्तित्व, उनके परस्पर सम्बन्ध और उनकी जीव[न] प्रणाली" बार-बार निहारी जाती है, हर दफ़ा कुछ बदले प[हलू] से (कथा की योजना सपाट-बयानी से बहुत दूर है!), [और] उस मानव-समुदाय की मनहूस हकीकत धीरे-धीरे आँखों [के] सामने उभरने लगती है।

"एक तरह से हम सब भोले थे, सरल हृदय थे··· लेकिन, हममें सामाजिक अन्तरात्मा नहीं थी, सामाजि[क] चेतना नहीं थी क्योंकि असल में हम सब लोग हरामखोर थे।"

विद्याकेन्द्र के उन सब सदस्यों में—एक राव साहब [को] छोड़कर जो **अमिश्रित अवसरवाद** की मूरत है (और जिसके "गम्भीरता, अनुशासनशीलता, श्रम करने की अपूर्व शक्ति और धैर्य", तथा अपने आराध्य 'बॉस' की उपासना, स[ब] "अगली सीढ़ी पर चढ़ने" के साधन थे)—कोई भी उत्साही स्फूर्तिमय व्यक्तित्व नहीं दीखता। वे सब अपने 'बॉस' [की] सहायता पर आश्रित, 'दरबार' में बैठने वाले लोग—आह[त] हैं, फँसे हुए हैं, कैदी हैं ("एक अजीब कैद थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपको विफल समझता था")। इस स्वयं स्वीकृत हीन-भाव का प्रतीक अन्तिम 'सीन' में कौंध उठता है—

"एबीलार्ड! सन्त! जिसने अपनी जननेन्द्रियों को चा[कू] से काट दिया था, सन्त बने रहने के लिए।"

'विपात्र' शिक्षित मध्यवर्ग के सामूहिक 'नपुंस्त्व' [की] घोषणा है।

: ५ :

और अन्त में, वह कहानी जो संग्रह में—बहुत ठीक!—प्रारंभिक स्थान पर रखी गई है, ताकि पाठक सबसे पह[ले] इसी कृति से परिचय करे, जो मुक्तिबोध की सबसे निजी औ[र] विशिष्ट है।

यह और बात है कि **'क्लॉड ईथरली'** कथन-शैली [की] निगाह से मुक्तिबोध की बाकी सब कहानियों से एकदम भिन्न है : यह असल में, उनकी कविताओं की ही तरह एक 'फ़ैंटेसी' है।[14]—एक बेचैन, भयावह **भाववादी** फ़ैंटेसी जो (यह विरोधाभास मुक्तिबोध की काव्य-कला की विशेषता है।[15]) —आधुनिक मानव नियति का **गहरा यथार्थ बोध** कराती है।

कथा की रोमांचक नाटकीयता इसी शिल्प की देन है; वे ही कवि-मुक्तिबोध की प्रिय कविताओं में अनेक बार आत[े]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई कल्पनाएँ : एक रहस्यमय अहाता; एक पागल जन की 'स्फटिक-सी तेज़ आँखें'; एक गुप्तचर जो अजीब और खतरनाक, राज़ की बातें सुना रहा है !

यह स्वप्न-लोक का अनजाना शहर है, इसलिए कथा-नायक अचानक विस्मय में आकर पूछता—"तो यहाँ भी पान की दुकान है ?" पर उसके मन-ही-मन में यह हिन्दुस्तान ही तो है, इसलिए क्लॉड ईथरली का ज़िक्र सुनकर वह चौंक पड़ता है—"तो क्या हिरोशिमा वाला क्लॉड ईथरली इस पागलखाने में है ?···तो क्या यह हिन्दुस्तान नहीं है ? हम अमरीका में रह रहे हैं ?" और जवाब में सुनी अपने 'गाइद' की व्यंग्यात्मक व्याख्या पर : "भारत के हर बड़े नगर में एक-एक अमरीका है ! ···हिन्दुस्तान भी अमरीका ही है।" यक़ीन करने को हरगिज़ तैयार नहीं है।

उसका वह दिलचस्प साथी (कैसा तीखा मज़ाक है) एक चतुर सी० आई० डी० वाला है, इसलिए कथा-नायक की 'अति-संस्कृत' भद्रता के पीछे गहरी आत्माशंका की 'महक' आसानी से सूँघ लेता है; वह 'ज़नाना आदमी' भी है, जिस वजह से शायद औचित्य के परे अवचेतन की बातों को अधिक पहचानता है। कथा-नायक के गुप्त-मन की आशंकाएँ और पिराते हुए खयाल इसी शख्स के शब्दों में मूर्त होकर सामने आते हैं।

वह पहले ठोस यथार्थवादी अन्दाज़ से, तर्क-संगत विश्लेषण के साथ, यह बात सिद्ध करता है कि "उनकी (पश्चिम की) संस्कृति और आत्मा का संकट हमारी संस्कृति और आत्मा का संकट है", इसलिए "क्लॉड ईथरली हमारे यहाँ भले ही देह रूप में न रहे, लेकिन आत्मा की वैसी बेचैनी रखने वाले लोग यहाँ भी हो सकते हैं"—और यहाँ भी, इन्हीं कारणों से, पागल ही कहे जायेंगे।

पर इसी वास्तविकता का एक गुप्त—आधुनिक मानव-अभ्यन्तरगत—आयाम भी है !

"हमारे अपने-अपने मन-हृदय-मस्तिष्कों में ऐसा ही एक पागलख़ाना है, जहाँ हम उन उच्च पवित्र और विद्रोही विचारों और भावों को फेंक देते हैं।" दूसरे शब्दों में—"आजकल हमारे अवचेतन में हमारी आत्मा आ गई है, चेतन में स्व-हित और अधिचेतन में समाज से सामंजस्य का आदर्श।"

यही अनुभव—जो मुक्तिबोध के जीवन-दर्शन का केन्द्रीय तथ्य है—उनके काव्य में कुछ भिन्न प्रतीकों और बिम्बों द्वारा व्यक्त हुआ है। कितनी ही बार उन कविताओं में ढूँढे और पाये जाते हैं बहुमूल्य विचारों और भावों के—

"ये मौन उपेक्षित रत्न"
"मैली सतहों में फँसा-दबा
चुपचाप धसाये गये, छिपाये गये
···विविध असुविधाओं के कारक होने से
नित उपेक्षिता भूमि में फिंके !"

यह 'ओ काव्यात्मन फणिधर' का चित्र है।[१६] 'चम्बल की घाटी में' और 'अँधेरे में' कविताएँ इसी प्रतीक का पुनः प्रयोजन करके, उसे और विस्तार देती हैं।[१७]

उन मन-मणियों को अवचेतन की "खोह में डाल देने" की अपनी क्रिया पर गहरा पछताव, अपनी 'समझौतावादी निष्क्रियता' का दुःख—निज अपराध-भावना का कारण है, जिससे उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व मुक्तिबोध की उन दो अन्तिम लंबी कविताओं में सबसे संपूर्ण और सशक्त रूप से प्रकट हुआ है।

'चम्बल की घाटी में' का यह चित्र यहाँ याद करें :

"दुष्ट व्यवस्था की वह जो
प्रतिनिधि-मूर्ति
तुम्हारे ही उर पर
दस्यु की चट्टानी आकृति बनकर
दबंग रौबीले ठाठ से बैठी,
....
तुम्हारे स्वरूप का मूर्त महत्कृत
रूप है वह तो।
दस्यु-पराक्रम
शोषण-पाप का परम्परा-क्रम
वक्षासीन है
जिसके कि होने में गहन अंशदान
स्वयं तुम्हारा
इसीलिए जब तक उसकी स्थिति है
मुक्ति न तुमको।"[१८]

'क्लॉड ईथरली' में यही बात, इसी उपमा का प्रयोग करके, कथा-नायक के मन की 'स्क्रीनिंग' के तौर पर कही जाती है।

"ऐसे बहुतेरे लोग हैं जो पापाचार-रूपी, शोषण-रूपी डाकुओं को अपनी छाती पर बैठा समझते हैं। वह डाकू न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल बाहर का व्यक्ति है, वह उनके घर का आदमी भी है", अतः उनके "अन्तःकरण में व्यक्तिगत पाप-भावना रहती ही है, **रहनी चाहिए।**"

कहानी में इस बात के साथ किसी आशावादी आस्था की किरन नहीं दीखती; कथा-नायक को सिर्फ—जासूसी विभाग में शामिल हो जाने के प्रस्ताव की भूमिका पर!—यह खौफ़नाक फैसला सुनाया जाता है कि—"तुम-सरीखे सचेत जागरूक संवेदनशील जन क्लॉड ईथरली हैं।"

और वह इस आघात की पीड़ा से लहूलुहान हो उठता है।

पर क्या यही मानवीयता का दस्तावेज़ नहीं है : क्लॉड ईथरली का दर्दनाक किस्सा केवल एक व्यक्ति-विशेष की ट्रैजेडी नहीं—हम सबका मामला है। हम इससे अलग होकर अपनी ज़िम्मेदारी से नहीं बच सकते।

मुक्तिबोध की "संकल्प-धर्मा चेतना का रक्त-प्लवित स्वर" सन्नाटे के दायरे को तोड़ता हुआ, तेज़ बजता है—उदासीनता के विरुद्ध, अलगाव के विरुद्ध—मानवीयता की जलती पीड़ाओं से हमारे भीतरी अलगाव के विरुद्ध।

पाद-टिप्पणियाँ

१. 'एक साहित्यिक की डायरी', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय सं० १९६४, पृ० ३१।

२. 'एक साहित्यिक की डायरी', पृ० ३४।

३. वही, पृ० ४३।

४. शमशेरबहादुरसिंह, 'एक विलक्षण प्रतिभा'—'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की भूमिका में।

५. 'एक साहित्यिक की डायरी', पृ० ४३।

६. गजानन माधव मुक्तिबोध : काठ का सपना, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९६७, वाराणसी, पृ० १७०।

७. वैसे, कहानियों का सम्पादन करते समय, प्रत्येक का रचना-काल (या प्रथम प्रकाशन-काल) सूचित करना चाहिए था, जिससे पाठक को मुक्तिबोध के चिन्तन और शिल्प के विकास को समझने में मदद मिल सके। अगले संस्करण में यह कमी जरूर पूरी करनी चाहिए—काव्य-संग्रह में भी।

८. 'अँधेरे में' कविता, चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ २८९।

९. 'डूबता चाँद कब डूबेगा' तथा 'ओ काव्यात्मन फणिधर' देखिए।

१०. दोनों कहानियों की सबसे बड़ी कमज़ोरी शायद यही है कि उनके मुख्य पात्रों की विशिष्टता लेखक की ओर से बताई जाती है, पर अपने-आप कम उभरती। दोनों 'नयी ज़िन्दगी' का रमेश और 'अँधेरे में' का युवक—ऐसे 'सचेत, जागरूक, संवेदनशील' मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी हैं, जो 'अपने विचारों-भावों और इरादों' से प्रेरित होकर, सहज ही सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में बढ़ते हैं और पिछड़े हुए महल्लों के 'ज्ञान-प्यासे, जानकारी के भूखे' लोगों के विश्वास के अधिकारी बनते हैं। ये सन्दर्भ कहीं मुक्तिबोध के नागपुर-जबलपुर जीवन के होंगे।

११. एक साहित्यिक की डायरी, पृष्ठ ८४।

१२. 'अँधेरे में'—'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० २७७।

१३. 'एक साहित्यिक की डायरी', पृ० ७७।

१४. 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' इस अर्थ में 'फैंटेसी' नहीं है—वह काल्पनिक कथा है, आत्मगत 'स्वप्न-कथा' नहीं।

१५. इस प्रसंग में देखिए, डॉ० नामवरसिंह द्वारा 'अँधेरे में' कविता का विश्लेषण, 'कविता के नये प्रतिमान', पृ० २३९-२४२।

१६. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० १३१।

१७. वही, पृ० २३७, २४४, २४५ तथा २८१-२८२।

१८. वही, पृ० २५८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

‘अँधेरे में’ तथा मुक्तिबोध की अन्य कविताएँ—एक अन्तर्सूत्र

विष्णु खरे

चूँकि आलोचक चीज़ों को समझना चाहता है और उन्हें समझाने में सहायक होना चाहता है, वह एक व्यवस्था-प्रिय व्यक्ति होता है, या कह लें कि एक गणितज्ञ होता है जो परिणामों से कारणों की उल्टी यात्रा करता है। अन्य बातों के अलावा वह रचनाकार की कृतियों में एक सर्वनिष्ठ थीम, मोटिफ या मोटे तौर पर कोई बुनियादी समानता (या उनका अभाव) खोजता है जो न केवल उन कृतियों को समझने में मदद करे बल्कि रचनाकार के भीतरी विश्व की व्यवस्था (या अव्यवस्था) को भी उजागर कर सके। यह आवश्यक नहीं कि किसी रचनाकार की समस्त रचनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हों और उनमें कोई सुवद्ध विकास-सरीखी कोई चीज़ देखी जा सके—युवा ईट्स तथा बूढ़े ईट्स की रचनाओं में कितना फ़र्क है—किंतु इस तथ्य से भी छुटकारा नहीं है कि एक ही रचनाकार की कृतियाँ एक ही व्यक्ति की होती हैं और बहुत-कुछ बदलने के बाद भी हम सबमें कुछ ऐसा होता है जो कभी नहीं बदलता, बल्कि समय के साथ-साथ और गहरा पैठता जाता है। कविता में तथा कवि में जब भी बदलाव आता है तब वह न तो अनायास होता है और न पिछले संसार से असंबद्ध। कविता के जितने दौर आए हैं उनसे ज़ाहिर है कि उन दौरों में लिख रहे कवि बदलते हुए समय में बदले हुए स्वयं के प्रति सर्वथा जागरूक थे। ‘पल-पल परिवर्तित’ वेश अच्छी कविता का मानदंड नहीं माना जा सकता, किंतु यह भी सत्य है कि ऐसे कवियों में, जो स्वयं को नहीं बदलते, अधिकांश घटिया हैं। ईमानदार कवि के लिए बदलाव ‘मुकरना’ नहीं, जागरूक उत्तरदायित्व भाव है।

हिन्दी की नई कविता में अपने कृतित्व के प्रति सर्वाधिक जागरूक (मुग्ध नहीं) कवि मुक्तिबोध थे। ‘चाँद का मुँह टेढ़ा है’ की कविताओं को जिन्होंने सरसरी दृष्टि भी दी है वे इससे परिचित होंगे कि वे एक गहरे ज़िम्मेदार, प्रतिबद्ध तथा एंगेज्ड कवि की रचनाएँ हैं। यदि मुक्तिबोध में यह नहीं होता और सिर्फ़ शब्दाडंबर होता तो वे हमारे युग के सर्वाधिक बड़बोले कवि होते, किन्तु उनमें वह प्रखरता तथा भयावह करुणा है जो उनके भावुकतम क्षणों, कल्पना की असम्भवतम उड़ानों पर भी प्रश्नचिह्न नहीं लगाने देती। उनके समक्ष कविता में उनके उद्देश्य इतने स्पष्ट हैं कि उनकी समस्त कविताएँ एक बड़ी कविता लगती हैं। मुक्तिबोध आज के महाभारत के सात्यकि तथा संजय दोनों हैं और उनकी कविताएँ इस युद्ध को विभिन्न कोणों तथा स्थितियों से दिखाने वाले प्रत्यक्षदर्शी ब्यौरे हैं। मुक्तिबोध की कविताओं की थीम एक ही है—संघर्ष—व्यक्तिगत तथा विराट् स्तरों पर। ‘चाँद का मुँह टेढ़ा है’ की अट्ठाईस कविताओं में चौदह स्पष्टतः उनके बाह्य संघर्ष की कविताएँ हैं, यद्यपि यह सीमांकन अन्यायपूर्ण भी हो सकता है क्योंकि मुक्तिबोध में व्यक्ति कब विराट् स्वरूप धारण कर लेगा (इन कविताओं में ‘अचानक’, ‘सहसा’, ‘इतने में ही’, ‘यकायक’ आदि शब्द व्यर्थ नहीं हैं) यह न पाठक जानता है और न कवि स्वयं।

ऊपर जिन कविताओं को मुक्तिबोध की बाह्य संघर्ष की कविताएँ कहा गया है, उन्हें इस तरह के विभाजन में रखना सुविधाजनक नहीं है, तर्कसंगत आवश्यकता है क्योंकि इनके एक साथ अध्ययन से मुक्तिबोध की कविता की मौलिक यूनिटी साफ़ दीख पड़ती है। कविता में यूनिटी शिल्प की भी हो सकती है और अभिव्यक्ति की—यानी हो सकता है कि विभिन्न ‘विषयों’ पर लिखी गई कविताओं का शिल्प एक-सा ही हो अथवा शिल्प के साथ ‘प्रयोग’ किये गए हों किन्तु ‘विषय’ एक ही रहे। मुक्तिबोध को सारी कविताओं में भाषा एक-सी ही है, इससे शायद असहमति नहीं होगी। वे भाषा को एक इन्टैन्स तथा परिष्कृत स्तर पर इस्तेमाल करते हैं और उनकी कविता के प्रभाव में भाषा का योगदान नज़रअन्दाज़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं किया जा सकता। शमशेर तथा माचवे का शिल्पबाहुल्य भी उनकी कविताओं में नहीं है, किन्तु इससे 'अनगढ़ शिल्प' का दयनीय मूढ आरोप उन पर नहीं लगाया जा सकता क्योंकि यह सब जानते हैं कि अपनी कविताओं को उन्होंने कितनी बार सँवारा है, सुधारा है। दरअसल मुक्तिबोध अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त एक शिल्प पर पहुँच चुके थे और उनकी कविता के लिए शिल्पाक्रांत खटकों की आवश्यकता नहीं रह गई थी। किन्तु भाषा अथवा शिल्प की यथावत्ता ही उनकी कविताओं को यूनिटी नहीं देती। मुक्तिबोध का काव्य एक बड़ा कैन्वस है जो विविध आकारों तथा रंगों से भरा हुआ है। उन्होंने कलात्मक सुविधा को खयाल में रखते हुए उसे कई जीवन्त टुकड़ों में बाँट दिया, किन्तु हर खण्ड में मूल वृहत्तर कैन्वस के कुछ अंश रह ही गए। इन खण्डों को पहचानना होता है, आपस में इन्हें जोड़ना होता है और तब शायद उस वृहत्तर कैन्वस का एक भव्य आभास होने लगता है।

मुक्तिबोध की कविताओं में एक विराटकाय रहस्यपुरुष अनेक बार प्रकट हुआ है। 'अँधेरे में' का प्रारम्भ इसी 'कोई एक' के कमरों में चक्कर लगाने से होता है। इस अज्ञात के विषय में कुछ संकेत प्राप्त होते हैं, कमरे के पलस्तर की पपड़ियाँ गिरती हैं और वहाँ एक बड़ा चेहरा बन जाता है जिसकी नासिका नुकीली, हनु दृढ तथा ललाट भव्य है—फिर यही चेहरा जल में भी दीख पड़ता है ('चम्बल की घाटी में' आदि रचनाओं में भी चीज़ों के अचानक चेहरों में परिवर्तित हो जाने के उदाहरण हैं) और आखिरकार सशरीर समक्ष आ जाता है। किन्तु इस साक्षात्कार के पहले वन-वृक्षों की शाखाएँ, डालियाँ झूम-झपटकर एक-दूसरे पर पटकती हैं सिर और ऐसा ही विप्लवी दृश्य 'चकमक की चिनगारियाँ' में भी है जबकि 'बाहर के पहाड़ी पेड़' जड़ में जम भयानक नाच नाचने लग जाते हैं। पेड़ों के इस प्रलयवत् नर्तन के पश्चात् 'छिपी हुई एक तिलस्मी खोह का शिला-द्वार खुलता है धड़ से', 'मेरे सहचर मित्र' में भी 'अकस्मात्, जबरन' धक्के से शिला-द्वार वह गुहा-द्वार आत्मा का धड़ से खुलता है।

इस विराट् स्वरूप से मुकाबला गहरे लाल रंग में डूबे हुए वातावरण में होता है 'घुसती है लाल-लाल मशाल अजीब सी / अन्तराल विवर के तम में / लाल-लाल कुहरा / कुहरे में, सामने, रक्तालोक-स्नात पुरुष एक / रहस्य साक्षात्।' 'मुझे याद आते हैं' की 'निहाई से उठती हुई लाल-लाल / अंगारी तारिकाएँ बरसती हैं जिसके उजाले में कि / एक अतिभव्य देह / प्रचंड पुरुष श्याम / मुझे दीख पड़ता है' / 'पता नहीं' में 'होता है प्रकट एक / वह शक्ति पुरुष / जो दोनों हाथों आसमान थामता हुआ / आता समीप / अत्यन्त निकट। यही शक्ति पुरुष 'एक स्वप्न कथा' में 'सागर की थाहों में पैर टिका देता है / ···सागर का पानी सिर्फ़ उसके घुटने तक है' / पर्वत-सा मुख-मंडल आसमान छूता है / अनगिनत ग्रह-तारे चमक रहे कंधों पर', किन्तु 'अन्तर्कथा' में अब तक दूर से ही दीखने वाला यह रौद्राकार 'कंधों पर खड़ा हुआ है···/ थामता नभस् दोनों हाथों से; / भारान्वित मेरी पीठ बहुत झुकती जाती / वह कुचल रही है मुझे देव आकृति।'

इस दुर्धर देव के तकाज़े बहुत कठिन हैं —'वह बिठा देता है तुंग शिखर के / ख़तरनाक, खुरदरे कगार-तट पर / शोचनीय स्थिति में ही छोड़ देता है मुझको / कहता है—"पार करो पर्वत-संधि के गह्वर, / रस्सी के पुल पर चलकर / दूर उस शिखर-कगार पर स्वयं ही पहुँचो" / 'एक अन्तर्कथा' में आकार वही है किन्तु प्रोटेगॅनिस्ट की आत्मीयता उसके विषय में कहती है, 'मैं जनमा जब से इस साले ने कष्ट दिया / उल्लू का पट्ठा कन्धे पर है खड़ा हुआ' और आदेश भी वैसे ही हैं —'बिल्कुल जगे रहो / तुम दाँव अड़ाओ, तने रहो' / यह और बात है कि दोनों बार प्रोटेगॅनिस्ट पलायनवादी है और उसका यह आदेश मानना उस पर भारी है। जब यह देव हारकर अदृश्य हो जाता है, तब वह उठता है किन्तु पाता है कि बाहर कोई नहीं है, केवल रात का पक्षी चीखता है—'वह चला गया है···/ उसको तू खोज अब / उसका तू शोध कर' जिस तरह 'एक स्वप्नकथा' की यक्षिनियाँ कहती हैं 'सहस्रों वर्षों से यह सागर / उफनता आया है / उसका तुम भाष्य करो / उसका व्याख्यान करो···'

इस रहस्यपुरुष की एक मुद्रा और भी है—शान्त मुद्रा —जिसमें वह गम्भीर इतिहास-अध्येता तथा लेखक दोनों हैं। 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' में 'रहस्य-पुरुष-छायाएँ इतिहास लिखती हैं' तथा 'मेरे सहचर मित्र' में 'रक्ताभ' दिए की 'लाल-वलय-शाली' ज्योति के नीचे 'कालान्तर-अनुभव ग्रन्थ देश-देशान्तर के पाता हुआ कोई जातवेदस् उद्दंड क्रान्तदर्शी आजानुबाहु पत्थर-कुरसी पर' बैठा हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दुर्धर देव के अन्तर्हित होने के बाद रात गहरी होती है और मन में जागता है 'किसी अनपेक्षित / असम्भव घटना का भयानक सन्देह / अचेतन प्रतीक्षा' तथा यही अंदेशा 'चंबल की घाटी में' में भी विद्यमान है' वियावान रात / ज़रूर कहीं होगी आज वारदात, भयानक बात ! !' किन्तु जबकि 'चम्बल की घाटी में' की यह भयानक बात 'कोई छाया-रूप नकाब-पोश' के दीखने से प्रारम्भ होती है, 'अँधेरे में' की उपरोक्त पंक्तियों के बाद विचित्र जुलूस दृष्टिगोचर होता है जिसमें शरीक 'लोगों के चेहरे / मिलते हैं मेरे देखे हुओं से'। 'एक स्वप्नकथा' में भी एक जुलूस है जिसमें 'चेहरों के चौखटे / अलग-अलग तरह के—अजीब हैं / मुश्किल है जानना; / पर, कई / निज के स्वयं के ही / पहचान वालों का भान हो आता है।'

जुलूस के ये चेहरे 'मेरे जाने-बूझे-से लगते, उनके चित्र समाचार-पत्रों में छपे थे, / उनके लेख देखे थे, / यहाँ तक कि कविताएँ पढ़ी थीं।...उनमें कई प्रकांड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण / मंत्री भी, उद्योगपति और विद्वान्' भी थे जैसे कि 'एक स्वप्नकथा' के 'जुलूस में अनेक मुख (नेता और विक्रेता, अफ़सर और कलाकार) अनगिन चरित्र / पर चरितव्य कहीं नहीं / अनगिनत श्रेष्ठों की रूप-आकृतियाँ / रिक्त प्रकृतियाँ / मात्र की महत्ता निराकार देवलता / दिखाई/ देती हैं'। 'मुझे याद आते हैं' में काव्यनायक पहले ही 'संस्कृति के सुवासित वस्त्रों के / अन्दर का वासी वह। 'नग्न अति बर्बर देह...' देख चुका है किन्तु भय अब हुआ है 'हाय, हाय ! मैंने उन्हें देख लिया नंगा, / इसकी मुझे और सजा मिलेगी।' शहर में मार्शल लॉ लगा हुआ है, बलवे, अग्निकांड, गोलीबार हो रहे हैं, किन्तु इस जुलूस में सम्मिलित 'सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्, चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं' जिस तरह 'मूल गलती' के सामने पेश किये गए ईमान की उपस्थिति में 'सब खामोश / मनसबदार, / शाइर और सूफी, / अल गज़ाली, इब्ने सिन्ना, अलबरूनी, / आलिमोफ़ाज़िल सिपहसालार, सब सरदार / हैं खामोश'। यही 'अन्तःकरण का आयतन' के नगर बैबीलोन के 'प्रतिष्ठित राज्य संस्कृति के प्रभावी दृश्य / सुन्दर सभ्यता के तुंग स्वर्ण-कलश / सब आदर्श / उनके भाष्यकर्ता ज्ञानवान् महर्षि / ज्योतिर्विद, गणितशास्त्री, विचारक, कवि' हैं जो याद आते हैं।

इन्हें नंगा देख लेने से भयभीत होकर काव्यनायक भागता है और 'दीखता है सामने ही अंधकार स्तूप-सा / भयंकर बरगद—/ सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों / गरीबों का वही घर, वही छत' जिसे अन्य रचनाओं के अतिरिक्त 'कल जो हमने चर्चा की थी' में 'सामने हमने देखा / युगान्तकारी आस्थाओं का विशाल भव्य अक्षयवट्' जिसकी छाया तले 'वेगवान पीड़ा की कन्या' खड़ी हुई है। इस पेड़ के नीचे रहने वाले पागल के गीत का प्रभाव कुछ यों हुआ कि 'मैं खड़ा हो गया / किसी छाया-मूर्ति-सा समक्ष स्वयं के / होने लगी बहस / लगने लगे परस्पर तमाचे /' 'चम्बल की घाटी में' के सवालों के दूह जब सामने खड़े होते हैं तब भी 'अपने ही गोरे-गोरे हाथों को खूब मार बैठते हैं / अपने ही काले-काले हाथ' क्योंकि 'मेरे कारण ही लग गया / मार्शल लॉ वह, / मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने ही संकट बुलाया, / मानो मेरे कारण ही दुर्घट हुई यह घटना' और यही आत्म-भर्त्सना 'चम्बल की घाटी में' भी उभरती है, 'दस्यु-पराक्रम / शोषण-पाप का परम्परा-क्रम वक्षासीन है / जिसके कि होने में गहरा अंश-दान / स्वयं तुम्हारा...उसको बढ़ाने में तुम्हारा भी योग है।'

यह आत्मालोचन समाप्त हो कि यकायक 'ऊपर से गिर-कर / कंधे पर बैठ गया बरगद-पात एक, / क्या वह संकेत, क्या वह इशारा ? क्या वह चिट्ठी है किसी की ?' इसी तरह 'चकमक की चिनगारियाँ' के गुज़रते चाँद ने 'लिफ़ाफ़ा एक नीला' दूर से फेर दिया था और किसी ने बहुत आतुर हो उसे फिर-फिर पढ़ा था। आगे स्वयं प्रोटेगॅनिस्ट गिरता है 'चुपचाप पत्र के रूप में, किसी एक जेब में वह जेब / किसी एक फटे हुए मन की।'

इशारा पाने के बाद पुनः पलायन प्रारम्भ होता है। कहीं छिप बैठने का मौका है कि 'स्वप्न में स्वप्न' दीखता है जिसमें दीप्त हो रही हैं मणियाँ जो 'दीप्ति में वलयित रत्न नहीं हैं' वरन् 'अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष / मेरे ही अपने यहाँ पड़े हुए हैं' जो 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' के 'चुपचाप धँसाये गए, छिपाये गए रत्न मन के, जन के' मूल्य-सत्य 'इस जग के परिवर्तन में हैं,' पछतावा है कि 'मैंने उन्हें गुहा-वास दे दिया / लोकहित से कर दिया वंचित, जनोपयोग से वर्जित किया और / निषिद्ध कर दिया खोह में डाल दिया' क्योंकि काव्यात्मन् फणिधर के लिए वे 'बहुत असुविधाजनक थे / इसलिए कि उनसे होता था / पट-परिवर्तन, यवनिका पतन 'मन में, जग में !'

पुनः आसपास की भयावह स्थिति का आभास होता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि चारों ओर 'बूढ़े असम्भव पक्षी' तेज़ निगाहों से टोह ले रहे हैं, जो 'मेरे सहचर मित्र' में 'सामाजिक जंगल के घुग्घू', 'चकमक की चिनगारियाँ' में 'उग्र, जंगली आँख' वाले समुद्री पक्षी, 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' के 'चमकती सावधान आँखों से देख रहे बूढ़े पक्षी' तथा 'चम्बल की घाटी में' के 'दानवी किसी बदनीयती के सावधान गिद्ध' हैं जिन्हें देख 'खुर्राट निगाहें' याद आती हैं।

पहरेदारों तथा टैंकों से बचकर भागता हुआ काव्यनायक जैसे ही तिलय प्रतिमा के पास आता है कि 'पाषाण पीठिका हिलती-सी लगती/···कण-कण काँप रहे जिनमें से झरते 'नीले इलेक्ट्रॉन/···मूर्ति के तन से झरते हैं अंगार/मुस्कान पत्थरी होंठों पर काँपी'। 'डूबता चाँद कब डूबेगा' में प्राचीन योद्धा की मूर्ति भी हिलती दिखाई देती है, 'देखता हूँ कि चल रही साँस/···वे होंठ हिले,वे होंठ हँसे।' 'द्युति पुरुष' गांधी जब शिशु सौंपकर अदृश्य हो जाते हैं और कह जाते हैं कि 'सँभालना इसको, सुरक्षित रखना' तब 'डूबता चाँद कब डूबेगा' का 'आत्मा-रूपी माता' का त्यागा हुआ 'जीवन का आत्मज सत्य' स्मरण हो आता है जो 'अनुभव-बालक' है, तथा जिसे गोद में उठाकर काव्य-नायक खुश-खुश घर लौटा था। सहसा शिशु रो उठता है और यह रुदन 'अतिशय परिचित' है, 'पहले भी कई बार कहीं तो सुना था।' 'एक अंतर्कथा' में भी प्रोटेगनिस्ट का विचित्र अनुभव है, 'सिर पर की टोकरी-विवर में मानव-शिशु/वह कोई सद्योजात/मृदुल-कर्कश स्वर में/रो रहा/सच, प्यार उमड़ आता उस पर।' किन्तु शिशु-स्वर में शिकायत गहरी है, भयंकर क्रोध है और पुचकारने, दुलारने पर भी वह चीखता है, 'वह शिकायतों से भरा बाल-स्वर मँडराता/प्रिय बालक दुर्भर, दुर्धर है।' यह शिशु कौन है ? 'वह है मानव परम्परा/चिघाड़ता हुआ उत्तर यह' और इसीलिए···'खुश बहुत हूँ।/जिसको न मैं इस जीवन में कर पाया,/वह कर रहा है।'

यह शिशु अदृश्य होता है, सूर्यमुखी पुण्य उसका स्थान लेते हैं, उनकी जगह कंधे पर राइफिल होती है और काव्य-नायक एक कमरे में पहुँचता है जिसमें वह 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' में 'पहले भी आया था, मैंने यह कमरा देखा है।' पहली बार प्रश्न था 'यह कौन यहाँ जो लेटी है। मृत आकृति पीली जड़ीभूत' किन्तु अब 'इस कमरे के बीच में···ज़मीन पर पसरा,/फैलाए बाँहें' जो 'ढह पड़ा आखिर', 'वह कलाकार था/गलियों के अँधेरे का, हृदय में, भार था।' हृदय में स्व··· व ज्ञान व जीवनानुभव जो हलचल करता था वह किसी··· दे न पाया था। 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' में प्रश्न है 'दि··· रातें—जिसकी तीव्र दृष्टि से विवेचिता/पल-क्षण—जिस··· भाष्यों से जीवन के स्रष्टा/जीवन जिसकी प्रेरणा-व्यथा ··· वाहक था,/उसकी महिमा अब विला गई,/किसने उसकी हत्या कर दी ?' उत्तर 'अँधेरे में' प्राप्त है—वह अचानक झोंक··· कुछ कर बैठा और संदेहास्पद समझा गया तथा उसकी हत्या कर दी गई। इस तरह 'कर गया एक युग, कर गया ए··· जीवनादर्श।'

इस कमरे से वह उतरा ही था कि सहसा घेर लिया गया तथा 'आततायी सत्ता के सम्मुख'—'मूल ग़लती' के सामने 'कैद कर लाया गया ईमान'—प्रस्तुत किया गया। फिर 'चाँटे से कनपटी टूटी कि अचानक/त्वचा उखड़ गई गाल की पूरी/कान में भर गई/भयानक अनहद नाद की अनमन। यह पहले भी हुआ है, 'चकमक की चिनगारियाँ' में 'सहसा कनपटी पर ज़ोर से आघात, आँखों सामने विस्फोट' होता है तथा 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' में 'मानो कि कनपटी पर अन··· पेक्षित अकस्मात् आघात/कि थप्पड़ है/···मस्तक की छत फूटने लगी, अपनी छाती पीटता हुआ नाद अनहद/सिर में भटका।' उसके पश्चात् शुरू होती है बाकायदा थर्ड डिग्री—(और मैं सुनता हूँ चिढ़ी हुई ऊँची/खिझलाई आवाज़)। स्क्रीनिंग करो मिस्टर गुप्ता,/क्रॉस-इक्ज़ामिन हिम थॅरोली।' यह आवाज़ निस्संदेह 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' के उस बड़े अफ़सर की है जिसकी सत्ता है, जो कमरों और परदों के पीछे 'सबके अन्दर ठीक केन्द्र में बैठा है, जिसका आतंक बहुत है।' किन्तु यह अत्याचार विफल होता है और उसे रिहा कर दिया जाता है और वह देखता है कि 'मेरे ही विक्षोभ-मणियों के लिए···/मेरे ही रत्नों को लेकर/बढ़ रहे लोग 'किन्तु उसे कोई मलाल नहीं है क्योंकि 'ओ नागात्मन् फणिधर' में स्थिति पहले ही स्पष्ट है, 'शोक मत करो नागात्मन्···/आ गए तुम्हारी अनुपस्थिति में लोग प्रतीक्षा जिनकी थी/ले गए ज्वलत्-द्युति प्रस्तर धन!!/अब उन रत्नों का अर्थ दीप्त होगा,/उनका प्रकाश घर-घर पहुँचेगा फिर से।'

प्रकाश पहुँचता है। विप्लव होता है। कहीं आग लगती है, कहीं गोली चलती है। 'मकानों की छत से गाडर कूद पड़े धम से/घूम उठे खम्भे/भयानक वेग से चल पड़े हवा में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'चकमक की चिनगारियाँ' में 'बिल्डिंग गूँजती है, काँप जाती है/दीवालें ले रहीं आलाप/···उखड़ते चौखटों में ही खड़ाखड़ खिड़कियाँ नचतीं।' अत्याचार की सरकार बरखास्त हो चुकी है और सड़कों पर भीड़ तथा सरकारी फ़ौजों के बीच मुठभेड़ें हो रही हैं जिनमें 'एक-एक वस्तु या एक-एक प्राणाग्नि बम है' जो शून्याकाश से होते हुए अरि पर अनिवार टूटते हैं। इस क्रान्ति के फलस्वरूप 'युवकों में होता जाता व्यक्तित्वांतर' जो 'जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे' में 'यह अग्नि-विश्वजित् फैली है जिन लोगों की वे नौजवान हैं।'

स्वप्न टूटता है। चित्र बिखर गए हैं, कवि अकेला है। स्वप्न स्मरण आता है जैसे 'कल रात किसी अनपेक्षित क्षण में ही सहसा प्रेम कर लिया हो।' वह 'अज्ञात प्रणयिनी मौन थी, मौन थी?' वह प्रेमिका 'चकमक की चिनगारियाँ' की 'जन-संग-ऊष्मा' है, 'महत् सम्भावनाओं की उजलती एक रेखा', जिसका श्याम भोला मुख (बहुत प्यारा) मुझे दिखता कि पाता हूँ—मुझे ही देखती रहती/मनो-आकार-चित्रा वह सुनेत्रा है।'

यह वास्तव में सौभाग्य का विषय है कि यह बात प्रमाणित सत्य है कि 'अँधेरे में' मुक्तिबोध की अन्तिम रचना है। यह भी कोई संयोग नहीं है कि यह उनकी सबसे लम्बी कविता है। यह तो मैं नहीं कहूँगा कि उन्हें इसका आभास था कि यह उनकी अंतिम कविता होगी—'नहीं होती, कहीं भी ख़त्म कविता नहीं होती'—किन्तु यह सोचने की इच्छा होती है कि इस कविता में मुक्तिबोध एक 'समिंग अप' कर रहे थे। अपनी पिछली कविताओं में निस्सन्देह उन्हें ऐसी सामग्री बिखरी हुई दीख पड़ी जिसे एक महाकाव्यवत् अभिव्यक्ति देना आवश्यक लगा होगा। उस सामग्री का 'अर्थ' क्या है तथा उसके पीछे कौन-सी प्रेरणाएँ कार्यरत हैं इस प्रश्न का उत्तर यहाँ अभीष्ट नहीं है। मैं यहाँ यही कहना चाहता हूँ कि मुक्तिबोध की इस रचना को अकेले देखना-परखना उचित नहीं है, बल्कि ख़तरनाक है, क्योंकि उससे सम्बद्ध कई प्रश्नों का उत्तर हमें अन्य कविताओं में या उनके सहारे प्राप्त होता है। उन अध्येताओं को जो एक-एक कविता को पकड़कर चलते हैं मुक्तिबोध की स्वतन्त्र कविताओं से जो हासिल होगा वह अधिक नहीं होगा। इसके सारे प्रमाण मौजूद हैं कि 'अँधेरे में' एक स्वतन्त्र कविता होते हुए भी एक 'स्ट्रेटिफिकेशन' (स्तर-बहुल रचना) है और उसका सही मूल्यांकन मुक्तिबोध की अन्य कविताओं को समानान्तर रखकर ही सम्भव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध और अज्ञेय के काव्य-बिम्ब

रणजीत और रशाद अब्दुल वाजिद

बिम्बों के आधार पर नयी कविता के दो शलाकापुरुषों का अध्ययन उनके वास्तविक कवि-व्यक्तित्व, उनकी अचेतन रुचियों-अरुचियों और उनकी संवेदनशीलता के विस्तार तथा प्रकार के विषय में अधिक प्रामाणिक जानकारी दे सकेगा, यही विश्वास प्रस्तुत अध्ययन की प्रेरणा है। क्योंकि हिन्दी में किन्हीं दो कवियों की कुछ प्रमुख कविताओं के समस्त बिम्बों को एकत्र कर उनके वस्तुगत अध्ययन-विश्लेषण का शायद यह पहला ही प्रयास है, इसलिए इस अध्ययन की विधि और पूर्वमान्यताओं पर कुछ शब्द यहाँ अप्रासंगिक न होंगे।

बिम्ब की परिभाषा, स्वयं ही एक ऐसा विषय है, जिस पर अगर एक पुस्तक नहीं तो, एक स्वतंत्र लेख अवश्य लिखा जा सकता है। इसलिए हम इस लेख में उस पर नहीं जायेंगे। हाँ, हम यह अवश्य चाहते हैं कि उदाहरण देते हुए बिम्ब की सीमारेखाओं पर विस्तृत विचार-विमर्श हो, ताकि काव्यबिम्ब की एक सर्वमान्य नहीं तो बहुमान्य परिभाषा सामने आ सके। पर इस लेख में तो हम इस अध्ययन के सिलसिले में मानी हुई बिम्ब की अपनी धारणा को स्पष्ट करके ही संतोष कर लेंगे। बिम्ब हमारे विचार से निश्चय ही एक ऐन्द्रिक और इसलिए मूर्त शब्दचित्र है। पर प्रस्तुत रूप में आये हुए ऐन्द्रिक शब्द-चित्रों को भी हमने इस अध्ययन में काव्यबिम्ब नहीं माना है, सिवाय उन स्थलों के जहाँ कवि या तो स्मरण करते हुए और या कल्पना करते हुए किसी वस्तु या संवेदना को पाठकों के समक्ष मूर्त रूप में प्रस्तुत करता है। परिणामस्वरूप स्मृति-मूलक और कल्पनामूलक बिम्बों के अतिरिक्त हमने उन्हीं शब्द-चित्रों को बिम्बों के रूप में गिना है, जो किसी-न-किसी प्रकार के अप्रस्तुत विधान के रूप में आये हों, अर्थात् जो उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, मानवीकरण, प्रतीक अथवा लाक्षणिक प्रयोगों के रूप में आये हों। फिर मूर्तता के अभाव के कारण अमूर्त उपमाओं आदि को भी हमने बिम्बों में नहीं गिना है। बिम्ब की इस धारणा पर विवाद हो ही नहीं सकता, है भी हम स्वयं भी उस पर बहुत सुनिश्चित सैद्धान्तिक आधारों प ही पहुँचे हों सो बात भी नहीं है, हम उसे परिवर्तन औ परिष्कार का विषय मानते हैं, व्यवहार के लिए ही फ़िलहा हमने बिम्ब की यह काम-चलाऊ परिभाषा स्वीकार की है उदाहरण के लिए मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' में आ हुए इस शब्दचित्र को

> बावड़ी को घेर
> डालें खूब उलझी हैं
> खड़े हैं मौन औदुम्बर
> व शाखों पर लटकते घुग्घुओं के घोंसले
> परित्यक्त, भूरे, गोल।

प्रस्तुत रूप में आने के कारण ही मूर्तता के बावजू हमने काव्यबिम्ब नहीं माना है। और इसी तरह इस कवित की इस उपमा को

> सीढ़ियाँ डूबी अनेकों
> उस पुराने घिरे पानी में···
> समझ में आ न सकता हो
> कि जैसे बात का आधार
> लेकिन बात गहरी हो

अमूर्त होने के कारण ही बिम्बों में नहीं गिना है। अज्ञेय की इन पंक्तियों में आये हुए चित्रों को—स्मृति औ कल्पनामूलक चित्रों को—बिम्ब मानने की अपनी व्याव रिक नीति के अनुसार ही—हमने बिम्बों के रूप में गिना है

> क्षण भर अनायास हम याद करें :
> तिरती नाव नदी में,
> धूलभरे पथ पर असाढ़ की भभक,
> झील में साथ तैरना,
> हँसी अकारण खड़े महावट की छाया में,
> वदन घाम से लाल, स्वेद से जमी अलक-तलट···
> —हरी घास पर क्षण भ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिम्ब की इस कामचलाऊ परिभाषा को स्वीकार करते हुए, हम लोगों ने अज्ञेय और मुक्तिबोध की कुछ चुनी हुई कविताएँ लेकर उनमें प्राप्त सब बिम्ब एकत्र कर लिए और उनका क्षेत्र, संवेदित इन्द्रिय, अप्रस्तुत विधान के प्रकार (अर्थात् उपमा, रूपक, मानवीकरण आदि), तथा नवीनता-परंपरागतता, सक्रियता-स्थिरता और संवृत्ति-विवृत्ति की दृष्टि से वर्गीकरण कर लिया।

वर्गीकरण की हमारी विधि का स्पष्टीकरण इन उदाहरणों से हो जाएगा :

> कतारों में खड़े ख़ुदगर्ज़ बाहथियार
> बख़्तरबन्द समझौते
>
> —मुक्तिबोध, भूल—ग़लती

हमने इस बिम्ब को वर्गीकरण की इन कोटियों में रखा : १ क्षेत्र की दृष्टि से—मानवजीवन से सम्बन्धित, वर्गों और समूहों से सम्बन्धित, सैनिक जीवन से सम्बद्ध। २ ऐन्द्रिक दृष्टि से—दृश्य बिम्ब। ३ विवृत्ति-संवृत्ति की दृष्टि से—विवृत बिम्ब। ४ सक्रियता-स्थिरता की दृष्टि से—स्थिर बिम्ब। ५ अप्रस्तुत विधान के प्रकारों की दृष्टि से—मानवीकरण (समझौते का)। और ६ नवीनता-परम्परागतता की दृष्टि से—नवीन। इसी तरह अज्ञेय का यह बिम्ब इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है :

> रेल का आह की तरह धीरे-धीरे खिंचना
>
> —हरी घास पर क्षण-भर

क्षेत्र—मानव-जीवन, मानव-क्रियाएँ; ऐन्द्रिक आधार पर—ध्वनि; संवृत्त, सक्रिय, उपमा, स्मृति, बिम्ब, नवीन।

बिम्बविधान के इस अध्ययन के लिए हमने मुक्तिबोध की 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' संकलन में से भूल-गलती, पता नहीं, ब्रह्मराक्षस, दिमाग़ी गुहान्धकार का ओरांगउटांग, लकड़ी का बना रावण, चाँद का मुँह टेढ़ा है, मुझे कदम-कदम पर, एक अरूप शून्य के प्रति और अँधेरे में, इन नौ कविताओं को तथा अज्ञेय की 'इत्यलम्' में से घृणा का गान, बंदीगृह की खिड़की, रक्तस्नात मेरा साकी, दूरवासी मीत मेरे, मैं वह धनु हूँ, रहस्यवाद, वनपारावत, मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ, उड़ चल हारिल, शिशिर की राका निशा, रात होते—प्रात होते, आशी : किसने देखा चाँद—१ और २; 'हरी घास पर क्षण-भर' में से हमारा देश, एक ओटोग्राफ़, कलगी बाजरे की और हरी घास पर क्षण-भर तथा 'आँगन के पार द्वार' में से असाध्य-वीणा, सरस्वती पुत्र, बना दे चितेरे, भीतर जागा दाता, अँधेरे में दीप और पहचान; इन चौबीस कविताओं को विषय बनाया है। चयन में यह ध्यान रखा गया है कि इन कवियों की बहुत प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कविताएँ अध्ययन का विषय बनने से छूट न जाएँ।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के काव्यबिम्बों के इस अध्ययन से प्राप्त तथ्यों की आपेक्षिक स्थितियाँ प्रस्तुत तालिका में अंकित हैं :

विषय	मुक्तिबोध	अज्ञेय
१. कुल कविताओं की संख्या	९	२४
२. कुल काव्यपंक्तियाँ	२५००	१०५७
३. कुल प्राप्त बिम्ब	३००	३००
४. औसत प्रति कविता-बिम्बों की संख्या	३३	१३
५. औसत कितनी पंक्तियों में एक बिम्ब प्राप्त होता है	८	३½
प्रकृति-सम्बन्धी	१११	१३७
धरती	४	२
पहाड़-गुफा	८	०
पानी-सम्बन्धी	२०	१७
हवा	२	५
आकाश	३	२
अग्नि	८	८
प्रकाश	८	६
सूर्यचंद्र-ब्रह्मांड	३	६
अंधकार	३	१
ऋतुएँ	वर्षा ६	गर्मी १
पेड़-पौधे-फूल	१५	२६
पशुपक्षी-कीटपतंग	२५	२८
ध्वनि-आकार-रंग	७	५
मानव-जीवन से सम्बन्धित	१२२	९८
मानव वर्ग और समूह	४९	३८
नारी और दाम्पत्य	३	१०
बालक	३	४
सैनिक जीवन	१३	२
मानव शरीर और क्रियाएँ	४८	५६
मानव स्थितियाँ	२५	४
दैनिक जीवन की वस्तुएँ	३३	२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिम्ब	मुक्तिबोध	अज्ञेय
पुराण-धर्म-दर्शन	१३	१५
लोक विश्वास सम्बन्धी	३	२
उद्योग सम्बन्धी	४	४
विज्ञान-सम्बन्धी	२०	२
भौतिक विज्ञान	६	१
अंकरेखा बीजगणित	५	०
भाषा विज्ञान	५	०
जीव विज्ञान	१	१
राजनीतिक व्यक्ति	२	०
साहित्य सम्बन्धी	५	०
संगीत सम्बन्धी	२	१३
उपमाएँ	४५	२५
रूपक	१०७	९८
प्रतीकात्मक-लाक्षणिक प्रयोग	४७	४९
मानवीकरण	५२	३३
विरोधाभास	४	८
स्मृति और कल्पनामूलक	१५	७८
नवीन बिम्ब	२०७	५८
सक्रिय बिम्ब	४५	१७०
विवृत बिम्ब	१६	३४
दृश्य बिम्ब	२६७	१७०
रंग बिम्ब	३५	२
ध्वनि बिम्ब	१४	७३
स्वाद बिम्ब	४	४
गंध बिम्ब	३	१४
स्पर्श बिम्ब	४	२६
वेदना बिम्ब	८	१३

इस तालिका में प्रस्तुत तथ्यों से क्या निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं ?

पहली बात तो यह कि कविताओं में बिम्बों की आवृत्ति अज्ञेय में मुक्तिबोध की अपेक्षा अधिक है। कुछ अन्तर तो इस कारण भी पड़ गया है कि काव्यबिम्ब की सीमारेखाओं में हमने स्मृतिमूलक और कल्पनामूलक बिम्बों को भी शामिल कर लिया है, ऐसे बिम्ब मुक्तिबोध में कुल १५ हैं, जबकि अज्ञेय में ७८ हैं। यदि इन बिम्बों को न गिना जाय तो अज्ञेय में बिम्बों का आवर्तन प्रति ४$\frac{1}{2}$ पंक्ति हो जाता है, पर यह भी मुक्तिबोध में बिम्बों के आवर्तन से कहीं अधिक है। स्पष्ट है कि अज्ञेय की कविता मुक्तिबोध की अपेक्षा अधिक बिम्बात्मक है। यह बात और तथ्यों से भी पुष्ट होती है कि मुक्तिबोध कथ्य पर अधिक ज़ोर देते हैं, जबकि अज्ञेय के यहाँ कथन का, अभिव्यक्ति का अधिक महत्त्व है। एक वाक्य में मुक्तिबोध अधिक विषयवस्तुवादी और अज्ञेय अधिक रूपाकारवादी हैं।

मुक्तिबोध और अज्ञेय के बिम्बों के क्षेत्र पर दृष्टि डालते ही यह तथ्य हमारे सामने आता है कि अज्ञेय में प्राकृतिक बिम्ब अधिक हैं, जबकि मुक्तिबोध में मानवजीवन से और दैनिक जीवन से सम्बन्धित बिम्बों की अधिकता है। स्पष्ट ही अज्ञेय की रुचि का प्रधान क्षेत्र प्रकृति है, जबकि मुक्तिबोध की मुख्य रुचि मानव-जीवन में है। स्वयं अज्ञेय में प्राप्त प्रकृति-सम्बन्धी बिम्ब उनके मानवजीवन-सम्बन्धी बिम्बों के १३७/९८ अर्थात् १४० प्रतिशत हैं, अर्थात् उनसे ४० प्रतिशत अधिक हैं, जबकि मुक्तिबोध के प्रकृति-सम्बन्धी बिम्ब उनके मानव-जीवन-सम्बन्धी बिम्बों के १११/१२२ अर्थात् ९१ प्रतिशत है, अर्थात् उनसे ८ प्रतिशत कम हैं। इस तथ्य से अज्ञेय की रूमानी और मुक्तिबोध की सामाजिक यथार्थवादी रुझान स्पष्ट है।

अज्ञेय के प्रकृति-संबंधी बिम्बों की अधिकता को यदि उनमें प्राप्त स्मृतिमूलक और कल्पनामूलक बिम्बों की मुखर अधिकता तथा वैज्ञानिक और आधुनिक जीवन से संबंधित बिम्बों की मुखर विरलता के साथ जोड़ दिया जाए तो उनकी रूमानी वृत्ति पर और अधिक प्रकाश पड़ता है। इस दृष्टि से पिछले दिनों हिन्दी आलोचना में उन्हें जो कभी-कभी नव-छायावादी कवि कहा गया है, इस बात को उनका बिम्ब-विधान भी पुष्ट करता प्रतीत होता है।

फिर दोनों कवियों के प्रकृति-बिम्बों में मात्र सांख्यिक अन्तर ही नहीं है। प्रकृति के अलग-अलग पक्षों और रूपों के प्रति इन कवियों ने भिन्न-भिन्न रुचि दिखाई है। मुक्तिबोध को पहाड़, पठार और गुफाएँ अधिक पसंद हैं, ये इनके बिम्बों में बराबर आती हैं, पर अज्ञेय में इनसे संबंधित बिम्ब नहीं हैं। मानव-हृदय की जटिलता को एक प्राकृतिक गुहा के इस विवृत बिम्ब से मुक्तिबोध ने इस तरह रूपायित किया है :

भूमि की सतहों के बहुत नीचे
अँधियारी एकान्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राकृत गुहा एक।
विस्तृत खोह के साँवले तल में
तिमिर को भेदकर चमकते हैं पत्थर
मणि तेजस्क्रिय रेडियो-एक्टिव रत्न भी बिखरे
झरता है जिन पर प्रबल प्रपात एक।
प्राकृत जल वह आवेग-भरा है
द्युतिमान् मणियों की अग्नियों पर से
फिसल-फिसल कर बहती लहरें
लहरों के तल में से फूटती हैं किरनें
रत्नों की रंगीन रूपों की आभा
फूट निकलती
खोह की बेडौल भीतें हैं झिलमिल।...
पाता हूँ अकस्मात
दीप्तिवलयित रत्न वे नहीं हैं
अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष
मेरे ही अपने यहाँ पड़े हुए हैं
विचारों की रक्तिम अग्नि के मणि ये
प्राण-जल-प्रपात में धुलते हैं प्रतिपल।

—अँधेरे में।

अग्नि और प्रकाश-संबंधी बिम्ब यद्यपि दोनों में लगभग बराबर हैं, तथापि सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र के बिम्ब अज्ञेय में अधिक हैं। ब्रह्माण्ड-संबंधी बिम्ब अज्ञेय में एक ही है और वह भी 'संसृति का वीरान'। मुक्तिबोध में एक-एक बार नेब्यूला और आकाशगंगा से संबंधित बिम्ब आये हैं। अँधेरे के बिम्ब मुक्तिबोध-काव्य में अधिक हैं, जबकि सन्नाटे और मौन के अज्ञेय काव्य में। अज्ञेय के इन बिम्बों के साथ एक रहस्यवादी-सा वातावरण जुड़ा रहता है :

और सचमुच इन्हें जब-जब देखता हूँ
यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है
और मैं एकान्त होता हूँ समर्पित।

—कलगी बाजरे की

ऋतुओं में भी दोनों की रुचि काफ़ी भिन्न है। मुक्तिबोध के छह ऋतुबिम्बों में तीन कोहरे के और दो वर्षा के हैं, जबकि अज्ञेय के यहाँ एक ही ऋतुबिम्ब देखा गया है और वह है 'असाढ़ की भभक' का।

पेड़-पौधों से संबंधित बिम्ब अज्ञेय में अधिक हैं। उनके काव्य में बाजरा, गेहूँ, सरसों, चीड़, महुआ, बबूल, शिरीष, जूही, कचनार, कमल, कुमुद, हरसिंगार, चम्पा तथा घास' दूब और करमकल्ले के बिम्ब आये हैं, जबकि मुक्तिबोध के काव्य में पेड़ों में बरगद और फूलों में कमल कई बार आया है, अन्य फूलों में उनका ध्यान गुलाब और पारिजात पर गया है। अज्ञेय में अंकुर का और मुक्तिबोध में काँटों का बिम्ब भी रेखांकित किया जा सकता है। इस सिलसिले में अज्ञेय द्वारा प्रयुक्त एक बिल्कुल निजी से स्मृति-बिम्ब को उद्धृत किया जा सकता है :

झाड़ का अंगुल-अंगुल नाप कर तोड़े तिनकों का समूह

—हरी घास पर क्षण भर

पशु-पक्षियों से संबंधित बिम्बों की संख्या यद्यपि दोनों में लगभग बराबर है, तथापि अज्ञेय में कीट-पतंगों के बिम्ब मुक्तिबोध की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। मुक्तिबोध ने सिर्फ़ दो बार पतंगों का और एक बार तितली का बिम्बात्मक प्रयोग किया है, जबकि अज्ञेय के काव्य में दो बार झिल्ली के और एक-एक बार पतंग, भंवरा, खद्योत, तितली, भुनगा और भौमाखियों के बिम्ब आये हैं। पक्षियों में चिड़िया के बिम्ब का अज्ञेय ने कई बार प्रयोग किया है, अन्य पक्षियों में हारिल, मोर, जलपंछी, सारस, टिट्टिभ, कठफोड़वा, फुलसुंघनी, सतभैये और हंस का नाम लिया जा सकता है। मुक्तिबोध ने कुल सात पक्षी-बिम्बों का प्रयोग किया है, जिनमें एक हंस, एक मुर्गा और एक कबूतर हैं। एक मृत पक्षी का बिम्ब भी उनकी एक कविता में आया है। पशुओं में अज्ञेय ने मृग, घोड़े, हाथी और भैंसे का बिम्बात्मक प्रयोग किया है, जबकि मुक्तिबोध के काव्य में मैमथ, ओरांगउटांग, टेरियर कुत्ते, कुतिया और बिल्ली के बिम्ब आये हैं। अज्ञेय ने मछली का दो बार, दादुर का दो बार और साँप का एक बार प्रयोग किया है। अजगर और साँप का बिम्ब मुक्तिबोध में चार बार आया है। पशु-क्रियाओं में अज्ञेय के काव्य में पशुओं और कीट-पतंगों की आवाज़ों का खूब प्रयोग किया गया है, जबकि मुक्तिबोध ने उनके जुगाली करने, हमला करने और छटपटाने की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। मुक्तिबोध ने एक मृत पशु के बिम्ब का प्रयोग भी किया है।

मुक्तिबोध के बिम्बों में आदिम जीवन के कुछ उपकरणों की कई बार आवृत्ति ध्यान देने योग्य है। जैसे 'बरगद की घनघोर शाखाओं की गठियल अजगरी मेहराब' और परित्यक्त सूनी बावड़ी आदि। उनके लोक-विश्वास-संबंधी, भूत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेत, ब्रह्मराक्षस आदि के बिम्बों के साथ मिलकर ये उपकरण एक आदिम वन्य जीवन के भयपूर्ण वातावरण को सामने लाते हैं।

अज्ञेय के प्रकृति-संबंधी बिम्बों की एक विशेषता यह है कि उनमें से अधिकतर प्रकृति के प्रति अज्ञेय की धनात्मक दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं। अरुचिपूर्ण संदर्भ में उन्होंने बहुत कम प्राकृतिक बिम्बों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए यह बिम्ब देखा जा सकता है :

चीड़वनों में गंध-अंध-उन्मद पतंग की जहाँ-तहाँ टकराहट

यहाँ पतंगा गंध से अन्ध और उन्मद है। इसकी तुलना में मुक्तिबोध का यह बिम्ब ध्यातव्य है :

धरती की चीखों के शब्द
पंखदार कीड़ों से बेचैन

—एक अरूप शून्य के प्रति

मानव-जीवन-संबंधी बिम्बों में भी दोनों में पर्याप्त विभिन्नता है। विभिन्न मानव वर्गों और समूहों से संबंधित बिम्ब निश्चय ही मुक्तिबोध में कहीं अधिक हैं। उनके यहाँ इस वर्ग के अन्तर्गत बादशाह और उससे संबंधित वस्तुओं के ५, सैनिक जीवन से संबंधित १३, कैदी और जेल से संबंधित ३, और विद्रोही, जासूस, थानेदार, मजिस्ट्रेट, नोकदार, पेन्टर, कारीगर, सुथार, लुहार, हलवाई, चोर, उचक्के, गुरु, शिष्य, फटेहाल व्यक्ति, असहाय, नपुंसक, साधु, फ़कीर, पागल और मूर्ख से संबंधित बिम्ब एक-एक बार आये हैं। अज्ञेय काव्य में त्राता, तात, सखा, गुरु, अग्रज, शरणार्थी, नगरसेठ, डाकिया, हरकारा, पनडुब्बा और गाहक तथा मंडी और बन्दीगृह के बिम्ब एक-एक बार आये हैं। स्पष्ट है कि अज्ञेय के इन बिम्बों में से अधिकांश परम्परागत और ग्रामीण जीवन से संबद्ध हैं। ऐसा लगता है कि आधुनिक नागरिक जीवन में उनकी रुचि बहुत कम है। मानव-जीवन से संबंधित उनके अन्य बिम्बों में भी उनकी सामाजिक रुचि कम ही व्यक्त होती है। ये बिम्ब उनके वैयक्तिक-रागात्मक संबंधों को अधिक प्रकट करते हैं। डाकिये और मंडी में उनकी रुचि 'डाकिये के पैरों की चाप' और 'मंडी की ठेलमठेल, गाहकों की अस्पर्द्धा-भरी बोलियाँ' (असाध्यवीणा) तक सीमित है। गाहकों की बोलियाँ यहाँ वीणा के स्वरों के लिए उपमान या उत्प्रेक्षा बन-कर आया है, अर्थात् यहाँ भी उनकी रुचि का मुख्य विषय मंडी और गाहकों की बोलियों से संबद्ध विचार-संदर्भ नहीं, उन बोलियों का रूप-तत्त्व-मात्र है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मुक्तिबोध की रुचि मानव-जीवन में कहीं अधिक गहरी है और उनके ऐसे बिम्ब कहीं अधिक विविधतापूर्ण हैं। यदि शासक और शोषित वर्ग से संबद्ध बिम्बों के वर्ग बनाये जायँ तो उनमें पहले वर्ग के १० और दूसरे वर्ग के ११ बिम्ब मिलते हैं। पहले वर्ग के बिम्ब अधिकतर व्यंग्यात्मक या अरुचिपूर्ण संदर्भों में आये हैं, जबकि दूसरे वर्ग के बिम्बों के संदर्भ सहानुभूतिपूर्ण हैं। जैसे एक ठिठुरते हुए असहाय व्यक्ति का यह बिम्ब, जो आगे चलकर गांधीजी के बिम्ब में बदल जाता है :

सामने मेरे
सर्दी में बोरे को ओढ़कर
कोई एक अपने
हाथ-पैर समेटे
काँप रहा, हिल रहा—वह मर जाएगा।

—अँधेरे में

मुक्तिबोध में सैनिक-जीवन से संबद्ध बिम्बों की मुखर अधिकता भी ध्यातव्य है। इन बिम्बों में सैनिक जीवन की कोई गौरवपूर्ण भावना नहीं, फ़ौजी आतंक ही व्यक्त हुआ है। कुछ बिम्ब तो स्पष्ट ही सैनिक शासन से ही संबद्ध हैं। इस तरह का एक प्रभावक बिम्ब है :

गगन में करफ्यू है
धरती पर चुपचाप ज़हरीली छिः थूः है।
पीपल के ख़ाली पड़े घोंसलों में पक्षियों के
पैठे हैं ख़ाली हुए कारतूस।

सैनिक शासन के आतंकपूर्ण वातावरण को निश्चय ही बहुत सबल बिम्ब के माध्यम से यहाँ रूपायित किया गया है। पक्षियों के घोंसलों में कारतूसों का बिम्ब एक अजीब विरोधा-भास की प्राकृतिक-रागात्मक जीवन की पृष्ठभूमि पर मान-वीय बर्बरता की ओर ही नहीं, आतंक की व्यापकता की ओर भी एक सार्थक संकेत करता है। अज्ञेय काव्य में दो ही बिम्ब ऐसे हैं जिन्हें सैनिक जीवन से संदर्भित कहा जा सकता है : ध्वजदंड (उड़ चल हारिल) और युद्ध के ढोल (असाध्य वीणा)। और ये दोनों ही सैनिक जीवन के प्रति गौरवभावना के ही द्योतक हैं। यह तथ्य एक बुद्धिजीवी के रूप में फ़ौजी बर्बरता के प्रति अज्ञेय की असजगता को ही व्यक्त करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नारी और दाम्पत्य जीवन से संबंधित बिम्ब मुक्तिबोध में कुल ३ हैं, जिनमें भी प्रेमिका का बिम्ब एक ही है। मुक्तिबोध के साथ तो खैर इस स्थिति को स्वाभाविक भी माना जा सकता है, क्योंकि नारी और उसके प्रेम को काव्य-विषय बनाकर लिखी हुई कोई कविता हमारे देखने में नहीं आयी, पर अज्ञेय के दस नारी-संबंधी बिम्बों में से भी प्रणय-संबंधी बिम्ब एक ही है, यह थोड़ी आश्चर्य की बात है। यह कुछ विचित्र-सी स्थिति है कि अनेक प्रेम-संबंधी कविताएँ लिखने के बावजूद अज्ञेय में इस क्षेत्र का एक ही बिम्ब प्राप्त हुआ है। कदाचित् यह उनकी प्रेम-संबंधी अवचेतन कुंठा के अभाव का द्योतक हो।

शिशु-संबंधी बिम्ब दोनों में लगभग समान हैं, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि अज्ञेय के बिम्बों में बालक-रुचि का केन्द्र कम है, मातृत्व अधिक, जबकि मुक्तिबोध में बालक के प्रति राग भावना अधिक मुखर है :

संगीतकार
वीणा को धीरे से नीचे रख, ढँक—मानो
गोदी में सोये शिशु को पालने डाल कर मुग्धा माँ
हट जाय दीठ से दुलराती

—अज्ञेय, असाध्य वीणा

बालक लिपटा है मेरे गले से चुपचाप
छाती से कन्धे से चिपका है नन्हा-सा आकाश
स्पर्श है सुकुमार प्यार-भरा कोमल
किन्तु है भार का गंभीर अनुभव

—मुक्तिबोध, अँधेरे में

मानव-शरीर और क्रियाओं-सम्बन्धी बिम्बों में जो सांख्यिक अन्तर है वह मुख्यतः अज्ञेय में मानव-क्रियाओं से सम्बन्धित बिम्बों के आधिक्य के कारण है। क्रियात्मक बिम्बों की आपेक्षिक अधिकता अज्ञेय के बिम्ब-विधान की एक मुखर विशेषता है। मानव-अंगों में मुक्तिबोध ने मुँह और चेहरे का पाँच बार, आँख का चार बार, सिर का तीन बार, कान का तीन बार, पेट, बाँह तथा रक्त का दो-दो बार और जबड़े, दाढ़ी, मूँछ, चरण, होंठ, हृदय, जीभ, आँत, भाल, हाथ, गरदन और नाभिनाल का एक-एक बार बिम्बात्मक प्रयोग किया है। अज्ञेय के ऐसे बिम्बों में नेत्र की पाँच बार और कन्धे, पैर, अँगुलियों, नथनों, मुट्ठी, अलकलट, रोमावली, अंजली और छाती की एक-एक बार आवृत्ति हुई है। मुक्तिबोध की क्रियाओं में नमस्ते करना, वन्दना करना, नाचना, झूमना, सूँघना, उतरना और फुसफुसाना प्रमुख हैं, जबकि अज्ञेय ने छीनना, अनिमेष होना, स्तब्ध होना, निर्वाक् होना, जागना, झिपना, उझकना, चौंकना, तनना, नमना, चीरना, हेरना, घेरना, चीत्कार करना, डूबना, तैरना, दुलराना, सोना, ढंकनाछाना, सोखना, चपत मारना, मत्त होना, झूमना, नाचना, झाँकना, हँसना, नहाना, साँस लेना, काँपना, तड़पना आदि क्रियाओं का प्रयोग किया है। मानव-क्रियाओं की यह अधिकता उनकी विकसित शरीर-संवेदना की ओर संकेत करती है। अज्ञेय में मानव-शरीर और उसकी क्रियाओं का यह बिम्बन एकाध स्थल को छोड़कर स्वतंत्र सुखवादी दृष्टि से किया गया है, जबकि मुक्तिबोध के यहाँ कई बार आँत, रक्त, पेट आदि के कुछ जुगुप्साजनक बिम्ब भी आये हैं। उदाहरण के लिए :

गमक नट्टिन की एड़ी के घुँघरू की

—अज्ञेय, असाध्य वीणा

अँधेरे के पेट में से ज्वालाओं की आँत बाहर निकल आये

—मुक्तिबोध, चाँद का मुँह टेढ़ा है

विभिन्न मानव-स्थितियों के बिम्ब मुक्तिबोध में कहीं अधिक हैं। अज्ञेय के मानव-स्थितियों-सम्बन्धी चार बिम्बों में से तीन रोग-चिकित्सा से और एक मृत्यु से सम्बन्धित हैं। मुक्तिबोध ने चार रोग-चिकित्सा-सम्बन्धी और चार मृत्यु-सम्बन्धी बिम्बों का प्रयोग किया है। रोग-चिकित्सा-सम्बन्धी दोनों के ये समान-से बिम्ब देखे जा सकते हैं :

हिम तुषार के फाहे धरती के घावों को सहलाते चुपचाप

—अज्ञेय

उदित होता चन्द्र
व्रण पर बाँध देता श्वेत धौली पट्टियाँ

—मुक्तिबोध

इनके अतिरिक्त मुक्तिबोध ने छः क्रान्ति-सम्बन्धी, तीन अत्याचार-सम्बन्धी और एक-एक सैनिक शासन, हड़ताल, जुलूस और शादी से सम्बन्धित बिम्बों का प्रयोग किया है। इन बिम्बों की अधिकता और विविधता निश्चय ही उनके विकसित सामाजिक-बोध और यथार्थ-सजगता को व्यक्त करती है।

दैनिक जीवन-सम्बन्धी बिम्बों में भी यद्यपि सांख्यिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर अधिक नहीं है, तथापि इस वर्ग के भीतर भी दोनों का रुचि-वैभिन्न्य स्पष्ट है। अज्ञेय के बिम्बों में अंगराग और बासन का दो बार तथा बटुली, तिजोरी, सोना, हथौड़ा, चमरौधा (जूता), कटारी, साबुन, चादर, दुकूल, सुरा, गागरी, प्याला, विष, मधु, राख, चित्र, मौना, मोती, भेड़, कुतिया, नौका, फाहा, अन्न, गलियारा आदि का एक-एक बार प्रयोग हुआ है। जबकि मुक्तिबोध के काव्य में घर-आँगन के चार, ढिबरी (मिट्टी के तेल का दीपक), शीशे और चिट्ठी के दो-दो और चक्की, कम्बल, स्याही, मटका, पलंग, साँकल, धागा, गाँठ, फिरकी, बिस्तर, रंदा, बघार, तेल, कचरे का ढेर, परचा, जाल, खंडहर, चोली, अण्डरवियर, रत्न और मणि के एक-एक बिम्ब आए हैं।

विज्ञान-सम्बन्धी बिम्बों की दृष्टि से दोनों कवियों में बहुत मुखर अन्तर है। अज्ञेय की वर्तमान वैज्ञानिक युग के प्रति असंवेदनशीलता आश्चर्यजनक है। उनके यहाँ ऐसे कुल दो बिम्ब हैं, जिन्हें किसी अर्थ में विज्ञान-सम्बन्धी बिम्ब कहा जा सकता है। एक है : 'मैं एक असीम अणु हूँ', और दूसरा :

लेकिन जान लेना तो अलग हो जाना है
बिना विभेद के ज्ञान कहाँ है ?
और मिलना है भूल जाना,
जिज्ञासा की झिल्ली को फाड़कर
स्वीकृति के रस में डूब जाना

जन्म की प्रक्रिया में पिण्डज झिल्ली फाड़कर पृथक् होता है, पर यहाँ झिल्ली फाड़कर पुनः रस में डूबने की बात है। दूसरी पंक्ति एक जीवशास्त्रीय प्रक्रिया को उलट देती है, इस बात को फ्रायड की पुनः गर्भ की ओर लौटने की धारणा के संदर्भ में देखा जा सकता है। पहले बिम्ब में 'अणु' शब्द को बहुत खींच-तानकर ही वैज्ञानिक कहा जा सकता है, वास्तव में वह एक सामान्य या अधिक-से-अधिक दार्शनिक सन्दर्भ में ही प्रयुक्त किया गया है। अज्ञेय की तुलना में मुक्तिबोध के वैज्ञानिक बिम्ब न केवल संख्या में बहुत अधिक हैं, वरन् अपने रूप में विज्ञान से अधिक स्पष्टतापूर्वक संयुक्त भी हैं। मुक्तिबोध के विज्ञान-सम्बन्धी बिम्बों को आज के हमारे जीवन में विज्ञान के प्रवेश का उनके द्वारा किया हुआ काव्यात्मक स्वागत कह सकते हैं। उनके काव्य-बिम्बों में रेडियो-ऐक्टिव मणियाँ ही नहीं, नीले इलेक्ट्रोन, प्राणाग्नि बम और प्रक्षेपास्त्र भी पहुँच गये हैं। गणित के क्षेत्र से लिया हुआ उनका एक बिम्ब देखा जा सकता है :

वे भावसंगत, तर्कसंगत
कार्य सामंजस्य योजित
समीकरणों के गणित की सीढ़ियाँ

—ब्रह्मराक्षस

अज्ञेय में संगीत-सम्बन्धी बिम्बों की अधिकता उनके विकसित ध्वनि-बोध का ही एक आयाम है। यह ध्वनि-बोध उनके ध्वनि-सम्बन्धी ऐन्द्रिक बिम्बों के आधिक्य से भी प्रकट है। ध्वनि-बिम्बों में उन्होंने शब्दानुकरण या नादार्थ व्यंजना का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। अज्ञेय का काव्य-संसार ढोल, मादल, बाँसुरी, वीणा, घुँघरू, ढोलक आदि वाद्यों के अतिरिक्त स्टीमर की भर्राई सीटी, सन्ताली झूमुर का लम्बा कसक-भरा आलाप, (हरी घास पर क्षण भर), बटिया पर चमरौधे की रुँधी चाप, सधे हथौड़े की सम चोटें, गोधूली की लघु टुनटुन, कुलिया की कटी मेंड़ से बहते जल की छुलछुल, कूजों की ऋेंकार, कौंध लम्बी टिट्टिभ की, झिल्ली-दादुर कोकिल-चातक की झंकार-पुकारों की यति में संसृति की साँय-साँय, आदि न जाने कितनी ही प्राकृतिक और मानवीय ध्वनियों से सम्पन्न है। मुक्तिबोध में संगीत-सम्बन्धी जो दो बिम्ब प्राप्त हुए हैं उनमें से भी एक व्यंग्यात्मक है।

हाँ मुक्तिबोध के साहित्य-सम्बन्धी बिम्ब उनकी अपनी विशेषता है :

घबराए प्रतीक और मुस्कुराते रूपचित्र
लेकर मैं घर पर जब लौटता हूँ
उपमाएँ द्वार पर आते ही कहती हैं
सौ बरस और तुम्हें जीना ही चाहिए।

और व्याकरण या भाषाविज्ञान से सम्बन्धित ऐसे बिम्ब भी

किसी काले डैश की घनी काली पट्टी ही
आँखों पर बँध गई
किसी खड़ी पाई की सूली पर
टाँग दिया गया।

—अँधेरे में

बिम्बों के ऐन्द्रिक आधार की ओर ध्यान देते ही यह बात बहुत मुखर होकर सामने आती है कि मुक्तिबोध के काव्य में दृश्य बिम्बों का आधिक्य है, जबकि अज्ञेय में अन्य इन्द्रियों से सम्बन्धित, खासतौर से श्रव्य बिम्ब भी खूब हैं। ध्वनियों, गन्धों और स्पर्शों का एक ऐश्वर्यपूर्ण संसार उनके काव्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवतरित है। इसे उनके काव्य-बिम्बों की एक प्रमुख उपलब्धि माना जा सकता है और अज्ञेय को एक ऐन्द्रिक विलासवादी कवि कहा जा सकता है। उनके अधिकांश बिम्ब ऐन्द्रिक सुख और तुष्टि से पूर्ण हैं। विशेषतः 'असाध्य वीणा' में ऐसे बिम्बों की भरमार है। किन्तु इस कविता के बारे में यह अवश्य कहा जा सकता है कि यद्यपि इसके बिम्ब स्वतन्त्र रूप में पर्याप्त प्रभावक प्रतीत होते हैं, तथापि वे कुल मिलाकर किसी संश्लिष्ट प्रभाव की सृष्टि करने में असमर्थ रहते हैं। ऐसा लगता है कि द्विवेदीयुगीन कवियों के वस्तुपरिगणन की तरह अज्ञेय ने इस कविता में बिना काव्य का अंग बनाए विविध ऐन्द्रिक अनुभूतियों का एक विस्तृत सूची-पत्र तैयार कर दिया है।

मुक्तिबोध की रंग-चेतना अवश्य अज्ञेय की अपेक्षा अधिक विकसित मालूम पड़ती है। अज्ञेय के इन बिम्बों में दो ही रंग-बिम्ब प्राप्त हुए हैं : एक नीला आकाश और दूसरा सुनहला पंछी। पर मुक्तिबोध का रंग-संसार कहीं अधिक विस्तृत और विविधतापूर्ण है। उनके यहाँ काले और साँवले रंगों के अतिरिक्त, जिनके बिम्ब एकाधिक बार आए हैं, भूरे, खाकी, पीले, लाल, नीले, धुँवाले, मटमैले, गोरे, गेरुए, कत्थई, मोतिया, चम्पई, गुलाबी और सुनहले रंगों के बिम्ब प्राप्य हैं। उनके काव्य में सुनसान साँवले चौराहे, वीरान गेरुआ घंटाघर, कत्थई बुज़ुर्ग गुम्बद और घंटाघर के चार पीले घड़ी चेहरे सहज ही देखे जा सकते हैं। कहीं-कहीं तो उन्होंने मात्र एक रंग विशेषण के आधार पर ही एक जटिल-अर्थपूर्ण बिम्ब की सृष्टि की है :

ज़िन्दगी भूरी ही नहीं,
खाकी है।

—चाँद का मुँह टेढ़ा है

सक्रिय बिम्बों की दृष्टि से निश्चय ही अज्ञेय का पलड़ा भारी है। मानव-क्रियाओं से सम्बन्धित बिम्बों पर विचार करते हुए भी हमने उनके बिम्बों की सक्रियता की ओर संकेत किया था। ऐसा लगता है कि भले ही सामाजिक कर्म में अज्ञेय की अधिक रुचि न हो, प्राकृतिक और मानव-शारीरिक क्रियाओं में उनकी खूब रुचि है। उनके अधिकांश बिम्ब की जाती हुई किसी-न-किसी क्रिया से संयुक्त हैं।

लेकिन बिम्बों की नवीनता और मौलिकता की दृष्टि से मुक्तिबोध का बिम्बविधान कहीं अधिक उपलब्धिपूर्ण है। उनके लगभग दो-तिहाई बिम्ब नवीन हैं, जबकि अज्ञेय में नवीन बिम्ब उनके द्वारा प्रयुक्त कुल बिम्बों का बीस ही प्रतिशत हैं। एक आधुनिकतावादी काव्यान्दोलन (प्रयोगवाद—नई कविता) के प्रवर्तक माने जाने वाले कवि के काव्य में नवीनता और परम्परागतता का यह विषम अनुपात सचमुच आश्चर्यजनक है। यह तथ्य निश्चय ही गहराई में अज्ञेय के शास्त्रीयतावादी-परम्परावादी रूप को व्यक्त करता है।

यहाँ सैद्धान्तिक रूप से नवीन और परम्परागत बिम्बों की आपेक्षिक काव्योचितता पर विचार-विमर्श की गुंजाइश नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि अज्ञेय ने अधिकतर परम्परागत बिम्बों का ही परिष्कार किया है, जबकि मुक्तिबोध ने अनेक नवीन बिम्बों का सृजन भी किया है।

बिम्ब-विधान की दृष्टि से दोनों कवियों की कुछ विशिष्ट रुझानों की ओर संकेत के बाद हम इस चर्चा को समाप्त करेंगे।

अज्ञेय के बिम्बों में आधुनिकता के प्रति उनका उपेक्षाभाव उभरकर सामने आता है। आधुनिक नागरिक जीवन के उपकरणों का बिम्बात्मक प्रयोग, एक तो उनके यहाँ बहुत विरल है और दूसरे जहाँ है वहाँ भी अधिकतर जुगुप्साजनक या तिरस्कारपूर्ण संदर्भ में ही :

शहरों की ढँकी लोलुप
विषैली वासना का साँप

—हमारा देश

नागरिकों से
जिनकी भाषा में
अतिशय चिकनाई है साबुन की
किन्तु नहीं है करुणा।

—हरी घास पर क्षण भर

यही कारण है कि उद्योग-विज्ञान-सम्बन्धी जो थोड़े-से बिम्ब उनके काव्य में मिलते हैं, वे भी प्रायः जीवनानुभूति के अंग कम, पुस्तकीय अधिक प्रतीत होते हैं :

मैंने देखा, वहाँ करोड़ों भभकों में फिर उफन-उफन कर
भस्मीभूत अस्थियों के अनगिन स्तर की छननी में छन
कर
एक मनमोहक उन्मादक झिलमिल निर्झर रूप ग्रहण कर
वही रक्त बढ़ता आता था मेरी मोहक मदिरा बनकर !

—रक्तस्नात वह मेरा साकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ जो अस्थियों की छननी का बिम्ब है, वह शक्कर उद्योग से सम्बन्धित है, जिसमें शक्कर को श्वेत बनाने के लिए 'बोन चारकोल' का प्रयोग किया जाता है। लेकिन यह प्रक्रिया भारत के शक्कर उद्योग में प्रचलित नहीं है, कारण भारतीय शाकाहारी मानस की हड्डियों के प्रति घृणा-भावना है। सिर्फ़ विदेशों में प्रचलित इस प्रक्रिया का बिम्बात्मक प्रयोग, पुस्तकीय ही कहा जा सकता है।

मुक्तिबोध ने भी आधुनिक जीवन के कई उपकरणों का व्यंग्यात्मक या तिरस्कारपूर्ण प्रयोग किया है, पर अधिकतर इन उपकरणों के प्रति उनकी रुझान रुचिपूर्ण है :

कहाँ है पश्यत कैमरा जिसमें
तथ्यों के जीवनदृश्य उभरते
कहाँ-कहाँ सच्चे सपनों के आशय
कहाँ-कहाँ क्षोभक-स्फोटक सामान
भीतर कहीं पर गड़े हुए गहरे तलघर अन्दर
छिपे हुए प्रिंटिंग प्रेस को खोजो
जहाँ कि चुपचाप ख़यालों के परचे
छपते रहते हैं, बाँटे जाते
इस संस्था के सेक्रेटरी को खोज निकालो
शायद उसका ही नाम हो आस्था
कहाँ है सरगना इस टुकड़ी का
कहाँ है आत्मा ?

—अँधेरे में

वीभत्स, भयानक और विराट् बिम्ब भी अज्ञेय में लगभग नहीं हैं। मुक्तिबोध के इन तीन सौ बिम्बों में तीन वीभत्स, दो भयानक और चार विराट् बिम्ब प्राप्त होते हैं। वीभत्स-बिम्ब का एक उदाहरण लिया जाए :

अस्थिरूप, यकृत-स्वरूप उदराकृति
आँतों के जालों से
बाजे वे दमकते हैं भयंकर

—अँधेरे में

एक विचित्र-से विराट् बिम्ब को भी यहाँ देखा जा सकता है :

फिर भी, यशस्काय दिक्काल सम्राट्
तुम कुछ नहीं हो, फिर भी हो सब-कुछ !
काल्पनिक योग्य की पूँछ के बालों को काट कर
होंठों पर मूँछ लटका रखी है
ओ नट नायक, सारे जगत पर रौब तुम्हारा है
तुमसे जो इनकार करेगा
वह मार खाएगा
और उस मूँछ के हवाई बाल जब
बल खाते, धरती पर लहराते, मँडराते चेहरों पर हमा
तो उनके चुभते हुए खुरदुरे परस से
खरोंच उभरती है लाल-लाल
और हम कहते हैं कि
नैतिक अनुभूति हमें कष्ट देती है !

—एक अरूप शून्य के प्रति

वीभत्स, भयानक और विराट् बिम्बों की उपस्थिति को मुक्ति बोध के विस्तृत यथार्थ-बोध का एक प्रमाण माना ज सकता है।

पहले कहा जा चुका है कि अज्ञेय का बिम्ब-संसार दृश्यो ध्वनियों, स्पर्शों और गंधों का एक सुखपूर्ण संसार है, प मुक्तिबोध के बिम्बों में जीवन और जगत् का वैसा सुखपू रूप कम ही उभरता है। उनके यहाँ तो उसकी द्वन्द्वात्मकत ही अधिक मुखर है :

हर शब्द निज प्रतिशब्द को भी काटता
वह रूप अपने बिम्ब से भी जूझ
विकृताकार कृति है बन रहा
ध्वनि लड़ रही अपनी प्रतिध्वनि से यहाँ।

—ब्रह्मराक्षस

अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों के बिम्बों में बिलकुल अमूर् स्थितियों को एकाध मूर्त विशेषण या क्रिया के द्वारा मूर् करने की प्रवृत्ति मिलती है, शायद यह नयी कविता की ए सामान्य प्रवृत्ति हो :

अपनी धकधक में
दर्दीले फैले-फैलेपन की मिठास

—मुक्तिबोध, पता नहीं

शून्य के अवलेप का प्रस्तार

—अज्ञेय, शिशिर की राका निशा

अर्थ-हीन आकारों की यह अर्थ-हीन-तर भीड़
निरर्थकता का संकुल
निर्जल पारावार न-कारों का
यह उमड़ा आया।

—अज्ञेय, अंधकार में दीप, आँगन के पार द्वा

समग्रतः अपने काव्य-बिम्बों के आईने में ये कवि कैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई पड़ते हैं ? मुक्तिबोध एक सामाजिक चेतना-सम्पन्न आधुनिक जीवन के विभिन्न, विशेषतः वैज्ञानिक उपकरणों और इस जीवन की विभिन्न समस्याओं के प्रति सजग, पर ऐंद्रिक संवेदनाओं के प्रति अपेक्षाकृत तटस्थ-से, जीवन के आनन्दपक्ष की अपेक्षा उसकी द्वन्द्वात्मकता के प्रति अधिक सचेत कवि मालूम पड़ते हैं; तो अज्ञेय एक प्रकृति-प्रेमी, ऐंद्रिक विलासवादी, स्मृतियों और कल्पनाओं के जगत् में अधिक विचरणशील स्वच्छन्दतावादी, ऐंद्रिक संवेदनाओं की बारीकियों और सुखों के पारखी लेकिन आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक जीवन से कुछ विरक्त और साहित्यिक दृष्टि से अपेक्षाकृत परम्परावादी कवि प्रतीत होते हैं।

अन्त में हम विनम्रतापूर्वक अपने इस अध्ययन की कुछ सीमाओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चाहते हैं। पहली बात तो यह है कि एक निश्चित कसौटी के बावजूद उसे लागू करने और बिम्बों के श्रेणीकरण में कुछ मतभेद और कुछ व्यावहारिक त्रुटियों की गुंजाइश स्वाभाविक है। दूसरी यह कि यहाँ हमने इन कवियों पर केवल उनके बिम्ब-विधान के आधार पर ही विचार किया है, जबकि हम इस बारे में सजग हैं कि बिम्ब काव्य-सौंदर्य का एक उपकरण ही है, उसका पर्याय नहीं। इसलिए इस अध्ययन के निष्कर्ष इस सीमा के भीतर ही सही होने का दावा कर सकते हैं। फिर बिम्बों के अध्ययन का एक प्रमुख आयाम उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी है। पर अपनी, समय की और इस अध्ययन की मर्यादाओं के कारण हम उसे नहीं छू सके हैं, इसलिए यह अध्ययन अपने क्षेत्र में भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

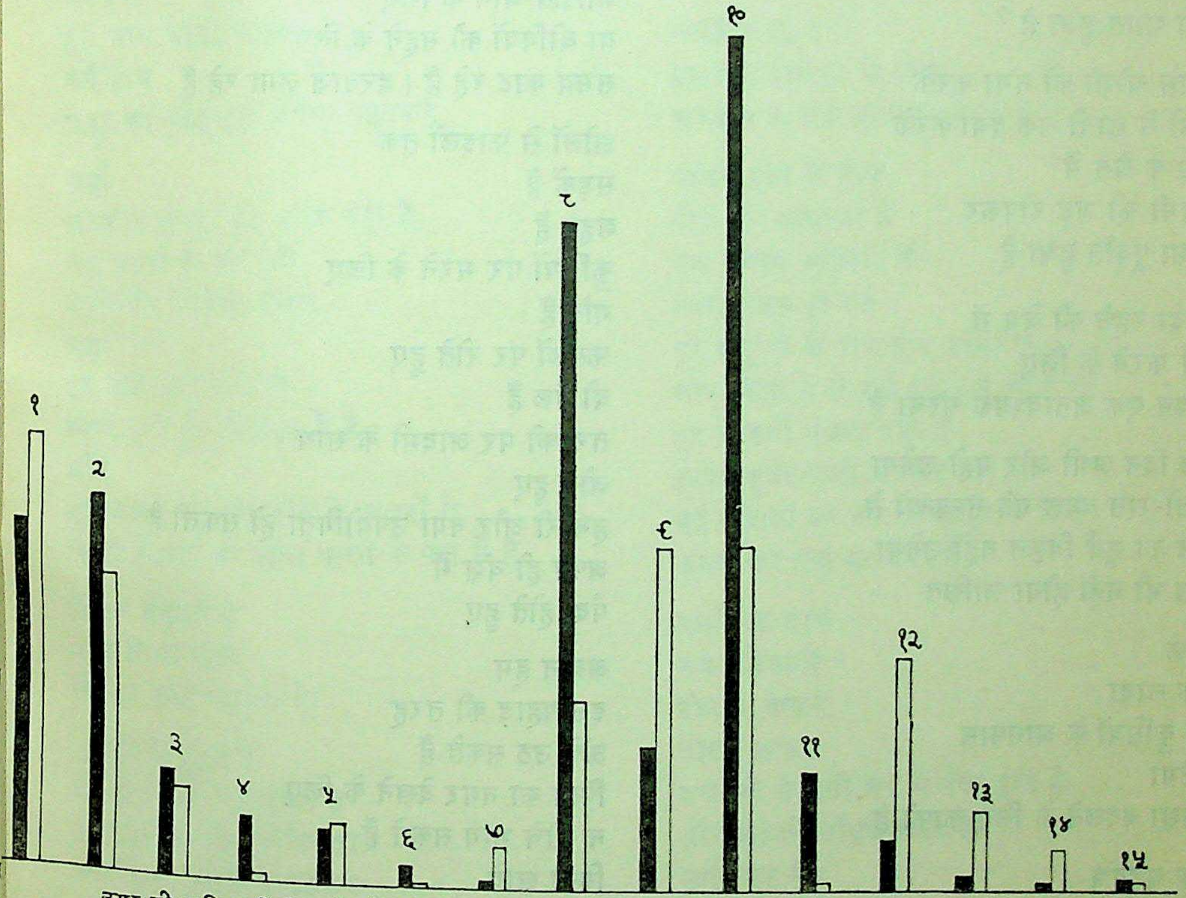

ऊपर की तालिका में जिन विषयों को तुलनात्मक दृष्टि से अंकित किया गया वे क्रमशः इस प्रकार हैं: १. प्रकृति, २. मानव-जीवन, ३. दैनिक जीवन की वस्तुएँ, ४. विज्ञान, ५. पुराण-धर्म-लोक-विश्वास, ६. साहित्य, ७. संगीत, ८. नवीन बिम्ब, ९. सक्रिय बिम्ब, १०. दृष्टि-बिम्ब, ११. रंग-बिम्ब, १२. ध्वनि-बिम्ब, १३. स्पर्श-बिम्ब, १४. गंध-बिम्ब और १५. स्वाद-बिम्ब।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस व्यवस्था में | *लीलाधर जगूड़ी*

आदमियों की इस आतंकित दिशा में
बहुत कुछ रंग की तरह उड़ गया
समय
एक और कोना बनाकर। मुड़ गया
पुराने हल्ले के सामने
नया हल्ला
कभी शान्त हुआ है ?

तमाम चीज़ों को नंगा करके
जाँघों से छाती तक दंगा करके
मांस के खेत में
आदमी की जड़ रोपकर
हमेशा पूर्वांत हुआ है

ज़िन्दा रहने की जेब में
ख़र्च करने के लिए
जीवन एक अनावश्यक संस्था है

कुछ दिन अभी और यही लगेगा
रातों-रात बदल गये सम्बन्धों से
कल का सूर्य विकृत नहीं उगेगा
कुछ भी नहीं होगा लांछित

सिर्फ़
एक लावा
जो कुर्सियों के आसपास
फूटेगा
नक्शा बदलने के लिए काफ़ी है

एक षड्यंत्र
जो देश में ही देश के लिए
किया जाएगा
मानवता का चेहरा मोड़कर
कोई भी तारीख़ ऐतिहासिक हो जाएगी
फ़िलहाल। सब्ज़ी से लौटकर
लोग फिर ख़बरें उगा रहे हैं
ऑफ़िस जाने के लिए
या बीवियों को सहने के लिए
समय क़ाट रहे हैं। दरवाज़े लगा रहे हैं

झोलों से फ़ाइलों तक
सड़कें हैं
शहर हैं
कुर्सियों पर मरने के लिए
गाँव हैं
फ़सलों पर रोते हुए
दो बैल हैं
तरक्की पर आदमी के साथ
जोते हुए
हमारी और क्या उपयोगिता हो सकती है
अपने ही वंश में
पैदा होते हुए

अब न हम
इस पहाड़ की तरह
ऊँचे उठ सकते हैं
पिता का नगर देखने के लिए
न नीचे भाग सकते हैं
बिना खाये
हम सिर्फ़ हो सकते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब-कुछ के बदले
तो पीले हो सकते हैं
या फिर उमड़ सकते हैं
भीतर से अपने कपड़ों तक

अपने-आपमें अविदित
किस विस्फोट की तरह फूट लिया जाए
इस ध्वंस में
दोपहर १२ और १ बजे के बीच
हमें पी लेना चाहिए
स्प्रिंग कसने का वक्त
इस मेज़ पर
ज़िन्दा होने का सबूत जुटाने के लिए
तनकर
हमें भाग जाना चाहिए
कई हाथ
शहर का बहिष्कृत अँधेरा पहनकर

जहाँ
सरकार जनता की नस्ल नहीं है
यह जानने के बाद भी
मरने का अभ्यास लेकर
वह
इस तर्क के संसार में
स्पष्ट होने के उपलक्ष्य में है
और
सुविधाओं के ज़ब्त होने के ख़तरों से
किसी हत्यारे को क्षमा करने के पक्ष में है

जिधर बहुमत है
मान लिया गया
कि हर कोई सहमत है

उसकी दिलचस्पी
अच्छी ख़ासी। तोहमत है
जो मान्यता और नैतिकता
यंत्र और चरित्र से उठकर
अख़बार में
युद्ध और भूख के समाचार ढूँढती है

यह जानकारी कितनी साहित्यिक है
कि चुनाव से पहले
नेता के जेब की सद्भावना
तमाम फ़ायदों से शरीर भाषा तक
हर बार। उल्टा मूँडती है

कपड़ों के नीचे छिपी हुई नैतिकता के लिए
क्या सबकी नसों में
सही घमण्ड है ?

वह इतना जानता है
कि अपराधों के अँधेरे में

बर्ख़ास्त रहकर
हथकंडा दिखाने के लिए
सभ्यता आदमी होने का दण्ड है

पागल होने के लिए
पोज़ की व्यवस्था में
इन तमाम आँधियों में
स्वाभाविक हो गई
पूरे मनुष्यों के पास एक उत्तेजना
और टोली में से छूटे हुए पशु की तरह
हर आदमी घबरा गया है
हवाएँ दुर्घटनाओं में चिर गई हैं
नई पत्तियों का रंग पहचानने के लिए
जंगल घर तक आ गया है

प्रगति के साथ
सब चलता है
रोना। गाकर
धोखा खाकर
मजबूरी से उसी घर में पैदा होते हैं
और खाँसते-खाँसते मरते हैं
उसी घर में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आख़िरी बार
एक बहुत अच्छा काम करते हैं
ऐन मौके पर
जब सारे महल्ले के बुद्धिमान लोग
रोटी खाने के बाद गुदगुदा रहे हैं

स्त्रियों की धर्महीन गारण्टी पर
राष्ट्रीयता के स्तर पर मोहर मार रहे हैं

वह सोचता है
ऊटपटाँग देश के लोग
अनुशासन और भय
कानून और प्रेम के बाबत
पुरानी किताबों का विश्वास चरते हैं

ठीक उस समय
जब पवित्र चेहरों वाले लोग
खतरनाक विचारों से भरे हुए
संस्कृति के हज़ार विनाश सुलगाकर
उसे
सम्पूर्ण मानव की तरह उड़ाना चाहते थे

उसने क्या बुरा किया
उस घर की लड़की को
माता और मादा का अन्तर समझाने के लिए
दीवार के विरुद्ध एक छेद बना दिया

उजाला हर कोण से
दाग की तरह पड़ता है
अँधेरे के अफ़सोस से बरी होकर
मुख पर। दिन
अपनी शुरुआत
थप्पड़ की तरह जड़ता है

बहुत कुछ सहा जा सकता है
हिन्दी। अंग्रेज़ी में
सारा दुःख-दर्द
कहा जा सकता है

पाँच वर्ष बाद। 'जातीय' ज़मीन पर
देशवासी हो जाना
प्रजातंत्र का मसविदा है

और हर फ़िल्म-शो के बाद
बजता हुआ राष्ट्रगान
पचास सेकण्ड की असुविधा है
अब अगर
'वह' 'मैं' और 'तुम'
एक-दूसरे की असुविधा में
गुम
साझीदार हैं। पर मालदार नहीं हैं।
तो मेरे पास एक सलाह है
जो उसके या तुम्हारे काम आ सकती है
सरकारी भाषा में
आदमी होने के लिए
मुझे तुम्हारे शोषण से यश तक पहुँचा सकती है

पशुओं के साथ जीना
निहायत ज़रूरी है—
यह ख़याल ही एक बहुत बड़ी
यातना है
लेकिन
अमर्यादित होना
फिर से सही होने के लिए
अनिवार्य प्रार्थना है

जब तुम्हारे पास
यह दरिद्र छोड़ दिया गया है
इस खम्बे और अलमारी के
सिलसिले में
तुम्हें १० से ६ के बीच
निचोड़ लिया गया है
तो तुम कुछ मत करो
तुम्हें राहत मिलेगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखो,
इस देश की हर सड़क
तिजोरी तक जाती है
और तुम्हारे लिए पोस्टकार्ड की कीमत बढ़ जाती है
चीज़ों और नामों से भरी
इन चौड़ी जगहों पर
तबीयत अचानक उखड़ने लग जाती है
तब तुम्हें हर बार यही क्यों लगता है
—मकान में और शहर में बड़ा भारी भेद है

अर्थ उगते हैं
गोया
तुमने इन्हें नहीं बोया
ज़रूर कहीं कोई छेद है
जो तुम्हारी आँख से होकर उतना नहीं
जितना तुम्हारे अण्डरवीयर
और बनियान से है
या
तुम्हारी बीवी के नाड़े और खदान से है

नौकरी के लिए पढ़कर
सिफ़ारिश से कुर्सी पर चढ़कर
इस दरमियान
मैंने जाना है
जनतंत्र में
बिल्कुल नया ज़माना है
नागरिकता पर
सबसे बड़ा रन्दा। थाना है
बीड़ी और बीवी के बीच
माचिस की तरह बजकर
कुटुमदारी निबाहते हुए
चारों ओर जो शोर है
इसका जो भी मतलब हो
इस व्यवस्था में
हर आदमी कहीं-न-कहीं चोर है

पिछले साल
मैंने नारा लगाया था
तुरन्त
दुकानदार ने
मुझे अन्दर बुलाया था
और जास्ती राशन देकर
एक सिगरेट पिलाया था
जब दीवारें उठ गई हैं
और छत पड़ गई है
तब भी क्यों लग रहा है
कि शहर के चेहरे पर दाढ़ी बढ़ गई है
लुट जाने के बाद
हालत इतनी बकवास हो गई
कि हर किसी को
आज़ादी के नाम पर
अदालत जाने की
लत पड़ गई है
आदमी की जात कहीं से भी दबोचो
ढीली पड़ गई है
मोटी दोपहर की चौड़ाई में
नाटी इमली की हर पत्ती
पीली पड़ गई है
किताबों के भीतर
नज़रों का खेल खत्म हो जाने के बाद
कुछ नहीं मिलता है
कहने को वहाँ
कहानी है
कविता है

कुछ पता नहीं चल रहा है। लड़कर
सूर्य। अपनी
किस दिशा में ढल रहा है
ज़माने के साथ-साथ
उखाड़ने के
आख़िरी औज़ार पर चढ़कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सख़्त अफ़सोस है
कुछ नहीं हो पा रहा है
न विद्रोह । न युद्ध । न शासन
कुछ नहीं मिल पा रहा है
न धन्धा । न चन्दा । न राशन

देखा
एक नयी हवा चली है
और जंगल सिर्फ़ सिर हिला रहा है
बड़ी दुविधा है

इतिहास के
शिक्षित और कुटिल तेवर के खिलाफ़
चेहरा एक सुविधा है
लेकिन वह जहाँ पर सही है
वहाँ पर नहीं है

यह सवाल बड़ा हो जाएगा
कान खाते-खाते
घर आते-आते
तुम असमर्थता के सज्जन हो
ठीक समय पर
कुछ नहीं लगा सकते
न धारा । न पेड़ । न चाँटा
डिगे हुए लोगों का दल
एक दिन तुम्हारे साथ खड़ा हो जाएगा
मैं उस दिन की प्रतीक्षा करूँगा
और हो सकेगा तो ठहरकर मरूँगा

जब कोई भी किसी से पूछता है
—आपने एक आदमी को देखा
तो किसी का भी मतलब तुमसे नहीं होता

बहादुर और खूँखार और पिद्दी
एक ही राशन से मर रहे हैं
इच्छा जब ज़िद हो गई है
संस्कृति के नाम पर
औरतों को रद्दी कर रहे हैं

मेरे साथ
आओ
तुम बहुत धुँधले पड़ गए हो
मैं तुम्हें कालेज से कॉफ़ी-हाउस तक ले जाता हूँ

जिसके बीच
रोज़ । वह । घर के कमरे में
अभिनेत्रियाँ टाँगकर
टाफ़ियाँ खाता है
लड़कियाँ लाँघकर गाना गाता है
दोस्तों में विशेष जमने के लिए
संयुक्त सरकार से गुज़रता हुआ
अपनी गली में दुबक जाता है

पिता को देवता । माँ को देवी
बहिन को चरित्र समझने के लिए
अपने बारे में चिन्तित होकर
जड़ता को

कुर्सी के सन्दर्भ में खड़ा कर देता है
और
मेज़ पर
सिर को मुकद्दमे की तरह रख देता है

बहिन छत से उतरती है
झट
बिजली जलाकर
कमरा कुतरती है
कोई भी वजह हो
अगर खिड़की से बाहर
ये पेड़
अपने प्रसंगों को घना कर देंगे
हवाओं के लिए
एक स्थिति तैयार करके
लीलाधर जगूड़ी को
अंट-संट बकने के लिए
टहनियों के रास्ते मना कर देंगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ार में फिर भी गुंजाइश रहेगी
ंगल उगाकर मरने के लिए
ौर नौकरी से नौकरी तक
ाड़ू देने के लिए

ुम इस तरह
ास तरह
कसी भी तरह
ाहीं कह सकते कि क्या होगा ?

र्तव्यों के पीछे
ुविधा विचारते हुए
ाँखों तक ऊब और व्यस्तताएँ लेकर
ींग मारते हुए
ैतिकता एक ख़लल रही है

ाब रोज़ लड़ना एक युद्ध
ेता की बंदूक से सम्भव नहीं होगा
ौजी दस्ते की तरह । अँधेरे में
क भाषा
ााइयाँ बदल रही हैं
ौर शब्दों को गोलियों की जगह भर रही है
उधर धुआँ उठना ही चाहिए
जिधर नकली नज़र रही है

हमारी आत्महत्या से पहले
टेढ़ी हड्डियोंवाले लोग
हवा धोना चाहते हैं—

दरअसल अपनी रक्षा का यह एक बहाना है
मंत्र और लड़कियाँ साँपों की नदी में छोड़कर
पिछले दिन
ग़लतफ़हमी के
गवाह होना चाहते हैं
उस रास्ते पर जहाँ से अब किसी को नहीं आना है
तुम देख सकते हो
घरों में भरे हुए पुर्ज़े

कहीं फ़िट नहीं हो पा रहे हैं
इन कभी-कभी की
सुविधाओं में
अनर्गल हो जाना
अब
सम्भव हो सकेगा रोज़ाना

मौका और धोखा लेकर
भीड़ जिधर जाएगी
मुड़ेगी
प्रसिद्ध उपस्थितियाँ
रिआयती भाषा में बोलेंगी

बस
यही एक ऐसी घड़ी है
जब बात बिगड़ जाती है
याने तुम पर
तुम्हारी अक्ल औंधी पड़ जाती है
तुम नहीं कह सकते
वे लालटेनों के पीछे छिपे हुए
अपने-अपने अँधेरे में नंगे हैं
इन दीवारों के बाहर
अथाह पानी में
लोग सिर्फ़ आन्दोलन या दंगे हैं

हाथों-हाथ
समझदार लोग
अधिकारों के बहाने
तुम्हें बाँट लेते हैं
शक और रोग
सीटी बजाते हुए
एक माहौल को चूतिया बनाकर
सूर्योदय छाँट लेते हैं

तब ग़लत क्या है
तुम देह खोदते हो
और बातें चोदते हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब अगर
तुम्हें कोई इल्म नहीं है
तो वह कोई फ़िल्म नहीं है
जो मैं तुम्हें दिखा दूँ
ठीक-ठाक दिखने की कोशिश में
सीधी बात है
जो पूरी-की-पूरी तुम्हारे हाथ है
यहाँ
अगर विनम्रता को चाल बना सकते हो
तो तुम अपनी दाल
किसी के भी बर्तन में गला सकते हो
होता ऐसा है
जो जैसा है उसी रूप में पैसा है
अगर तुम्हारे पास भी वह हो
तो तुम सारी व्यवस्था को
बूट की ठोकर से चला सकते हो

लेकिन तुम्हारे सामने फेंका हुआ
एक टुकड़ा है। जो कहीं-न-कहीं से
दया के नाम पर उखड़ा है
छोड़ी हुई जगहों पर
फोड़ी हुई चीज़ों ने तुम्हें बूढ़ा बना दिया
अब तुम कहो तो मैं तुम्हें समूचा उलट दूँ
हो सकता है
तुम्हारे पैरों पर सिर उगे
जो सब-कुछ ठीक तरह समझने लगे

तुम्हें इनका पता है
जो लोग शहर में नहीं थे
शहर में आ गये हैं
इनके आदमियों ने
इन्हें चिट्ठियाँ लिखी थीं
—ये पटरियों पर सो गये हैं
और सबने इनके चेहरों पर
व्यापार-चिह्न खोद लिये हैं

रात के एक बजे बाद
चौराहा सामने की गली में घुसना चाहता है
उस ठंडे अँधेरे में
जहाँ आदमी हैं
आदमियों की तरह दुर्घटना करते हुए
किसीको भी नहीं देखा मैंने
यहाँ। अपनी मौत मरते हुए
तुमसे किसी ने ग़लत कहा
कि मैं देश-सेवा करता हूँ
बात ऐसी है
वह बहुत दुखी है जो स्वदेशी है
यही कारण है
कि वेतन मिलते ही बहुत तेज़ी से जीता हूँ
तरीका बहुत साधारण है
बिस्तर को
रात-भर
मैदान समझकर मारता हूँ

पता नहीं मुझसे क्या ग़लती हो गयी है
आज़ादी के बाद
देशभक्ति
मेरे कंधे से सिर टिकाकर सो गयी है

अनुशासन के सारे देशी शरीर पर
खुजली की तरह
ज़बरदस्त बेकारी हो गयी है

अपनी हालत की वकालत
करते-करते
मौसम बदतमीज़ी की हद से
बाहर हो गया है
जहाँ मैं हूँ
जहाँ तुम हो
पहिये पहनकर
पद से
पहचान का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हर आदमी कायर हो गया है

जमात में भेड़ों की
जो नंगा नहीं है
और भारी है
चरित्र का प्रमाणपत्र लेकर
जो लफ़ंगा नहीं है
वह आधा सेठजी का
आधा सरकारी है

समय के सिलसिले में
तुम पूस की तरह ठंडे हो रहे हो
दूसरों की आमदनी में अंडे दे रहे हो
और यह सवाल रोज़ का है
तब यह कैसे ठीक नहीं है
ख़ून से वह पंजा बाहर कर दें
जो रोग का है
उजाले का उद्दण्ड-बोधलेकर
ख़ाली जगहों में घुसने के अलावा
यह होना या न होना
एक उत्तेजना पर निर्भर है

दरअसल
मैं खड़ा हूँ
बड़ा नहीं हूँ
तुम्हें सिर्फ़ ग़लतफ़हमी है
कि मैं अपनी हालत के साथ
कतई अलग कटड़े में हूँ
जो शहर। खेत। और विवेक।
खा रहा है
अगले आइटम की तरह
मैं भी तुम्हारे साथ उसी जबड़े में हूँ

जहाँ
एक चढ़ाता है
दूसरा उतारता है
नोट और वोट का तख़्ता
पेट से टाँग अड़ाता है

पराजय और विनाश के बीच
आदर्श एक चालाकी है
लूटने के अनुशासन में। पुलिस की तरह
सबकी वर्दी ख़ाकी है

भारत एक वर्ष है
और 'स्वतंत्र' एक दल है
'सेवक' कार पर
और 'जन' पैदल है
फिर भी लोग बहुत-कुछ सहते हैं
मैं नहीं सह सकता
अपराध मुझे जीविका देते हैं

दो साल पहले मेरे पास तौलिया नहीं था
और कहीं का। एक तुम्हारे जैसा आदमी
फुसफुसा नहीं पाया था
उसने सिर्फ़ हाथ से कहा था
मैं तुमसे कुछ नहीं छिपाऊँगा
फिर भी दबे हुए गले के नीचे
चाकू धँसाकर
उस दिन मैंने पाँच रुपया कमाया था
—मरने के बाद
आदमी को रुपयों की दरकार
नहीं रहती है
आदमी को मारते हुए
हर बार
मेरी ज़रूरत मुझसे यही कहती है

मैं कल भी झूठ बोलूँगा
अमर्यादित होना। पापमुक्ति के लिए
अनिवार्य प्रार्थना है
किसी का पीछा करता हुआ
थाने के सामने से गुज़र जाऊँगा
संगीन पुलिस किसी रंगीन अपराधी को
पकड़ती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मुझे अपने देश के दिमाग़ पर खुशी होती है
चकमेबाज़ियाँ बतायेंगी
कि प्रतिभाएँ प्रजातंत्र में अपराध करती हैं
परसों कानून की किताब के
कुछ और पेज जला दूंगा
लोकसभा के पीछे। खुद के विरुद्ध
अविश्वास प्रस्ताव रखूंगा
और पास कर दूंगा
किसी षड्यंत्र के लिए अपना निर्वाचन…

भूख के अस्पताल में
मैं नचिकेता नहीं हूँ
मुझे ज्ञान नहीं निर्वाचन ने मारा है

जीते हुए। हारे हुए
आपस में सिद्धान्त बाँटते हुए
मेरे लिए
ये उत्सव। ये लोग। पिट गये हैं
अपने ही जूते से
अनुपात में घट गये हैं
और मेरे पास प्रमाणपत्र हैं
जो मुझे प्रमाणित नहीं करते
मैं भी आखिरी नहीं हूँ
समय में धँसता हुआ
कोई भी दिन आखिरी नहीं होगा
सामान खरीदने के बाद
लोग फिर सामान खरीदेंगे
जीवन-भर चीज़ों के लिए
कुछ करते रहेंगे
नौकरी। चोरी। हत्याएँ या षड्यंत्र
अब तुम मुझे गाली दो
मैं किसी लड़की को बहुत देर तक
नहीं सह सकता

मुझे गाली दो
मेरा किसी व्यापार में हिस्सा नहीं है
और आँसू नहीं आते हैं
किसी बुजुर्ग को पिता
किसी औरत को माँ नहीं कह सकता
सब स्वाद बदलना चाहते हैं

मुझे गाली दो
मैं कठिन भाषा नहीं बोल सकता
और कविता की मौत मुझे चिंतित नहीं करती

इतना जानता हूँ
टामा पिलाना मानवीय है
और—भूखा हूँ—
यह सबसे अधिक राष्ट्रीय है

अब भी अगर तुम नहीं चाहते हो
कि मैं तुम्हें समूचा उलट दूँ
याने बातों-ही-बातों में निबट लूँ
तो फिर आओ
तमाम चीज़ों के विरुद्ध प्रार्थना-पत्र लिखें
और प्रमाणपत्र दिखा-दिखाकर बिकें
क्योंकि ज़्यादा लोग
पीठ पर पेट ढो रहे हैं
सुबह से शाम तक
ज्योंही परिस्थिति भूख जोतती है
सारी शक्ति
फटाक से दिमाग़ में वेतन बोती है

वह मकान
जिसका द्वार आँगन के पार खुलता है
गेहूँ के बोरों से चिन दिया गया है
लोकसभा से संयुक्तराष्ट्र संघ तक
हमारी कोई उपयोगिता नहीं
विश्वयोनि में बहुत दिन तक
हम चरित्र की तरह नहीं खुजला सकते

पत्थर लुढ़काने के बाद
जंगल की आतुरता देखते हुए
क्या तुम्हारा इन नगरों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी नाक की सीध पर
तोड़ने का इरादा बन गया है
तो नुकसान से दोस्ती गाँठें
जो भीतर-ही-भीतर
कुतरता
सबके करीब पहुँच गया है
हमारी ओर आनेवाली नदी से
जो समझौता कर चुके हैं
वे नेहरू को अठन्नी पर छाप रहे हैं
और देश को दौरे से नाप रहे हैं

सब-कुछ के बाद
एक ग़लत ज़िक्र की तरह
हमारा होना। हम बच्चे पड़ गये हैं

कानून की जड़ बटुए में लेकर
ये शेष लोग
इस सारी व्यवस्था के साथ सच्चे पड़ गये हैं

सारे समाज को ख़बर की तरह फैलाकर
फंदे और धंधे लेकर
दुनिया रहने काबिल नहीं रही

युद्ध में
समुद्र और आसमान दोनों खो गये हैं
और शेष दृश्यों के सभी पात्र
घरवाले दृश्य में शामिल हो गये हैं
सचमुच यह दुनिया रहने काबिल नहीं रही
रात। घिसने के लिए
कमरों समेत
आदमी जीवन-भर मरता है
किराये पर
इस सारी व्यवस्था को सच करता है

कुछ और शक पैदा करें
ग़लती और क्षमा खोटी है
जेब से आँखों में
उतर गये। ठंड के समुदाय
कुछ उपाय करो
बड़ी चीज़ रोटी है

यहाँ ख़ाली नहीं होना चाहिए
यह भी एक दर्जा है
ग़रीबी का
आदमी पर सबसे बड़ा कर्ज़ा है
दुनिया की पीठ पर
शर्त के रूप में बँधा हुआ
कानून
रँगे हाथों पकड़ा गया
तमाशा है
चीज़ों की व्यवस्था में
तुम्हारा इस तरह ग़ायब हो जाना
मेरे लिखने की भाषा है

हर बार
तुम्हें खोजने की कोशिश में
लापता हो जाता हूँ
और संशय की भाषा में बड़बड़ाता हूँ
जो न क्रान्ति होता है
न नज़रिया न विचार…

सूचना विभाग के हर पोस्टर पर
खुशहाली है। चारों ओर
कंगाली के पास। आटा नहीं
गाली है
और जिस पर कोई नहीं
खाना चाहता
आज़ादी एक जूठी थाली है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज की कविता का व्याकरण : कुछ संकेत-सूत्र

काशीनाथ सिंह

आज से सौ वर्ष पहले भारतेन्दु के ज़माने में साहित्य की भाषा जनजीवन के सम्पर्क में आई। किताब और पत्रिका की भाषा ने अपनी शक्ति की खोज लोकभाषा में की। कालान्तर में युग ने अपने को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित करना आरम्भ किया तो साहित्यिक भाषा ने भी आधार और स्रोत के रूप में संस्कृत को चुना। फिर तो भारतेन्दु की भाषा सुसंस्कृतों के मध्य आई और मध्यवर्ग के दायरे में फँसती चली गई। मध्यवर्गीय कवियों-लेखकों की ओर से भाषा को अधिक-से-अधिक साहित्यिक बनाने की चेष्टा हुई और वह लोक से अलग जा पड़ी।

आज़ादी के बाद हमारी आँखों के सामने जब नंगा, भूखा और बेहाल देश आया तो हमने कोशिश की कि घर के अन्दर भले ही फटी बनियान और निकर में रहें; बाहर साफ़-सुथरे कपड़ों में निकलें। अन्दर सूखी रोटी तोड़ें लेकिन बाहर शालीनता के साथ किसी अच्छे रेस्तराँ में बैठें। यहीं से बनियान के ऊपर कुर्ता और उसके ऊपर जाकिट अथवा बनियान के ऊपर कमीज़, उसके ऊपर टाई और उसके ऊपर कोट फिर ओवरकोट का चढ़ना शुरू हुआ। हड्डियों का ढाँचा रंग-बिरंगे कपड़ों में ढँक गया। वस्तु छिप गई और विशेषण उजागर हो गया। **कांग्रेस सरकार के दस-पन्द्रह साल साहित्यिक भाषा के इतिहास में विशेषणों के साल रहे हैं।** हमें जब भी किसी बाहरी अतिथि को दिखाना हुआ, हमने भाखड़ा-नंगल, दामोदर घाटी, दुर्गापुर, भिलाई, ताजमहल, लालकिला, अजन्ता, एलोरा, मीनाक्षी मन्दिर दिखाया, लेकिन पनारू का घर आँखों से परे रखा। हमने तरक्की की और भूखे रहे। एक तरह से यह सचाई को **योजनाबद्ध ढंग** से भारी-भरकम विशेषणों और नारों से ढँकने की साज़िश रही है।

विशेषणों के प्रयोग के दो स्तर होते हैं; एक तो वस्तु को सही सन्दर्भ देने या उसकी अहमियत को और तीखा बनाने के लिए, दूसरा वस्तु की हीनता या रहितता की ओर दृष्टि न जाने देने के लिए। यदि आज़ादी के आरम्भिक दस-पन्द्रह साल की कविता में विशेषणों का धुआँधार प्रयोग हुआ तो स्पष्ट है कि उसका मकसद प्रयोग के दूसरे स्तर से था। चूँकि संज्ञाओं का महत्त्व खत्म हो रहा था, शब्द घिसकर क्षीण हो रहे थे, इसलिए उन्हें महत्त्वपूर्ण और वज़नी बनाने के इरादे से विशेषणों का इस्तेमाल बड़े व्यापक पैमाने पर चल पड़ा।

अज्ञेय को छायावाद का आखिरी कवि और मुक्तिबोध को अपवाद मान लेने के बाद "भाषा की दृष्टि से नई कविता गूँजहीन शब्दों का घना अन्धकार" है। शब्दों की गूंज ही उसका अर्थ होता है। ये कविताएँ अर्थ के स्तर पर विपन्न हैं। जैसे, 'हल्के फीरोज़ी रंग की चूड़ियों का साया', 'धानिया चूनर में लिपटी तुम्हारी काया' (लक्ष्मीकान्त वर्मा), 'करोड़ों वायवी अनुभूतियों का निचुड़ता सागर', 'मृदुल संख्यातीत लच्छोंभरा बादल' (साही), 'किरण-वल्गा', 'विहग उड़ते अश्व', 'तारों की अन्ध गलियाँ' (कुँवर नारायण), 'विवेक का पीले सान्ध्य फूलों वाला पेपरवेट' (सर्वेश्वर), 'फेन का शिरस्त्राण', 'सिवार का कवच', 'निर्जीव मछलियों के धनुष', 'लहरों का नीला अवगुंठन' (भारती), 'टिकुली की कसक', 'सपनों के अक्षर', 'ओठों की लाली के गीत', 'लोरी की कलियाँ' (मलयज) आदि। ज़रा ग़ौर से देखिए तो कविता के ये तरल और लच्छेदार मुहावरे या तो संज्ञाशेष विशेषणों के दलदल हैं या उपमा और रूपकों के बहाने वस्तुओं की सत्ता के इनकार के नखरे। जिस प्रकार विशेषणों का प्रयोग वस्तु के अस्तित्व को ठेस पहुँचाता है, उसकी अहमियत पर पर्दा डालता है, उसी प्रकार उपमा और रूपक भी सही वस्तु को हटाकर उसके स्थान पर दूसरी बाहर की वस्तु को ला खड़ा करते हैं। परिणाम यह होता है कि वस्तु या यथार्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी जगह अदृश्य हो जाता है और कविता के ये मुहावरे एक खास किस्म का रूमानी वातावरण पैदा करके अपने दायित्व से मुक्ति पा लेते हैं।

नई कविता की भूमिका की कविता में ज्यादातर इसी प्रकार के शब्दों, विशेषणों और मुहावरों के जाल हैं जो सरलता से पाठक को वस्तुगत यथार्थ के समीप नहीं जाने देते।

यदि हम विशेषणों की प्रकृति पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि भाषा के अधिकांश विशेषण **औरत** और **प्रकृति** के साहचर्य के परिणाम हैं। अगर औरत है तो पृष्ठभूमि में प्रकृति का होना ज़रूरी है वैसे ही जैसे बगल में प्रेमिका हो तो आसमान ज़रूरी है, बादल ज़रूरी है, चाँद, तारे, नदी, झरने, फूल, पत्ते, पार्क—सब ज़रूरी है। 'बाँहों का यह कत्थई फूल, गोरी-गोरी बाँहों पर बेहद फबता है' में फूल के पहले 'कत्थई' और बाँहों के पहले 'गोरी-गोरी' या साँवली-साँवली। इन्हीं के इर्द-गिर्द विशेषण पनपते भी हैं—हिन्दी का रीतिकाल इस तथ्य का गवाह है। चूंकि हमारे सारे विशेषण इन्हीं के आसपास मँडराते हैं, इसलिए स्वभावतः औरत और प्रकृति का प्रेम कवि को विशेषण-प्रेम की ओर ले जाता है।

इस तरह नई कविता व्यवस्थित ज़िन्दगी की रूमानी दृष्टि की कविता है। उदाहरण के लिए भारती की कविता के बोल हैं—

शब्द···शब्द···शब्द
मेरे लिए सब अर्थहीन है
यदि वे मेरे पास बैठकर मेरे रूखे कुन्तलों में उँगलियाँ
उलझाए हुए
तुम्हारे काँपते अधरों से नहीं निकलते।

'इससे शब्दों के अर्थहीन रह जाने का रहस्य खुलता है। शब्द सार्थक तभी होंगे जब किसी के पास बैठकर रूखे कुन्तलों में उँगलियाँ उलझाए हुए कवि कविता लिखे। और इसमें सन्देह नहीं कि इन कवियों की कविताओं की भाषा वहीं जीवन्त भी है जहाँ ये कुन्तलों, पुतलियों, बरौनियों, कन्धों, होठों, कपोलों, बाहुओं, उरोजों, उरुओं, पिंडलियों, एड़ियों और तलवों के आसपास होती है। यहाँ तक कि कवि जब गोरे अंगों की भाषा को भूल जाना चाहता है तो उसे कचोट भी उसी भाषा में होती है—

१. मेरी वाणी
················
भूल गई गोरे अंगों को
फूलों के वसनों में कसना। (भारती)

२. लगा कि
सिरहाने बैठीं तुम
मेरे उलझे बालों को
कोमल-कोमल सुलझाती हो। (अजित कुमार)

रचना के ऐसे क्षणों में चित्रण के विशेषण भी सुलझे हुए होते हैं।

भाषा-स्तर पर सौन्दर्य-चित्रण में जो भूमिका विशेषण निभाते हैं उससे कम महत्त्वपूर्ण भूमिका अनिश्चयवाचक सर्वनाम नहीं निभाते। ये अनिश्चयवाचक सर्वनाम छायावाद के प्रश्नवाचक सर्वनाम ('क्यों' 'कहाँ' 'कैसे') के स्थानापन्न हैं। ये व्यक्तिवाचक संज्ञा की अनुपस्थिति में कवि के लिए आत्मरति का सुख देते हैं और विशेषणों के समानान्तर 'कोई' 'किसी' 'कुछ' के धारावाहिक प्रयोग सामाजिक जीवन में आत्मरक्षा के उपकरण का कार्य करते हैं। इनके प्रयोग से जवाबदेही से मुक्त भी हुआ जा सकता है और कविता को रूमानी भी बनाया जा सकता है। इनके अतिरिक्त 'जाने' 'अनजाने' 'क्या जाने' 'न जाने' जैसे क्रियाविशेषणों के अधि-संख्यक प्रयोग भी अनिश्चयवाचक सर्वनामों के क्रम में जहाँ एक ओर लुभावने हैं वहीं दूसरी ओर अतीत के प्रति आश्वस्त और भविष्य के प्रति आशावान बनाते हैं।

इन सर्वनामों और क्रियाविशेषणों की खपत नए कवियों की कविताओं में अब तक हो रही है।

एक तरह से नई कविता की परिभाषा रही है **सचाई पर पर्दा डालते हुए भाषा में भाग खड़ा होना**। सही बात को छिपाना कविता रहा है और इस छिपने में सबसे अधिक मदद विशेषणों के झाड़-झंखाड़ से मिली है। सच कहिए तो सन् '६० ई० तक कवि अपने कथ्य की कमी और कायरता को शब्दों के जौहर से पूरा करते रहे हैं, जबकि इन्हीं कवियों के मसीहा स्टीफ़ेन स्पेंडर कह चुके हैं कि कविता साधारण भाषा में न कहे जा सकने वाले अनुभवों की आसान और सीधी भाषा है। लेकिन कहाँ एक ओर स्पेंडर की यह परिभाषा और दूसरी ओर जगदीश गुप्त का यह रीतिकालीन लाक्षणिक उद्‌गार—

दूरवीक्षण यंत्र से भी देखने पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुतलियों के अतल तम में
आँख के तारे न दीखें।

मगर जब अनुभव की प्रक्रिया ही टेढ़ी हो तो भाषा कैसे सीधी हो सकती है ? वैसे यह भी है कि भाषा की यह शाह-खर्ची साहित्य में जीवन की व्यवस्था से आती है।

'नई कविता' के कवियों की संवेदना ने अपने लिए एक बड़ी ही धूर्त और बातूनी भाषा की रचना की है जो एक ओर तो अपनी प्रकृति में सर्वहारा वर्ग की ज़बान से मेल खाती है और दूसरी ओर स्थिति की सफ़ाई के लिए सेठों के घरों की मुहताज रहती है। वह रोज़मर्रा की ठोस चीज़ों को धुएँ की लकीरों में बदल देती है और चीज़ों की अपनी शख़्सियत को मिटाकर उनमें घपला पैदा कर देती है। नतीजा यह होता है कि चीज़ों का फ़र्क मिट जाता है और शब्द अर्थच्युत होकर वस्तुस्थिति को धुँधला बना देते हैं। 'फ़र्क नहीं पड़ता' कविता में केदार ने इसी भाषा की ओर संकेत किया है—

तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'
वहाँ लिख दो 'सड़क'
फ़र्क नहीं पड़ता।

सब जानते हैं कि 'प्यार' और 'सड़क' दो चीज़ें हैं, बग़ल में बैठे हुए दोस्तों के चेहरे अफ़्रीका की धुँधली नदियों के छोर नहीं होते और न सेठ मज़दूर होते हैं, लेकिन नए कवियों ने भाषा के जिस समाजवाद से चीज़ों के चेहरों का भेद मिटाया है वह किताब के पन्नों से दुनिया देखने का परिणाम है। ऐसे लोगों के बारे में गोर्की का एक पात्र ('तीन पीढ़ी') मिरोन कहता है कि वे गाय और घोड़े में फ़र्क नहीं बता सकते। इस-लिए नहीं बता सकते कि वे इनकी या चीज़ों की पहचान कविता के क्रम में देखते हैं।

जो हो, भाषा का यह समाजवाद नए कवि को हाथीदाँत के कल्पित मीनारों से तो निकाल लेता है लेकिन उसे सेठ की तिजोरियों के पास जा बिठाता है। उसकी भाषा तो जन-साधारण की रहती है, लेकिन बिम्ब, चित्र, उपमाएँ सम्पन्न और अमीर घरानों के। जिस तरह उसे सूर्य व्यापारी नज़र आता है : 'बादल के पाल तान, दिन के व्यापार बाद/जाता था दूर देश, लाखों के माल लाद'—कुँवर नारायण। उसी तरह चाँद सिंधोरा:सलमे सितारों के काम वाली/नीली मख़-मल का खोल चढ़ा/अम्बर का बड़ा सिंधोरा'—सर्वेश्वर; और चाँदनी स्कार्फ़ (सर्वेश्वर) या रुपया (अजितकुमार) जिसमें चमक है, पर खनक ग़ायब है। यही नहीं, नई कविताओं 'जार्जेट की साड़ी, 'जूड़े के फूल', 'नकली बाल', 'नेल पालि 'लिपस्टिक', 'सिंगारदान', 'सिल्केन ब्रेसियर्स', 'रूज़', विण्डो', 'फ़ैशन परेड' बिखरे पड़े हैं।

दरअसल इन वस्तुओं की ओर नये कवि का आक अज्ञेय की परम्परा से प्राप्त बौद्धिक आभिजात्य की देन कभी-कभी तो उसकी कविता में इस बौद्धिक आभिजात्य पूरी तरह न निभा सकने के दर्द का आभास मिल जाता उदाहरण के लिए, 'नहीं रहा वह रवि, जिसे होना चा था/···मुझे पैदा होना था अमीर घराने में (श्रीकांत व मुझे कुछ और करना था / पर मैं कुछ और कर रहा हूँ (वीर सहाय), लेकिन अक्सर पाठक उसकी भाषा के धोखे आ जाता है और कवि को अपने बीच का आदमी म बैठता है।

सच पूछिए तो नए कवि में बौद्धिक आभिजात्य परम की देन है लेकिन उसकी संवेदनाओं का स्रोत उसका नि कार्यक्षेत्र है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए वि कुमार अग्रवाल ने नए कवि को क्लर्क या शिक्षक की म वृत्ति का कवि कहा है। उसकी कविताओं में जहाँ 'दिनच की शुरुआत 'टाइपराइटर' से होती है, वहीं रात का आसम भी पिनकुशन जैसा नज़र आता है—

सुबह होते-होते
आकाश की नीली पिनकुशन ख़ाली थी।
तारों की एक-एक आलपीन चुक गई थी। (सर्वेश्वर)

एक बाबू की हीन-भावना का जितना बोध नए कवि बिम्बों-चित्रों से नहीं होता, उससे कहीं ज़्यादा उसके अ स्थित सम्बोधनों से होता है। जैसे; 'दर्द के इस महासाग कहो, मेरे सामने न चीखे। (क्योंकि मैं दफ़्तर की फ़ाइलों व्यस्त हूँ।) चुप रहो हाँ, चुप रहो। (सर्वेश्वर) आने ये मुझसे मिलने आए हैं। (रघुबीर सहाय) यह किससे क जा रहा है ? क्या यह छायावाद की सम्बोधित संज्ञा पेड़, न निर्झर, धूप, विहग, लहर, तारे या छाया है ? जाहिर है कवि ने अपने अहं को टेक देने के लिए किसी ऐसे व्यक्ति चुना है जिसका सम्बन्ध दफ़्तर की दुनिया से है !

आज की कविता की तरह यह सम्बोधित संज्ञा क वृहत्तर वर्ग या जनसमुदाय नहीं, बल्कि नौकर या चपरा नुमा व्यक्ति है जो स्तर भी दृष्टि से कवि की तुलना में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही नहीं, उसके अधीन है। 'नई कविता' की रचना इसी 'आभिजात्य' और 'हीन भावना' के बीच होती रही है। इसीलिए सम्बोधन के एक छोर पर कोई अज्ञात 'पिता' या 'प्रभु' हैं, तो दूसरे छोर पर अनुपस्थित 'सेवक'।

असल में बाहरी समस्याओं के दबाव के कारण कवि को जहाँ साहस के साथ उनका सामना करना चाहिए था वहाँ उसने उनसे संघर्ष करने की बजाय अपने ही घर की चारदीवारी में मुसकराते हुए 'देशनिकाला' स्वीकार किया। यहाँ तक भी ठीक था लेकिन उस दबाव में अनुभूत संवेदनाओं के सम्पूर्ण दायरे के अनुकलन के लिए जिस सजग भाषा की ज़रूरत थी उसकी भी उपेक्षा कर उसने या तो परम्परित बिम्बों को संशोधन के साथ अपना लिया या चालाकी के साथ 'कविता' दिया यानी सुविधाजनक 'शार्टकट' अख्तियार कर लिया।

अपने युग के सर्वांगीण मानवीय विघटन का मुकावला करने के लिए जिस संगठित शब्द-शक्ति की आवश्यकता होती है, वह 'नई कविता' में नहीं दीखती। नए कवियों में कुछ ने एक वस्तु-स्थिति का सामना न कर सकने के कारण उसके एवज़ में दूसरा स्थानापन्न तलाश लिया और कुछ भाषा के साथ खेलने लगे। पहली स्थिति केदार और कुँवर नारायण के साथ है और दूसरी रघुबीर सहाय, श्रीकान्त और सर्वेश्वर के साथ।

अ. १. धूप चुपचाप एक कुर्सी पर बैठी
किरणों के ऊन का स्वेटर बुनती रही।
(कुँवर नारायण)

२. ओसभरे, कँपते गुलाब की टहनी पर
तितली के पंखों सी सटी हुई
धूप। (केदारनाथसिंह)

आ. १. शान्ति दो, शान्ति दो
चाहे वह कान्ति की बहन ही क्यों न हो?
और वह नहीं दो तो कान्ति ही दो
फिर चाहे शान्ति भी दे देना / (रघुबीर सहाय)

२. मैं हरेक पहाड़ / ढो रहा हूँ / मैं सुखी / हो रहा
हूँ / मैं दुखी / हो रहा हूँ / मैं सुखी दुखी होकर /
दुखी सुखी / हो रहा हूँ। (श्रीकांत वर्मा)

सब मिलाकर 'नई कविता' सर्वेश्वर के उस 'थर्मस' की तरह है जिसके—

बाहर तो महज़ शोख भड़कीला रंग है
सामर्थ्य का प्रदर्शन है, बेलौस काया है
भीतर असहाय रिक्तता है
शून्य है, निर्वात है।

'नई कविता' की भाषा का यह भ्रम युवा कवियों के आगे धीरे-धीरे टूटने लगा, क्योंकि कांग्रेस अपनी योजनाओं, आश्वासनों और कार्यों को लच्छेदार भाषणों में छिपा नहीं सकी। लोगों का उनके भाषणों पर से विश्वास उठता गया, क्योंकि सचाई मवाद की तरह शब्दों को फोड़कर बाहर बहने लगी।

संयोग ही कहिए कि इसी समय देश पर चीन का आक्रमण हुआ। असल में वह आक्रमण देश की जनता या जवानों के विरुद्ध नहीं; देश के नेताओं के नारों, शब्दों और विशेषणों के विरुद्ध था। चीन की पूरी लड़ाई हमारे जीवन में व्याप्त उस झूठी, नकली और घटाटोप भाषा के ख़िलाफ़ थी जो हमें अपनी जगह और दुनिया के सामने ग़लत ढंग से रख रही थी। चीनी सैनिकों ने इन्हीं शब्दों के उछलते समारोह को अपनी गोलियों से छिन्न-भिन्न कर दिया।

वास्तव में इस आक्रमण का कविता या कहानी पर सीधा कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि यह सीमा की लड़ाई थी। यह लड़ाई देश के अन्दर सिर्फ़ चन्दा होकर आई थी। लेकिन इतना हुआ कि लोगों की दिलचस्पी देश में बढ़ गई। जिस रेडियो का अर्थ लोगों के लिए 'सीलोन' था, वह कुछ ही दिनों के लिए सही, लेकिन 'ऑल इंडिया रेडियो' हो गया।...लोगों ने सुना कि हमारी फ़ौजें बड़ी बहादुरी से पीछे हट रही हैं। उन्हें कोई खुशी नहीं हुई क्योंकि 'विशेषण' (बड़ी बहादुरी) के नकली चेहरे से ज़्यादा सच और कड़वी क्रिया (पीछे हटना) थी। उन्होंने पहली बार महसूस किया कि उनका धड़ उन्हीं के पैरों पर है। अपना सलीब उन्हें खुद ढोना है (ध्यान देने की बात है कि उन दिनों कहानियों और कवियों में बड़े भोंडे और भयानक रूप में 'सलीब के प्रतीक का इस्तेमाल आरम्भ हुआ था।)

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि नेताओं का देश उनका अपना देश है और देश में दिलचस्पी का अर्थ है अपने में दिलचस्पी, अपने बच्चे, माँ, भाई, बहन, पिता, पत्नी यानी पड़ोस में दिलचस्पी। दिल चस्पी का मतलब प्यार भी हो सकता है और नफ़रत भी; लेकिन यह प्यार या नफ़रत किसी बाहरी और ग़ैर आदमी का मनोविकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं, बल्कि उस व्यक्ति का 'अस्तित्व' है जो हर माने में परिवार और बाज़ार का अनिवार्य हिस्सेदार है। इस दृष्टि से आज की कहानी या कविता एक आत्मीय व्यक्ति के प्यार या और नफरत का सही चेहरा है।

इस दिलचस्पी—जिसे आलोचना की भाषा में 'चेतना' भी कह सकते हैं—का निकटतम सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी ज़रूरतों से है जिन्होंने इसे जन्म दिया है। ज़रूरतें हर बार उसे पड़ोस (भले ही वह पत्नी क्यों न हो) और बनिए की दुकान के आगे खड़ा कर देती हैं। ऐसी स्थिति में उसके लिए न तो उस या इस हाहाहूती नगरी में अकेला होने का सवाल उठता है और न अपनी ज़रूरतों के प्रति निर्लिप्त या तटस्थ होने का। वह समझ गया है कि तटस्थ होने का अर्थ है निर्जीव होना और तटस्थ केवल पेड़ हो सकता है क्योंकि उसे कभी राशन के लिए बनिए की दुकान पर नहीं जाना पड़ता।

आज की कहानी या कविता इसी शामिल व्यक्ति की ज़रूरतों की कहानी या कविता है। कहने का मतलब यह नहीं कि साहित्य के भीतर परिवर्तन की यह प्रक्रिया चीनी हमले के बाद आरंभ होती है। वह हमला सिर्फ़ इस प्रक्रिया की पहचान को पुख़्ता करता है, विश्वस्त बनाता है। असल में यह पहचान तभी आरंभ हो गई थी जब लेखक पर ख़ुद का रहस्य खुलने लगा था। निःसन्देह कहानी में यह पहचान पहले आई क्योंकि कहानी आदमी की असलियत और ज़बान के सीधे सम्पर्क में थी। कविता में थोड़ी देर से आई क्योंकि कविता और आदमी के बीच अब भी भाषा थी और 'नई कविता' इस भाषा पर इतमीनान से बैठ गई थी।

आज के कवि ने जब अपनी ज़रूरतों का सामना किया तो स्पष्ट रूप से कविता में दो परिवर्तन नज़र आए: एक तो कविता में आक्रोश का स्वर दिखाई पड़ा, दूसरे कविता नंगी हुई।

आज की कविता में आक्रोश का स्वर इसलिए आया कि कवि पहली बार उपेक्षित समस्याओं और अपनी ज़रूरतों के सामने खड़ा हुआ। समस्याएँ पहले भी थीं लेकिन कविता उनके बाहर थी। या तो नए कवि में उनका सामना करने का साहस नहीं था या फिर ख़तरा था। ख़तरा मोल लेने की अपेक्षा सुविधा का भोग करना उनके निस्बत ज़्यादा मुफ़ीद था। वे समस्याओं को झेलते थे और सत्य का भोग लगाते थे। और जहाँ सचाई को झेलने के सिवा कोई चारा नहीं होता, वहाँ अपनी स्थिति पर दुखी होने के सिवा और कोई रास्ता भी नहीं होता। रघुवीर सहाय की कविता है—'शक्ति दो, बल दो, हे पिता / जब दुख के भार से मन थकने आय।' श्रीकांत ने तो साफ़-साफ़ लिखा है कि 'मेरी कविता में / सन्ताप है / शोक है।' उनकी कविता में यह शोक कम-से-कम यहाँ तुक की टोक नहीं है क्योंकि इसके आगे-पीछे कहीं भी 'कोक' या 'श्लोक' नहीं है।

आज की कविता का यह आक्रोश नई कविता के शोक, सन्ताप, दुख से कहीं ज़्यादा सच, ईमानदार और क्रियापरक है। यह आक्रोश उस शोक और सन्ताप के ही ख़िलाफ़ नहीं जो देश का वृहत्तर वर्ग झेल रहा है, बल्कि उस गुस्से के भी ख़िलाफ़ है जो पूँजीवादी दिमाग़ में एक निश्चित शक्ल धारण कर चुका है। क्योंकि वह जानता है कि—'यह सारा जोश / यह सारी 'ऊब / यह सारा रोष / उसके लिए केवल तमाशा है।' (धूमिल)

सरसरी तौर पर देखने से यह आक्रोश समकालीन सामाजिक परिवेश में लिखी आज की सभी कविताधाराओं में एक जैसा दिखेगा, किन्तु व्यंजना ही नहीं; रचना के स्तर पर भी उसके सही रूप को आसानी से अलगाया जा सकता है। भूखी पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी वग़ैरह की कविताओं में आक्रोश उस औरत के गुस्से की तरह है जो कुछ न कर सकने की असमर्थता में या तो अपना ही माथा दीवार पर पटकने लगती है या साड़ी, ब्लाउज़, चोली, साया खोलकर फेंकना शुरू कर देती है और रोने लगती है। गुस्से की यह भी एक क्रियात्मक शक्ल होती है, लेकिन इसे रचनात्मक कतई नहीं कहा जा सकता। आज की युवा-कविता में यदि 'चीज़ों को नए सिरे से बदलने की बेचैनी है, रोष है, तो लोगों की ऊब को सही आकार देने की आकांक्षा और उत्साह भी है—

अब वक्त आ गया है कि तुम उठो
और अपनी ऊब को आकार दो। (धूमिल)
कुछ हो कि रंग बदले
सुफ़ेद मुर्दनी का। (गिरिधर राठी)

आक्रोश क्यों और कहाँ से आता है? इससे सभी परिचित हैं। आचार्य शुक्ल लिख गए हैं कि 'क्रोध दुख के चेतन कारण के साक्षात्कार या परिज्ञान से होता है।' यह तो नहीं कहा जा सकता कि नये कवि ने दुख के चेतन कारण का साक्षात्कार नहीं किया था। लेकिन यह तय है कि उसमें सब-कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकस्मात बदल जाने की आत्मपीड़क प्रतीक्षा थी। [प्रतीक्षा या 'इन्तज़ार' का यह स्वर 'नई कहानी' में काफ़ी मुखर है।] उसकी आँखों के आगे सब-कुछ घटित हो रहा था लेकिन वह 'बीच' में नहीं पड़ना चाहता था। वह उस ओर से निःसंग और तटस्थ था। ['स्वाधीन कवि'—रघुवीर सहाय] इस दृष्टि से कोई कहना चाहे तो 'नई कविता' को बहुत-कुछ एक उपराम और बाहरी व्यक्ति की मनःस्थिति की कविता कह सकता है। जब कोई भी अपने को बाहरी और निःसंग समझेगा तो ज़ाहिर है कि उसके आगे का 'घटित' उसके लिए व्यर्थ और बेमानी होगा—"बेमानी लगती है अब / किसी भी मानी की खोज।" (कुँवर नारायण) या "मनुष्य वकील हो, नेता हो, सन्त हो, मवाली हो / किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता" / (श्रीकान्त वर्मा) केदार ने तो स्पष्ट लिखा है—

बहस किस बात पर हो रही है
यह जानना व्यर्थ है।

इसके समानान्तर आज की कविता उस व्यक्ति की कविता है जो उस 'घटित' को भी जानता है और उसके कारण को भी। वह आज की हर 'बहस' को अपने से जोड़कर देखता है क्योंकि वह बहस की पृष्ठभूमि में खड़े लोगों को पहचानता है—

चन्द चालाक लोगों ने
बहस के लिए / भूख की जगह
भाषा को रख दिया है। (धूमिल)

आज दुख के चेतन कारण के / परिज्ञान का सबसे अधिक प्रामाणिक सूत्र राजनीति का जीवित सन्दर्भ है और युवा लेखन के विषय में यह स्वीकार किया जा चुका है कि उसके लिए राजनीति "आज की सबसे गत्यात्मक, प्रत्यक्ष और क्रूरतम वास्तविकता" है। यह वास्तविकता नए कवियों के लिए पृष्ठभूमि थी, क्योंकि उनकी नागरिकता के रास्ते में नहीं आई थी। और आई भी थी तो नागरिकता और संविधान का सम्बन्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के स्तर पर ठीक-ठीक व्याख्यायित नहीं हो सका था। पिछले वर्षों में इस व्याख्या के अनेक अवसर आए और जैसे-जैसे भूख और पी० एल० ४८० और देश के कर्णधार दिमाग़ों के बीच के रिश्ते साफ़ होते गए, आज की कविता की बुनियाद दृढ होती गई। यही वजह है कि इनमें से अधिकांश कविताएँ आरंभ तो कवि के अपने दायरे—विस्तर, घर, पड़ोस, बाज़ार, दफ़्तर—से होती हैं लेकिन रोज़मर्रा की समस्याओं के बीच से गुज़रते हुए उन सन्दर्भ-सूत्रों तक चली जाती हैं जो संविधान की आड़ में सक्रिय हैं। हिन्दी कविता में इधर जो जनतंत्र, लोकतंत्र, प्रजातंत्र, स्वाधीनता, जनता, नागरिकता, समाजवाद, राजनीति जैसे शब्दों को नए सिरे से परिभाषित करने की तत्परता दिखाई पड़ती है, वह इसी 'वास्तविकता' के साक्षात्कार का परिणाम है।

जब ये कविताएँ अपने विरुद्ध चल रहे अमानवीय भयानक षड्यन्त्र को बार-बार तोड़ना चाहती हैं और रचनात्मक स्तर पर निरन्तर तोड़ते रहने के क्रम में ही स्वयं को निर्मित करती चलती हैं, तो कहा जाता है कि यह सपाटबयानी है। अर्थात् "कभी नहीं बदलूँगा / अक्षय असत्य हूँ / ओ अर्द्धविकसित / अनुकरण करो मेरा (लक्ष्मीकान्त वर्मा); क्षमा करें महिलाएँ / मैं अपने कमरे में खड़ा हूँ नग्न' (श्रीकान्त वर्मा); मेरे जीवन में एक ऐसा वक्त आ गया है / जब खोने को / कुछ भी नहीं है मेरे पास (श्रीकान्त वर्मा); मैंने सोचा कुछ और बताऊँ / चूहों को क्यों नफ़रत करता हूँ, समझाऊँ (सर्वेश्वर) जैसे ठोस (?) वक्तव्य कविताएँ हैं और—

यदि एक ही जगह पेड़ के नीचे खड़ा हुआ वह मालिक
आदमी था
तो उसके लिए
मैं दौड़ता हुआ, जूते पहने हुए था जिसमें घोड़े की तरह
नाल ठुकी थी। (विनोदकुमार शुक्ल)
पेट और प्रजातंत्र के बीच आदमी दरार की तरह
खड़ा है
और हर दरवाज़े पर बवंडर पर्दे की तरह पड़ा है।
(लीलाधर जगूड़ी)

जैसी कविताएँ वक्तव्य या सपाटबयानी।

सच पूछिए तो आज की कविता ही उस कवि के लिए बयानबाज़ी है जिसके दिमाग़ में "दो शब्दों के बीच के अन्तराल की नीरवता कविता है।" आज की कविता शब्दों के बीच कोई अन्तराल या दरार नहीं छोड़ती, वह उस दरार को भी 'आदमी' की शक्ल में प्रस्तुत करती है। इसीलिए युवा कवि के लिए कविता 'माध्यम' या 'इष्ट' नहीं, आदमी का चेहरा है। इस चेहरे पर एक अर्से तक भाषा की चर्बी रही है। आज युवा कवि कभी भी कविता को 'कविता' मानकर नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखता, वह उस 'आदमी' को लिखता है जो अनेक सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भों से जुड़ा हुआ है। चूँकि कवि अपने सामाजिक जीवन में सबसे पहले 'आदमी' है इसलिए वह 'कविता' में 'कवि' होकर आने से इनकार करता है। उसके निकट 'कवि' सिर्फ़ आदमी की दृष्टि है। इसीलिए आप उसके लिखे को कविता समझें या सपाटबयानी, समझा करें—

मैंने कोरे कागज़ पर सिर्फ़ अँगूठा ही चस्पाँ किया है
पर उन्हें क्या समझाऊँ
जो कहते हैं—कविता की है। (देवेन्द्र कुमार)

आज की कविता 'कविता' की रूढ मान्यता से कितनी बाहर निकल आई है, युवा कवि की इस आत्मस्वीकृति से स्पष्ट है।

किसी कवि ने लिखा है कि भाषा लेखक के लिए चुनौती है। समर्थ लेखक वे हैं जो भाषा को अधिक-से-अधिक सक्षम रखते हैं। और भाषा को सक्षम रखने का अर्थ है उसे सही, सटीक और साफ़ रखना। 'वस्तु' के प्रतीक शब्द स्वभाव से ही यादृच्छिक और अनेकार्थ होते हैं। उन्हें सही आकार सन्दर्भगित पड़ोसी शब्दों की तनावपूर्ण स्थिति और वज़न के दबाव में मिलता है। दरअसल शब्दों में अर्थ की सम्भावना वाक्य के व्याकरणिक ढाँचे के भीतर ही खुलती है। इस तरह कविता में वाक्य के भीतर छन्द अथवा 'अर्थ की लय' के प्रवाह में आने वाले शब्द अगर अनावश्यक न हों तब भी उनके धुंधले और अस्पष्ट होने की अकसर आशंका रहती है।··· वास्तव में शब्दों का यही धुंधलापन है जो छायावाद और 'नई कविता' में अनेक अर्थों की सम्भावनाओं के लिए गुंजायश निकालता है।

आज की कविता के बारे में प्रायः कहा जाता है कि वह दूर तक नहीं जाती। यह उस रीतिकालीन पाठक की मनोवृत्ति है जो कविता में एक शब्द से अनेक अर्थ निकालने का आदी है। जब भी 'वस्तु' और 'शब्द' के बीच संवाद की स्थिति रहेगी, शब्द सिर्फ़ वही अर्थ देगा, जिसे 'वस्तु' माँगती है। आज कवि सही शब्द का सही अर्थ में प्रयोग करने का पक्षपाती है। वह शब्द से 'संकेत' नहीं करता, उससे 'वस्तु' का काम लेता है।

कहीं एजरापाउंड ने लिखा है कि किसी भी लेखक की पहचान का सबसे पहला और आसान तरीका यह देखना है कि उसकी रचना में कितने ऐसे शब्द हैं जो सुस्त और व्यर्थ हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग लेखक की अक्षमता का सूचक है। और कहना न होगा कि छन्द का प्रवाह और 'अर्थ की लय' शब्दों के अपव्यय के लिए लाचार कर देती है।

इस अपव्यय के बोध ने यदि आज के कवि को गद्य के समीप कर दिया है तो इसे कविता की शक्ति के रूप में लेना चाहिए। किसी दरवाज़े, किसी बैठके में चार-छः लोग। सुरती ठोंकते, तमाकू जगाते बैठ जाते हैं। किस्सा छेड़ते किसी साल का, जब ठाकुर की / सात-सात भैंसें एक-एक कर सिवान में / अचेत हो गई थीं / (कमलेश)। या प्रेम-निवेदन से पूर्व उसने ग़ौर से देखा / और घोड़ों और बैलों और कुत्तों के बारे में सोचकर / मुसकरा दिया। आने वाली मुसीबत को सोचकर उसने / तारीफ़ में कुछ कहा (सौमित्र मोहन)। कविताओं के ये हिस्से, कविता के नहीं किसी कहानी के अंश मालूम पड़ते हैं। इनमें किसी लय की तरलता नहीं, ज़िन्दगी की सरलता और सादगी है। इसी तरह जगदीश चतुर्वेदी, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, दूधनाथसिंह, ऋतुराज की अनेक ऐसी कविताएँ हैं जिन्हें कथ्य की अनिवार्यता के कारण गद्य होना पड़ा है। कविता के ये गद्य 'नई कविता' के उन गद्यों से भिन्न हैं जो लम्बी कविताओं के बीच प्रयोग-सुख के लिए डाले गए-से दीखते हैं।

'वस्तु' के निकट जाने की कोशिश जब बीच से विशेषण वगैरह को हटाकर कविता को सीधे 'संज्ञा' के सम्पर्क में लाती है तो भाषा अनिवार्यतः सघन हो जाती है। यह सघनता पिछली कविताओं की क्रिया-परसर्गरहित 'समास-पद्धति' या 'पद-वल्लरियों' से एकदम भिन्न है। यहाँ न ज़बान के साथ किसी तरह की ज़्यादती है और न दिमाग के साथ और न ही शिल्प का कोई अस्वाभाविक व्यायाम। आज की सारी कला और सारा श्रम जटिल-से-जटिल स्थिति को सीधी-से-सीधी भाषा के ज़रिए कहने में है। ज़ाहिर है कि भाषा की सघनता और कुछ नहीं, कथ्य की ही सघनता है। उदाहरण के लिए "मेरा स्वतन्त्र देश / एक पक्षी था जो पिंजड़े सहित पेड़ पर जाकर बैठ गया था (विनोदकुमार शुक्ल); दिमाग एक विस्तृत आकाश है अलग-अलग / किस्मों की चिड़ियों को बटोरे हुए घोंसले जिनके / खिड़कियों में बन्द हैं। (कमलेश) आसमान / रेगिस्तान से सुन्दर कभी नहीं रहा है (देवेन्द्र कुमार) / यहाँ तक कि कविता कहीं-कहीं इतनी सघन हो जाती है कि वह कविता नहीं, 'सूत्र' या 'रिमार्क'-जैसी मालूम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ती है। इस तरह के काव्यात्मक सूत्र धूमिल की कविताओं में भरे पड़े हैं।

ऐसा नहीं कि आज कविता में विशेषण रह ही नहीं गए हैं। यह जरूर है कि वे पहले की कविता की तरह सज्जापरक नहीं, कार्यपरक हैं। ये संज्ञा की शोभा नहीं, उसके अनिवार्य अंग हैं। 'ये शरद के चाँद से उजले धुले से पाँव' (भारती) और 'शहर अधिक सुविधा देता है नंगे पाँवों के लिए' (लीलाधर जगूड़ी) वाक्यांशों के 'पाँव' तो अलग-अलग हैं ही, उनके विशेषणों के रंग भी अलग-अलग हैं। यही नहीं कि पहले 'पाँव' के विशेषण रंगीन और सजावटी हैं बल्कि उस पाँव के उनके अतिरिक्त भी दूसरे विशेषण संभव हैं, लेकिन दूसरे वाक्यांश में 'पाँवों' का 'नंगे' विशेषण, विशेषण ही नहीं है, यदि है तो आवश्यक होने के साथ-साथ किसी 'स्थानापन्न' और 'विकल्प' के लिए गुंजाइश नहीं रखता।

आज कविता में विशेषणों के प्रयोग का एक दूसरा स्तर दिखाई पड़ता है। लगता है विशेषण किसी संज्ञा के मुहताज नहीं, स्वयं सार्थक होना चाहते हैं जैसे उन्हें विशेष्य से बाहर अपने अस्तित्व की फ़िक्र हो आई हो। 'कच्चे है, नये हैं / शब्द ज़मीन पर आकर विच्छू बन गए हैं। (देवेन्द्र कुमार) यहाँ 'कच्चे' और 'नये' ने 'हैं' के सहारे जैसे ही अपने लिए अलग ज़मीन चुनी है, और एक तरह से अपनी स्थिति सुदृढ कर ली है। 'संज्ञा' के दवाव के कारण जहाँ विशेषणों का स्वतःस्फूर्त अर्थ आहत होता है, वहाँ से उन्होंने मुक्ति पा ली है।

'वस्तु' तक पहुँचने में हमेशा से बहुत बड़ी बाधा प्रकृति रही है। यही प्रकृति है जिसने हिन्दी में सुमित्रानन्दन पंत की रचना की है। उनके अतिरिक्त भी बहुत-से कवियों ने प्रकृति के चित्रण से 'आदमी' का भ्रम पैदा किया है। 'मैं नीरभरी दुःख की बदली' में 'मैं' नहीं, 'नीरभरी दुःख की बदली' ही खास चीज़ है। वास्तव में यह विरोधाभास ही है कि जिस प्रकृति ने विज्ञान को जन्म दिया है, वही इस देश या किसी देश की सबसे बड़ी परम्परा है। वह विज्ञान के विरुद्ध व्यक्ति को पीछे ले जाती है, आदिम बनाती है।

आज कविता ने सीधे जब 'वस्तु' या 'आदमी' का सामना किया तो उसके इर्द-गिर्द की प्राकृतिक वस्तुएँ अपने-आप बाहर निकल गईं। आज पहले की तरह स्वतंत्र रूप से सौन्दर्याभिभूत होकर शायद ही किसी कवि ने प्रकृति-चित्रण किया हो। फिर भी ऐसा नहीं कि आज की कविता में प्रकृति नहीं है, लेकिन वह जहाँ कहीं है, 'नई कविता' जैसी ललित और सौन्दर्य-मर्मर नहीं है। जो जुहू की सन्ध्यावेला का सूर्य भारती के लिए—सेज की सलवटों में छूटी गिरी बेंदी / सरीखा सागर पर' है, उसी के लिए एक युवा कवि ने लिखा है कि—'और वह जो खलियाया सा किनारा है / जुहू का है, जहाँ सूरज को / चिल्लू भर पानी में डूब मरते / देखने हज़ारों बड़े उत्साह-उछाह से आते हैं (नरेश सक्सेना)।

सौन्दर्य के प्रति दो पीढ़ी की दृष्टियों में क्या फ़र्क है, उपर्युक्त उदाहरणों से साफ़ हो जाता है। यही नहीं, प्रकृति के बारे में आज का कवि तो यहाँ तक कहता है कि 'लहलहाती हुई फ़सलें / बहती हुई नदी / उड़ती हुई चिड़ियाँ··· / यह सब सिर्फ़ तुम्हें गूँगा करने की चाल है। (धूमिल)।

सब मिलाकर; आज की कविता का मूल्यांकन अच्छी और बुरी के सन्दर्भ में नहीं, 'सामयिकता' और 'आवश्यकता' के सन्दर्भ में होना चाहिए। आवश्यकता की अनिवार्य शर्त है सामयिकता और जो काव्य-आन्दोलन इतिहास की बग़ल में पूरी ईमानदारी से साथ-साथ नहीं चल पाता, वह यही नहीं कि पीछे छूट जाता है बल्कि यह भी कि व्यर्थ हो जाता है। किसी भी रचना की सार्थकता उसकी ऐतिहासिक भूमिका में ही निष्पन्न होती है और इसमें सन्देह नहीं कि आज की कविता ऐतिहासिक ज़रूरतों के प्रति 'नई कविता' के समानान्तर अधिक सजग और सतर्क है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध की वास्तविकता और विद्रोह की कविता

विष्णुचन्द्र शर्मा

अचानक चौथे चुनाव के बाद हमारी राजनीति में एक ख़ौफ़नाक बदलाव आ गया था। कांग्रेस की कसी हुई मज़बूत खूंटियाँ उखड़ गई थीं और एक भूचाल या अन्धड़ के बाद का माहौल हर बुद्धिजीवी के सामने तस्वीर की तरह खड़ा था। एक ऐसा माहौल जिसमें स्वतंत्रता के पन्द्रह साल की कांग्रेस की ज़्यादतियाँ नंगी हो गई थीं और हर आदमी यह महसूस करने लगा था कि इस नंगी लाश पर सबसे ज़ोरदार कोड़ा उसीने लगाया। हर आदमी अपने भीतर की बेचैनी से जैसे बदला ले रहा था, और उसे सन्तोष था कि इस तूफ़ान ने एक बड़ी ताकत को कोड़े लगाकर गिरा दिया है।

यह माहौल आज नहीं है। आज अगर शीशे में हिन्दुस्तान की जनतांत्रिक पार्टियाँ अपना-अपना चेहरा देखेंगी, तो उसमें उन्हें एक ख़ौफ़नाक खीझ अपनी-अपनी आँखों में मिलेगी। एक ऐसी ख़ौफ़नाक खीझ, जो लाचार आदमी में होती है जो अपनी अकेली कूवत को जानता है, लेकिन उसे पता है कि अकेला आदमी बहुत जोश में आने पर केवल चौराहे पर नंगा हो सकता है, या अपनी ही उलटबाँसियों में कोई हल न खोज पाने के बाद केवल बेचैन रह सकता है।

बग़ल में जनता की मुसीबतों का न सुलझने वाला दस्तावेज़ पड़ा हो और एक अपना आदमी दिल के दौरे में जयबहादुर की तरह उस खुले दस्तावेज़ को पढ़ते हुए सो गया हो। और बेचैन आदमी केवल बर्फ़ की सिल्लियों को पिघलते हुए देख रहा हो, एक मायूस माहौल में एक-दूसरे से आँख बचा रहा हो, ताकि जयबहादुर की खुली हुई रिपोर्ट या दस्तावेज़ को उसे न सौंप दिया जाय। हर आदमी, जो जनतंत्र पर विश्वास करता है, जिसे समाजवाद की बुनियादी समस्याओं का हल खोजना है, वह केवल इस माहौल में लोहिया की तरह एक साथी की मौत पर एक ख़ौफ़नाक चुप्पी आँखों में भरकर यह कह सकता है, "एक दिन सब मेरी शवयात्रा में भी इसी तरह···!"

और मैं कुछ नहीं सुन पाता। उस दिन मैं कुछ नहीं सुन सका था, जब कृष्णनाथ बार-बार मुझे अस्पताल में मौत और ज़िन्दगी से खेलने वाले लोहिया की सुगबुगाहट को बता रहे थे।···और लोहिया भी मर गए। मैंने कहा, व्यक्तिगत स्तर पर विद्रोह करने की बात एक करुण गाथा से अधिक नहीं होती।

एक आदमी बिना आराम किए सिर्फ़ निरर्थक परेशानी और भागदौड़ के बाद अपने स्नायु पर और दबाव नहीं सह सकता। और स्नायु का दबाव हर आदमी का अलग-अलग होता है।

किसी ने कहा था, "जो स्पष्टता से सोच सकता है, वही स्पष्टता से व्याख्या कर सकता है।" लेकिन स्वतंत्रता के बाद और आम चुनाव के इस ख़ौफ़नाक मोड़ के बाद शायद कुछ भी स्पष्ट नहीं रहा। न सोचना स्पष्टता से हो सका, न कार्यक्रम स्पष्टता से उभरकर आया और न ही एक-एक आन्दोलन की व्याख्या ही स्पष्टता से जनता के दिल-दिमाग़ में घर कर सकी।

जनता के दिल-दिमाग़ में जिस तरह आम चुनाव के बाद की तस्वीर सत्य की तरह स्पष्ट थी, उतनी ही आज आम चुनाव के बाद धुँधलके में जनता पीछे छूट गई है और दल-बदलू विधायकों की कुण्ठाएँ उभरी हैं। दरार अधिक चौड़ी हुई है और राजा-रजवाड़ों के प्रीवी-पर्स समाप्त करने, बैंकों के राष्ट्रीयकरण, जनतांत्रिक संयुक्त मोर्चे की सरकारें और जनतांत्रिक संयुक्त मोर्चे की एकता अस्पष्टता के अँधेरे में एक चीख की तरह खो गई है। मुश्किल से अगर कहीं आंदोलन हुए भी हैं, बड़े राष्ट्रीय स्तर पर विरोधी दलों के आंदोलन—तो उन्हें या तो तोड़ दिया गया है—पश्चिमी बंगाल की तरह या राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाब और उत्तर प्रदेश, बिहार और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी-अभी सरकारी कर्मचारियों की हड़ताल में, उसी कांग्रेस ने, जो हारी हुई लग रही थी, अपनी संचित ताकत से विरोध को कुचल दिया है।

और मैं कुछ भी स्पष्ट नहीं देख पा रहा हूँ। केवल कुछ रेंगती हुई चीखें सुनाई पड़ रही हैं। मैंने इसीलिए चौथे आम चुनाव के माहौल को ख़ौफ़नाक कहा था, क्योंकि सत्य हमारी आँखों में स्पष्ट नहीं था। एक आन्दोलन का सत्य, एक दृढ संकल्पशील जननेता का सत्य, एक संगठित संयुक्त मोर्चे का सत्य। मैं उस ख़ौफ़नाक माहौल में सत्य की अग्निपरीक्षा देख रहा था।

एक मज़दूर से गोर्की ने पूछा था, "तुम्हारे देखने में लेनिन के विशेष गुण क्या हैं?"

"सरलता! वह सत्य की ही तरह सरल हैं।" उसने बिना किसी हिचकिचाहट के ऐसे उत्तर दिया, जैसे एक प्रतिष्ठित बात को दोहरा रहा हो।

आम चुनाव के बाद यह सत्य को बेझिझक पहचानने वाली जनता फिर घुटाले में पड़ गई। एक बड़े घुटाले में। एक ऐसा वैधानिक और विधान-विरोधी दौर शुरू हुआ, जिसमें वह बुनियादी तस्वीर, जिसने चौथे आम चुनाव के बाद देश में आत्म-विश्वास पैदा किया था, धूल में मिल गई। राज्यपाल और राजनेताओं के अधिकार का एक संवैधानिक युद्ध छिड़ गया और देखते-देखते जन-आन्दोलन या मतदाताओं का आत्म-विश्वास राजनेताओं की जेबों में और नौकरशाही के अधिकार में कैद हो गया। मैंने इसे घुटाला इसलिए कहा है, क्योंकि यह जनतांत्रिक अधिकारों का युद्ध नहीं था, विधान की धाराओं की काट-छाँट का युद्ध था। बड़ी ताकतें संविधान को अपने अनुकूल काट-छाँटकर सुधार देना चाहती थीं। नौकरशाही ताकत उसमें अपने बल-बूते को मज़बूत दिखाना चाहती थी और देश के बड़े पूँजीपति अपनी चोरी और सीनाज़ोरी को अपने व्यक्ति-स्वातंत्र्य की धाराओं में मोड़ देना चाहते थे और खिताब और पदक बेचने वाले राजा-रजवाड़े अपने प्रीवी-पर्स के हक के लिए यूनियन में शरीक हो रहे थे।

यह संसद और विधान-सभाओं की चख़-चख़ का वैधानिक सुधारवाद था और जनतांत्रिक पार्टियाँ या तो अपने कार्यक्रम को काट-छाँटकर छोटा करने में लगी हुई थीं या विरोध की मुद्रा में बहिर्गमन के लिए प्रस्तुत थीं और घूम-फिरकर वही समझौते का घुटाला, स्वर्ण-नियंत्रण का कंकाल और भाषा-विधेयक का मोल-भाव और पिछड़ी जातियों का अपमान और खुलेआम साम्प्रदायिक दंगों की खून-खराबी! यह मोटे हरूफ़ों की खबरें हैं, जिन्हें चीरकर आप जनतंत्र की आत्मा तक पहुँच सकते हैं।

यानी, जिस लाश को मतदाताओं ने कोड़े लगाए थे, वह लाश आज एक बड़ी मायूसी के स्तर पर मतदाताओं पर हावी है। आप कह सकते हैं, पूरे देश पर एक ठण्डी लाश बिछा दी गई है और जनतंत्र का एक मंत्री एक हरिजन बच्चे को कोड़े लगा रहा है। एक विधायक, एक व्यापारी के गोदाम से गल्ले की तरह बाहर और भीतर रखा जा रहा है और कुछ चूहे जहाँ-तहाँ हमारे संविधान पर धब्बे या तस्वीरें बना रहे हैं।

एक पिटी-पिटाई दृष्टि है और जनता फिर-फिर पिटे-पिटाए विधायकों को, संसद-सदस्यों को अपने-अपने इलाके का प्रतिनिधि कहने को बाध्य है। यह बाध्यता संसद में और विधानसभाओं में तमाशे के स्तर तक नंगी हो चुकी है, लेकिन अब किसी भी नंगई का जवाब देने वाली जनता फ़िलहाल अकेली पड़ गई है।

सबसे बड़े नेता के बूढ़े हो जाते ही उसके पीछे एक कम बूढ़ा लद जाता है और कुर्सियाँ भरी-भरी रहती हैं और पाँच साल बाद जड़ से बदल देने वाला सिद्धान्त अकेला पड़ जाता है। पूरे देश को अन्याय दीमक की तरह खाता है और राजनीतिक पार्टियाँ एक मुश्किल से गुज़रकर दूसरी मुश्किलों में कैद हो जाती हैं।

यहीं से हिन्दी की विद्रोह की कविता शुरू होती है। प्रतीक्षा करते हुए ख़ौफ़नाक कवि की, जो इतना दुख देख नहीं सकता। लेकिन वह दुख देखता भी है और झेलने को भी विवश है—

'कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में
जहाँ सदा मरता है एक और मतदाता'

(रघुवीर सहाय : कोई एक और मतदाता)

यह मतदाता शमशेर की तरह अपने सीने पर एक ख़ामोश 'अर्थहीन कहानी' का दबाव महसूस कर रहा है:

गर्म हवा, खुश्की का दबाव बराबर (साँस लेता)
मेरे सीने पर एक घेर हाँफता हुआ
उस धूप का अन्दाज़, जो मेरे दिमाग़ को शीशे की
नसों के जाल की तरह चमकाकर रचती है।

(शमशेर बहादुर सिंह : कहानी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शमशेर की अर्थहीन तटस्थता में, उनका निजी, अबोध विस्मय है। वे अपने सीने के एक घेर में अपने होम होने की गीतात्मक संवेदना को पहचान रहे हैं। यह गीतात्मक संवेदना की पहचान करने वाला कवि आम चुनाव के बाद 'अपनी अबोध वासना के हठ में' अपने 'निजी होम' को बेचैनी से पहचान रहा है। लेकिन उसकी यह 'निजी होम' की बेचैनी किसी राजनीतिक और आर्थिक दबाव की तात्कालिक उत्तेजना से उसे जोड़ती नहीं है। वह अपनी सर्वथा 'निजी खुश्की का दबाव' अपने सीने में महसूस करते हुए अकेले से अकेला होता जाता है।

व्यक्तिगत स्तर पर बेचैन रहने वाला कवि किसी व्यापक असन्तोष का हल नहीं ढूंढ़ पाता है। और वह अकसर अपनी निजी प्रतिक्रियाओं से टकराकर केवल अपना-अपना प्रतिनिधि बना रह जाता है—उस एक आदमी की तरह, जो अपनी प्रेमिका से झगड़ने के बाद दीवार पर अपना सिर फोड़ने लगता है।

आम चुनाव के बाद जो अपने-अपने प्रतिनिधियों का अलगाव, एकाएक एक बड़े षड्यंत्र के रूप में सबको घुला-मिला गया था, वह प्रभाव 'अनूठे रस' की कविता या 'गम्भीर बातों को हल्के ढंग से कह देने में' समाप्त हो जाता है।

प्रयोगवादियों ने कविता को और कवि को 'अहं के खोखलेपन' तक लाकर उलझा दिया था और कवि मदमाता और अकेला बन गया था। वहाँ इस आम चुनाव के बाद की मनःस्थिति ने गर्व से मदमाते अन्तर्गुहावासी कवि को, उसकी व्यक्ति की सार्थक पंक्ति से धकेलकर, व्यापक सामाजिक सत्य के सामने खड़ा कर दिया।

अज्ञेय का अद्वितीय ईश्वर अपनी अद्वितीय पंक्ति में अकेला पड़ गया था, और उसकी सुविधाजीवी आत्म-रक्षा की मनःस्थिति को एकाएक मिश्रवर्णी चीवर की सार्थक संवेदना आकर्षक लगने लगी थी। यह व्यक्ति की आध्यात्मिक कायाकल्प की सार्थकता आम चुनाव के बाद के आदमी की, वैयक्तिक सार्थकता या चेतना से अलग-थलग थी। जहाँ 'अँधेरे में' मुक्तिबोध भयानक छायाओं से टकराकर, एक खीझ महसूस कर रहे थे, वहीं अज्ञेय और 'आत्मजयी' कुँवरनारायण अपनी व्यक्तिगत संवेदनाओं को दबाने के साथ-साथ देश की तात्कालिक उत्तेजनाओं से बचने के लिए खूबसूरत बहाने तलाश कर रहे थे। मुक्तिबोध के व्यक्तित्व में, जहाँ खीझ, झुँझलाहट, कठोरता और फेंटेसी का षड्यंत्र उलझन पैदा कर रहा था और वे उस अँधेरे में भगवा झण्डे, खूँखार आकृतियों, ब्रह्मराक्षस, ओरांग-उटांग का अपनी व्यंग्यात्मक अनुभूति में सामना कर रहे थे, वहीं प्रयोगवादी कवि अज्ञेय और 'आत्मजयी' के कुँवरनारायण आत्मा पर पड़े हुए मृत्यु के धब्बों की पड़ताल कर रहे थे। यह एक सीधी, विभाजक रेखा थी, जिसके एक ओर अज्ञेय और कुँवरनारायण थे—अपने-अपने विश्ववर्गी चीवर में सुरक्षित, और दूसरी ओर मुक्तिबोध के साथ दबाव महसूस करने वाले अनगिनत कवि थे—'ठण्डे अँधेरे यात्रान्त की प्रतीक्षा में'।

इन कवियों के पास 'समय' था—बेचैन और मूल्यों से टकराता हुआ 'समय' (कमलेश)।

एक विदा और दूसरी प्रत्याशा के बीच
पानी की तरह बहता समय।'

यह समय उस विरोध की कविता का समय था, जो सारे अन्तर्राष्ट्रीय संसार में, छात्रों में सुगबुगाहट पैदा कर रहा था। अमरीका का नीग्रो संघर्ष, मेक्सिको का छात्रविद्रोह, रोम-इटली-बर्लिन में छात्रों की उत्तेजना और वियतनाम का युद्ध। विरोध का कवि यहीं अपने-आपको 'इस्तेमाल' करने वालों के विरुद्ध खड़ा था, और यह महसूस कर रहा था कि—

'यह समय है जब आदमी को
चमत्कार के बारे में फिर से सोचना चाहिए।'
(केदारनाथ सिंह)

गलत और बेमानी ज़िन्दगी से आदमी को सिर्फ़ तैयार रहना चाहिए—यह घोषित करने वाला कवि विरोध का कवि है, सार्थक संवेदना का कवि।

यह विरोध की सार्थक संवेदना का कवि जनतंत्र और समाजवाद का कवि है। सच्ची, मानवीय प्रतिक्रिया का कवि, जो विरोधियों के सामने अपनी कविता रखकर जोखिम उठाने को तैयार है। और जोखिम उठाने के लिए वह खुद को अपने समय की ऐतिहासिक जटिलताओं से कहीं अलग नहीं होने देता है। वह कहीं स्थिति की भयानकता से बचते हुए भी अपने-आपको एक व्यापक परिवेश में महसूस करता है। सौमित्र मोहन की कविता 'लुकमान अली' धूमिल की लम्बी कविता 'पटकथा' और मणिमधुकर का 'खण्ड-खण्ड पाखंड पर्व' इसी तीखे और सच्चे अस्वीकार को व्यक्त करता है। ये कवि अपने 'आन्तरिक द्वन्द्व से उभरती हुई एक पूरी पटकथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्रस्तुत कर' रहे हैं। इसीलिए इनकी कविताओं में एक षड्यन्त्र, एक ख़ौफ़नाक माहौल और रोज़मर्रा की साधारण-से-साधारण वस्तुओं का असर एक चोट करती हुई पीड़ा और घृणा को उभारता है। यह पीड़ा एक व्यक्ति की आन्तरिक पीड़ा है। और यह घृणा उच्च वर्ग की नैतिकता, उनके सौन्दर्यवादी रुझान और उनके अकेले-से-अकेले तक की अद्वितीयता की ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया है।

'यहाँ से वहाँ तक चुनाव के बाद का असन्तोष लेकर
पेट और प्रजातन्त्र के बीच आदमी दरार की तरह खड़ा है
और हर दरवाजे पर बवण्डर पर्दे की तरह पड़ा है
पागल और ग़रीब की जात नंगी हो गई,
कमरे, मौसम, वनस्पतियाँ और धुआँ
इन सबके विपरीत मेरा कुछ अर्थ बन रहा है
मिट्टी को जूते मारते हुए मैं आत्महत्या कर सकता हूँ
अपने सारे शरीर को राष्ट्रीय समझकर
उस पर थूक सकता हूँ—
भाषण या वादे या भजन···
अपने-आपको तोड़ने के अलावा मेरे पास कोई नारा
नहीं
सारी सभ्यता का उजाला चाटकर मुझे कैंसर हो गया है
मैं न समाज हूँ, न व्यक्ति, न नाम
मुझसे सिर्फ़ बचा जा सकता है
या फिर घृणा की जा सकती है।'

(लीलाधर जगूड़ी)

इस जनतन्त्र का बीस वर्ष का माहौल सिर्फ़ आदमी के हर सम्बन्ध को 'रोटी पर छेद करके अदालत तक ले जाता है' (मंगलेश डुग्गल) और वह आदमी जो इस छेद से गुज़र रहा है, 'रोटी से ऑफ़िस तक' जाता है और अपने-आपको 'किसी षड्यन्त्र से जुड़ा हुआ' महसूस करता है।

भूख, नौकरी और तनाव के बीच कविता भी अपने चेहरे को नुस्खे की तरह बाँट रही है। आदमी की ढीली नसों की उत्तेजना, 'चौराहों पर लटकाये गए ख़तरे' और 'दुर्घटनाओं' के आगे दौड़ती अपराध बनती हुई कविता' सिर्फ़ आदमी की जानकारी की कविता नहीं है। 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' की तरह अपने-आपमें कूवत और ताकत महसूस करने वाले आदमी की कविता है, जो इस ज़माने की मुसीबतों के सामने खुद को किसी बड़े अपराध के लिए खतरे पर चढ़ रहा है।

मुक्तिबोध ने इसी ख़तरे का सामना किया था और यह महसूस किया था कि सिर्फ़ 'सचाई आदमी को कुछ नहीं दे पाती, सचाई को सामने लाने के लिए भी ज़ोर और ताकत की ज़रूरत होती है। ऐसी सचाई, जो आदमी में ज़ोर नहीं पैदा कर पाती, वह सिर्फ़ जानकारी बनकर रह जाती है।'

आम चुनाव के बाद जो सचाई जनता के नाम पर संयुक्त कार्यक्रम बन गई थी, वह एकाएक विषबुझी अराजक बेचैनी में बदल गई है। एक ऐसी थका देने वाली बेचैनी, जहाँ हैण्ड बम फेंकने वाली छोटी-छोटी पत्रिकाओं का विस्फोट भी कोई बदलाव नहीं ला रहा है। और एक अमानवीय कृत्य चारों ओर अपने ख़ूँख्वार पंजे फैला रहा है। वह कहीं अध्यादेश बनकर इन्द्रप्रस्थ भवन में आदमी की लाशें निचोड़ रहा है और हक के लिए दृढ इच्छा-शक्ति के नाराज़ लोगों को बर्खास्त करने पर आमादा है और कहीं एक हरिजन पर कोड़े बरसाने वाला मंत्री अपना बयान वापस ले रहा है और कहीं खुलेआम साम्प्रदायिक दंगे भड़काने वाली आग जनतन्त्र के चेहरे को झुलसा रही है। बड़ी बात यह है कि इस माहौल में भी विरोध का कवि रोमांटिक विद्रोह की उत्तेजना में नहीं है। वह कहीं गीतात्मक विद्रोह के लिए 'शहर से दूर के तनाव-दबाव' की वकालत नहीं कर रहा है। वह एकान्त में अज्ञेय की तरह यह नहीं महसूस कर रहा है कि 'कहूँ, तो सुनने के लिए कोई पास न हो।' निश्चित है, इस जनतन्त्र की सचाई की जानकारी देने वालों के पास कोई नेक इरादे से नहीं आएगा। केवल अराजक बेचैनी में जीने वाला कवि ही यह महसूस कर सकता है कि गोली उसके बग़ल वाले इन्द्रप्रस्थ भवन के अपने दोस्त पर लगी है। और जहाँ सचाई को पूरे ज़ोर से पहचानने वाले लोग होंगे, वे मुक्तिबोध की बात को असली हत्यारों तक पहुँचा देंगे।

'इन दिनों हम
यानी, मैं और मेरे दोस्त
एक ताज़ा हत्याकाण्ड की रोशनी में बैठकर
जंगली चिड़ियों का व्याकरण सीख रहे हैं
इस धुँधली-सी उम्मीद में
कि शायद इस तरह
असली हत्यारे तक पहुँचा जा सके।

(केदारनाथ सिंह)

जनतन्त्र के इस नाटक में, जहाँ 'आत्मा और जूते के बीच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दूरी कम हो गई है'—एक विरोध की कविता का दौर शुरू होता है। यह एक अलग सवाल है कि उसमें अँधेरा, योनि, जूते, अजगर, जंगल, तन्त्र, राक्षस, बलात्कार, भेड़िये, गाय, गोबर, सड़क, चौराहे, दमा, कैन्सर और शून्य की इकाइयों का जमघट लग गया है। लेकिन, इन प्रतीकों में आज के माहौल की टूटन है और एक गलीज अस्तित्व की बुदबुदाहट है। एक बड़ा शून्य है, जहाँ लोहिया के बाद संयुक्त सरकारों का पटड़ा बैठ गया है और बची-खुची केरल और मद्रास की सरकारों को उखाड़ने का षड्यन्त्र चल रहा है। एक षड्यन्त्र और भी है, जिसमें पचास हज़ार बर्खास्त कर्मचारी, बाढ़ में मरे हुए डेढ़ हज़ार आदमी और सूखे में दम तोड़ते हुए लोग हैं और इन लोगों के बीच से विरोध का कवि ताज़ा हत्याकाण्ड की रोशनी में असली हत्यारे तक पहुँचना चाहता है।

इस चुनाव के बाद एक बहुत बड़ी जमात सामने आई है: भगवानसिंह, रमेश गौड़, अतुल भारद्वाज, सौमित्र मोहन, चन्द्रकान्त देवताले, मणि मधुकर, धूमिल, बलराज पंडित, इब्बार रब्बी, श्रीराम शुक्ल, मोना गुलाटी, लीलाधर जगूड़ी, सकलदीप सिंह, रमेश साही, मंगलेश डुग्गल, विनोदकुमार शुक्ल, त्रिनेत्र जोशी, प्रभाती नौटियाल, प्रयाग शुक्ल, नरेश सक्सेना, कमलेश आदि कवि व्यवस्था की ऊब, घृणा और पीड़ा को सचाई के पूरे ज़ोर से उभार रहे है। ये लोग आत्मा पर मृत्यु के धब्बे नहीं देख रहे हैं, ये अपने-अपने 'आइवरी टावरों' में सुरक्षित नहीं हैं, ये अवकाश-प्राप्त या पेन्शनयाफ़्ता तथाकथित समाजवादी नहीं हैं, और न ही ये अपने कमाये हुए अनुभव के बैंक-बैलेंस के बल पर सुरक्षा का कवच पहने हुए हैं। ये महज़ हड़तालियों की तरह ज़ोर अज़माने वाले आदमी हैं:

'जिसमें कहीं भी
'लेकिन', 'शायद', 'अगर' नहीं है।'

(धूमिल)

यह पीढ़ी इत्मीनान के साथ निराला, मुक्तिबोध और राजकमल चौधरी को अपना कह सकती है, क्योंकि वे अपनी मौत तक 'कविता से बाहर नहीं' रहे। यानी तात्कालिक उत्तेजनाओं से बचने के लिए वे 'धर्मयुग' के चुटकुले नहीं बने, नकली चेहरे लगाकर नई पीढ़ी को नपुंसक कहने वाले लेखक नहीं बने, स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री की पत्नी को कवयित्री बनाने के लिए पन्ने काले करने नहीं आए और प्रधान-मन्त्री के इर्द-गिर्द दुमछल्ले बनने को तैयार नहीं हुए।

ज़ोर और ताकत आज़माने वाला आदमी निराला था क्योंकि उसमें गांधी और नेहरू से सीधे सवाल पूछने की ईमानदारी थी जबकि बड़े इत्मीनान से 'धर्मयुग' के सम्पादक, 'दिनमान' के कवि और लखटका पुरस्कार देने वाले भारतीय ज्ञानपीठ संस्थान ने मुक्तिबोध, निराला को उनके जीवनकाल में कविता से बाहर रखने की बड़ी साज़िश की थी और आज भी उन लोगों के पीछे लगा हुआ है, जो एस्टेब्लिशमेंट के, पूँजीपतियों के, नौकरशाही के सामने भौंकते हैं, गुर्राते हैं और पूँछ हिलाने की अलग-अलग शैलियाँ ईजाद करते हैं। मुक्तिबोध की रचनाओं के साथ जुड़े हुए नई पीढ़ी के लोग इन्हीं पूँछ हिलाते, नकली लोगों को ऐन चौराहे पर नंगा करने में लगे हुए हैं। एक ख़ौफ़नाक खीझ के वातावरण में जहाँ तमाम राजनीतिक, जनतान्त्रिक दल अपने मोर्चे में ढीले पड़ रहे हैं और अपनी सुविधा के अनुसार अपने कार्यक्रम को काटने में लगे हुए हैं, वहाँ अस्वीकारों के ये कवि विरोध को एक सम्भावना के स्तर पर जीवित रखने के प्रति प्रतिबद्ध हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छे गद्य की पहचान

रामविलास शर्मा

शमशेरबहादुर सिंह के 'दोआब' के निबन्ध बीस साल पहले लिखे गये थे। विभिन्न पत्रिकाओं में छपे, संकलित हुए और बीस साल में निबन्ध-संग्रह का दूसरा संस्करण न निकला। इससे आधुनिक हिन्दी साहित्य की रफ़्तार का अन्दाज़ हो सकता है। ये निबन्ध हिन्दी-उर्दू साहित्यकारों पर लिखे गये हैं, छायावादी कवियों पर निबन्ध हैं, और उन कवियों पर भी जो छायावाद के बाद हिन्दी में आधुनिकता-बोध लेकर आये। हिन्दी के आधुनिक काव्य के विकास में स्वयं शमशेर बहादुर सिंह ने काफ़ी हाथ बँटाया है। इसलिए भी इन निबन्धों से पाठकों को दिलचस्पी होनी चाहिए थी। इस कारण के अलावा शमशेर हिन्दी के उन थोड़े-से कवियों में हैं जो बहुत अच्छा गद्य लिखते हैं। उनकी पीढ़ी के कवियों ने बीस साल पहले जैसा गद्य लिखा था, उसे देखते हुए शमशेर के निबन्धों का गद्य बहुत ही पुष्ट, सुथरा और कलात्मक है। पिछले दिनों उन्होंने जैसा गद्य लिखा है—गजानन माधव मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल आदि के काव्य और व्यक्तित्व का विवेचन करते हुए—वैसा सुन्दर गद्य आज का कोई कवि नहीं लिखता। उनके गद्य में निरन्तर एक विकास दिखाई देता है और उनके व्यक्तित्व की निरन्तरता—परिवर्तनशीलता के बावजूद—जैसे उनके गद्य में निहित है, वैसे उनके पद्य में नहीं। और शमशेर के लेखन में जो पद्य नहीं है, वही सबसे महत्वपूर्ण है, चाहे वह गद्य उनके निबन्धों में हो, चाहे उनकी कविताओं में।

गद्य का विरोधी भाव प्रकट करने वाला शब्द पद्य है, कविता नहीं—यह बात काफ़ी प्रसिद्ध है। शमशेर की कविताओं के गद्य की चर्चा करना उनकी तौहीन करना नहीं है। अच्छी पद्यबद्ध कविताएँ लिखना काफ़ी मुश्किल काम है, कविताओं में अच्छा गद्य लिखना बहुत मुश्किल काम है। आजकल गद्यबद्ध कविताएँ लिखने का चलन काफ़ी हो गया है। लेकिन इनके रचनाकारों से बहुत पहले शमशेर ने कविता में गद्य का महत्त्व पहचाना था। जुलाई १९४१ के 'हंस' में मुक्त छन्द पर उनका एक लेख छपा था जिसमें उन्होंने इस मुक्त छन्द की भूमिका के बारे में लिखा था, "कवियों और गद्य-लेखकों का सामान्य अन्तर इसने मिटा-सा दिया है।" यह बात हिन्दी काव्य पर उस समय पूरी तरह लागू न होती थी, आज कितनी सच है, हर कोई देख सकता है।

शमशेर की कविताओं का महत्त्व कई आलोचकों ने पहचाना है, लेकिन उनके गद्य पर किसी ने ध्यान दिया हो, ऐसा मेरे देखने में नहीं आया। गद्य में विचारों का महत्त्व पहचानना आसान भी नहीं है। विचारक की मौलिकता, दूरदर्शिता, अन्तर्दृष्टि, तर्कयोजना, उसके चिन्तन का घनत्व वही पहचानता है जिसकी अपनी मेधा परिपक्व और विकसित हो। हिन्दी गद्य पर कितनी किताबें हैं। और हिन्दी गद्य पर? उपन्यास, कहानी, आलोचना की विषयवस्तु पर नहीं, गद्य के कलात्मक प्रयोग पर? नहीं के बराबर। लोग कविता का सम्बन्ध मुख्यतः भाव से जोड़ते हैं, भाव से जल्दी प्रभावित होते हैं, जहाँ विचार की गहराई हुई या काव्य-निर्माण में रचनाकार ने मेधा का चमत्कार दिखाया, वहाँ विवेक कुछ कहे-सुने बिना चुपचाप बग़ल से निकल जाता है। इसलिए शमशेर के गद्य पर लोगों ने ज़्यादा ध्यान न दिया तो आश्चर्य नहीं।

शमशेर के लिए साहित्य का अध्ययन एक सजीव अनुभूति है और उस अनुभूति का प्रतिबिम्ब वह पाठक के मन में गद्य के द्वारा वैसे ही उतारना चाहते हैं जैसे अपनी किसी प्रेम या सौन्दर्य की अनुभूति का प्रतिबिम्ब—गद्य के ही द्वारा कविता में। सुभद्राकुमारी चौहान की कविताएँ मन पर कैसा

१. यह निबन्ध 'दोआब' के नये संस्करण की भूमिका के रूप में शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबिम्ब बनाती हैं ?

"गम्भीर, तो जैसे कोई शपथ ले रहा है, उद्दाम और मस्त, तो जैसे झमाझम बारिश हो रही है, सरल और सरस, तो जैसे हवाएँ मल्हार गा रही हों।"

आप मानेंगे, यह एक कवि का गद्य है।

शमशेर में बहुत बड़ी क्षमता इस बात की है कि वह राजनीतिक उतार-चढ़ाव को सीधी-सादी लेकिन समर्थ शैली में मूर्तिमान कर सकते हैं। सन् बीस में हिन्दू-मुस्लिम एकता के दृश्य और बाद को हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को याद करते हुए उन्होंने सुभद्राकुमारी चौहान वाले निबन्ध में लिखा है, "उस अपराजेयता की बँधी हुई मुट्ठी को साम्राज्यवाद की बेमिसाल कूटनीति ने किस तरह मसल-मसलकर धीरे-धीरे ढीला किया है—तब से आज तक का इतिहास यही है—उसको आज कुछ नेताओं की ज़ख़्मी उँगलियों की दुखती नसें और जोड़-बंद ही जानते हैं—कलाई से पंजा जैसे अलग हो गया है, और उँगलियाँ आपस में नहीं मिलतीं।"

शमशेर बोलचाल के गद्य की लय पहचानते हैं। बोलचाल के गद्य की यह लय उनकी कविताओं के गद्य की भी लय है। उनकी वाक्य-रचना बदलती है, कभी सीधे-सादे वाक्य, कभी अनेक वाक्यांशों को गूँथकर रचे हुए लम्बे वाक्य, जवाहरलाल नेहरू की शैली में ठहर-ठहरकर बढ़ने वाले वाक्य, आगे के हिस्से पीछे और पीछे के हिस्से आगे—कभी तत्सम शब्द ज़्यादा, कभी हिन्दी का उर्दू रूप—लेकिन चाहे जैसी वाक्य-रचना हो, चाहे जैसा शब्द-चयन हो, उनके गद्य की लय प्रायः एक-सी रहती है। इस गद्य को आप जल्दी नहीं पढ़ सकते, जल्दी पढ़ना उसकी हत्या करना होगा। उसमें तेज़ प्रवाह नहीं है, सन् '४८ में लिखे हुए गद्य में भी नहीं, जब हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों का गद्य आमतौर से प्रवाहपूर्ण होता था। उसकी चाल धीमी है, धीमी चाल में भी थोड़ी-थोड़ी देर में रुकना, ज़रूरी होता है। कुछ उदाहरण :

"गाँव की प्रकृति एक सार्थक शक्ति है।
वह फलदा है और मानो कर्म से मुक्त है।
मोहमुक्त एकदम नहीं, पर चिन्तनरहित है।
वह गाँव का परिचित-अपरिचित स्वर्ग है।
ग्राम-निवासियों के आन्तरिक दुखों की एक क्षीण छाया
कभी-कभी उस पर पड़ जाती है,
पर वह शीघ्र ही कहीं खो जाती है।"

ये वाक्य मैंने 'ग्राम्या' पर शमशेर के निबन्ध से लिये हैं। उनका क्रम यही है, केवल लय की विशेषता प्रकट करने के लिए उन्हें अलग-अलग कर दिया है। यहाँ वाक्य-रचना एवं स्वाभाविक शब्द-चयन में तत्सम रूपों की प्रधानता है पर चाल का धीमापन स्पष्ट है।

दूसरा उदाहरण :

"आज के आर्ट में जो भी चीज पेश की जाती है,
उसमें खालिस कोई एक चीज पेश की जाती हो—
या करना मुमकिन भी हो—
यह नहीं है।
आज के दिन चारों तरफ़ के संघर्षमय जीवन ने
हर प्रकार से हमें इस तरह ढँक लिया है—
हमारा सबका जीवन आज इस तरह चल रहा है—
कि सिर्फ़ एक किसी चीज को लेकर हम कुछ समझ ही
नहीं सकते,
उस चीज़ के बारे में, या किसी भी चीज़ के बारे में।
क्योंकि उस चीज़ पर जो रंग पड़ रहा है वातावरण का,
आसपास की घटनाओं का,
स्वयं हमारे और हमारे साथियों के विचारों का,
उस सबको हम उस चीज़ का
एक अंग समझने के आदी हो चले हैं।"

उर्दू-अंग्रेज़ी से प्रभावित यह दूसरी शैली है—कुछ-कुछ जवाहरलाल नेहरू के इलाहाबादी रंग में। पहले वाक्य के अन्त में हिन्दी के लिए अनोखा—'यह नहीं है', और दूसरे वाक्य में—आगे की चीज़ पीछे—'उस चीज़ के बारे में, या किसी भी चीज़ के बारे में।' 'क्योंकि' से शुरू होने वाला तीसरा वाक्य, वातावरण का, घटनाओं का, विचारों का—एकसे वज़न के ये तीन टुकड़े, वक्तृत्व-कला को सजाते हुए। आधुनिकता-बोध से इस तरह की वाक्य-रचना का गहरा सम्बन्ध है। पर वाक्य-रचना जैसी भी हो, चाल में वैसा ही धीमापन है जैसा पहले के उदाहरणों में।

गद्य की यह धीमी लय मन पर अवसाद की छाया छोड़ जाती है। कलाकार चाहे गद्य लिखे, चाहे पद्य, उसके मन की वास्तविक दशा उसके गद्य-पद्य की लय से ही प्रकट होती है, सचेत होकर व्यक्त किये गये भावों और विचारों से नहीं। गद्य की लय उपचेतन मन का दर्पण है और इन निबन्धों को लिखते समय शमशेर का अन्तर्मन विषादग्रस्त रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने सचेतन मन से जो भाव और विचार प्रकट किये हैं, उनमें और गद्य की अवसादग्रस्त गति में काफ़ी अन्तर है। शमशेर का सचेत मन दूसरों से प्रभावित होता है, विचार ग्रहण करता है, उन्हें अन्तर्मन पर आरोपित भी करता है पर ये विचार अन्तर्मन की भावधारा में घुल-मिलकर अपना अलगाव नहीं खो पाते। शमशेर का अन्तर्मन बड़ा हठी है, किसी की बात नहीं मानता, शमशेर की भी नहीं। पर वह अचल, अडिग, अपरिवर्तनशील नहीं है। 'आलोचना' में केदारनाथ अग्रवाल पर उनका जो निबन्ध छपा था, उसमें उनके गद्य की लय काफ़ी बदली हुई मालूम हुई और इससे शमशेर की बदलती हुई मनोदशा का परिचय मिलता है। उनका मन पहले से अधिक अकुंठित, अधिक विषादमुक्त और जीवन की ओर अधिक उन्मुख है।

'दोआब' के निबन्धों में शमशेर बहादुर सिंह ने कवियों के रोगी, अस्वस्थ मन की बार-बार चर्चा की है। उनके विषाद और निराशा की बार-बार आलोचना की है। इस आलोचना के द्वारा शमशेर स्वयं अपने मन की निराशा और विषाद से लड़ रहे थे। एज़रापाउंड और इलियट आदि जो अंग्रेज़ी में लिखने वाले कवि उन्होंने पढ़े थे, वे सब विषादग्रस्त थे, इलाहाबाद में रहते हुए पंत, महादेवी वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र की जो रचनाएँ पढ़ीं, उनमें भी विषाद की कमी न थी। स्वस्थ काव्य की खोज करते हुए शमशेर ने छायावादी कवियों का जो मूल्यांकन किया है, उसमें विषाद पर बहुत ज़्यादा ज़ोर है।

छायावादी कविता के विकास में 'पल्लव' की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें जो भावनाएँ व्यक्त हुई थीं, वे शमशेर के अनुसार 'बेहद रंगीन और मोहक' थीं, रोमानी छायाओं में लिपटी हुई थीं। 'उच्छ्वास' में बिखराव है, उसमें सबसे बड़ी कसर यह है कि 'यह चीज़ तन्दुरुस्त नहीं थी, किसी कदर बीमार थी।' 'वियोगी होगा पहला कवि' आदि पंक्तियों का अर्थ यह है कि 'बीमार को अपनी बीमारी से मोह था।' परिवर्तन में 'तन्दुरुस्त, मगर बहुत नाकामयाब कोशिश' की गई है, कवि की लिरिक-भावना अपनी एकांग सरसता में बहुत भारी होकर 'पाठक से हार मनवाने के अलावा, उसे विशेष कुछ देती नहीं।'

'पल्लव' के इस मूल्यांकन से हिन्दी कविता का विकास समझने में बहुत मदद नहीं मिलती। पहले तो 'पल्लव' में मानवीय और प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति पंत का दृष्टिकोण स्वीकृति का है अस्वीकृति का नहीं। शब्दों के सौन्दर्य से लेकर फूल-पत्तों के सौन्दर्य तक पंत ने अनेक वर्णों-रूपों वाले मानवीय परिवेश को बड़े कौशल से चित्रित किया है। उन्हें हिन्दी-आलोचकों ने सौन्दर्यवादी कवि के रूप में सहज ही स्वीकार किया और ठीक ही स्वीकार किया। दूसरे 'पल्लव' में जो विषाद है, वह रोगी मन का विषाद नहीं है, उल्लास और आनन्द चाहने वाले मन का विषाद है, जैसा शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ आदि रोमांटिक कवियों में है। वह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में 'डेकेडेंट' कवियों के विषाद से भिन्न है, हिन्दी में छायावादोत्तर 'बच्चन' जैसे कवियों के विषाद से भिन्न है। तीसरे 'पल्लव' का ऐतिहासिक महत्त्व तभी जाना जा सकता है जब सन् '२०-'३० में प्रचलित, रीतिवादी, नीतिवादी, राष्ट्रीय काव्य-धाराओं को पाठक भुला न दे। 'पल्लव' ने हिन्दी पाठकों और बीसियों युवक कवियों के मन में नयी सूक्ष्म संवेदनाएँ जगाई, उनकी आँखों के सामने एक नया अनूठा काव्य-जगत् आलोकित कर दिया, पहले जिसकी उन्होंने कल्पना भी न की थी। हिन्दी के रीतिवादी आलोचकों ने ही 'पल्लव' का विरोध सबसे ज़्यादा किया, इसलिए जिनमें रीतिवाद से भिन्न आधुनिकताबोध है, उन्हें उसे अधिक सहानुभूति से देखना चाहिए। निराला ने अवश्य 'पल्लव' की नुक्ताचीनी की लेकिन यह भी सही है कि 'पल्लव' के सौन्दर्य पर उनसे ज़्यादा मुग्ध दूसरा कवि नहीं था।

'पल्लव' के बाद 'गुंजन' में एक 'मधुर दार्शनिक वृत्ति' के दर्शन होते हैं, लेकिन मौलिकता की दृष्टि से विषयों में कवि को 'ग़रीब' कहा जाएगा। यों 'चाँदनी', 'नौका-विहार' इस युग की कविता के 'अछूते रत्न' हैं। 'ज्योत्स्ना' कवि की 'एकदम सफल और एकदम असफल चीज़ ठहरी है।' कला की दृष्टि से इसके गीत सुन्दर हैं 'मगर व्यंजना की मार्मिकता इनमें किंचित् खोई हुई है। प्रतीक छुईमुई-से हैं।' इनके मुकाबले 'युगान्त' में पंत अधिक विकसित कवि के रूप में सामने आते हैं। उनकी 'बापू' कविता "प्रथमतः अपने विचारों के बल से ही श्रेष्ठ है।"

'रूपाभ'-काल में पंत ने सचेत मन से छायावाद की भूमि त्यागकर प्रगतिवाद की ओर कदम बढ़ाया। छायावाद की अनेक खामियाँ दिखाने के साथ पंत ने उसकी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों को नज़रंदाज़ भी किया—विशेष रूप से निराला-काव्य के संदर्भ में। विचार-क्षेत्र में उन्होंने विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौलिकता का परिचय नहीं दिया। मार्क्सवाद और गांधीवाद का समन्वय करने में उन्होंने विचारों को बहुत उलझाया भी। पर यह सब उनकी कविता के लिए घातक नहीं था। जो चीज़ घातक थी वह यह कि पंत—बहुत-कुछ मैथिलीशरण गुप्त और सनेही की तरह—अपने विचारों को संवेदनाशून्य शैली में शब्दबद्ध करने को कविता समझने लगे थे। मैथिलीशरण गुप्त और स्नेही की राजनीतिक कविताओं में उनके विचार भाव-रंजित हैं, इसलिए उतने प्रभावशून्य नहीं हैं, जितने पंत की राजनीतिक कविताओं में। शेली और बॉयरन की राजनीतिक कविताओं से पंत के 'युगान्त' की तुलना करें तो सफल और असफल राजनीतिक कविता का अन्तर स्पष्ट हो जाएगा।

'पल्लविनी' पर शमशेर का लेख—जिसमें उन्होंने पंत-काव्य का उपर्युक्त विहंगावलोकन किया है—मार्च १९४१ के 'हंस' में प्रकाशित हुआ था। प्रगतिशील आन्दोलन को जन्म लिए अभी पाँच साल भी न हुए थे। आन्दोलन के सूत्र-धार शीघ्रता से आन्दोलन को व्यापक और समर्थ बना लेना चाहते थे। यदि अपने रचना-कौशल से वे साहित्य को समृद्ध करने की बात सोचते तो उन्हें बरसों मेहनत करने के लिए तैयार होना पड़ता। छायावादी कवियों ने कितनी लंबी साधना की थी तब कहीं जाकर उन्हें मान्यता प्राप्त हुई थी। फिर नया प्रगतिशील क्रान्तिकारी साहित्य! पाँच साल में ही मैदान सर। आन्दोलन को व्यापक बनाने के लोभ में इसके सूत्रधार अवसरवाद के शिकार हुए। वे ऐसी रचनाओं को श्रेष्ठ बताने लगे जो पुरानी राष्ट्रीय और जनतांत्रिक विचारधारा के हिसाब से भी प्रगतिशील नहीं थीं, ऐसी कवि-ताओं को उच्चकोटि का काव्य कहने लगे जिनमें भावोत्कर्ष और कलात्मक सौन्दर्य का नितान्त अभाव था। 'युगान्त' को 'पल्लव' और 'गुंजन' से श्रेष्ठ मानने का कारण यह अवसर-वाद था। आधुनिकता-बोध के हामी समझते हैं कि वे हिन्दी कविता को 'परिमल', 'अनामिका', 'पल्लव', 'गुंजन' और 'कामायनी' से बहुत आगे खींच ले गये हैं। ऐसे लोग सन् '४१ के प्रगतिवादियों की अपेक्षा अवसरवाद के दलदल में और भी गहरे धँसे हुए हैं।

'ग्राम्या' में 'पल्लव' के कवि का वह सहज विकास है जहाँ छायावाद प्रगतिशील काव्य के नये रूप ग्रहण करता है। पंत ने ग्रामवासियों के प्रति अपनी बौद्धिक सहानुभूति की बात की है, फिर भी यह सहानुभूति ग़नीमत थी—हार्दिक सहानुभूति 'ग्राम्या' से काफ़ी पहले निराला के 'चतुरी चमा[र]' में प्रकट हुई थी। छायावादी कवि मैथिलीशरण-वर्ग [के] कवियों की अपेक्षा भारतीय ग्राम-समाज को ज़्यादा सहा[नु]भूति से देखते थे। इस सहानुभूति का विकसित फल 'ग्राम्[या]' थी। शमशेर ने बहुत पते की बात कही है कि 'युगवाणी' [में] जो लिरिक-भावना खो गई थी वह 'ग्राम्या' में अधिक प्र[खर] होकर लौट आई है। दरिद्रता और अन्धविश्वासों के व[र्णन] के साथ पंत ने प्रकृति का चित्रण किया। शमशेर ने इस [की] की तारीफ़ की। उनके व्यंग्य और कटूक्तियों की वि[शेष] प्रशंसा की, 'ग्राम्या' में ऐसी बातें भी थीं जो पंत को [...] की ओर ठेल रही थीं। उस समय इन पर लोगों ने वि[शेष] ध्यान न दिया था।

'रूपाभ' में पंत के सहयोगी नरेन्द्र शर्मा ने छायावादो[त्तर] काव्य के विकास में विशेष योग दिया था। राजनी[तिक] कविताएँ लिखने में उन्हें सबसे ज़्यादा सफलता मिली थ[ी।] केवल गिरिजाकुमार माथुर ने '४६-'४७ के दौरान कुछ ब[हुत] ही सुन्दर राजनीतिक कविताएँ लिखी थीं जो नरेन्द्र [की] कविताओं से भी अधिक सुन्दर थीं। भाषा के सहज प्र[वाह] द्वारा जीवन की साधारण घटनाओं को काव्य का आलं[बन] बनाकर छायावाद के बाद नये यथार्थवाद की भूमि [पर] नरेन्द्र आगे बढ़े थे। साथ ही उनकी रचनाओं में यौन-कुंठा से उत्पन्न विषाद की मात्रा भी काफ़ी थी।

'दोआब' के निबन्धों में नरेन्द्र की राजनीतिक कविता[ओं] की चर्चा नहीं है। थकन और निराशा पर काफ़ी ज़ोर है। 'पलाशवन' में "एक थका, टूटा, बिखरा व्यक्तित्व, स[च्ची] शान्ति के लिए तड़पता हुआ और अपने संस्कार-निर्देशित [...] आदर्शों में जीवन का आधार खोजता और उन्हें समझता[...] हुआ…।" यह वाक्य कितने आधुनिक कवियों पर चस्पाँ न[हीं] किया जा सकता? थका, टूटा, बिखरा व्यक्तित्व—बहुत[-से] कवियों का यह जीवन-दर्शन बन गया है। रोमांटिक कवि[ता] का विरोध करने वाले 'आधुनिक' कवि उसी रोमांटिक भा[व]धारा को नया जामा पहना रहे हैं, वे यह नहीं जानते [कि] रोमांटिक काव्य के उत्कर्षकाल में यह थकने-टूटने वाला भ[ाव] दबा हुआ था, उत्तरकाल में वही भाव प्रमुख हो जाता है। 'आधुनिक' कवि इस उत्तरकालीन-ह्रासोन्मुख रोमांटि[क] भावधारा से जाने-अनजाने प्रेरणा ग्रहण करते हैं। शमशेर [ने] इस कुंठा-प्रेम की आलोचना करते हुए लिखा था, "सामा[...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धों का जो सौन्दर्य और आकर्षण जीवन के अवरुद्ध द्वार खोलकर व्यक्ति की सब शक्तियों को मुक्त और उल्लासपूर्ण नहीं करता, एक खुली हँसी की चमक-सी उसके अंग-अंग में नहीं भरता वह एक बहुत ग़लत और बीमार चीज़ है।"

शमशेर ने नरेन्द्र की प्रशंसा में लिखा है कि भाषा के अपनाव में और मुहावरे में और उसके संस्कार में, अभिव्यंजना की स्वस्थ स्वाभाविकता में, कवि का अपना 'आधुनिक' व्यक्तित्व है। इसमें इतनी बात मैं और जोड़ना चाहूँगा कि व्यक्तित्व की आधुनिकता केवल भाषा में प्रकट नहीं हुई, वह नरेन्द्र की भावना और विचारधारा में भी व्यक्त हुई है।

छायावादोत्तरकाल में 'निशा निमंत्रण' के बाद बच्चन ने 'सतरंगिनी' में एक नई दिशा की ओर कदम उठाया। यह वही दिशा थी जिसकी ओर पंत और नरेन्द्र बढ़ रहे थे। शमशेर ने 'सतरंगिनी' में बच्चन की 'पिछली रचनाओं के रंग और झलकियाँ' देखीं, साथ ही उन्होंने कवि के उस 'नये व्यक्तित्व' का उल्लेख किया जो 'आँधी, पानी और तूफ़ान के बाद एक नये धीरे-धीरे खुलते हुए आसमान के नीचे, जैसे इन्द्रधनुष की छाया में, उभर-उभर उठा है।' संघर्ष, आशा, विश्वास—यह सब बच्चन की सतरंगिनी में।

'सतरंगिनी', 'पलाशवन', 'ग्राम्या'—इन तीन नामों से तत्कालीन हिन्दी काव्य के विकास की दिशा पहचानी जा सकती है। जेल से छूटने पर कांग्रेसी नेताओं ने अपना कम्युनिस्ट-विरोधी अभियान शुरू किया, साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद से शान्तिपूर्ण सत्ता-दान के लिए सुलह-समझौते की बातें शुरू कीं। 'सतरंगिनी', 'पलाशवान', 'ग्राम्या' आदि के कवियों ने अपनी दिशा बदली। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' इस दिशा-परिवर्तन की चमकीली पताकाएँ थीं जिन्हें हिन्दी-संसार दूर-दूर से देख सकता था।

इस दिशा-परिवर्तन से कुछ पहले 'तारसप्तक' का प्रकाशन हुआ। इसके सात कवियों की एक सामान्य फ़ासिस्ट-विरोधी राजनीतिक भूमि थी। वात्स्यायन ने दिल्ली के फ़ासिस्ट-विरोधी सम्मेलन में सक्रिय भाग लिया था; प्रभाकर माचवे स्तालिनग्राद के वीरों की प्रशस्ति में कविता लिख चुके थे या लिखने वाले थे। गिरिजाकुमार माथुर साम्यवादियों के सहयात्री थे, शेष कवि साम्यवादी थे। ये कवि अंग्रेज़ी की रोमांटिक और हिन्दी की छायावादी कविता से एक हद तक प्रभावित थे, एक हद तक उससे अलग अपने लिए नई राहें बना रहे थे।

'दोआब' संग्रह में सबसे दिलचस्प लेख 'सात आधुनिक कवि' है। यह 'नया साहित्य' में छपा था और यह उल्लेखनीय है कि 'नया साहित्य' उस समय प्रगतिशील साहित्य का प्रतिनिधि पत्र था।

शमशेर ने सबसे पहले प्रयोगशीलता का प्रश्न लिया है—अज्ञेय की भूमिका के कारण। भूमिका के अनुसार सातों कवि इस विषय पर सहमत थे कि 'कविता प्रयोग का विषय है।' शमशेर ने लेख का आरम्भ यों किया :

"प्रयोग ही 'तारसप्तक' का नारा है।

इस दिशा में 'तारसप्तक' की क्या विशेषता है ? एकदम स्पष्ट कहा जाए, 'तो कोई ख़ास नहीं।'

पहला कारण यह कि 'तारसप्तक' के प्रयोग अन्य कवियों के संग्रहों में मिल जाएँगे। निराला में, पंत में, नरेन्द्र शर्मा में जिनकी एक कविता 'बटनहोल' भी पाठकों को अपरिचित न होगी। शमशेर ने प्रयोग का क्षेत्र ज़्यादातर छन्द को माना है, 'बटनहोल' के उल्लेख से उन्होंने कविता की विषयवस्तु की ओर भी ध्यान दिलाया है। 'बटनहोल' में प्रयोग की नई बात क्या है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया।

'दूसरा कारण जो 'तारसप्तक' के प्रयोगों को न्यून करता है, यह कि वे बहुत कम सफल हुए हैं, यहाँ सिवाय अज्ञेय और रामविलास के।'

यह वाक्य पचास फ़ीसदी ठीक तो है ही।

गिरिजाकुमार माथुर के प्रयोगों की सफलता हिन्दी में एक सुन्दर चीज़ है, पर वास्तव में वह भी इतनी मौलिक नहीं जितनी लगती है ऊपर से देखने में। माचवे के विम्बचित्र कवि की ओर से काफ़ी दायित्वहीनता का परिचय देते हैं। 'गजानन मुक्तिबोध की अभिव्यक्ति उनके कला-प्रकारों के अनुरूप सूक्ष्म और पुष्ट नहीं।'

इस प्रकार प्रयोगशीलता की दृष्टि से 'तारसप्तक' कोई मौलिक युगान्तरकारी महत्त्व नहीं है।

फिर 'कैसी भावभूमि हमें मिलती है इन कवियों में ?'

मुक्तिबोध-कवि की मान्यताएँ नकारात्मक हो गई हैं।

अज्ञेय—अपने चारों ओर वर्जनाओं का संसार देखते हैं, उनका 'हम'—'जनता का 'हम' नहीं, व्यक्ति का अपने 'जाग्रत अतीत' से प्राप्त 'हम' है।'

गिरिजाकुमार माथुर—उसकी भावुकता का ख़ज़ाना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो पीछे अतीत में है', आज के हृदय में तो उदासी है, थकावट है, सूनापन है, खोई हुई-सी परछाइयाँ हैं।"

प्रभाकर माचवे—उनकी ज्ञान की झोली में संशय के दो कण हैं, वर्ना रूखे-से व्यंग्य, फीकी-सी कटुता, कलापक्ष की ओर से उदासीनता।

नेमिचंद्र और भारतभूषण—जनता की शक्तियों के साथ आना चाहते हैं, 'और भावुकता में उस ओर बढ़ते भी हैं, मगर अपनी अन्दरूनी उलझनों को सुलझा नहीं सके हैं।'

'तारसप्तक' का यह मूल्यांकन उस समय की प्रगतिवादी आलोचना का अच्छा प्रतिनिधित्व करता है। स्वस्थ-अस्वस्थ, अतीत-वर्तमान, आशा-निराशा, व्यक्ति-समाज के जोड़े हर जगह दिखाई देते हैं, हर जोड़े में परस्पर निरपेक्ष, एकदम भिन्न दो इकाइयाँ हैं—विशेष रूप से व्यक्ति और समाज की इकाइयाँ। 'तारसप्तक' में कवियों ने अपने व्यक्तित्व के कौन-से नये पहलू उजागर किये, अपनी उलझनों को कितनी तटस्थता से काव्यरूप दिया—इन प्रश्नों की छानबीन करते हुए भी 'तारसप्तक' का मूल्यांकन संभव है।

'दोआब' के दो दिलचस्प लेख हॉली, मैथिलीशरण गुप्त और इकबाल पर हैं। शमशेर हिन्दी के उन थोड़े से लेखकों में हैं जो उर्दू कवियों पर साधिकार लिखते हैं। इस संग्रह में उर्दू साहित्य पर और कई लेख भी हैं। हिन्दी-उर्दू साहित्य एक ही जाति का साहित्य है, इसलिए जातीय साहित्य के दोनों रूपों पर एक साथ लिखना बहुत सही तरीका है। शमशेर का रागात्मक सम्बन्ध उर्दू काव्य से अधिक है, हिन्दी काव्य से कम। कई जगह उनकी काव्यरुचि फ़िराक की याद दिलाती है।

'हमारी आधुनिक सभ्यता का वास्तविक नग्न दिग्दर्शन हमें अपने किन हिन्दी छन्दों में मिला है? यह भीषण राग, जिसको सुनकर हमारे कान बधिर हो जाएँ, वहाँ हमारी चेतना-शक्ति को जाग्रति से तेजपूर्ण करता है?···

'बस, निराशा ही निराशा है, हृदय के मूक गान, सुख-दुःख के बुद्बुद्। हमारी उर्दू में भी···लेकिन यहाँ कम-से-कम इकबाल का एक गम्भीर आधुनिक स्वर है जो वर्तमान सभ्यता के स्तर-स्तर को भेद जाता है।'

ख़ैर, अपनी-अपनी रुचि। हिन्दी के सभी कवियों के मुकाबले शमशेर को इकबाल पसन्द हों, इस पर मुझे आपत्ति नहीं जब तक इकबाल की उर्दू कविता को वह उसी जाति के साहित्य का अंग समझें जिसने हिन्दी साहित्य रचा है। लेकिन हिन्दी-उर्दू के प्रगतिशील लेखकों में और बहुत-से कम्युनिस्ट नेताओं में यह विचारधारा बहुत गहराई से जड़ जमाये हुए है कि देश में हिन्दुओं की एक संस्कृति है, मुसलमानों की दूसरी। यह विचारधारा काफ़ी खुले रूप में सन् '४७ के आस-पास प्रकट की जाती थी। शमशेर के निबन्धों पर इस विचार-धारा का असर जहाँ-तहाँ दिखाई देता है। हॉली के 'मुसद्दस' और मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' में दो संस्कृतियों का परिचय दिया गया है—'मुसद्दस' में मुस्लिम संस्कृति का, 'भारत-भारती' में हिन्दू संस्कृति का। लेकिन 'हॉली में किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता की बू कहीं दूर तक भी हमें नहीं मिलती।' मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'जातिगत कटुता अथवा संकुचित दृष्टिकोण' नहीं आने दिया, केवल बौद्ध धर्म के सिलसिले में कवि का भाव 'संकुचित-सा हो गया है'। मुख्य बात यह कि 'भारत-भारती' में 'भविष्यत् मानो अतीत का ही प्रतिदर्पण है', ज़माना आगे बढ़ गया है पर मैथिलीशरण गुप्त अपने समय की प्रगति से कुछ पीछे पड़ गए-से जान पड़ते हैं।

यहाँ मैथिलीशरण गुप्त की अतीत-भविष्य-सम्बन्धी कल्पनाओं के बारे में कुछ नहीं कहना। मुख्य प्रश्न यह है कि 'भारत-भारती और मुसद्दस' को हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के ग्रन्थ कहना क्या उचित है?

हिन्दू धर्म या इस्लाम का नाम लेने से या उनसे प्रभावित होने से किसी कवि की रचना जातीय संस्कृति से ख़ारिज नहीं हो जाती। जितना हिन्दू-धर्म और इस्लाम 'भारत भारती' और 'मुसद्दस' में है, उससे बहुत ज़्यादा मात्रा में ईसाई धर्म दान्ते और मिल्टन के महाकाव्यों में है। फिर भी वे काव्य इतालवी और ब्रिटिश जातियों के महाकाव्य माने जाते हैं। किसी ने ईसाई और ग़ैर-ईसाई संस्कृतियों के आधार पर यूरोप के साहित्य का विभाजन नहीं किया।

लेकिन इकबाल ने धर्म के आधार पर देश के विभाजन की माँग की। हॉली मुसलमानों की उन्नति चाहते थे लेकिन मुसलमानों का अलग राज्य बनाने का प्रचार उन्होंने न किया था। इकबाल ने राष्ट्रीय एकता की ज़मीन छोड़कर साम्प्रदायिक संकीर्णता का रास्ता अपनाया था। इस परिवर्तन के बारे में शमशेर ने क्या मत प्रकट किया है?

"अस्तु, देश-प्रेम के लोकप्रिय तरानों का स्थान इकबाल की बाद की कविता में इस्लामी धर्म से अभिभावित एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापक प्रकार के आदर्शवाद ने ले लिया जिसमें इस्लामी दुनिया का सांस्कृतिक और धार्मिक संगठन का भाव अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है। वास्तव में स्वदेश-प्रेम से ऊपर उठकर इकबाल ने अपने धर्मानुयाइयों को जिस आदर्श की ओर प्रेरित किया है, उसे हम अनुदार कदापि नहीं कह सकते, यद्यपि कुछ पाठकों का इसके बारे में हमसे भिन्न मत है, क्योंकि इकबाल के 'मुस्लिम' की व्याख्या करने पर हम उसे संसार-समाज का एक आदर्श व्यक्ति पाते हैं।"

तब इकबाल ने पाकिस्तान का अलग राज्य बनाने की बात कैसे सोची? इकबाल ने जो कविताएँ फ़ासिस्टवाद के अभ्युदय के बाद लिखीं, उन पर फ़ासिस्ट विचारधारा का असर काफ़ी है। भारत की परिस्थितियों में इस फ़ासिस्ट विचारधारा ने घोर साम्प्रदायिक संकीर्णता का रूप लिया और यह संकीर्णता साम्राज्यवाद की जिस हद तक सहायक थी, यह देश के बँटवारे से साबित हो गया। उर्दू में बहुत-से राष्ट्रवादी और प्रगतिशील मुसलमान लेखकों ने इकबाल की साम्प्रदायिक संकीर्णता की कड़ी आलोचना की। शमशेर ने जिन कुछ पाठकों से मतभेद की बात कही है, वे ऐसे ही लोग हैं।

इकबाल के सम्बन्ध में शमशेर का मत मेरी इस स्थापना को पुष्ट करता है कि सन् '४८ से पहले अनेक प्रगतिवादियों में ऐसी विचारधारा प्रचलित थी जो सामान्य राष्ट्रीय और जनतांत्रिक विचारधारा को देखते हुए भी अवैज्ञानिक और प्रतिक्रियावादी थी, मार्क्सवाद से तो वह कोसों दूर थी ही। उस विचारधारा का पूरी तरह मूलोच्छेद आज भी नहीं हुआ है।

आधुनिक कविता के विकास के लिए यह ज़रूरी है कि हम अपने देश के साहित्यिक-सांस्कृतिक विकास को सही-सही समझें। जो संस्कृत नहीं जानते, वे कम-से-कम तुलसीदास और सूरदास की रचनाएँ पढ़ें, उनकी काव्यकला और शब्द-भंडार से लाभ उठाएँ। हिन्दी-उर्दू के रीतिवाद की भूमिका को सही ऐतिहासिक संदर्भ में देखें। शमशेर का मन एक ओर उर्दू के रीतिवाद से बँधा हुआ है, दूसरी ओर यूरोप-अमरीका की बहुत-सी ह्रासकालीन कविता से। हिन्दी-काव्य-परम्परा से उनका रागात्मक सम्बन्ध बहुत उथला है। वह जानते हैं कि उर्दू में रीतिवाद का ज़ोर है, उर्दू में रीतिवाद के अलावा भी बहुत-कुछ है, फिर भी रीतिवाद उन्हें मोहता है। उर्दू का विकास वह एक रूपक के माध्यम से यों समझाते हैं। उर्दू मर्माहता विषाद नगरी दिल्ली की भोली बालिका है, जिसका स्वर कुछ बचपन से ही करुण रहा है, जब उसने लखनऊ का ऐश देखा तो पलकों में विलास जाग उठा, और कपोल सुहास से खिल उठे, "पर आज उसका यौवन-स्वर बहुत गम्भीर—बहुत कोमल तथा मधुर—किन्तु बहुत गम्भीर हो गया है।"

इधर हिन्दी कवियों का क्या हाल है? फ़िराक के स्वर में हिन्दी कवियों को फटकारते हुए उसी लेख ('उर्दू कविता') में शमशेर कहते हैं, "अब यह नहीं कि इंगलैण्ड के पिछली शताब्दी के कवियों की काल्पनिक उड़ान का दम भरते रहने में या रवीन्द्रनाथ की तत्सम संस्कृत शब्दावलियों को उन्हीं के प्रतिस्वर में झंकृत करते रहने में हम अपनी उत्कृष्टता समझते रहें···" अर्थात् हिन्दी की काव्य-संपदा अंग्रेज़ी बंगला की उतरन है।

उर्दू के विकास पर जो बातें शमशेर ने कही हैं, वे पूरी तरह सही नहीं हैं, हिन्दी काव्य की जो झलक उन्होंने दी है, वह भी ग़लत है। पर इससे उनकी आन्तरिक वृत्तियों का पता चलता है।

हिन्दी में कवयित्रियों का अभाव है—यानी शमशेर ने जब 'उर्दू कवयित्रियाँ' लेख लिखा था, तब उन्हें ऐसा अभाव दिखाई देता था। इसका कारण हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का अन्तर है। सामान्य गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी मुसलमान स्त्रियों के लिए आत्माभिव्यक्ति अथवा व्यक्तित्व-प्रकाशन जिस प्रकार सहज और स्वाभाविक रहा है—कला या किसी भी क्षेत्र में—उस प्रकार हिन्दू स्त्रियों के लिए वह संभव भी नहीं हो सकता।

गृहस्थ नारियों ने ही उर्दू कविता का विकास नहीं किया। उनसे भिन्न स्त्रियों का एक वर्ग और है।

"इसके अलावा और जिस वर्ग के लिए काव्य-रचना, विशेषकर ग़ज़ल कहना, एक स्वाभाविक और सुगम बात रही है (और आवश्यक भी) वह है सुसंस्कृत तवायफ़ों का भावुक वर्ग। अक्सर अच्छे-अच्छे शायर जाकर अपनी ग़ज़लें इनसे गवाते थे, इसके अतिरिक्त, संगीत और नृत्य-कला के साथ-साथ रसिक दरबारों की सोहबत उन्हें यों ही कवि बना देती थी। अस्तु, इस रूप के बाज़ार में, जहाँ यौवन की रंगरलियों में हृदय की दौलत लुटती हो, बहुतों का सुन्दर श्रृंगारी कवि न हो जाना ही आश्चर्य की बात होती।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शमशेर ने बड़ी सहानुभूति से यह सब लिखा है। सहानुभूति का कोश इस तरफ़ इतना ख़ाली हो गया कि हिन्दी कवियों के लिए उसका बहुत कम हिस्सा बच रहा।

आधुनिक कवि की चेतना चक्करदार रास्तों से होकर विकसित हो रही है। मानसिक उलझनें मुक्तिबोध या 'तार-सप्तक' के कवियों में ही नहीं है, वे 'दूसरा सप्तक' के कवियों में भी हैं, इन सप्तकों के और बहुत-से कवियों और लेखकों में हैं। हम इनसे आँखें नहीं चुराते, इन्हें खुली तर्कभूमि पर खींच लाते हैं, उन पर बहस करते हैं जिससे सही रास्ता पहचानने में मदद मिले। ऊपर अलगाव की जिन बातों का उल्लेख किया गया है, वे रास्ते की रुकावट हैं, उन्हें हटाना ज़रूरी है। पर शमशेर के निबन्धों में उनके अलावा और बहुत-कुछ है। पूँजीवादी शोषण के बारे में कुछ कहना आजकल साहित्यिक 'एटीकेट' के ख़िलाफ़ है, समाजवादी व्यवस्था में आस्था प्रकट करना आधुनिकता-बोध के अनुकूल नहीं माना जाता। फिर भी पूँजीवाद है, पूँजीवादी शोषण है, मनुष्य की विचारधारा का उससे गहरा सम्बन्ध है, और इस शोषण से निकलने का एक ही उपाय है, समाजवादी व्यवस्था कायम करना। इस व्यवस्था के हज़ार रूप हो सकते हैं, लेकिन अगर वे समाजवाद के ही रूप में हैं तो उनमें एक चीज़ सामान्य होनी चाहिए—पूँजीवादी शोषण की समाप्ति, उत्पादन और वितरण के प्रमुख साधनों पर श्रमिक जनता का अधिकार।

सुभद्राकुमारी चौहान वाले निबन्ध में शमशेर ने लिखा है—"हर तरफ़ ऊपरी तबका नीचेवालों की गर्दन पर सवार है और अपने पूँजी के हित उस पर ढोकर, उसे पसलियों के बल चलाना चाहता है। हुकूमत, व्यापार, नौकरी और धन्धा—सब पर दाँव लगा हुआ है। बाहरवालों का भी और घरवालों का भी, बल्कि मिलकर।"

ये बातें मार्च '४८ में जितनी सही थीं, उससे ज़्यादा सही सन् '६८ में हैं। हिन्दी-उर्दू के अधिकांश प्रगतिशील लेखक सन् '४८ में स्थिति के इस विश्लेषण से सहमत थे। फिर तरह-तरह के बहाने करके वे पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण पर पर्दा डालने लगे और समाजवाद के लक्ष्य से मुँह मोड़ने लगे। पिछले पन्द्रह साल के दौरान प्रगतिशील लेखकों के बिखराव का यह मुख्य कारण है।

सन् '२० की राष्ट्रीय एकता को याद करते हुए शमशेर ने उसी निबन्ध में लिखा है, "हफ़्तों, बल्कि महीनों से—किस शौक के साथ त्यौहारों का इन्तज़ार रहता था, हिन्दू-मुसलमान सबको। आखिर मेला तो मेला, जिसमें सब शरीक, और बरस-बरस के त्यौहार, सभी की मुरादों के दिन। फिर क्यों न हिल-मिलकर अच्छी तरह सारे पर्व मनाये जाएँ, विजया-दशमी, राखी, जन्माष्टमी की झाँकियाँ···मोहर्रम के ताज़िये। और फिर उन दिनों के कांग्रेस के जलसे, जिनमें पहली बार, सचमुच 'जागा देश हमारा'। समूचा भारत। देश का पहला सच्चा भरा-पूरा राष्ट्रीय उत्थान, जैसे अल्हड़ जवानी में पहला कदम कोई रखे।"

इस एकता में बहुत-सी ख़ामियाँ थीं। सबसे बड़ी ख़ामी यह कि इस एकता का आधार किसानों और मज़दूरों के संगठन न थे। खिलाफ़त के प्रश्न पर कांग्रेसी नेताओं ने अवसरवादी रुख अपनाया था। इसीलिए वह एकता प्रतिक्रियावाद के हमले बर्दाश्त न कर सकी। लेकिन अड़तालीस साल बाद समाजवादी राजनीतिज्ञों ने मुस्लिम-लीग और जनसंघ के साथ मिलकर मंत्रिमंडल बनाने का जो काम किया, उसमें अवसरवाद कम नहीं है। सन् बीस की तुलना में यह अवसरवाद कहीं ज़्यादा घृणित और घातक है।

शमशेर ने जनता की एकता और उसकी अजेय शक्ति में दृढ विश्वास प्रकट करते हुए आगे लिखा है, "सारे जहान की ताकत इन्सान के इरादों में उस वक्त होती है—पृथ्वी का सारा अटल विश्वास उसकी आवाज़ में बोलता है। और अपने सच्चे जन्मसिद्ध अधिकारों के लिए जब ऐसी आवाज़ें एक होकर उठती हैं तब कौमों की किस्मत का फ़ैसला कर देती हैं। अमल अनुभव की तीसरी आँख खोल देता है, जिसकी प्रखर रोशनी में अपनी कमज़ोरियाँ और वैरी दुश्मन के मनसूबे सब जल जाते हैं। बशर्ते कि वह आँख खुली रहे—अमल के रास्ते की तरह, अबाध जन-शक्ति की तरह। बन्द न हो। क्योंकि अन्त में विजय तो उसी की है।"

और इस सबसे एक नतीजा कवि के लिए निकलता है, "इसलिए उन आवाज़ों के साथ मिलकर अगर कोई गायेगा, तो जनगान की बड़ी मज़बूत धारा उसके स्वर में गूँजेगी।"

कविता केवल जनगान नहीं, उसमें जन-संघर्षों की गूँज के अलावा और बहुत-कुछ है। उसमें व्यक्तित्व की उलझनों के लिए जगह है, लेकिन सामाजिक दायित्व और जन-आन्दोलनों से कटकर कविता केवल व्यक्तिगत कुंठाओं के दायरे में घुमड़ती रहे, यह भी एक अस्वाभाविक क्रिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस समय राष्ट्रीय पैमाने पर जनशक्ति में बिखराव है, जन-आन्दोलन असंगठित हैं। इसलिए कवियों की रचनाओं में भी इस बिखराव की झलक मिलती है। लेकिन मनुष्य का मन परिस्थितियों के प्रतिबिंब दिखाने वाला निष्क्रिय दर्पण नहीं है। वह गतिशील, विकासमान, रचना-सामर्थ्य से सम्पन्न है। वह परिस्थितियों से ऊपर उठकर बिखराव को दूर करने में सहायक हो सकता है। फिर परिस्थितियों में बिखराव-ही-बिखराव नहीं है, एकता और संगठन की शक्तियाँ भी हैं।

शमशेर बहादुरसिंह के इन निबन्धों का ऐतिहासिक महत्त्व है क्योंकि इनमें वे चक्करदार रास्ते दिखाई देते हैं जिनसे होकर बहुत से कवि और लेखक आगे बढ़े हैं। इन निबन्धों को पढ़ना इसलिए जरूरी है कि शमशेर की पुरानी मान्यताओं में बहुत-कुछ मूल्यवान है जिसे आज के बहुत-से कवि भूल गए हैं और उनमें बहुत-सी ख़ामियाँ हैं जिन्हें न पहचानकर कुछ लोग आज भी अलगाव की राहों पर चल रहे हैं।

शमशेर के इन निबन्धों का साहित्यिक महत्त्व बहुत दिन तक ताजा रहेगा। वे एक अत्यन्त संवेदनशील कवि के निबन्ध हैं जो रचनाओं पर मुग्ध होता है, गद्य में अपनी अनुभूति व्यक्त करता है, जो विवेकशील तार्किक-मात्र नहीं है। ये निबन्ध उन रचनाकारों पर लिखे गये हैं जो हिन्दी-उर्दू साहित्य की प्रगति पर अच्छा-बुरा असर डालते रहे हैं। निबन्धों की यह पुस्तक उन थोड़ी-सी किताबों में है जिनमें हिन्दी-उर्दू साहित्य की समस्याओं पर एक जगह विचार किया गया है।

इस पुस्तक का सर्वाधिक महत्त्व स्वयं शमशेर के रचना-विकास के सन्दर्भ में है। हिन्दी कविता के नये कलात्मक विकास में उनका योगदान बहस की चीज़ नहीं। उनके जो विचार, संस्कार, संवेदनाएँ आज हैं, उनमें पिछले बीस साल में मूलतः परिवर्तन नहीं हुआ। कवि शमशेर के विकास को समझने के लिए यहाँ दुर्लभ सामग्री है। यही नहीं, उनकी कविता के गद्य का मज़ा बहुत जगह इन निबन्धों के गद्य में भी है।

शमशेर ने कहा—'दोआब' का दूसरा संस्करण होने जा रहा है।

उसकी भूमिका लिखने में मैंने गौरव का अनुभव किया।

आशा है, 'दोआब' अपने दूसरे संस्करण में पाठकों को—निकट भविष्य में—अवश्य सुलभ होगा। और इधर शमशेर ने जो बहुत सुन्दर निबन्ध लिखे हैं, उनका संकलन भी शीघ्र प्रकाशित होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखो न हक़ीक़त हमारे समय की[1] | *विश्वनाथ त्रिपाठी*

भीड़ ने महल पर पत्थर फेंके
वे पत्थर मेरे पास आकर
कविता की पंक्ति बन गए
मैंने एक कविता लिखी
और वह भीड़ के हाथों
पत्थर का टुकड़ा बन गई
देखो न हक़ीक़त हमारे समय की
कि पत्थर के टुकड़ों की सार्थकता कविता बनने
और कविता की सार्थकता
पत्थर के टुकड़े बनने में है।

मैंने एक बड़े आदमी से पूछा
'तुमने यह कोट कहाँ से पाया'
उसने मुझे घूरकर देखा
और कोट उतारकर फेंक दिया।
मैंने उससे पूछा
'तुमने यह चश्मा कहाँ से पाया'
उसने चश्मा भी उतारकर फेंक दिया
और अंधा हो गया।
जब मैंने पूछा
'बड़े आदमी! तुम आदमी तो हो न!'
तो वह नंगा हो गया और मर गया
देखो न हक़ीक़त हमारे समय की
कि लोगों से उनका और चीज़ों का रिश्ता पूछो
तो वे नंगे होकर मर जाते हैं।

१. शमशेर बहादुर सिंह की सुप्रसिद्ध कविता 'अमन का राग' की एक पंक्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलात्मक प्रतिज्ञा

दि० के० बेडेकर

कवि को या कलाकार को निरंकुश माना गया है, प्राचीनों की यह धारणा रही और आज भी यही धारणा प्रबल है। 'दिगम्बर' पंथियों का कहना है कि परम्परा से और प्रतिष्ठित संस्थाओं से वे मुक्त हैं। रूढ़ मूल्यों को वे 'बंधन' मानते हैं, उनसे छुटकारा पाना यही उनका ध्येय है।

निरंकुशता की यह धारणा उपयुक्त है। कलाकार मुक्त होगा तो सर्जन कर सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन 'मुक्त' होने से सर्जन की प्रक्रिया होने की सिर्फ़ संभावना होती है, ज़्यादा कुछ नहीं होता। 'मुक्ति' केवल नकारात्मक होती है। मुक्ति सर्जन नहीं है। हमारे प्राचीन दर्शनों में 'मुक्ति' की धारणा है। वह मुक्ति संसार से है। लेकिन संसार से छुटकारा पाना आध्यात्मिक पथ पर चलने में सिर्फ़ प्रथम पदन्यास है। अन्तिम श्रेय है ईश्वर को प्राप्त करना या ब्रह्म से एकरूप होना। इसी तरह कलाकार की मुक्ति भी केवल प्रथम पदन्यास है। सर्जन की प्रक्रिया वहाँ से सिर्फ़ शुरू होती है।

मुक्ति के बारे में यह दृष्टिकोण माना जाता है, फिर भी मुक्ति को ही कलात्मक सर्जन का प्राण मानने की चेष्टा की जाती है। मुक्ति को सर्जन का अन्तिम श्रेय भी माना जाता है। कलास्वरूप शास्त्र (एस्थेटिक्स) में 'मुक्ति' के सिद्धान्त को ठीक न समझने से कई ग़लतफ़हमियाँ दृढ़मूल हो गई हैं। इसलिए 'मुक्ति' का निषेधात्मक (नेगेटिव) रूप ध्यान में रखना उचित होगा।

कलासर्जन सिर्फ़ मुक्ति नहीं है, इस बात को आज नवसाहित्यकार भी मानते हैं। नवसाहित्यकार 'लेखक की कमिटमेंट' को आज महत्त्व की बात मानते हैं। 'कमिटमेंट' का अर्थ कुछ भी हो, वह मुक्ति नहीं बल्कि बन्धन है। (मराठी नवसाहित्यकारों ने 'कमिटमेंट' का पर्याय शब्द 'बांधिलकी' बनाया है, जिसका सरल अर्थ है 'बन्धन')।

'कमिटमेंट' क्या है? यूरोप के साहित्यकारों ने इस तत्त्व को किस तरह समझा यह बात सोची जा सकती है। लेकिन हमें इस तत्त्व को अपना अर्थ और आशय देना होगा। साहित्यिक अपने-आपको किसी बन्धन से बाँध लेता है। इस बन्धन को हम 'उसका कमिटमेंट' कह सकते हैं। इस प्रकार के बन्धन की कल्पना नयी नहीं है। इसीको प्रतिज्ञा कहा जाता था। भीष्म की प्रतिज्ञा थी कि वे आमरण ब्रह्मचारी रहेंगे। क्षत्रियों की प्रतिज्ञा रहती थी कि वे युद्ध में पीठ न दिखाएँगे। प्राचीन संस्कृति में प्रतिज्ञा-भंग को बड़ा पाप समझा गया था। कुछ प्रतिज्ञाएँ जाति या कुल की परम्परा से व्यक्ति को बाँध देती थीं, कुछ व्यक्ति की स्वयं स्वीकृत प्रतिज्ञाएँ होती थीं।

आज हम कह सकते हैं कि साहित्यकारों को बाँधने वाली 'कलात्मक प्रतिज्ञा' होती है। यह प्रतिज्ञा उनको किसी दर्शन से, सामाजिक सिद्धान्त से, या धार्मिक रूढ़ि से नहीं बाँध देती। इन बाह्य बन्धनों से कलाकार मुक्त होता है। लेकिन फिर भी वह अपनी प्रतिज्ञा से बद्ध होता है। इस प्रतिज्ञा को 'कलात्मक प्रतिज्ञा' कहना उचित होगा।

इस प्रतिज्ञा के बारे में कुछ और कहना आवश्यक है, इसलिए कि 'प्रतिज्ञा' के तत्त्व को विपरीत या ग़लत रूप में माना जा सकता है। कलाकार या साहित्यकार अपनी प्रतिज्ञा से बद्ध होता है, इस सिद्धान्त को लेकर कहा जाता है कि वह अपने मन में जो कुछ भी आता है उसे लिखने को बाध्य है। यह बात खोखली है, और 'निरंकुशता' का तत्त्व ही 'प्रतिज्ञा' के छद्म-रूप में यहाँ माना जाता है। दूसरी तरफ़ कुछ लोग मानते हैं कि 'प्रतिज्ञा' का तत्त्व मानने पर कलाकार के सर्जन-स्वातंत्र्य को मानना ग़लत होगा। लेकिन 'कलात्मक प्रतिज्ञा' का यह अर्थ नहीं होता। सर्जन तो कला का प्राण है, 'प्रतिज्ञा' से इस प्राण को कुछ हानि पहुँचना असंभव है। 'कलात्मक' प्रतिज्ञा का पालन करना सर्जन को पोषक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा।

कलात्मक प्रतिज्ञा का अर्थ सर्जन के सन्दर्भ में ही लेना होगा। प्रत्यक्ष रूप में हम देखेंगे, और महान् कलाकृतियों की महात्मता पर सोचेंगे, तो प्रतीत होगा कि इन कृतियों के कलाकारों ने प्रतिज्ञा का पालन दो तरह से किया :

(१) उन्होंने अपनी जीवन-दृष्टि से बाह्य सृष्टि को या मानवीय जीवन को देखा, और जैसा जो कुछ देखा उसको वैसे ही सामने रखा। अनुभव लेने में और उसे आविष्कृत करने में उन्होंने दूसरों की दृष्टि का, या किन्हीं पारंपरिक, राजनीतिक या नैतिक संस्कारों का, प्रभाव अपने मन पर पड़ने नहीं दिया।

(२) आविष्कार के कार्य में अपने आविष्कार को मूर्त करने के लिए उन्होंने कुछ माध्यम (मीडियम) स्वीकृत किये, और उनसे वे ईमानदार रहे। उदाहरण के लिए, अपने अनुभव को नाटक के रूप में आविष्कृत करने की प्रतिज्ञा करने पर नाटक के नियमों का पालन वे करते रहे। जहाँ पारंपरिक नियम उनको अच्छे न लगे वहाँ उन्होंने नये संकेत बनाये, लेकिन इसमें 'नाटक' के माध्यम को समर्थ करने की कोशिश उन्होंने की।

प्रतिज्ञा के ये दो रूप या पहलू एक ही तत्त्व पर आधारित हैं। कलाकार वंचना नहीं करता, न आत्मवंचना करता है, न 'माध्यम-वंचना' करता है। 'प्रतिज्ञा'-पालन का दूसरा अर्थ क्या हो सकता है?

महान् कलाकारों को छोड़कर हम किसी सामान्य कलाकार को भी लेंगे तो यही प्रतिज्ञापालन की आवश्यकता महसूस होगी। किसी सामान्य लेखक को लीजिये, जो कि मनोरंजक हास्य-विनोद का साहित्य लिख रहा है। व्यक्तियों और समाज के जीवन में जो विचित्र विसंगतियाँ, दम्भ और भ्रष्टताएँ होती हैं उनको वह सामने लाता है। विनोद का स्तर अच्छा हो तो यह साहित्य सभी को दिलचस्प लगता है।

विनोद की दृष्टि रखने वाला यह लेखक अपनी दृष्टि से पूरे जीवन को देखता है, और लिखता जाता है। लेकिन, यह भी कभी-कभी होता है कि वह अपनी दृष्टि को खो बैठता है और दूसरी किसी दृष्टि को अपनाकर क्रोध से या मत्सर से भरा हुआ विनोद करने लगता है, या किसी की चापलूसी करता है। अब उसका साहित्य विनोद के बाह्य वेष में होने पर भी प्रचार-साहित्य बन जाता है। यह उसके लिए असल में 'प्रतिज्ञाभंग' मानना चाहिए।

प्रतिज्ञा-भंग होने की दूसरी संभावना यह होती है कि लेखक अपने लेखन में भाषा के माध्यम को भ्रष्ट करने की ग़लती कर बैठता है। उसकी आत्मा भ्रष्ट नहीं होती और वह अपनी प्रतिज्ञा का पालन मन से करना चाहता है। लेकिन भाषा का उपयोग करने में वह असफल रहता है, और इस तरह अपने कार्य को कर नहीं पाता। यह भी 'प्रतिज्ञा-भंग' ही हो जाता है।

आज के साहित्य में हम देखते हैं कि दोनों प्रकार के 'प्रतिज्ञा-भंग' हो रहे हैं। यह तो जैसे आज होता है वैसे प्राचीन काल में भी होता रहा, और भविष्य में भी होता रहेगा। मनुष्य प्रतिज्ञा करने के लिए समर्थ है लेकिन उसका सफलता से पालन करने के लिए समर्थ नहीं होता। ज्ञान के, नीति के, सामाजिक और राजनीतिक कर्तव्यों के क्षेत्रों में भी प्रतिज्ञापालन इसी तरह होता है। धर्मराज और गांधीजी भी प्रतिज्ञा-पालन में कुछ सीमा तक समर्थ रहे, फिर औरों की बात तो क्या? तो यह बात माननी होगी कि मनुष्य-मात्र की मर्यादा ध्यान में लेते हुए किसी क्षेत्र में पूरा प्रतिज्ञा-पालन नहीं हो सकता।

भय इस मर्यादा में नहीं है, असमर्थता में नहीं है। भय मर्यादा को न पहचानने में है। कलाकार की प्रतिभा 'दिव्य और अलौकिक' होती है, उसे सौंदर्य का पूरा दर्शन हो जाता है, उसका आविष्कार भले ही दूसरों को दुर्बोध लगे, वह परिपूर्ण होता है, इस तरह की धारणाओं से भय है। प्राचीन काल से ये धारणाएँ कलाकारों और उनके समर्थकों ने (रसिकों और समीक्षकों ने) अपनाई हैं। आज कुछ नई धारणाएँ प्रबल हुई हैं। अस्थापना से (ऐस्टेब्लिशमेंट से) विद्रोह, नग्नता, दुर्बोधता—ये नये 'तत्त्व' आज साहित्यकारों में प्रतिष्ठित हो रहे हैं।

इन सब प्राचीन और आधुनिक धारणाओं का भी अपनी-अपनी मर्यादाओं में अर्थ होता है। लेकिन इनकी आंशिक और सामयिक उपयोगिता है, यह बात मानना आवश्यक है। 'दिव्य और अलौकिक' सर्जन करना कलाकार की प्रतिज्ञा नहीं हो सकती, 'नग्नता' भी प्रतिज्ञा नहीं हो सकती। इसी तरह, आज की साहित्यिक चर्चाओं में आने वाले 'तत्त्व' या 'सिद्धांत' आंशिक और सामयिक होते हैं। इनमें से कुछ 'तत्त्व' यूरोप की साहित्य-चर्चाओं से अनायास और अनावश्यक तरीके से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयात (इंपोर्टेड) होते हैं। लेकिन यह बात महत्त्व की नहीं है। अच्छी चीज़ आयात करना लाभदायक क्यों न होगा? पिछले सौ-डेढ़सौ वर्षों में हमने बहुत सारे सिद्धान्त हर क्षेत्र में दूसरों से लिये हैं, तो साहित्य-क्षेत्र में दूसरों से लाभ उठाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। सच बात तो यह है कि आज हम प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र से जो कुछ लेते हैं वह भी 'आयात' ही होता है, इसलिए कि आधुनिक देश-भाषाओं के साहित्य के बारे में वे प्राचीन भारतीय सिद्धान्त काल की दृष्टि से 'बाह्य' होते हैं।

यूरोप के हों या प्राचीन भारतीय हों, सभी साहित्यिक सिद्धान्त अपने देश-काल की मर्यादाओं में पैदा हुए हैं और प्रबल हुए हैं। उनको समझ लेना उचित होगा, लेकिन इनमें से किसी एक सिद्धान्त से सर्जन की प्रक्रिया का मार्ग-दर्शन नहीं हो सकता। सर्जन की प्रक्रिया तो कलाकार को अपने मन से करनी होगी, और उसमें अपनी समस्याओं का उत्तर अपने-आप ही खोजना होगा। साहित्यिक और कलाकार सिर्फ़ इतना ही सोच सकता है कि, मैं अपना एक धर्म, एक प्रतिज्ञा, जानता हूँ। इसलिए 'प्रतिज्ञा' का तत्त्व, मैं समझता हूँ, कलाकार के लिए मार्गदर्शक है। दूसरी सब बातें उसके लिए उपकारक नहीं हैं, बल्कि बाधा डालने वाली हो सकती हैं। और 'प्रतिज्ञा' भी सादी, सरल और नये-पुराने 'तत्त्वों' से न दबी हुई होनी चाहिए। वरना वह 'प्रतिज्ञा' नहीं रहती, वह किसी 'तत्त्व' का, या 'संकेत' का, या 'विद्रोह' का अंधमार्ग हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्रता का स्वरूप

यशदेव शल्य

स्वतन्त्रता के प्रश्न पर अनेक सन्दर्भों में विचार हो सकता है, किन्तु ये सब सन्दर्भ दो वर्ग बनाते हैं—अन्यों की इच्छा के शासन से अनधीनता और अपनी प्रकृति के शासन से अनधीनता। एक प्रकार से, प्रथम प्रकार की स्वतन्त्रता दूसरे प्रकार की स्वतन्त्रता को पूर्वापेक्षित करती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जिसे दूसरे प्रकार की स्वतन्त्रता उपलब्ध है उसे प्रथम प्रकार की स्वतन्त्रता भी उपलब्ध हो। किन्तु यह कहा जा सकता है कि, जिसे दूसरे प्रकार की स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं है उसके लिए प्रथम प्रकार की स्वतन्त्रता का भी कोई अर्थ नहीं है।

दर्शन के लिए समस्या केवल दूसरे वर्ग की स्वतन्त्रता को लेकर ही है, क्योंकि प्रथम वर्ग की स्वतन्त्रता की समस्याएँ या तो व्यावहारिक हैं अथवा दूसरे वर्ग की समस्याओं पर निर्भर करती हैं।

दूसरे वर्ग की समस्याओं का स्रोत एक अनुभूत वस्तु-स्थिति का एक मौलिक बौद्धिक कोटि से विरोध है। यह बौद्धिक कोटि है कारण-कार्य सम्बन्ध की—प्रत्येक घटना अथवा अवस्था किसी अन्य घटना अथवा अवस्था का कार्य है। यह जितना भौतिक घटनाओं के लिए सही है उतना ही मानसिक घटनाओं के लिए भी सही है। यद्यपि मानसिक घटनाओं को कारण-कार्यात्मक सन्दर्भ के बजाय प्रयोजनात्मक सन्दर्भ में भी समझा जाता है, किन्तु तात्कालिक सुविधा के लिए हम इसे भी एक अन्य प्रकार का कारण-कार्य सम्बन्ध मान सकते हैं। कारण-कार्य सन्दर्भ में प्रत्येक घटना अन्य घटना का कार्य होने से कोई घटना प्रथम नहीं हो सकती और न उसका अपना कोई तन्त्र ही हो सकता है—उसका कोई परिच्छिन्न स्वरूप नहीं हो सकता। किन्तु हम अपने आन्तर अनुभव में एक परिच्छिन्नता का अनुभव करते हैं, हमें प्रतीत होता है कि क्रिया का कारण 'मेरा' संकल्प है और मेरे संकल्प का अन्य कोई नियोजक नहीं है।

किन्तु इस अनुभूत परिच्छिन्नता का बहुत आसानी से प्रत्याख्यान किया जा सकता है, यह दिखाया जा सकता है कि यह संकल्प किसी प्रयोजन से नियोजित है, प्रयोजन हमारी किसी कामना का पूरक है, कामना किसी अन्य कारण से—शारीरिक से या अन्य कामना से अथवा आवेग से—नियोजित है, और ये किसी अन्य विषय से या उद्दीपन से नियोजित हैं। इस प्रकार से मनुष्य को या ईश्वर को आदि कारण के रूप में प्रतिष्ठित करने के इस प्रकार के प्रयत्न कोई समाधान करते प्रतीत नहीं होते, उनमें एक प्रकार की यादृच्छिकता दिखाई देती है। अरस्तू की इस स्थापना में कि "डण्डा पत्थर को हिलाता है और यह स्वयं हाथ से हिलाया जाता है, और हाथ को मनुष्य हिलाता है" (फ़िज़िक्स, २५६ ए) तथा न्याय द्वारा ईश्वर की जगत् के निमित्त कारण के रूप में कल्पना में और स्वयं उसके निमित्त कारण के रूप में किसी की माँग न करने में ऐसी ही यादृच्छिकता दिखाई देती है। मेरा यह कहना नहीं है कि यह असंभव है कि हाथ को हिलाने वाले मनुष्य को प्रेरित करने वाला कोई नहीं हो, किन्तु यह जिस बौद्धिक कोटि के अन्तर्गत कल्पित है उसी पर यह सीमा लगाता है, जिसका इस कोटि के अन्तर्गत कोई औचित्य नहीं है।

कारणता का निषेध स्वतन्त्रता नहीं अनिर्धारितता देता है—यदि सब घटनाएँ, या कुछ घटनाएँ, अन्य घटनाओं का कार्य नहीं हैं तब वे 'स्वतन्त्र' हैं, ऐसा कहना उचित नहीं है, तब वे अनिर्धारित कही जाएँगी, अर्थात् उनके सम्बन्ध में कोई नियम संभव नहीं होगा, यद्यपि आगमनात्मक अनुमान सम्भ

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के त्रयोदश अधिवेशन में 'स्वतन्त्रता का स्वरूप' गोष्ठी में पठित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा। ह्यूम तथा चार्वाकों की घटनाएँ इसी प्रकार की हैं, आधुनिक अनुभववादियों का भी यही अभिमत है।

यहाँ उन लोगों की भूल भी देखी जा सकती है जो मानव-स्वतन्त्रता को मनुष्य की नकारने की सामर्थ्य में, भविष्य-वाणियों को झुठलाने की उसकी सामर्थ्य में, देखते हैं। उसकी नकारने की सामर्थ्य का स्रोत आवश्यक रूप से उसकी स्वतन्त्रता का सूचक नहीं है, क्योंकि नकारना केवल विशेष उद्दीपनों की विशेष प्रतिक्रिया-मात्र हो सकता है, और न भविष्यवाणियों को झुठलाना ही स्वतन्त्रता का सूचक है, क्योंकि यह हाइज़न्बर्ग के परमाणु भी करते हैं। अनिर्धारितता-वाद की कुछ और भी कठिनाइयाँ हैं। अनिर्धारिततावाद के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल 'मनुष्य' को अनिर्धारित माने और उसके शरीर तथा अन्य विषय-वस्तुओं को निर्धारित माने। क्योंकि यदि शरीर भी अनिर्धारित होगा तब मेरे हाथ उठाने का संकल्प करने पर यह सम्भव होगा कि हाथ नहीं उठे, और डण्डे के लिए कभी यह सम्भव होगा कि वह पत्थर के संसर्ग में नहीं आए, अथवा किसी पत्थर के लिए कभी यह सम्भव होगा कि वह डण्डे से नहीं हिले। उस अवस्था में मनुष्य की स्वतन्त्रता न केवल निष्फल होगी बल्कि वह अकल्पनीय भी होगी, क्योंकि कोई नियम नहीं होगा जिसे यह स्वतन्त्रता नकारेगी। पुनः, यदि नकारने की सामर्थ्य केवल अनिर्धारितता है तब स्वयं संकल्प भी कर्ता के वश में नहीं होगा। इसलिए स्वतन्त्रता के प्रश्न को कारणता और अकारितता के सन्दर्भ में देखना ही अनुचित है।

× × ×

मैं अपनी ज्ञानमीमांसा में घटनाओं, वस्तुओं तथा अर्थों को चैतन्य की विभिन्न वृत्तियों के रूप में कल्पित करता हूँ।[1] किन्तु, इस ज्ञानमीमांसा के अनुसार, चैतन्य का अपना कोई स्वरूप नहीं है, उसका स्वरूप वृत्तियों के स्वरूप में ही परि-लक्षित होता है अथवा, तात्त्विक पदावली में कहें तो, 'चैतन्य' 'वृत्ति' का ही एक विशिलष्ट पक्ष है, अथवा कहें, 'वृत्ति-प्रत्यय' 'चैतन्य-प्रत्यय' का समावेशी है। हमारे लिए 'वृत्ति' और 'विषय' पद पूर्णतः समानार्थी हैं। इस प्रकार से, चैतन्य विषय का आकार है, यदि हमें गलत नहीं समझा जाय तो हम कहेंगे तार्किक आकार है। 'तार्किक आकार' कहने से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि विषयों के स्वरूप का निर्धारण तार्किक बुद्धि से होता है, बल्कि यह कि विषयों के आकार को बुद्धि ही उनसे विश्लिष्ट करती है। ये विश्लिष्ट आकार विभिन्न कोटियाँ बनाते हैं। 'बुद्धि' स्वयं एक विश्लिष्ट आकार की संज्ञा ही है और परिणामतः वृत्तियों अथवा विषयों की एक कोटि है। इसी प्रकार से 'मनुष्य' और 'पशु' भी विश्लेषणात्मक कल्पनाएँ हैं, अथवा कहें, तार्किक कोटियाँ हैं। इस प्रकार से 'आहार, निद्रा, भय, मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्' का हमारी पदावली में अनुवाद होगा, 'इन कोटियों के विषय पाशव विषय हैं, थोड़ी और विश्लेषणात्मक पदावली में कहा जाय तो—जब चैतन्य इन कोटियों के विषयों में अधिष्ठित होता है तब वह पाशव-चैतन्य होता है। मानव-चैतन्य की वृत्तियाँ संरचनात्मक अर्थ-मूलक होती हैं।

कारणता, जिसे वस्तु-विश्व के, अथवा सम्पूर्ण प्रतिभास के ही, स्वभाव के रूप में कल्पित किया जाता है, स्वयं संरचनात्मक अर्थमूलक एक कोटि है। यह कोटि एक प्रकार के विषयों का निर्माण करती है। विषयों के अनेक अवधारण-प्रकार हैं, और इन अन्य, अर्थात् कारण-कार्येतर अवधारण-प्रकारों के अन्तर्गत विषय निर्धारित या अनिर्धारित नहीं होते। इन अन्य प्रकार के विषयों को प्रतीकात्मक या संरचनात्मक विषयक कहा जा सकता है। विज्ञान, गणित, भाषा, संगीत, चित्रकला आदि ये सब इसी प्रकार के विषय हैं। स्वयं कारणता भी इसी प्रकार का विषय है, क्योंकि यह संरचनात्मक व्यापार है जो उन विषयों को धारण करता है जिन्हें हम कारण-श्रृंखलाबद्ध देखते हैं। इस प्रकार से, मेरे हाथ का हिलना कारण-नियम-शासित है, मेरी इच्छाएँ भी कारण-नियम शासित हैं, किन्तु इनको इन नियमों में शासित देखने वाला मैं इस नियम से शासित नहीं हूँ, क्योंकि यह नियम स्वतः कारण-कार्यात्मक नहीं है। यही गणित के लिए या संगीत के लिए भी सही है—वे कारण-कार्यात्मक नियम-शासित नहीं हैं।

संरचनात्मक अर्थ के विषयों में एक अनिवार्यता रहती है—इनमें एक स्थिति, घटना या समग्र का आकार संरचना के नियम की अनिवार्यता को धारण किए रहता है, किन्तु यह अनिवार्यता नियोजनात्मक नहीं होती। उदाहरणतः, यदि ख क का कार्य है तो क में ख के सम्बन्ध में नियोजनात्मक शक्ति है, यदि पत्थर को डण्डे की धकेल हिला सकती है तो डण्डे की धकेल पत्थर के हिलने को नियोजित करती है, यदि मलेरिया के कीटाणु शरीर में ज्वर उत्पन्न करते हैं तब ज्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनसे नियोजित होता है, यदि मेरा अवसर-विशेष पर क्रुद्ध होना विशेष उद्दीपनों-जन्य शरीर-क्रिया का व्यापार है तो वे मेरे क्रुद्ध होने को नियोजित करती हैं। कुछ लोगों को 'नियोजन' शब्द पर आपत्ति होगी, मेरा उसके लिए कोई आग्रह नहीं है, यद्यपि 'निर्धारित' शब्द में यह शब्द निहित है। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि क ख के 'घटित होने' को उस प्रकार से अनिवार्य करता है जिस प्रकार से '२+२'='४' को नहीं करता है, अथवा जैसे भारतीय संगीत भैरवी राग के होने को अनिवार्य नहीं करता है, यद्यपि इनके घटित होने के लिए यह अनिवार्य है कि एक संरचनात्मक संस्थान (गणित का, भारतीय संगीत का, राग भैरवी का) विद्यमान हो।

संरचनात्मक अर्थ की विशेषता उसके वास्तव और आदर्श रूपों में तनाव होने में है। प्रत्येक संरचनात्मक अर्थ एक आत्यन्तिक समंजसता और आत्यन्तिक व्यापकता को आक्षिप्त करता है, जिसे व्यवहार में हम न्यूनाधिक ही सिद्ध कर पाते हैं। "आर्केस्ट्रा में एक समंजस एकत्व रहता है, किन्तु जबकि आत्यन्तिक समंजसता आर्केस्ट्रा की आत्मा है, व्यवहार में आत्यन्तिक समंजसता केवल एक आदर्श है जिसे चरितार्थ करने का प्रयत्न आर्केस्ट्रा का संयोजक कलाकार जीवन-भर करता है। यह उतना ही सही तान और नृत्य के लिए भी है—कलाकार की साधना कभी पूर्ण नहीं होती। किन्तु तब भी, पूर्ण समंजसता तान, नृत्य और आर्केस्ट्रा की आत्मा है, यह इनके जन्म के साथ ही उपजती है, यह केवल अभिव्यक्ति के प्रयत्न में, अपने चरितार्थन की प्रक्रिया में, अनुपलब्ध रहती है। यही बात सिद्धान्त के लिए भी कही जा सकती है। सिद्धान्त की आत्मा उसकी तार्किक समंजसता में और आत्यन्तिक व्यापकता में है, इसके लिए यह स्वाभाविक है कि इसका जन्म आत्यन्तिक सामंजस्य और सर्वविष्टिता के साथ हो, किन्तु इसकी यह निहित समंजसता और सर्वविष्टिता अपने चरितार्थन की प्रक्रिया में केवल अपूर्णतः ही उपलब्ध होती है। इस प्रकार से, जबकि मूल में पूर्ण समंजसता और सर्वविष्टिता इनका स्वभाव है, अभिव्यक्ति में यह केवल पार्यन्तिक कल्पना है, जिसके हम समीप से समीपतर पहुँच सकते हैं, किन्तु जिसे हम प्राप्त नहीं कर सकते।[2] संरचनात्मक अर्थों के आदर्श रूप की यह अचरितार्थ सत्ता अपने अन्तर्गत सब प्रयत्नों, कल्पनाओं या अवधारणाओं को एक अनिवार्यता देती है, क्योंकि इनके अन्तर्गत सब प्रयत्न इनके आदर्श रूप का अनुसरण किये बिना अप्रतिष्ठित रहते हैं, किन्तु यह अनिवार्यता बाध्यतापरक नहीं है—कोई तर्क में वदतोव्याघात कर सकता है, कोई बेसुरा गा सकता है, कोई ग़लत गुणा-भाग कर सकता है—और वास्तव में इस आदर्श के पार्यन्तिक होने का अर्थ ही है कि हम सदैव न्यूनाधिक बेसुरा गाते हैं, हम सदैव वदतोव्याघात की सम्भावना के साथ तर्क करते हैं। अनेक मानव-सन्ततियाँ इस पूर्णता की ओर निरन्तर प्रयत्नरत रहकर भी अपनी अपूर्णता के बोध से विकल रहती हैं।

मनुष्य की वास्तविक स्वतन्त्रता का स्रोत यह रचनात्मक अर्थ ही है, क्योंकि यह मनुष्य को स्वत्व के लिए अपेक्षित 'तन्त्रमयता' देता है। वास्तव में तन्त्रमयता 'स्वत्व' की पूर्वापेक्षा है, क्योंकि अन्यथा 'स्वत्व' के लिए अपेक्षित एकत्व असम्भव होगा। यह एकत्व कारण-श्रृंखला या उसका निषेध दोनों ही नहीं दे सकते, क्योंकि कारण-श्रृंखला घटनाओं का कारण-घटनाओं में अन्तर्भाव कर देती है और कारण-श्रृंखला का निषेध घटना अथवा वस्तुस्थिति को स्वभाव-हीन बना देता है। इसीलिए न पत्थर स्वतन्त्र है, न पशु और न हाइज़ेन्बर्ग के परमाणु।

किन्तु संरचनात्मक अर्थ स्वतन्त्रता दे सकता है यह स्वत्व 'व्यक्ति' को देने के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इसकी अन्तर्वस्तु (कांटेंट) सार्वभौमिक होती है। गणित अथवा उसकी कोई प्रतिपत्ति, भारतीय शास्त्रीय संगीत अथवा राग मल्हार, अथवा उसका कोई स्वर-संयोजन सार्वभौम हैं—ये देश-काल-व्यक्ति निरपेक्ष हैं, व्यक्ति इनमें भाग ले सकते हैं ये किसी व्यक्ति में अद्वितीयतः भाग नहीं लेते। इस प्रकार जब ये चैतन्य की वृत्ति के रूप में प्राप्त होते हैं तब चैतन्य स्वतन्त्र तो होता है किन्तु यह वृत्ति उसे वैयक्तिकता अथवा वैयक्तिक स्वत्व, नहीं देती, यह उसे सर्वस्व देती है, यह उसे एक या दूसरे ब्रह्म में लीन करती है—गणित-ब्रह्म में या नाद-ब्रह्म में।

स्वत्व के अधिष्ठान के लिए एक ऐसे अनुभूत एकत्व की अपेक्षा होती है जिसके अक्ष पर विभिन्न अनुभूतियाँ और अर्थ अरों के समान अवस्थित हो सकें, अथवा जो विभिन्न अनुभूतियों और अर्थों में प्रविष्ट होकर उन्हें अद्वितीय संस्थान अथवा आकृति दे सकता हो। संस्कृतियों में ऐसे एकत्व की अन्तर्वस्तु एक सर्व-संयोजक जीवन-दर्शन होता है,[3] और भारतीय संस्कृति का ब्रह्म था और आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भौतिक विज्ञान है।

किन्तु व्यक्ति के अनुभूत एकत्व की अन्तर्वस्तु क्या है? एक उत्तर हो सकता है—अभिमान, जो स्मृतियों और अपेक्षाओं से, तथा इन स्मृतियों और अपेक्षाओं के अधिष्ठाता होने के बोध से, घटित होता है। (इस तीसरे घटक के बिना शरीर भी व्यक्तित्व के पद का दावा कर सकता है।) किन्तु यह अभिमान, यदि स्मृतियाँ केवल इच्छा और प्रत्यक्षमूलक ही हैं, व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि स्मृतियों, प्रत्यक्षों और अपेक्षाओं का अधिष्ठातृत्व उसे शरीराधिष्ठित करता है, अर्थात् इस अभिमान का अधिष्ठान शरीर-वृत्ति होता है, इसमें अधिष्ठाता शरीर से अपना अभेद-स्थापन करता है। परिणामतः यह अभिमान कारण-कार्यात्मक होता है। अधिकांश व्यक्ति, और अधिकांश में सब व्यक्तियों का स्वरूप या स्वत्व कारण-कार्यात्मक ही होता है और अतएव उन अवस्थाओं में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं होता।

व्यक्ति उस समय स्वतन्त्र होता है, अथवा व्यक्ति का स्वातन्त्र्य उस अवस्था में उपलब्ध होता है, जब चैतन्य ऐसी अभिमान-वृत्ति में अधिष्ठित होता है जो कारण-कार्यात्मक संदर्भान्तर्गत नहीं है, जो संरचनात्मक अर्थ के अन्तर्गत है। यह अभिमान चैतन्य को शरीर-वृत्ति में स्थित नहीं करता। यह उसे कारण-कार्य-बाह्य व्यवस्था में अधिष्ठित करता है। इस संरचनात्मक अर्थ की व्यवस्था में अभिमान वास्तव कर्तृत्व प्राप्त करता है, क्योंकि यहाँ वह अर्थों के सर्जन की प्रक्रिया में, अथवा कहें उनके वास्तवीकरण की प्रक्रिया में, अपना साक्षात् करता है। तर्क या दर्शन अथवा विज्ञान की किसी समस्या का समाधान और कुछ नहीं है सिवाय पूर्ण विज्ञान, पूर्ण दर्शन आदि की दिशा में अग्रसरता के। संरचनात्मक अर्थों के बिना कर्तृत्व की सम्भावना नहीं हो सकती और कर्तृत्व के बिना संरचनात्मक अर्थ असम्भव हैं, ये परस्परानुषंगी हैं। इस प्रकार से, संरचनात्मक अर्थ सार्वभौमिक होते हुए भी कर्तृत्वाभिमान पर, व्यक्ति पर, (अथवा संस्कृति पर), अपने अस्तित्व के लिए निर्भर करते हैं। इस प्रकार से, व्यक्ति करणीय अर्थों में और अर्थ कर्त्ता व्यक्ति में जन्म लेते हैं।

संरचनात्मक अर्थों की सार्वभौमता व्यक्ति को देश-काल निरपेक्ष बनाती है, यद्यपि वास्तवीकरण अथवा कर्म काल को पूर्वापेक्षित करते हैं। वास्तवीकरण एक निरन्तर प्रक्रिया है जो व्यक्ति को जन्मान्तरों में ले जाती है और संस्कृतियों में परम्पराओं को जन्म देती है। किन्तु कर्तृत्वाभिमान की समृद्धि पर कोई मर्यादा नहीं लगाई जा सकती, यह कितना भी समृद्ध हो सकता है और कितना भी निर्धन हो सकता है। यह बुद्ध और वाल्मीकि की समृद्धि में एक ओर, और संततियों द्वारा रचित महाभारत तथा बौद्ध-मूर्तिकला में दूसरी ओर, देखा जा सकता है।

अभिमान के उपरोक्त निरूपण से स्पष्ट है कि यह संस्कृति और व्यक्ति की सामान्य विशेषता है। मेरे विचार में, व्यक्ति और संस्कृति में इस दृष्टि से कोई मौलिक अन्तर नहीं होता। यह अन्तर केवल एक में संवेदन होने तथा दूसरे में नहीं होने में है। इस प्रकार से व्यक्तित्व में संवेदन एक अनिवार्य घटक हो जाता है, किन्तु जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, यह अत्यन्त क्षुद्र घटक है।

× × ×

कर्तृत्व का उपरोक्त विवेचन 'व्यक्ति के स्वतन्त्र निर्णय' के प्रत्यय की भी उचित व्याख्या करता है, और इसे, इस निर्णय को, व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखता है। 'स्वतन्त्र' निर्णय को नैतिक कर्म के सन्दर्भ में देखा गया है, अर्थात् कर्म के औचित्य-अनौचित्य के सन्दर्भ में। क्योंकि यदि कर्ता स्वतन्त्र है तभी उसके कर्म को उचित या अनुचित कहा जा सकता है। इस प्रकार से, 'क का कर्म र उचित है' का अर्थ है 'क ने अपने स्वतन्त्र निर्णय से यह कर्म किया।' यह सही है, किन्तु यहाँ 'स्वतन्त्रता' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। मेरे विचार में, 'स्वतन्त्रता' का सर्वस्वीकृत अर्थ यहाँ होगा इच्छाओं, वासनाओं, संस्कारों आदि से ऊपर उठकर विशुद्ध विवेकपूर्वक निर्णय। किन्तु तब क को 'अनुचित' कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि 'अनुचित' कर्म केवल वह होगा जो व्यक्ति वासनाओं आदि की अधीनता में करेगा। किन्तु वासनाओं आदि के अधीन कर्म करता हुआ व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता और परिणामतः उत्तरदायी भी नहीं कहा जा सकता। गलत विवेक को 'अनुचित' नहीं कहा जा सकता, उसे भ्रान्त कहा जा सकता है। सम्भवतः 'अनुचित' कर्म उस व्यक्ति के कर्म को कहा जाएगा जो उचित करने में समर्थ हो, जो विवेक कर सकने पर भी वासनाओं का अनुसरण करता हो। जो भी हो, यहाँ कठिनाई स्पष्ट है—विवेक की केवल सामर्थ्य स्वतन्त्रता नहीं है—यह कहने वाले दुर्योधन को कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

,जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति, जानामि पापं न च मे निवृत्ति' स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

किन्तु यह कठिनाई 'उत्तरदायित्व' को बाहर से आँकने पर जैसी रहती है वैसी स्वयं कर्ता की ओर से आँकने पर नहीं रहती—नैतिक कर्तृत्व व्यक्ति की अपनी प्रतिमा के अर्थ का अनुसरण करने अथवा उससे भ्रष्ट होने में है[४]—विवेक का अनुसरण न कर पाना मुझे मेरी असामर्थ्य दिखाता है और परिणामतः ग्लानि उत्पन्न करता है। यह असामर्थ्य व्यक्ति में किसी नैसर्गिक न्यूनतामूलक नहीं होती—मेरा उत्कृष्ट नहीं गा सकना मुझमें ग्लानि उत्पन्न नहीं करेगा, खेद उत्पन्न कर सकता है, ग्लानि कर्तृत्व में भ्रष्ट होने से उत्पन्न होती है, जो कर्तृत्व स्वयं मेरी प्रतिमा के सर्जन में प्रतिफलित होता है। इस प्रकार से, सत्य बोलने में मेरा इस कारण से संकोच कि इसके परिणाम मेरे परिवार के लिए घातक होंगे, मुझमें इसलिए ग्लानि उत्पन्न करेगा क्योंकि मैं अपने में इतना साहस नहीं बटोर पाया। इसी प्रकार से, मेरे संगीताभ्यास में इसलिए शिथिलता रहना कि मैं अपने-आपको सामान्य मनोविनोद से नहीं रोक सका, मुझमें ग्लानि उत्पन्न करेगा। दोनों का अनौचित्य एक ही प्रकार का है, एक ही स्तर का चाहे नहीं हो। स्तर का यह अन्तर परीक्षा के महत्त्व से आता है।

व्यक्ति की अपनी प्रतिमा कर्तृत्वाभिमान के आत्म-साक्षात्कार में उपलब्ध होती है। कर्तृत्वाभिमान के आत्म-साक्षात्कार का अर्थ कर्मों के अधिष्ठाता के रूप में अपने अर्थ की परिपृच्छा है। इसके संरचनात्मक अर्थ होने से इसमें पुनः आदर्श पूर्णता और वास्तव अपूर्णता का तनाव रहता है, किन्तु यह तनाव हमारी सम्पूर्ण सत्ता को आवेष्टित करता है क्योंकि यहाँ समग्र कर्मों का अनुशासन अभिप्रेत होता है। किन्तु यहाँ एक अन्य कठिनाई उपस्थित होती है—'अपने कर्मों' का क्या अर्थ है? क्या वे सब कर्म 'मेरे कर्म' हैं जिनके साथ 'मेरी अभिमान वृत्ति' संयुक्त है? किन्तु अभिमान वृत्ति उन कर्मों के साथ भी संयुक्त होती है जिनका अधिष्ठातृत्व मुझे प्राप्त नहीं है—स्वप्न इसका स्पष्टतम उदाहरण है, अन्य कर्म दूसरे उदाहरण हैं जिनमें मैं अपनी प्रतिमा से भ्रष्ट होता हूँ। यदि ये 'मेरे' ही कर्म हैं तब 'मेरी' स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है? क्या मैं अपनी प्रतिभा हूँ या कि वह सम्पूर्ण जिसमें तथाकथित भ्रष्ट कर्मों का भी समावेश है।

इस कठिनाई का समाधान सहज नहीं है, किन्तु यह उस दिशा में मिल सकता है जिसमें अन्य संरचनात्मक विषयों में वास्तव और आदर्श रूपों में अन्तर का। मेरी प्रतिमा से भ्रष्ट कर्म उसी प्रकार से मेरी वास्तव सत्ता के अंग होते हैं जिस प्रकार से किसी गाये जा रहे राग के विसंवादी स्वर—विसंवादी स्वर राग के अंग नहीं होते, किन्तु **गीत राग** के अंग होते हैं। ठीक यही स्थिति अननुशासित, प्रतिमा-भ्रष्ट कर्मों की है, ये 'मेरे' होते हैं और नहीं भी होते—मैं अपने स्वरूप इनको संवादी बनाकर प्राप्त करता हूँ। इस आत्यन्तिक संवादिता में ही मानव-कर्म की और निर्णय की स्वतन्त्रता निहित है, जो वास्तव में अपूर्णतः ही उपलब्ध रहती है।

—'दार्शनिक' त्रैमासिक के सौजन्य से

पाद-टिप्पणियाँ

१. यशदेव शल्य—ज्ञान और सत्, प्रवेश तथा अ. राजकमल, १९६७।
२. यशदेव शल्य—संस्कृति का अधिष्ठान, तत्त्वचिन्तन, वर्ष १, अंक १, १९६८।
३. वही।
४. यशदेव शल्य—नैतिक मूल्य, आलोचना त्रैमासिक, जू. १९६८, तथा दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई १९६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़िंदगी के शिखरों से

ऑत्तिला योझ़ेफ़

ऑत्तिलॉ योझ़ेफ़ (१६०५-१६३७) : बीसवीं सदी की मॉजॉर (हंगेरियन) कविता के प्रमुख कवियों में से एक। परवर्तियों पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव। ग़रीबी, प्रेम, व्यक्ति-समाज और व्यष्टि-समष्टि के अन्तर्द्वन्द्वों से उद्‌भूत भीषण तनाव में बिताये गये ३२ वर्षों की परिणति पागलपन में। रेल से कटकर आत्महत्या। फ्रांस में उनकी कविताओं के अनुवाद अत्यन्त सम्मानित।

(१)

मैं
यहाँ मैं बैठा हूँ चमकती दीवार पर।
हल्की युवा ग्रीष्म-हवा
उठती है सांध्य-भोज के सुखद स्वागत की तरह।

हृदय को करता हूँ चुप्पी का अभ्यस्त :
दुष्कर नहीं।
यहाँ
फिर मैं पा जाता हूँ जो मैंने खोया था,
सिर झुकाता हूँ,
हाथ लटक जाता है।

मेरी आँखें हैं पहाड़ों की आयाल पर—
तुम्हारी दीप्त भवें,
हर पत्ती आग पर।
सड़क पर—कोई नहीं, कोई नहीं;
देखता हूँ हवा से उठी तुम्हारी स्कर्ट।
तुम्हारे केश बिखरे हैं महीन पत्तियों तले,
देखता हूँ तुम्हारे नरम उरोज
थरथराते हुए—
जैसे सिनवा झरना बहता है—
ओह क्या देखता हूँ मैं :

एक जादुई हँसी
चमकती हुई तुम्हारे दाँतों पर,
गोल सफ़ेद पत्थरों पर।

(२)

ओह किस क़दर मैं प्यार करता हूँ तुम्हें !
तुम मुखरित कर सकी हो
ब्रह्माण्ड—

और सूनापन, हृदय के अन्तस्तल में
बुनता हुआ अपने चपल छलावे।

अब, जैसे प्रपात को छोड़ जाती है अनुगूंज,
तुम छोड़ रही हो, तुम भाग रही हो पराजित,
जब तक
चीखता नहीं मैं ज़िन्दगी के शिखरों से,
गाता नहीं धरती और स्वर्ग के बीच लटके
क्षितिजों से,
कि मैं प्यार करता हूँ तुम्हें कि वह तुम हो,
प्रिय और पीड़ित जीव, जिसे मैं प्यार करता हूँ।

(३)

मैं प्यार करता हूँ तुम्हें जैसे बच्चा अपनी माँ को
प्यार करता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे ख़ामोश गुफा अपनी गहराइयों को प्यार
करती है,
मैं प्यार करता हूँ तुम्हें जैसे कमरे सूर्य की रोशनी
को प्यार करते हैं;
जैसे आत्मा प्यार करती है उष्णता को और शरीर
आराम को।
जैसे मृत्यु-धर्मी मनुष्य प्यार करता है जीने को
और कसमसाता है उसकी भुजाओं में मृत्यु-द्वार तक।
मैं प्रहरी हूँ तुम्हारे शब्दों, तुम्हारी मुस्कानों,
तुम्हारी हलचलों का—हर वस्तु का, जैसे धरती
देखती रहती है वह सब जो गिरता है।
अपने मन में, जैसे धातु पर अम्ल से,
उकेर लिया है तुम्हें मैंने अपने संवेदनों से, मेरी प्रिय,
तुम्हारे अनमोल सत्त्व से हूँ मैं
संपूर्ण।

शोर मचाते हुए गुज़र जाते हैं क्षण :
मूक रहती हो तुम, मूक, और मेरे
कान हैं सिर्फ़ तुम्हारे लिए।
जगमगाते हुए तारे—वे डूबते जा रहे हैं,
पर तुम हो सदा अडिग मेरी दृष्टि में।
गुफा में चुप्पी की साँस : तुम्हारी सुरभि
सर्द कर देती है पतंग; अक्सर तुम्हारा
नाज़ुक तन्तुमय हाथ झुकेगा
पानी के ग्लास के गिर्द धुंध रचता हुआ।

(४)

ओह मगर मैं निर्मित हूँ किस तत्व से,
तुम्हारे ऋजुतम दृष्टिपात से ढलता और रूप लेता?
कैसा मस्तिष्क, कैसा प्रकाश और चमत्कार
जिससे पहुँच सकूँ मैं
तुम्हारी उर्वर देह की सौम्य घाटियों में,
नकुछपन के कोहरे से गुज़रता हुआ?
जैसे शब्द मुक्त होता है बुद्धि से,
मैं पैठ सकूँ उसकी गुत्थियों में!…

तुम्हारी शिराएँ थरथराती हैं झाड़ियों की तरह,
निरन्तर, गुलाबों की झाड़ियाँ।
वे घूमती हैं सनातन प्रवाह में
सँवारने प्यार तुम्हारे चेहरे में
और वहन करने उदर में उसका फल।
उत्कृष्टतम जड़ों से रोपी गयी हैं
संवेद्य मिट्टी तुम्हारे जिस्म की,
वह रचती और तोड़ती हैं ग्रन्थियाँ बारीक रेशों की
जिससे, लघु कोशिकाओं के रस
संपुंजित हो जायँ एक वर्धमान पिण्ड में,
और फेफड़ों की पत्तीदार झाड़ी
गुनगुना उठे उसका यश!

और गहरा अमर्त्य द्रव्य बढ़ता है
उसकी दीर्घाओं में गाता हुआ और ऐश्वर्यमंडित
जीवन फूटता है
अजस्र स्रोतों से, जलते हुए गुर्दे के
उद्दाम गह्वर-प्रवाहों से।

तुममें, उभरती हैं पहाड़ियाँ,
नक्षत्र झिलमिलाते हैं,
झीलें लहराती हैं, और कारख़ाने चलते हैं :
लाखों जीव, क्षिप्र
कीट-पतंग,
शैवाल,
निर्ममता और सौहार्द;
जगमगाते हैं सूर्य, उषाएँ पड़ जाती हैं स्याह—
यहाँ, तुम्हारे विराट् सत्त्व में,
सनातन अचेतन भटकता है।

(५)

चीथड़ों में, ख़ून के थक्कों की तरह,
ये शब्द
डाल दिये गये हैं तुम्हारे पथ पर।
अस्तित्व लड़खड़ाता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल क़ानून की आवाज़ साफ़ है ।
मेरी सजग संज्ञा, दिनानुदिन पुनर्जात,
तैयार हैं इस समय भी
चुप्पी के लिए ।

लेकिन अब तक हर वस्तु चीख़ती है ज़ोर-ज़ोर से—
दो सौ करोड़ में से चुनी गयी,
एकमात्र तुम, जीवित शैया तुम,
सुखावह झूला तुम, भयावह समाधि तुम;

अपने भीतर मैं—अपने भीतर—मैं
याचना करता हूँ—मुझे ग्रहण करो ।

(भोर का आकाश कितना गहरा
फ़ौलाद के प्रकाश में चमकती हैं सेनाएँ ।
चौंध से दुखती है मेरी आँख ।
मैं खो गया हूँ, मैं यह महसूस करता हूँ ।
निश्चय ही टूट जाना चाहिए मेरा हृदय,
प्रकाश में धड़कते हुए ।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

रंगदर्शन : एक विवेचन

वीरेन्द्र नारायण

रंगमंच से सम्बन्ध रखने वाली लगभग ढाई सौ पृष्ठों की किताब का सुरुचिपूर्ण प्रकाशन, हिन्दी में, अपने-आपमें एक महत्त्वपूर्ण घटना है। वैसे प्राध्यापकीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर मोटी किताबें पहले भी प्रकाशित होती रही हैं। इस किताब से इसलिए भी प्रसन्नता है कि यह रंगमंच से गहरी दिलचस्पी रखने वाले विचारक की दो-टूक अभिव्यक्ति है जिसके पीछे रंगमंच को सुधारने और आगे बढ़ाने की स्पष्ट भावना है।

पुस्तक के कई अध्याय हैं जिनको एक सूत्र में बाँधने का प्रयास प्राक्कथन में किया गया है। उनका तारतम्य बिठाना मेरे लिए कुछ मुश्किल पड़ गया है इसलिए अध्यायों की अलग-अलग चर्चा ही युक्तिसंगत लगती है।

प्रारंभ : हमारे सांस्कृतिक जीवन में नाटक का जो स्थान है वही इस अध्याय का प्रतिपाद्य है। लेखक ने यह बड़े कौशल से सिद्ध किया है कि नाटक ही ऐसी सार्वजनिक अभिव्यक्ति है जिसमें लेखक से लेकर दर्शक तक रससिक्त होते हैं और इसके लिए आधुनिक सिद्धान्तों से लेकर नाट्यशास्त्र तक की चर्चा की गई है। जहाँ जिस सहज ऐतिहासिक तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाना अनिवार्य था वह यह था कि दृश्यात्मक मनोरंजन के अन्य आधुनिक साधनों के बावजूद नाटक आज भी जीवित है इसलिए इसमें निश्चय ही वे तत्त्व हैं जो अन्य प्रदर्शनों में दर्शक को उपलब्ध नहीं होते।

नाटक का अध्ययन : साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक का अध्ययन जिस विशेष दृष्टिकोण की माँग करता है उसका अच्छा निरूपण है। यदि इस पर ध्यान दिया जाए तो बहुत सारी रचनाएँ कथोपकथन के रूप में नाटक की संज्ञा की अधिकारिणी बनकर छप जाया करती हैं उन्हें यह कष्ट न उठाना पड़े। लेकिन इस प्रसंग में युग की सीमाओं और नाटककार की प्रतिभा के सम्बन्ध में कई भ्रामक संकेत आ गये हैं। दरअसल नाट्य-लेखन और प्रदर्शन जैसी जटिल सृजनात्मक प्रक्रिया को किसी चौखटे में बाँध देना ही भ्रम का कारण बन सकता है। ऐसे नाटककारों की कमी नहीं जिन्होंने अपने दर्शक-वर्ग से ऊपर उठकर नाट्य-रचना की है और मृत्यु के बहुत बाद उनकी रचनाओं का आदर हुआ है। महान् कलाकार युग से सम्बद्ध तो रहता है पर उससे सीमित नहीं।

नाटक की रचना-प्रक्रिया और अभिनेयता स्वाभाविक रूप से सामने आता है। साहित्य की अन्य विधाओं की तरह इस पर भी उन सभी कलात्मक मूल्यों को लागू करना ही चाहिए। इस सहज तथ्य की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता कि नाटक भी एक प्रकार का काव्य ही है। दृश्यत्व के कारण इसकी सीमाएँ और सम्भावनाएँ दूसरी हो जाती हैं।

इस सम्बन्ध में एक चर्चा अनिवार्य थी कि लेखक, निर्देशक, रंगकर्मी और दर्शक की उपलब्धियाँ अलग-अलग होती हैं और यह ज़रूरी नहीं कि दर्शक लेखक के दृष्टिकोण को अपना ले। महत्त्व इस बात का है कि दर्शक लेखक और निर्देशक के दृष्टिकोण तथा कथ्य को समझे और सहानुभूतिपूर्वक समझे।

नाट्य-प्रदर्शन के तत्त्व—दो धरातलों पर बिखर गया है। कुछ हद तक तो सैद्धान्तिक चर्चा है और उसके बाद व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया गया है। दोनों का तारतम्य बिठाना कठिन लगता है। जहाँ-तहाँ प्रचार की बू आती है। उदाहरण के लिए इब्राहीम अल्काजी द्वारा प्रस्तुत कुछ नाटकों की चर्चा की गई है, कलकत्ता की अनामिका के प्रदर्शनों का नाम गिनाया गया है। व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह

रंग-दर्शन : लेखक—नेमिचन्द्र जैन, प्रकाशक—अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य बीस रुपए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता हूँ कि निर्देशन के क्षेत्र में जैसे साहसिक और मौलिक प्रयोग हबीब तनवीर ने किए हैं, उनकी चर्चा निश्चय ही की जानी चाहिए थी। मेरा तो यह विश्वास है कि नाट्य-प्रदर्शन के क्षेत्र में इब्राहीम अल्काजी और तापस सेन (प्रकाश व्यवस्थाकार) की उपलब्धियाँ एक ही स्तर की हैं। एक की सफलता दृश्यबन्ध में निहित है और दूसरे की प्रकाश-व्यवस्था में। किसी नाटक को मौलिक दृष्टिकोण से देखने का साहस, निर्देशक की हैसियत से हबीब तनवीर ने निश्चय ही किया है।

इसी प्रकार दिखावटी और यान्त्रिक सज्जा के मोह पर पहला आघात इप्टा ने नहीं किया था। बल्कि इस दिशा में पहला प्रयास रवीन्द्रनाथ का था और शान्तिनिकेतन तथा कलकत्ते के कई प्रदर्शनों में वह स्वयं उपस्थित थे। तथ्य तो यह है कि साधनहीनता के कारण इप्टा को यह रास्ता अपनाना पड़ा जबकि कलात्मक अभिव्यक्ति की मान्यताओं ने रवीन्द्रनाथ को यह रास्ता दिखाया था।

अभिनय और नाटकघर वाला अंश साप्ताहिक पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख के स्तर पर उतर आया है। नाटकघर के प्रश्न पर और गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है क्योंकि नाट्य-प्रदर्शन की शैलियाँ इतनी विभिन्न हैं (विशेषकर इस देश की लोक-नाट्य-परम्परा को ध्यान में रखने पर) कि किसी एक प्रकार की प्रदर्शन-शैली के अनुकूल नाटकघर बनाने की दलील देकर हम वही ग़लती करेंगे जो रवीन्द्र रंगमंच के बनाने वालों ने की है।

संस्कृत और पश्चिमी नाटकों का प्रदर्शन, लोक-नाट्य तथा नाट्य-प्रदर्शन के कुछ विशिष्ट प्रकार का तारतम्य बिठाना कठिन जान पड़ता है। यदि इन अध्यायों में लेखक ने पिछले दिनों के प्रदर्शनों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है तो उसकी संगति समझ में नहीं आई। नाटक के आस्वादन की चर्चा चल रही थी, पाठक अच्छे नाटक और नाट्य-प्रदर्शन से परिचय प्राप्त कर रहा था और सहसा यह आलोचना! फिर यह है भी बहुत अपूर्ण और अधूरा। न तो यह हिन्दी क्षेत्र तक ही सीमित है और न सारा देश ही इसकी परिधि में है।

यदि प्रदर्शन की शैलियों का सैद्धान्तिक विवेचन रहता और उसके उदाहरणस्वरूप इन प्रदर्शनों की चर्चा होती तो बात कुछ समझ में आती। फिर हर शहर में चौंकाने वाले प्रदर्शनों के अलावा भी प्रदर्शन होते रहते हैं। यदि लेखा-जोखा ही प्रस्तुत करना है तो उनकी भी चर्चा अनिवार्य थी और प्रवृत्तियों का ज़िक्र करना था तो उनका उचित वर्गीकरण कर उनका विवेचन होना चाहिए था।

रंगमंचीय संगठन का रूप के दो पहलू हैं। एक तो यह कि इस समय उसकी अवस्था क्या है और दूसरी यह कि आदर्श रूप में उसे क्या होना चाहिए। दोनों पहलुओं से यह अध्याय हमारे काम का साबित नहीं होता। यह अध्याय तो आज़ादी के पहले ज़माने के देशभक्तिपरक लेख या भाषण जैसा प्रतीत होता है जहाँ सभी कुछ अस्पष्ट और उद्बोधक है। लेखक को यह कहना चाहिए था कि मराठी व्यवसायी रंगमंच पर लोकप्रिय नाटकों की प्रमुख भूमिकाओं के लिए अलग-अलग अभिनेताओं की फ़ीस निश्चित है और पैसा लगाने वाला सेठ अपने बजट के हिसाब से उनको इकट्ठा कर लेता है। संगीत नाटकों में बड़े-बड़े गवैयों को बुलाया जाता है और नाटक के बहाने दर्शक गाना सुनकर वापस आ जाते हैं।

नाट्य-प्रशिक्षण अपने-आपमें अच्छा लेख है। शायद आज इस बात पर सबसे अधिक ज़ोर देने की ज़रूरत है कि नाट्य-प्रदर्शन में भाग लेने वाले विभिन्न लोगों को प्रशिक्षण की आवश्यकता है क्योंकि इसे ही अभिव्यक्ति का सबसे सरल माध्यम मान लिया जाता है। उचित शिक्षा और अभ्यास के बिना कोई चित्रकार या संगीतज्ञ बनने की कल्पना भी नहीं कर सकता। लेकिन नाट्य-प्रदर्शन में भाग लेते समय शायद ही यह एहसास होता है कि इसके प्रशिक्षण की भी आवश्यकता थी। यदि यह एहसास होता तो प्रशिक्षण के अभाव में अध्ययन का सहारा लिया जाता।

लेखक ने यह उचित ही कहा है कि प्रशिक्षण का यह अर्थ नहीं कि वह प्रशिक्षार्थियों को तरह-तरह के बाह्य साधनों का मुखापेक्षी बना दे। लेकिन इस समस्या का दूसरा पहलू भी है। वह है प्रदर्शन की सभी शैलियों पर उचित अनुपात में बल! प्रशिक्षण के समय ही यह तथ्य स्पष्ट होना चाहिए कि अपने-आपमें कोई शैली अच्छी या बुरी नहीं। नाटक की आवश्यकता और सम्भावनाओं के आधार पर शैली का चुनाव होता है जो कभी-कभी दर्शकों के कारण भी सीमित हो जाता है।

नाट्यालोचन में सैद्धान्तिक पहलू की अपेक्षा थी। बल है व्यावहारिक पक्ष पर। इसलिए इतना महत्त्वपूर्ण विषय भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह गहराई नहीं पा सका है जो इसका प्राप्य है। मैं सदा-सर्वदा सिर्फ़ अंग्रेज़ी को गाली देकर समस्या का समाधान नहीं देख सकता। दैनिक पत्र चाहे अंग्रेज़ी के हों अथवा अन्य भाषा के, एक ही बीमारी के मरीज़ हैं। लोग अंग्रेज़ी पत्रों को अधिक पढ़ते हैं, यह बिलकुल दूसरी बात है।

नाट्यालोचन में प्रदर्शन के व्यक्तित्व की चर्चा अनिवार्य लगती है। उसी सन्दर्भ में प्रदर्शन के विभिन्न अवयवों के योगदान की चर्चा भी की जा सकती थी।

राज्याश्रय, व्यावसायिकता और लोकप्रियता तथा भारतीय रंगदृष्टि की खोज दो अख़बारी लेख हैं। इनसे अधिक कुछ कहना संभव नहीं लगता। बल्कि यों कहें कि पुस्तक के सुन्दर समापन का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए 'भारतीय रंगदृष्टि की खोज' इसमें शामिल कर दिया गया है। संस्कृति के व्यापक संदर्भ में ही भारतीय रंगदृष्टि की खोज संभव है।

परिशिष्ट के अंश की चर्चा यहाँ निरर्थक लगती है। बल्कि यों कहें कि परिशिष्ट का वर्गीकरण निरर्थक लगता है।

पुस्तक में कुछ बहुत अच्छे चित्र हैं।

पूरी किताब पढ़ने के बाद किताब का कोई समन्वित व्यक्तित्व सामने नहीं आता। सैद्धान्तिक, व्यावहारिक और चालू (यदि ऐसा शब्द प्रयुक्त हो सकता हो तो) सतहों पर कोई बात उभरकर सामने नहीं आती। विभिन्न अवसरों पर लिखे गये लेखों को एकत्र करने के कारण कुछ बातें बार-बार दोहराई गई हैं और कुछ की हल्की-सी चर्चा है। जैसे प्रदर्शन की शैलियाँ, दर्शक की उपलब्धि, प्रदर्शन में भाग लेने वाले विभिन्न शिल्पियों की उपलब्धियाँ और उनका स्तर आदि सैद्धान्तिक प्रश्न या तो छोड़ दिये गये अथवा दस-पाँच पंक्तियों में समाप्त हो गये। पूरी किताब पढ़ जाने के बाद भी शायद ही किसी पाठक को यह एहसास हो कि अच्छे नाटक में उसे क्या ढूंढना चाहिए और किन धरातलों पर वह संतृप्ति की आशा रख सकता है। यदि किसी नाटक में उसकी भावानुभूति आलोड़ित नहीं होती तो क्या उसे कुछ प्राप्त नहीं होता? क्या कोई नाटक सिर्फ़ बौद्धिक धरातल पर उसे झकझोरकर अपना काम पूरा नहीं कर देता अथवा उसके सौंदर्यबोध को परितृप्ति मिले तो क्या नाटक सफल नहीं कहा जाएगा और कहा जाएगा तो कितना सफल कहा जाएगा?

निरर्थक बातों के कारण पुस्तक की काया-स्फीति हो गई है। बल्कि यह कहना उचित होगा कि असंगत बातों ने धार कुन्द कर दी है और यह उचित होगा कि दूसरे संस्करण में इस पर ध्यान दिया जाए।

यही प्रवृत्ति चित्रों में भी दिखाई पड़ती है। आखिर इन चित्रों का चुनाव तो किया ही गया होगा। उसका आधार क्या रहा होगा? यदि किसी में दृश्यबन्ध बहुत ही आकर्षक हो तो इसकी चर्चा होनी चाहिए थी। यक्षगान का पात्र या तो शैली की दृष्टि अथवा रूपसज्जा की दृष्टि से देखने लायक है। इस तरह इन चित्रों का पुस्तक के कथ्य से कोई सम्बन्ध निर्धारित होता। अभी तो सिर्फ़ कुछ आकर्षक तस्वीरों तक ही बात ख़त्म हो जाती है।

फिर भी यह किताब एक बहुत बड़ी कमी को पूरा करती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह किताब रंगमंच से सम्बन्ध रखने वाले हर व्यक्ति को छेड़ेगी, जहाँ एक सवाल की ओर ध्यान खींचेगी वहीं उससे सम्बन्धित दस सवाल सामने आ जाएँगे। इस तरह नाटक को समझने, नाट्य-प्रदर्शन के मूल्यांकन और आस्वादन आदि में बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम मानना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामायनी और आधुनिक समीक्षा-दृष्टि

जगदीश शर्मा

'कामायनी' पर बहुत लिखा गया है, किन्तु गतानुगतिकता से मुक्त और परीक्षोपयोगिता से ऊपर उठी हुई समीक्षाएँ उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं। 'मिथक और स्वप्न' से पूर्व कामायनी की समीक्षा के इतिहास में डॉ० फतहसिंह की पुस्तक 'कामायनी-सौन्दर्य' और गजानन मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कृति 'कामायनी : एक पुर्नविचार' उल्लेख्य समीक्षाएँ हैं। डॉ० नगेन्द्र की पुस्तक 'कामायनी के अध्ययन-अध्यापन की समस्याएँ' मूलतः अध्यापकीय दृष्टि का उन्मेष है और इसलिए 'परीक्षोपयोगिता' से असम्पृक्त नहीं है, फिर भी लेखक की गहन अंतर्दृष्टि के परिणामस्वरूप वह भी कामायनी की समीक्षा के क्षेत्र में एक उपलब्धि मानी जा सकती है। मेरी पुस्तक 'कामायनी का प्रतिपाद्य : मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' और 'मिथक और स्वप्न' लगभग साथ-ही-साथ प्रकाशित हुई हैं। 'मिथक और स्वप्न' उपर्युक्त उपलब्धियों से आगे कामायनी की समीक्षा को एक नया मोड़ देती है।

'मिथक और स्वप्न' शीर्षक को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत कृति को 'कामायनी की मनस्सौन्दर्य सामाजिक भूमिका' उपशीर्षक भी दिया गया है जो इस पुस्तक की समीक्षा-दृष्टि का भान कराता है। 'मनस्सौन्दर्यसामाजिक' जैसा मिश्रित शब्द हिन्दी के लिए कुछ नया है और शायद इसलिए अटपटा-सा भी लगता है, किन्तु पुस्तक पढ़ने पर उसकी सार्थकता समझ में आ जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि विषय-सामग्री और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से यह लम्बा मिश्रित शब्द बहुत व्यंजक है।

प्रस्तुत पुस्तक में डॉ० रमेश कुंतल मेघ ने तीन दृष्टि-बिन्दुओं से कामायनी का अनुशीलन किया है—(१) मनोविश्लेषणात्मक, (२) सौन्दर्यबोधपरक और (३) समाजशास्त्रीय। पुस्तक में ये तीनों बिंदु परस्पर बहुत घुले-मिले हैं। डॉ० मेघ की दृष्टि प्रधानतया समाजशास्त्रीय है और मनोविश्लेषण तथा सौन्दर्य-विश्लेषण उसके अंग-रूप में आये हैं। इसके साथ ही दार्शनिक तथा पाठालोचनात्मक दृष्टि का उन्मेष भी जहाँ-तहाँ हुआ है। अब तक कामायनी की दार्शनिक पीठिका का विवेचन प्रत्यभिज्ञा शैव-दर्शन के आधार पर ही किया जाता रहा है, किन्तु डॉ० मेघ ने उसके साथ ही वेदान्त, सांख्य और अस्तित्ववाद की दृष्टि से भी कामायनी का अनुशीलन किया है। फलतः कामायनी-विषयक चिन्तन बहुमुखी होकर प्रकट हुआ है, किन्तु ये विभिन्न दृष्टि-बिन्दु एक-दूसरे में उसी प्रकार फँसे-अटके हुए हैं जिस प्रकार 'मन·स्सौन्दर्य समाजशास्त्रीय' में विभिन्न शब्द एक-दूसरे के साथ उलझ गये हैं। परिणाम यह हुआ है कि प्रारंभिक अध्यायों को छोड़कर शेषांश में दर्शन, समाजशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र और मनोविश्लेषण एक-दूसरे में इस प्रकार गड्ड-मड्ड हो गये हैं कि पाठक के समक्ष अच्छी-खासी उलझन खड़ी हो जाती है और यदि उसमें असाधारण धैर्य तथा पुस्तक को पूरी पढ़ लेने की कटिबद्धता नहीं है तो वह प्रारंभिक अध्यायों को पढ़ लेने के उपरान्त शायद आगे नहीं बढ़ सकेगा। लेखक की दृष्टि बार-बार स्खलित होकर भटक गई है। मनस्तत्त्व पर विचार करते हुए वह दार्शनिक ऊहापोह में लग गया है, 'प्रकृति से सौंदर्य-साक्षात्कार' की तैयारी में देर तक सौन्दर्यबोध में उलझा रहा है और प्रकृति देर तक छूटी रही है, 'रूप-स्वरूप' का विश्लेषण करने जाकर मनु के प्रतीकार्य को ले बैठा है, 'इतिहास-दर्शन की खोज' करते हुए आध्यात्मिक प्रतीकों और विचार-तत्त्व से उलझ गया है और इसके बीच ही में सौन्दर्य-विधान का विवेचन भी जहाँ-तहाँ घुस आया है। दृष्टि-स्खलन, विषयान्तर और भटकाव से पूरी पुस्तक आक्रान्त

मिथक और स्वप्न : कामायनी की मनस्सौन्दर्य सामाजिक भूमिका; लेखक—डॉ० रमेश कुन्तल मेघ; प्रकाशक—ग्रंथम्, कानपुर; मूल्य ७ रुपये, पृ० संख्या २१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, फलतः लेखक बार-बार घूम-फिरकर कुछ निष्कर्षों को दोहराता रहा है, जैसे—कामायनी आधुनिकता से पराङ्मुख और यथार्थ का अतिक्रमण है, कामायनी मध्यकालीन बोध का काव्य है, कामायनी की अंतिम परिणति तांत्रिक है, कामायनीकार सामाजिक दृष्टि के निर्वाह में असफल रहा है, कामायनी प्रथम अस्तित्ववादी काव्य है···आदि अदि। फांतासी, कल्पलोक, यूतोपिया, मिथक, प्रारूप विवेचन के आधारभूत शब्द हैं और इन्हीं के इर्दगिर्द अधिकांश विवेचन घूमा है।

यदि 'मिथक और स्वप्न' की पुनरावृत्तियों, भटकनों, उलझनों और आग्रहपूर्ण दृष्टि को धैर्यपूर्वक पी लिया जाए तो इस पुस्तक से कामायनी के अध्ययन के लिए नया प्रकाश अवश्य मिल सकता है। कामायनी की रचना-प्रक्रिया पर संभवतः पहली बार इसी पुस्तक में प्रकाश डाला गया है जो अपूर्णता के बावजूद महत्त्वपूर्ण है; अस्तित्ववादी दृष्टि से कामायनी की मीमांसा पहली बार इसी पुस्तक में की गयी है, कवि की सौन्दर्य-दृष्टि और सौन्दर्य-सृष्टि की सफल पकड़ भी इस पुस्तक की एक उपलब्धि है और मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि का प्रथम उन्मेष भी संभवतः इस पुस्तक में ही पहले-पहल हुआ है—मनोविश्लेषण-सम्बन्धी प्रतीकों, रंग-रुचि आदि को पकड़ने की चेष्टा की गई है। मिथक, स्वप्न, कल्प-लोक, प्रारूप (मॉडल) आदि की दृष्टि से भी किसी काव्य का विवेचन पहली बार यहाँ किया गया है। फलतः विश्लेषण की शब्दावली में ताज़गी है जो समीक्षक की अत्याधुनिकता का आतंक पाठक के मन पर छोड़ने में समर्थ है।

'कामायनी' की रचना-प्रक्रिया का अनुशीलन अन्तस्तत्त्वों तथा बहिरंग उपकरणों के आधार पर किया गया है। 'कामना' और 'एक घूंट' से कामायनी का सादृश्य खोजते हुए सिद्ध किया गया है कि कामायनी की रचना एक लम्बी अन्तर्यात्रा का परिणाम है और 'कामना', 'एक घूंट' और 'कामायनी' एक ही रचनाक्रम की परिणतियाँ हैं। कामायनी की पाण्डुलिपि और प्रकाशित काव्य की तुलना कर यह प्रतिपादित किया गया है कि कामायनी की पंक्तियों पर कम-से-कम एक बार पुनर्विचार अवश्य हुआ है। इससे यह संकेत मिलता है कि कामायनी एक सुविचारित कृति है और इसलिए कामायनी में वैचारिक जागरूकता का जो स्खलन डॉ० मेघ मानते हैं, इस परिप्रेक्ष्य में उसकी सम्भावना बहुत कम रह जाती है। रचना-प्रक्रिया की अंतरंग खोज के प्रयास में डॉ० मेघ ने प्रसाद के बाल्यकाल, कैशोर्य और यौवन की कुछ स्थूल घटनाओं के आधार पर मनोविश्लेषणात्मक निष्कर्ष निकालने की कोशिश की है जिसमें वे सफल नहीं हुए हैं। मनोविश्लेषण के लिए बहुत साहस अपेक्षित है और समय की दृष्टि से इतने नज़दीकी लेखक की मनोग्रंथियों में पैठने का साहस कर कौन समीक्षक अपने को मुसीबत में डालना चाहेगा! फिर भी 'अग्निशिखा'-जैसे प्रतीकों और रंग-रुचि के लक्षणों को विश्लेषण का आधार बनाकर डॉ० मेघ ने इस क्षेत्र में जो नूतन पद-प्रक्षेप किया है वह अभिनंदनीय है। एकाध स्थान पर प्रणयातृप्ति का संकेत भी किया गया है, लेकिन इस सम्बन्ध में डॉ० मेघ कोई प्रामाणिक तथ्य प्रस्तुत नहीं कर सके हैं।

कामायनी में अस्तित्ववादी स्थितियों की गवेषणा कर लेखक ने पुराने पंडितों को चौंकाने की ज़बर्दस्त चेष्टा की है, किन्तु कामायनी में अस्तित्ववाद की गवेषणा सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित नहीं है। यह तो सही है कि कामायनी में अस्तित्व को अनस्तित्व की चुनौती है, अस्तित्व की सार्थकता का प्रश्न भी उठाया गया है, अस्तित्व की निरर्थकता तथा उसके खोखलेपन की अभिव्यक्ति है, अकेलेपन और आत्म-परायेपन की अनुभूति के दर्शन भी वहाँ किये जा सकते हैं, स्वतंत्रता (उच्छृङ्खलता) का स्वर बहुत प्रबल है; लेकिन क्या इस सबसे कामायनी अस्तित्ववादी काव्य सिद्ध हो जाता है? स्वयं डॉ० मेघ मानते हैं कि "प्रसाद के समय तक पश्चिमी अस्तित्ववाद का प्रभाव कतई नहीं था। प्रसाद कियर्केगार्द या सार्त्र से भी अपरिचित थे। वास्तव में जब कभी भी अमूर्त तत्त्वों और मिथकीय चिरंतनता की भूमिका पर अन्वीक्षा होती है तब जो समस्या उभरती है वह है अस्तित्व के बोध तथा घाव की। कामायनी अस्तित्ववादी बोध का पहला हिन्दी-महाकाव्य भी है।" (पृ० १७६) यदि प्रसाद ने अस्तित्ववादी प्रभाव पश्चिम से ग्रहण नहीं किया तो यह उनकी अपनी ही दृष्टि से निष्पन्न हुआ होगा। तब तो प्रसाद स्वयं प्रथम भारतीय अस्तित्ववादी दार्शनिक सिद्ध होते हैं। यह तो कम श्रेय की बात नहीं है, लेकिन ऐसा है नहीं। जिन मुद्दों को लेकर डॉ० मेघ कामायनी को अस्तित्ववादी काव्य सिद्ध करना चाहते हैं वे कामायनी के प्रतिपक्ष (एण्टी थीसिस) से सम्बन्धित हैं, पक्ष (थीसिस) से नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतएव यदि कामायनी में अस्तित्ववाद का समाहार स्वीकार कर लिया जाए तो वह उसका प्रतिपक्ष ही बन सकेगा। स्वतंत्रता (उच्छृङ्खलता) कामायनी का प्रतिमूल्य है, मूल्य नहीं। इसलिए डॉ० मेघ ने बार-बार इस बात पर जो बल दिया है कि कामायनी प्रथम अस्तित्ववादी काव्य है, वह एक बड़ी भ्रांति है।

कामायनी में व्यक्त प्रसाद की सौन्दर्य-दृष्टि को डॉ० मेघ ने अच्छी तरह पकड़ा है। परमाणु-आश्रित सौन्दर्य-बोध, 'बाह्यता से अंतर्मुखीनता में प्रवेश', 'उदात्तीकरण के चेतन आग्रह के कारण यौन-आकांक्षा पर गम्भीर मर्यादा का अवगुंठन', 'अवचेतन लोक की मुक्त उड़ान', 'दूरान्वित अनूठे सौन्दर्य-चित्रों' से समन्वित सौन्दर्य-बोध को बड़ी बारीकी से डॉ० मेघ ने पहचान लिया है। यहाँ सौन्दर्य और रमणीयता की विभेदात्मक व्याख्या का जो प्रयत्न किया गया है वह कृत्रिम और आरोपित प्रतीत होता है।

सौन्दर्य-विधान की मीमांसा करते हुए डॉ० मेघ ने काव्य-सौन्दर्य के साधक तत्त्वों को शास्त्रीय जड़ता से मुक्त रखा है। उन्होंने काव्य-सौन्दर्य के वाहक बिन्दुओं मे 'एक पूर्ण सौन्दर्यात्मक प्रभाव' (टोटल ऐस्थेटिक इफेक्ट) की गवेषणा की है।

डॉ० मेघ कामायनी के सौन्दर्य-बोध और सौन्दर्य-विधान से अनुशीलन में सफल रहे हैं, उतने ही उसके सत्य—विचार-धारा—के परिज्ञान में वे असफल रहे हैं। यद्यपि उन्होंने इस बात की चर्चा बार-बार की है कि कामायनी में 'मानवता का मनोवैज्ञानिक इतिहास' प्रस्तुत करना प्रसाद का उद्देश्य था, फिर भी वे कामायनी में मानवता का मनोवैज्ञानिक इतिहास न खोजकर सामाजिक विकास का इतिहास खोजते रहे हैं और इस प्रकार कामायनी पर बलात् अपनी दृष्टि थोपने का प्रयत्न किया है। ऐसी दशा में उनकी निराशा स्वाभाविक है। सारस्वत नगर के मनोवैज्ञानिक रूपक की समाजशास्त्रीय और राजनीतिक इतिहासपरक व्याख्या से निराशा हाथ आये तो इसमें कृति की नहीं समीक्षक की असफलता है। डॉ० मेघ कामायनी को **मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास** मानने को अप्रस्तुत हैं। वे पूछते हैं—"चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, ईर्ष्या, कर्म, स्वप्न, संघर्ष आदि में कौन-सा मनोवैज्ञानिक इतिहास है?" (पृ० १५१) कामायनी के सर्गों के शीर्षक में मनोवैज्ञानिक इतिहास की खोज अवश्य ही निरर्थक है, किन्तु काव्य के भीतर वह विद्यमान है और उसका अनुशीलन भी किया जा चुका है। (द्रष्टव्य—कामायनी का प्रतिपाद्य : मनोवैज्ञानिक विश्लेषण) यदि रूपक की मनोवैज्ञानिक अर्थवत्ता को डॉ० मेघ ने आत्मसात् किया होता तो वे किलात-आकुलि के नेतृत्व में प्रजा के विद्रोह को स्वेच्छाचारी शासक के विरुद्ध जनता का विद्रोह समझने की भूल नहीं करते। इसी प्रकार त्रिपुर-दाह और कैलास-आरोहण को आधुनिकता से तांत्रिकता में पलायन मानना भी रूपक को ठीक से न समझ पाने का परिणाम है।

कामायनी में जो समाजशास्त्रीय संकेत हैं, उनका विश्लेषण भी बहुत रोचक हो सकता है और 'मिथक और स्वप्न' में कहीं-कहीं उनकी बड़ी सुन्दर व्याख्या भी की गई है। इड़ा के रूप में स्वतंत्र व्यक्तित्व-सम्पन्न, अधिकार-चैतन्य और असमर्पणशील आधुनिका का बहुत अच्छा विश्लेषण किया गया है, जो स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के आधुनिक मोड़ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, लेकिन इड़ा के प्रतीकार्थ को आधुनिका में सीमित कर देने से आगे की कथा का तारतम्य बिगड़ जाता है। स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के मोड़ जैसे विषय कामायनी के गौण प्रश्न हैं और उनका महत्त्व केवल प्रासंगिक दृष्टि से स्वीकार किया जा सकता है। इस दृष्टि से इड़ा परकीया-सम्बन्ध का प्रतिनिधित्व भी करती है, किन्तु डॉ० मेघ ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है क्योंकि उनकी दृष्टि समाज-दर्शन से बँधी हुई है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देवासुर संग्राम का सांस्कृतिक विवेचन भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है। डॉ० मेघ ने दो-एक बार देवासुर-संस्कृति का प्रश्न उठाया तो है, किन्तु वे देवासुर-द्वन्द्व के माध्यम से संकेतित दो प्रकार की जीवन-दृष्टियों को नहीं पकड़ पाये हैं। इस प्रकार की व्याख्या उनकी पकड़ में आते-आते रह गई है।

कामायनी में काम की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण रही है और उसका स्वरूप काफी विवादास्पद भी रहा है। डॉ० मेघ ने सौन्दर्यबोधात्मक कोण से काम और रति के विविध रूपान्तरणों को अपनी दृष्टि में आँक लिया है, लेकिन काम की मनोवैज्ञानिक जटिलता में वे नहीं उतरे हैं।

डॉ० मेघ की भाषा में प्रबल अभिव्यक्ति-सामर्थ्य और दृढता है, किन्तु वह एक प्रकार के रूखेपन और पांडित्यारोप से कुंठित हो गई है। डॉ० मेघ अपनी बात दूसरों को समझाना चाहते हों—ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानो वे अपना ज्ञान उँडेल डालना चाहते हों। इस आवेश में न तो उन्हें पुनरावृत्ति का ध्यान रहा है न कथ्य के क्रमिक संयोजन का। यही कारण है कि 'मिथक और स्वप्न' के परस्पर-सम्बन्धित अध्याय कहीं-कहीं बहुत दूर पड़ गये हैं जिससे विचारों की अन्विति को आघात पहुँचा है। दूरान्वय और खंडित विचार-सूत्र के परिहार के लिए लेखक को कहीं-कहीं अध्याय के अंत में सम्बन्धित अध्याय के सम्बन्ध में टिप्पणी देने को भी विवश होना पड़ा है, जो निश्चय ही प्रबंध-शैथिल्य का लक्षण है।

'मिथक और स्वप्न' में डॉ० मेघ की मनस्वितापूर्ण और पांडित्यमय उपलब्धियों से एक सीमित वर्ग लाभान्वित हो सकेगा, फिर भी इसमें उनके विपुल अध्ययन और उनकी प्रतिभा का जो प्रकाशन हुआ है, उसका मूल्य कम नहीं है और उसके नाते यह कृति शुभाशंसा की अधिकारिणी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यिक कलाकृति का स्थान-निर्धारण

लोठार लुट्से

इधर आलोचना में 'काव्य-भाषा और शैली-विज्ञान'[1] लेख छपा है। प्रस्तुत विचारों की प्रेरणा मुझे इसी लेख से मिली, इसके लिए मैं सम्पादक एवं लेखक दोनों का आभारी हूँ। मैं समझता हूँ, लेखक भाषा-वैज्ञानिक है और अब इसी कसौटी पर साहित्यिक आलोचना को कसना चाहता है। कुछ समय से मैं यह देखने में लगा हूँ कि क्या आलोचना के लिए भाषा-विज्ञान की कोई कसौटियाँ हो सकती हैं? हम दोनों के दृष्टि-कोणों में जो साम्य अथवा विरोध है उसकी पृष्ठभूमि यही है।

मैंने अपने एक लेख में साहित्य अथवा सर्जनात्मक लेखन की परिभाषा करते हुए उसे "भाषायी सामग्री की पुनर्व्यवस्था" बताया है। इस परिभाषा को आधार मानकर अब हम आगे बढ़ते हैं। 'पुनर्व्यवस्था' में 'किसी व्यवस्थित वस्तु की व्यवस्था' का भाव निहित है, प्रस्तुत संदर्भ में भाषा की व्यवस्था। 'कलात्मक' कहने से बोध होता है कि साहित्य में भाषा की पुनर्व्यवस्था का सिद्धांत 'कला' नाम की किसी वस्तु पर आधारित है। और है भी यही। एक साहित्यिक अभिव्यक्ति में एक साम्य होता है।

(क) किसी भाषायी अभिव्यक्ति से,

(ख) किसी कला-कृति से (संगीत-रचना, चित्र इत्यादि)।

और अब हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि वह बिन्दु, जहाँ भाषा और कला एक-दूसरे को काटते हुए मिलते हैं, ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का केन्द्र है।

कला | साहित्यिक अभिव्यक्ति

भाषा

विनोग्रादोव का दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है। वह 'कलात्मक शैली' को 'भाषायी शैली' तथा 'साहित्यिक शैली' का मिश्रण मानता है।[2] जहाँ तक कोई साहित्यिक अभिव्यक्ति एक भाषायी अभिव्यक्ति है (क) वहाँ तक जाहिर है कि भाषाविज्ञान इस स्थिति में होगा कि वह उसे परखे और उसी को यह करना भी होगा। यह बात हुई 'सामान्य भाषा' से 'समानता' तथा 'असमानता' के संदर्भ में: किसी साहित्यिक अभिव्यक्ति की 'विशिष्टता' का निर्धारण सम्भवतया तब तक नहीं हो सकता जब तक उसमें अन्तर्हित 'सामान्य ढाँचे' का सही पता न हो।

भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत शैली-शास्त्र ही सर्वाधिक सहायक 'स्तर' होगा, क्योंकि व्याकरण केवल व्याकरण-सम्मत को व्याकरणेतर से पृथक् करता है, जबकि शैली-शास्त्र व्याकरण-सम्मत में विकल्पों को परखता है।

भाषा

व्याकरण — व्याकरण-सम्मत | व्याकरणेतर

शैलीशास्त्र — विकल्प (क) | विकल्प (ख) | विकल्प (ग)

शैली विकल्प है, चाहे वह किसी विज्ञापन की शैली हो, जिसका उद्देश्य ध्यानाकर्षण होता है। चाहे किसी कानूनी मसौदे की शैली हो, जिसका उद्देश्य अस्पष्टता को दूर करना हो, और चाहे वह टी० एस० इलियट की काव्य-शैली हो। लेकिन वह क्या चीज़ है जो 'दि वेस्टलैण्ड' की शैली को विज्ञापन अथवा कानूनी मसौदे की शैली के विपरीत कलात्मक बनाती है और इस कविता को एक कलाकृति बना देती है। किसी संगीत-रचना अथवा किसी चित्र आदि (ख) से इस कविता का साम्य क्या है, और व्यवस्था के वे कौनसे सिद्धांत हैं जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी संगीत-रचना, किसी चित्र और साथ ही 'दि वेस्टलैण्ड' की शैली का निर्धारण करते हैं ? अगर हम मान लेते हैं कि ऐसे सिद्धान्तों का अस्तित्व है, तो क्या कोई साहित्यिक अथवा कोई अन्य कला-कृति सही अर्थों में 'स्वायत्त' होती है ?

इन प्रश्नों के उत्तर सम्भवतया यह स्पष्ट करेंगे कि किसी साहित्यिक अभिव्यक्ति में भाषा-विज्ञान से पृथक् क्या है और वे उत्तर हमें भाषा-विज्ञान की परिधि से बाहर उस अनुशासन की सीमा में ले जाएँगे, जिसे हम अन्य किसी बेहतर संज्ञा के अभाव में सौंदर्य-बोध कहते हैं। अन्य कहीं के भी अतिरिक्त साहित्यालोचन के लिए इसी क्षेत्र में अधिक काम करने को पड़ा है : सौंदर्य-बोध की बहुत-सी परम्परागत धारणाओं को फिर से परखने की आवश्यकता है। यदि एक व्याप्त अस्पष्टता से बचना है, तो नये उपाय सोचने होंगे। सूचना-सिद्धान्त के आधार पर साहित्यिक कलाकृतियों की आँकड़ायी 'नापजोख' तो केवल एक श्रीगणेश है।[3]

१. रवीन्द्र श्रीवास्तव, 'काव्य-भाषा और शैली-विज्ञान', आलोचना ४२, अप्रैल १९६८, पृ० ११-२०।

२. वही, पृ० १८।

३. एच० जे० क्योलराइटर, डायलाग, ६०; नयी दिल्ली, पृ० ८०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखकों द्वारा बलात्कार

यशदेव शल्य

इधर कुछ वर्षों से हिन्दी की पत्रिकाओं में, ऐसी पत्रिकाओं में भी जिनसे उच्च स्तर की अपेक्षा की जानी चाहिए, ऐसे लेख प्रकाशित हो रहे हैं जिनकी भाषा देखकर मन वित्रस्त हो उठता है। इसका कारण सभी अवस्थाओं में मैंने एक ही पाया है, और वह यह कि लेखक इंगलिश में कुछ पढ़कर उसे बिना समझे हिन्दी में लिखकर प्रतिष्ठालाभ के लिए उतावले रहते हैं। किन्तु इसमें दोषी केवल वे ही नहीं हैं, सम्पादक भी उतने ही दोषी हैं, क्योंकि निरर्थक, या अशुद्ध भाषा वाले, लेख उनकी पत्रिकाओं में प्रकाशित होने का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। मुझे ऐसा लगता है कि सम्पादक लोग ऐसी अवस्थाओं में अधिकांशतः समझते हैं कि यदि उन्हें लेख समझ में नहीं आ रहा है तो अवश्य ही कोई बहुत गंभीर तत्त्व की बात उसमें होगी। इस प्रकार के 'गम्भीर' लेखों की इधर बहुत अधिक बहुतायत है, किन्तु ऐसे लेखों में मूर्धन्य श्री रमेश कुंतल मेघ के लेख हैं। एक बार माध्यम के सम्पादक महोदय को मैंने उस पत्रिका में प्रकाशित श्री मेघ के लेख "भारतीय बुद्धिजीवियों का आत्मपरायापन" के प्रकाशन के विरोध में एक व्यक्तिगत पत्र लिखा था और इस बात पर खेद प्रकट किया था कि 'माध्यम' जैसी पत्रिका में ऐसी भाषा को स्वीकृति दी जाती है। किन्तु उसका कुछ असर दिखाई नहीं दिया। उसके बाद आलोचना में उनके, कुछ और महाशयों के भी, लेख देखे। अब इधर आलोचना के ही जून १९६८ अंक में उनका एक और लेख आया है और यह "दुर्भाग्यपूर्ण दिशा में निरन्तर प्रगति" का द्योतक है। यदि 'आलोचना' जैसी पत्रिका में भी यह सब संभव है तब हिन्दी के भविष्य के सम्बन्ध में आँख-कान बन्द कर बैठा जा सकता है। किन्तु सोचता हूँ, एक बार 'सोर्ध्व बाहु विरोदन' कर देखूँ, यदि इस बेचारी भाषा और इसके बेचारे पाठकों के प्रति कोई दया करने को तैयार हो जाए। संकोच केवल यही था कि श्री मेघ मेरे स्नेही मित्र हैं और उन्हीं को मैं उदाहरण रूप में रखने को बाध्य हूँ। किन्तु इस स्थिति के कष्टकर होने के बावजूद मैंने अपने को कर्त्तव्य-कर्म के लिए तैयार किया है। आश्चर्य और खेद की बात यह है कि अन्य किसी ने इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाई है।

क्योंकि अन्य बहुत-से लेखक ऐसी गड़बड़ करते हैं और क्योंकि श्री मेघ के उन सब लेखों में ये दोष हैं जो मैंने इधर देखे हैं, इसलिए मैं केवल उदाहरण के रूप में आलोचना के जून १९६८ अंक में प्रकाशित उनके लेख 'साधारणीकरण का द्वन्द्व न्याय' के केवल प्रथम पृष्ठ की ही आलोचना करूँगा।

यहाँ सर्वप्रथम यह द्रष्टव्य है कि श्री मेघ हिन्दी के अध्यापक हैं, इस लेख में चर्चा का विषय भी भारतीय विचार-सम्बन्धी ही है, किन्तु तब भी शायद ही कोई पारिभाषिक शब्द इस लेख में, या उनके अन्य लेखों में भी, हो जिसको इंगलिश के किसी शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया हो। मानिये हिन्दी स्वयं कुछ व्यक्त नहीं कर सकती।

अब इन शब्दों को देखिये—श्री मेघ ने 'मैटाफ़िज़ीकल' शब्द के लिए 'आधिभौतिक' पर्याय का प्रयोग किया है। 'आधिभौतिक' का अर्थ होता है भौतिक प्रपंच-सम्बन्धी, और 'मैटाफिज़ीकल' का इससे दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु इस ग़लती का कारण एक गहरा अज्ञान है। 'मैटाफिज़ीकल' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है "फ़िज़िक्स (अर्थात् द्रव्य भूत विषयक सिद्धान्त) से ऊपर या उपरान्त।" इस शब्द का प्रयोग कुछ इसी अर्थ में अरस्तू की कृतियों के एक सम्पादक एंड्रोनिक्स ने ई० पू० ७० में अरस्तू के साहित्य के कुछ अंश के लिए किया था। किन्तु बाद में यह शब्द उस प्रकार की दार्शनिक चर्चा के लिए रूढ हो गया जिस प्रकार की चर्चा अरस्तू के इस साहित्य में की गयी थी। इस तरह से अब यह शब्द रूढार्थ में ही प्रयुक्त होता है यौगिक अर्थ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। इसी अर्थ में यह श्री मेघ के वाक्य में उपयुक्त हो सकता है, यदि हो तो, किन्तु श्री मेघ को अपने वाक्य का अभिप्राय ज्ञात नहीं है, इसलिए उन्होंने इस शब्द के यौगिक अर्थ का हिन्दी पर्याय देने का प्रयत्न किया। किन्तु हिन्दी शब्द का वह अर्थ भी नहीं है। इस ग़लती का कारण यह है कि श्री मेघ ने समझा कि 'अधि' उपसर्ग का अर्थ अतिक्रमण होता है, जोकि नहीं होता, यदि होता भी, तो भी एक उपसर्ग शब्द-भेद के साथ भिन्न अर्थ देता है। अतिक्रमण के लिए अति उपसर्ग का उपयोग होता है, जैसे 'अतीन्द्रिय' में। इस प्रकार से यहाँ 'अतिभौतिक' शब्द उपयुक्त होता। फिर 'आधिभौतिक' बहुत प्रचलित शब्द है। श्री मेघ ने सांख्य की चर्चा की है, उसी में यह भौतिक प्रपंच-जन्य ताप के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'मैटाफिज़िक्स' के लिए उपयुक्त हिन्दी पर्याय है 'तत्त्वमीमांसा'। किन्तु दुर्भाग्यवश श्री मेघ के वाक्य में 'मैटाफिज़ीकल' शब्द किसी भी अर्थ में अप-प्रयुक्त है, क्योंकि मध्ययुगों के दृष्टिकोण को 'मैटाफिज़ीकल' या 'तत्त्वमीमांसात्मक' कहने का कुछ अर्थ नहीं है, आप उसे धार्मिक कह सकते हैं, अधिक-से-अधिक आध्यात्मिक कह सकते हैं, 'मैटाफिज़ीकल' कैसे कह सकते हैं? यह कौन-सा दृष्टिकोण होता है?

ऐसी ही अज्ञता का द्योतन 'फिनोमिना' के लिए 'संघटना' और 'यूनीवर्सल' के लिए 'वैश्वक' पर्यायों में हुआ है। 'संघटना' शब्द मेघजी 'घटना' से बना रहे हैं किन्तु 'संघटना' का अर्थ रचना-प्रकार, निर्माण, कंपोज़ीशन होता है। पुनः 'फिनोमिना' के अनेक अर्थ हैं जिनमें एक अर्थ घटना, अधिकांशतः महान् या महत्त्वपूर्ण घटना, होता है। मेघजी के इस वाक्य में यह अर्थ नहीं है, यहाँ यह 'नौमिना' (निरपेक्ष सन्) के विपरीतार्थक के रूप में अभिप्रेत है, इसलिए इसका हिन्दी पर्याय होना चाहिए 'प्रतिभास'। किन्तु इस अभिप्रेत अर्थ में भी यह शब्द (फिनोमिना या प्रतिभास शब्द) अपप्रयुक्त है। क्योंकि 'मैटाफिज़ीकल' फिनोमिना (मेघजी की पदावली में, आधिभौतिक संघटना) क्या होता है, यह तो वदतोव्याघात ही है, क्योंकि मैटाफिज़िक्स फिनोमिना के पीछे नौमिना का स्वरूप बताने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार से 'वैश्वक' शब्द में घपला है। पहले तो 'वैश्वक' कोई शब्द ही नहीं है, 'वैश्व' शब्द होता है, दूसरे 'यूनीवर्सल' का यह अर्थ नहीं है। 'वैश्व' का अर्थ है विश्व-सम्बन्धी, जबकि 'यूनीवर्सल' के दो अर्थ हैं और एक भी अर्थ 'विश्व-सम्बन्धी' ऐसा नहीं है। ये अर्थ हैं किसी विशेष देश-काल से निरपेक्ष-सर्वतोपलब्ध, इसके इस अर्थ में इसका पर्यायवाची 'सार्वभौम' शब्द है और दूसरे अर्थ में पर्यायवाची 'जाति' और 'सामान्य' शब्द हैं। श्री मेघ के वाक्य में यह पर्टिकुलर (विशिष्ट) के विपरीतार्थक के रूप में प्रयुक्त होने से इसका हिन्दी पर्याय 'जाति' या 'सामान्य' होना चाहिये था।

दूसरी कोटि उन शब्दों की है जो दिये गए या अभिप्रेत इंगलिश शब्दों के सही पर्याय हैं, किन्तु अन्यथा अशुद्ध हैं। ये हैं 'चक्राक', 'रेखाक', 'अन-देशिक', 'अन-कालपरक' तथा 'भाषिकीय'। ये क्रमशः होने चाहिए, 'चक्रिक', 'रैखिक' या 'रेखीय', 'अ-दैशिक' और 'अ-कालिक' तथा 'भाषीय'। उनके पहले ही वाक्य में प्रयुक्त 'स्व-युगीन' अनुपयुक्त शब्द है, यहाँ या तो 'उस युग की' होना चाहिए या इस युग की, जो भी लेखक को अभिप्रेत हो। 'स्वयुगीन' इस प्रकार के वाक्य में प्रयुक्त होना चाहिए : 'कोई भी व्यक्ति स्वयुगीन···' क्योंकि 'स्वयुगीन' का अर्थ 'अपने युग की' होता है, इसकी अनुपयुक्तता श्री मेघ के वाक्य में इस पद को 'अपने युग की' पद से स्थानान्तरित करके देखी जा सकती है।

किन्तु बात यहीं तक समाप्त नहीं होती, मेघजी सांख्य में 'त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति के कारण' द्वन्द्व-न्याय देखते हैं। उन्होंने शायद समझा कि थीसिस, एंटीथीसिस और साइंथीसिस क्योंकि तीन हैं और इसी प्रकार से 'सत्त्व, रज और तम' भी तीन हैं, इसलिए सांख्य में द्वन्द्व-न्याय है। अब ऐसी दार्शनिक सूझ पर आगे चर्चा व्यर्थ है। इसी दार्शनिक सूझ के आधार पर लेख का शीर्षक रखा गया है। इससे और उपरोक्त अन्य निरर्थकताओं से यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि लेखक कोई लेख नहीं लिख रहा है, उसके वाक्य तक वास्तव में वाक्य नहीं हैं, वाक्याभास हैं, शब्द तक निरर्थक हैं। ऐसी स्थिति में वह यदि केवल ध्वनि-संकेतों से पृष्ठ नहीं रंग रहा है तो और क्या कर रहा है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक गुमराह बोध की दुर्भाग्यपूर्ण दिशा

रमेश कुंतल मेघ

उपर्युक्त टिप्पणी में मेरे मित्र यशदेव शल्य ने मुझे माध्यम बनाकर आधुनिक लेखन की एक व्यापक पहेली तथा चुनौती के बाबत सवाल उठाया है। आधुनिक लेखन का वाक्य-विन्यास तथा शब्द-निर्माण कैसा हो ? जब 'सामान्य हिन्दी' और 'अच्छी हिन्दी', 'कार्यालयी हिन्दी' और 'व्यावहारिक हिन्दी' आदि के भी बहुरूप उभर रहे हैं तो यह भी आवश्यक है कि कम-से-कम एक ओर मानक शब्दकोश स्वीकृत हों तो दूसरी ओर संप्रेषण के लिए केवल अर्थ की केंचुल से ही न चिपटा जाए।

पूर्व-परम्परा में शब्द के सम्बन्ध मूलरूपेण 'अर्थ' से ही जोड़े जाते रहे हैं। आज शब्द को 'कर्म' से भी जोड़ा जाता है। अतएव केवल व्युत्पत्तिपरक अथवा रूढ़ अर्थों से अब काम नहीं चलेगा, बल्कि अभिप्राय, तात्पर्य, प्रयोजन आदि को मुख्यरूपेण लेना पड़ेगा।

एक सरल बात है कि भाषा प्रयोग-मूलक है। इसमें वस्तु और उसका **युगीन** 'बोध' संयुक्त रहेगा। वस्तु और बोध का संयोग ही शब्द को **सार्थक** शब्द बनाता है। शल्य को दोहरी शिकायत है कि 'निरर्थक' या 'अशुद्ध' भाषा वाले लेख इसलिए प्रकाशित हो रहे हैं कि हिन्दी के नये लेखक इंगलिश में कुछ पढ़कर और हिन्दी में उसे बिना समझे लिखकर प्रस्तुत करते हैं; और सम्पादक भी बेसमझी से ऐसे बेचारे लेखों को गम्भीर और तात्त्विक समझकर छाप देते हैं। मैं अपनी विशेष कैफ़ियत पेश नहीं करना चाहता, क्योंकि आधुनिक भाषा की खोज में मैं स्वयं बेहद आत्मयंत्रणा से इसलिए गुज़रता हूँ कि मैं रस, रीति, भक्ति जैसे मध्यकालीन क्षेत्रों की आधुनिक सामाजिक व्याख्याएँ करता हूँ। मुझे स्वयं यह कठिनाई महसूस होती है कि अंग्रेज़ी पुस्तकों में जो संस्कृत शब्दावली अनूदित होती है वह भी केवल अभिप्राय का संकेत कर पाती है, अर्थाभिव्यक्ति नहीं। इसलिए मुझे यह लगता है कि प्रधानतः आधुनिक भाषा-प्रयोग (जिसे विटगेंस्टाइन 'भाषाक्रीड़ा' कहते हैं) ही इस निरर्थकता, तत्त्वहीनता और बेचारेपन को दूर कर सकता है। शब्द-प्रयोगों में मेरी त्रुटि या सीमाएँ हैं। उन्हें मैं स्वीकार करता हूँ। लेकिन इसकी वजह मानक शब्दकोषों की कमी तथा साहित्येतर हिन्दी में लिखे गये लेखों की विरलता भी तो है।

पूर्ण अर्थ का ज्ञान शब्दों से नहीं, पूरे वाक्य से होता है। शब्दार्थ 'वस्तु' के बजाय तथ्य (की यथार्थता) का 'बोध' कराता है। यह **बोध** वस्तु का निर्देश करता है, तथ्यों का ज्ञापन करता है, भावों को आविर्भूत करता है तथा कर्म में प्रेरित भी करता है। शल्य दर्शनक्षेत्र के विद्वान हैं। अतः वे 'निर्देशी भाषा' के व्यवहार करने वाले हैं। वे शब्द के अर्थ-बोधन की सीमा को यदृच्छया जकड़ रहे हुए लगते हैं। जो आक्षेप उन्होंने लगाये हैं वैसे ही उन्नीसवीं शती में ब्रजभाषा के रसिक खड़ी बोली को उर्दू-ए-मुअल्ला होने का लगाते थे; अथवा महावीरप्रसाद द्विवेदी के ख़ेमे के लोग 'छायावादी' भाषा पर लगाते थे। अब आधुनिक लेखन में अगर नये शब्दों को लेखक गढ़ते हैं तो वे आधुनिकताशास्त्र रचने के लिए अथवा 'बलात्कार करने के लिए' मुजरिम हैं; और अगर पुराने शब्दों के रूढ़ार्थ से चिपकते हैं तो मध्यकालीन, एकेडेमिक, जड़भरत आदि उपाधियों से विभूषित होते हैं। हम केवल यही कह सकते हैं कि ज्ञात अभिधार्थ के सहारे हम नये अभिधार्थ का ज्ञान करें—इसके लिए नये शब्द के व्यवहार के प्रति लचीले बनें। आज भाषा का सम्बन्ध केवल अर्थ से ही नहीं, बल्कि अर्थोत्तर अभाष अनुभव और अर्थोपरान्त कर्म से भी है। इसलिए आज शब्द के तात्पर्य ज़्यादा ज़रूरी हैं। इसके द्वारा ही भाषा के अभिधेयार्थ से सम्बन्धित मिथकीय अर्थांतरों की ओर बढ़ा जा सकता है। यह आक्षेप बेहद दकियानूस होगा कि 'इधर कुछ वर्षों से' केवल इंगलिशपठन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का 'निरर्थक एवं अशुद्ध भाषा में' अनुवाद-मात्र हो रहा है।

पत्रलेखक ने उदाहरण के लिए मेरे द्वारा व्यवहृत तीन शब्दों को लिया है—मेटाफ़िज़िक्स, यूनिवर्सल और फिनोमिना'। उन्हें इनके हिन्दी पारिभाषिकों से आपत्ति है। हो सकता है कि यह ज़्यादा ग़लत न हो। किन्तु इस स्थिति के लिए मानक शब्दकोश तथा उनके अनिवार्य प्रचलन की भी कमी है। तथापि अगर हम आधुनिक समाजशास्त्र तथा मानविकी ज्ञानों का इस्तेमाल करेंगे तो हमेशा ही प्राचीन शब्दों के अर्थ के यथार्थ में, बोध के तथ्य में, और शब्द के सत्य में दूरी होगी। जब उन्हें दूसरे सांस्कृतिक पैटर्न के दर्शन के प्रकरणों में रखेंगे तब तो उनके अर्थबोध विचित्र भी हो सकते हैं। फिर भी भाषा-क्रीड़ा अपनी बात पूरी कह देती है। भाषा-क्रीड़ा का प्रमुख स्रोत 'रूपक' हैं जो काव्य, दर्शन और विज्ञान—तीनों को एक उद्‌गम से जोड़ देते हैं। इसीलिए सभी मध्यकालीन चिन्तनों में मूर्तिपूजा से लगाकर रहस्यवादी ध्यान तक के अनुभव मिलते हैं; और उनके लिए विभिन्न सांस्कृतिक प्रतीक भी। हमारा चिंतन भी कुछ सामान्यताओं तथा विशिष्टताओं के अन्तवर्गों से द्वन्द्वपूर्ण है। इसलिए यहाँ भी नये अनुभवों तथा ज्ञान को 'शक्तियों', 'न्यायों' और 'रूपकों' द्वारा ही संप्रेपित किया गया है। हमने भी एक परम्परा का ही पालन किया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'मिथ' के लिए 'मिथक', 'लीजेंड' के लिए 'निजंधर', 'एलीगरी' के लिए 'अन्यापदेश', 'एब्नार्मल' के लिए 'अवनर्मिल' शब्द गढ़े हैं; नंददुलारे वाजपेयी ने अभिनवगुप्तसम्मत 'व्यक्ति' को 'व्यक्तित्व, अर्थात् पर्सनेलिटी के अर्थ में टकसाली बना दिया था। अतः अच्छी हिन्दी के साथ हमें आधुनिक जीवन के व्यवहारों तथा अनुभवों का वहन करने वाली सम्भवा-हिन्दी भी तो चाहिए। वह हिन्दी व्याकरण से तो बनेगी ही, किन्तु सृजनात्मक अनुभवों तथा तुलनात्मक ज्ञान से भी बनेगी। स्पष्टतः तब नवनिर्मित शब्द—ऐतिहासिक अर्थमीमांसा के कारण—अपनी तत्त्वमीमांसा से दूर चले जाएँगे। ऊपर के कुछ उदाहरण हमने दिये ही हैं।

मैं एक-दो और मिसालें देता हूँ अपनी आत्मयन्त्रणा को प्रकट करने के लिए। अंग्रेज़ी में 'psyche' शब्द है। इसके लिए 'अन्तःकरण' और 'मनस्तत्व' का व्यवहार किया गया। मुझे ये अधूरे और एकांगी लगे। अतः मैंने 'चिति' का प्रयोग शुरू किया। अंग्रेज़ी में function, act, action, activity, work, labour आदि हैं। भेद करने के लिए मुझे अर्थ रूढ़ करने पड़े; क्रमशः प्रकार्य, कृत्य, कर्म, क्रियात्मकता, काम, तथा श्रम ग्रहीत हुए। शब्दों की रचना ध्वन्यर्थव्यंजक भी होती है। अतः मैंने panoramic के लिए 'पाणिवृत्तीय' और 'kaleidescopic' के लिए 'कलादशकोणीय' भी टकसाली बनाये। अगर यह न किया जाए तो कब तक इन्तज़ार हो और लिखने में रघुवीर, बुल्के, रामचन्द्र वर्मा के कोशों के कितने पारिभाषिकों में से चुनाव किया जाए? फिर भी मैं मानक पारिभाषिकों के हक में अपने तात्पर्यव्यंजक शब्दों को कम ठीक मानता हूँ। पत्रलेखक ने मेरे जिन तीन शब्दों को लेकर 'वितण्डावाद' उठाया है वहाँ ऊहापोह भी है: metaphysical' 'अतिलौकिक' भी है; 'अतिभौतिक' भी। मैंने 'आधि' उपसर्ग लगाया है और आधि श्रेष्ठ, बड़ा, अतिरिक्त का द्योतक है। 'universal' के लिए 'वैश्वक' शब्द बनाने में सार्वत्रिक तथा सार्वभौम के अर्थ में देश के साथ काल निरपेक्ष्यता का समावेश लक्षित रहा है। 'phenomena' के लिए 'सं-घटना' ठीक है क्योंकि मम्मट ने संरचना (गुफ) में रसधर्मी गुणों के चमत्कार के भी समावेश के लिए इसे इस्तेमाल किया है। मैंने इसे 'सं+घटना' के अर्थ में लिया जो 'phenomena' के नज़दीक है। जहाँ तक सांख्य या साधारणीकरण से 'द्वन्द्वन्याय' (dialectics) की स्वीकृति की बात है; वह बेतुकी है। द्वन्द्वन्याय एक वैज्ञानिक पद्धति है जो केवल सांख्य पर ही नहीं, वेदान्त और न्यूक्लिअर भौतिकशास्त्र पर भी लागू हुई है। इसे अस्वीकार करना मानो न्यूटन के पहले गुरुत्वाकर्षण के नियम की ही अस्वीकृति होगी; मानो न्यूटन ने इसका अन्वेषण न करके माया-निर्माण किया हो।

इसीलिए हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि अगर शल्य को 'कुछ वर्षों से हिन्दी पत्रिकाओं' में छपे लेखों की भाषा से आपत्ति है तो वे वैयाकरण और दार्शनिक दृष्टिकोणों से ही इस भाषा-संकट को न देखें। अगर वे यह मानते हैं कि उक्त लेखन इंगलिश में कुछ पढ़कर उसे बिना समझे हिन्दी में लिखकर प्रतिष्ठालाभ का 'उतावलापन' है तब तो वे भी बेहद संकीर्ण, कठमुल्ले अन्धपरम्परावादी और शंकराचार्य के मठ के भाष्यकार होते जाएँगे, और आधुनिकताबोध को 'अभारतीय' अथवा 'अमौलिक' कहकर त्याज्य बताते रहेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकादेमी के नए प्रकाशन

समसामयिक हिन्दी साहित्य

इस ग्रन्थ में स्वतन्त्रता के उपरान्त १९४७ से १९६० के हिन्दी साहित्य की बहुविध प्रगति एवं विकास का सर्वांगीण और सर्वतोमुखी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसके सम्पादक हैं हरिवंशराय बच्चन, नगेन्द्र और भारतभूषण अग्रवाल। इस ग्रन्थ के महत्त्व का कुछ परिचय अध्यायों के शीर्षकों और उनके लेखकों के नामों से मिल जायगा : परम्परा : डा० श्रीकृष्णलाल; परिवेश : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; कविता : डा० शम्भूनाथसिंह; उपन्यास : डा० रणवीर रांग्रा; कहानी : डा० लक्ष्मीनारायणलाल; नाटक : डा० सुरेश अवस्थी; आलोचना : डा० बच्चनसिंह; समीक्षात्मक निबन्ध : डा० सुरेशचन्द्र गुप्त; ललित निबन्ध : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी; अन्य गद्य-विधाएं : डा० रमेश कुंतल मेघ; ज्ञान का साहित्य : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी। डिमाई साइज के ४२४ पृष्ठ। मूल्य १०.००।

चुनी हुई सिन्धी कहानियाँ

इस पुस्तक में सिन्धी भाषा के २६ प्रमुखतम कथाकारों की चुनी हुई कहानियों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। इन कहानियों में पुरुष की बेवफ़ाई, स्त्री-शिक्षा, लड़कियों का नौकरी करना, सिन्धी लोगों के विस्थापन से पूर्व तथा पश्चात् की सिन्ध की परिस्थितियों और शरणार्थी-कैम्पों के जीवन का यथातथ्य अंकन देखने को मिलता है। पुस्तक का सम्पादन गोविन्द माल्ही और कला रीझसिंघानी ने किया है और अनुवादक हैं मोतीलाल जोतवाणी। क्राउन साइज़ के २१० पृष्ठ। मूल्य ६.५०।

प्रोफ़ेसर

मलयालम के प्रख्यात साहित्यकार जोसेफ़ मुण्डश्शेरी एक समीक्षक के रूप में जाने-माने जाते हैं। इस उपन्यास में उन्होंने केरल के शिक्षकों की जीवन-चर्या की झाँकी प्रस्तुत की है। क्योंकि वे स्वयं भी शिक्षक हैं, अतः आत्मानुभूत सत्य की चरम परिणति इस उपन्यास में दृष्टिगत होती है। भारत के एक महत्त्वपूर्ण, किन्तु उपेक्षित वर्ग की यह मार्मिक कहानी हमारे पाठकों को अवश्य ही प्रभावित करेगी। इसका अनुवाद श्री सुधांशु चतुर्वेदी ने बड़ी ही प्रांजल भाषा में किया है। क्राउन साइज़ के ८४ पृष्ठ। मूल्य ३.५०।

रवीन्द्रनाथ की कविताएँ

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की १०१ चुनी हुई कविताओं के इस संकलन का हिन्दी अनुवाद क्रमशः हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, रामधारीसिंह 'दिनकर', हंसकुमार तिवारी और भवानीप्रसाद मिश्र ने किया है। प्रारम्भ में प्रो० हुमायुन कबिर की विस्तृत भूमिका में कवि के रचना-सौष्ठव का सम्यक् परिचय दिया गया है। डिमाई साइज़ के ३३६ पृष्ठ। मूल्य १२.००।

पंजाबी कवितावली

श्रीमती अमृता प्रीतम द्वारा सम्पादित और श्री हरिवंश द्वारा अनूदित इस ग्रन्थ में तेरहवीं शताब्दी के कवि सन्त फ़रीद से लेकर आज तक के लगभग १०० पंजाबी कवियों की चुनी हुई कविताएँ संकलित की गई हैं। इसकी रचनाओं में जहां पंजाब के जन-जीवन के विभिन्न पक्षों की झाँकी देखने को मिलती है वहाँ लोक-गीतों में वहाँ के निवासियों की मस्ती, अल्हड़ता, प्रेम-परायणता और सहज विनोदप्रियता के भी दर्शन होते हैं। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता और उपादेयता इसी से सिद्ध हो जाती है कि ग्रन्थ की सम्पादिका ने अपनी भूमिका में पंजाबी कविता की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करके उसका संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया है। डिमाई साइज़ के ४४० पृष्ठ। मूल्य १२.००।

प्राप्ति-स्थान :

साहित्य अकादेमी

रवीन्द्र भवन, ३५, फिरोज़शाह रोड, नई दिल्ली-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्वपूर्ण आलोचना ग्रन्थ

केशव का आचार्यत्व

डा० विजयपालसिंह,
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय

२०.००

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में जिन कलाकारों ने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व की भी पदवी प्राप्त की, उनमें केशव का स्थान सर्वोपरि है। डी० लिट् के लिए स्वीकृत इस शोध-प्रबन्ध में केशव के पूर्ववर्ती, परवर्ती और समकालीन काव्य परम्पराओं की विशद पीठिका पर उनके स्वरचित ग्रन्थों के आधार पर उनके आचार्यत्व का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। सभी पुस्तकालयों तथा साहित्य के अध्येताओं के लिए संग्रहणीय।

बच्चन का परवर्ती काव्य डा० श्यामसुन्दर घोष	६.००
हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य डा० भास्करन नायर	१५.००
हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन डा० जी० सुन्दर रेड्डी	४.००
हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन डा० एस० एन० गणेशन	१५.००
आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली डा० रांगेय राघव	१०.००
हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास डा० दशरथ ओझा	१२.००
संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद डा० देवेन्द्रकुमार	१३.००
काव्य में उदात्त तत्व डा० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन	३.००
समीक्षा शास्त्र डा० दशरथ ओझा	६.००
तुलसी और उनका काव्य रामनरेश त्रिपाठी	१०.००
तुलसीदास : चिंतन और कला डा० इन्द्रनाथ मदान	६.००
केशव और उनका साहित्य डा० विजयपाल सिंह	१५.००
कवियों में सौम्य संत : सुमित्रानन्दन पन्त डा० हरिवंशराय बच्चन	५.००
आज का भारतीय साहित्य, सं० साहित्य अकादमी	८.००

राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

आगामी अंक में

- पाश्चात्य आलोचना की नई प्रवृत्तियों पर विशेष सामग्री।
- डा० इन्द्रनाथ मदान का 'कामायनी : एक असफल कृति' शीर्षक विचारोत्तेजक निबंध।
- कविता की भाषा पर डा० परमानन्द श्रीवास्तव का निबंध।
- डा० विद्यानिवास मिश्र : भाषाविज्ञान और काव्य-शास्त्र।
- डा० भीष्म साहनी : साहित्य में 'संत्रास' की यथार्थता।
- 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल), 'अलग अलग बैतरणी' (शिवप्रसाद सिंह), 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्याएँ' (रामस्वरूप चतुर्वेदी), 'फैंस के इधर और उधर' (ज्ञान रंजन), 'लोग बिस्तरों पर' (काशीनाथ सिंह), कविता-संभव (प्रयाग शुक्ल) आदि नई पुस्तकों की समीक्षाएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'राजकमल' का आलोचना-साहित्य

नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृथ्वीनाथ द्विवेदी	१०.००
साहित्यिक निबन्ध	डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु	३.५०
मधुर रस-स्वरूप और विकास, भाग १	रामस्वार्थ चौधरी 'अभिनव'	१८.००
मीरा की प्रेम साधना (संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण)	भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१०.००
हिन्दी उपन्यास	डॉ० सुषमा धवन	११.००
हिन्दी काव्य में अन्योक्ति	डॉ० संसारचन्द्र	१४.००
आलोचना के सिद्धान्त	शिवदानसिंह चौहान	३.५०
आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त	शिवदानसिंह चौहान, डॉ० एस० पी० खत्री	१०.००
हिन्दी रीति-साहित्य	डॉ० भागीरथ मिश्र	५.००
प्रेमचन्द : एक विवेचन	डॉ० इन्द्रनाथ मदान	४.५०
आज का हिन्दी उपन्यास	,, ,,	४.५०
हिन्दी गद्य-काव्य (द्वितीय संस्करण)	डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'	११.००
प्रेमचन्द और गोर्की	सं० शचीरानी गुर्टू	६.००
कलम का मजदूर : प्रेमचन्द	मदनगोपाल	११.००
प्रतिक्रियाएँ	डॉ० देवराज	८.००
प्रगतिवाद	डॉ० शिवकुमार मिश्र	७.००
रहस्यवाद	डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी	७.००
हिन्दी कहानी—अपनी ज़बानी	डॉ० इन्द्रनाथ मदान	७.५०
प्रेमचन्द	डॉ० गंगाप्रसाद विमल	७.००
हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा	डॉ० रामदरश मिश्र	८.००
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	डॉ० रामविलास शर्मा	५.००
प्रेमचन्द और उनका युग (संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण)	,,	७.००
सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व	डॉ० कुमार विमल	१२.५०
बदलते परिप्रेक्ष्य	नेमिचन्द्र जैन	७.००
कविता के नये प्रतिमान	डॉ० नामवरसिंह	१०.००
छायावाद	,,	७.५०
निराला की साहित्य साधना	डॉ० रामविलास शर्मा	(यंत्रस्थ)

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह

PR
68
सि. ६८
36 आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय
विषय संख्या
पुस्तक संख्या
आगत पंजिका संख्या
पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

त्रैमासिक
...बन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

...ंक में

● सवाद-...
आवश्यक निर्णय — पीटर वाइस २७
तानाशाही के विरुद्ध : एक वक्तव्य — रघुवीरसहाय ३१
विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर (कविता) — गजानन माधव मुक्तिबोध ३३
मुक्तिबोध के पत्र — नेमिचन्द्र जैन ३६
मुक्तिबोध : एक संस्मरण — हरिशंकर परसाई ५०
मुक्तिबोध की सार्थकता — श्रीकांत वर्मा ५६
...नीकार मुक्तिबोध : कौन मनु ? — अग्न्येस्का सोनी ६०
...या मुक्तिबोध की अन्य कविताएँ
...त्र — विष्णु खरे ६७
... के काव्य-बिम्ब
...रशाद अब्दुल वाजिद ७२

इस व्यवस्था में (कविता) — लीलाधर जगूड़ी ८२
आज की कविता का व्याकरण : कुछ संकेत सूत्र — काशीनाथ सिंह ८९
विरोध की वास्तविकता और विद्रोह की कविता — विष्णुचन्द्र शर्मा १००
अच्छे गद्य की पहचान — रामविलास शर्मा १०५
देखो न हक़ीक़त हमारे समय की (कविता) — विश्वनाथ त्रिपाठी ११४
कलात्मक प्रतिज्ञा — दि० के० बेडेकर ११५
स्वतन्त्रता का स्वरूप — यशदेव शल्य ११८
ज़िन्दगी के शिखरों से (कविता) — आत्तिला योझेफ़ १२३

● मूल्यांकन
रंगदर्शन : एक विवेचन — वीरेन्द्रनारायण १२६
कामायनी और आधुनिक समीक्षा-दृष्टि — जगदीश शर्मा १२९

● विनिमय
साहित्यिक कलाकृति का स्थान निर्धारण — लोठार लुट्से १३३
लेखकों द्वारा बलात्कार — यशदेव शल्य १३५
एक गुमराह बोध की अयोग्यपूर्ण दिशा — रमेश कुंतल मेघ १३७

...ई-सितम्बर १९६८, मूल्य ३.०० वार्षिक १२.००
...से १४.८० विदेशों में १६.००
...ा डी० ई० बी/८/एस ई–/लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८
पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध
को

इक्यावनवीं
जन्म-तिथि
पर

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CHECKED 1973

वर्ष : १८
नवांक : ६

जुलाई-सितम्बर '६८

सम्पादक
नामवर सिंह

प्रबन्ध सम्पादक
शीला सन्धू

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
८, फैज बाज़ार, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज एक दूसरे ही प्रकार का कवि-चरित्र चाहिए ! वह नहीं कि जो निरा कार्यकर्त्ता है, अथवा केवल चारण है; वह भी नहीं जो आरामकुर्सी-पसंद बुद्धिजीवी हो, वह भी नहीं जो किसी सम्पन्न उच्च-मध्यवर्गीय परिवार में उत्पन्न चित्रकार है, जो चित्रकला के लिए दुनिया-भर में अपनी प्रदर्शनियाँ आयोजित करता रहता है। आज ऐसे कवि-चरित्र की आवश्यकता है जो मानवीय वास्तविकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे, उनके संचित जीवन-विवेक को स्वयं ग्रहण करे तथा उसे और अधिक निखारकर कलात्मक रूप में उन्हीं की चीज़ को उन्हें लौटा दे। सामान्य जनों की अपार आध्यात्मिक और बौद्धिक क्षमता में यदि हमारा विश्वास है, हमारी आस्था है तो हम अपने ही पिता के सच्चे पुत्र होंगे। अपने युग की विवेक-चेतना को मूर्तिमान करने का यह कार्य जितना गम्भीर और कठिन है, उतना ही प्रेरणाप्रद है, क्योंकि उससे तो हम अपने ही जीवन के मूल उत्सों के अमृत-रस का पान करेंगे और अपनी सृजनशील अनुभूति और कल्पना द्वारा उस जीवन की साहित्यिक कलात्मक पुनर्रचना करेंगे कि जो जीवन अपने सारे आलोक में हमें इतना प्रिय है। कवि-चरित्र के विकास का हमारा यह संघर्ष, युग की विवेक-चेतना बनने का हमारा यह मौन-प्रयास अपने-आपमें आध्यात्मिक महत्त्व रखता है।

—गजानन माधव मुक्तिबोध : **नयी कविता का आत्मसंघर्ष**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय

"हमने यह मान लिया है कि कविता और राजनीति के बीच बुनियादी विभाजन है। समस्या यह नहीं है कि दोनों छोर कभी मिल नहीं सकते बल्कि यह कि यदि वे मिल सकते हैं तो बड़ी कीमत पर। राजनीति की अस्पष्ट वक्तृतावादी और जड़ फ़िकरों वाली भाषा के साथ कविता की जटिलता, तनाव और यथातथ्यता का कोई मेल नहीं है। एन्तुशेंको के ख़िलाफ़, अधिकांश मायकोव्सकी के ख़िलाफ़, ऑडेन के 'स्पेन' के ख़िलाफ़ और युवा स्पेंडर के नगण्य मार्क्सवाद के ख़िलाफ़ यही तर्क दिया जाता है। इसकी परिणति इस विश्वास में होती है कि राजनीतिक कविता, कविता के रूप में, अपेक्षया ही नहीं बल्कि अशक्यतया सपाट होती है। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि ऐसी कविता कभी-कभी प्रभावशाली तो हो सकती है, किन्तु अन्ततः 'अच्छी' नहीं हो सकती; क्योंकि हमारा अच्छाई का प्रतिमान जितने आन्तरिक और सूक्ष्म विवेक वाले गुणों से निर्मित है उतने की गुंजाइश राजनीति नहीं छोड़ती।" ये शब्द अंग्रेज़ी के युवा आलोचक ए० अलवारेज़ ने पश्चिमी यूरोप के लिए कहे हैं, किन्तु यह मान्यता हिन्दी में भी इतनी ही प्रबल है। इस मान्यता के चौखटे के अन्दर कभी-कभी कुछ अपवाद भी स्वीकार कर लिए जाते हैं; जैसे अलवारेज़ के अनुसार युवा पोलिश कवि हर्बर्ट एक अपवाद है, क्योंकि वह पूरी तरह राजनीतिक होने के साथ ही प्रयोगशील 'अवाँ गार्द' भी है। कविता में इस अपवाद को मान्यता इसलिए दी गई है कि वह रूढ अर्थ में राजनीतिक नहीं है। राजनीति यहाँ भी है लेकिन यह विरोध की राजनीति है। विरोध भी सामान्य नहीं बल्कि स्थायी और निजी अर्थात् अकेले एक की पार्टी का विरोध। अलवारेज़ के अनुसार पश्चिम के सभी श्रेष्ठ कवि आज यही कर रहे हैं अर्थात् वे विरोध की राजनीति के लिए प्रतिश्रुत हैं, जिसे राजनीति-विरोध भी कह सकते हैं। इस प्रकार कविता के अपवाद राजनीति में भी अपवाद हैं और अपवाद बने रहकर नियम को पुष्ट कर रहे हैं।

हिन्दी में भी पिछले पाँच-छः वर्षों के अन्दर राजनीति के प्रति यही रुझान प्रकट हुआ है, जिसे राजकमल चौधरी ने परम्परागत 'राजनीति की कविता' के विरुद्ध 'कविता की राजनीति' की संज्ञा दी थी और केदारनाथ सिंह ने 'प्रतिपक्ष का साहित्य' कहा है जो निश्चय ही राजनीतिक प्रतिपक्ष अर्थात् प्रतिपक्षी राजनीतिक दलों से अलग है। आम राय है कि कविता इससे पहले राजनीतिक सन्दर्भ के इतना अधिक निकट कभी नहीं आई थी। कहा जा रहा है कि "राजनीति-पिछलगू न होकर सामाजिक सन्दर्भ में औसत आदमी को घटाने-तोड़ने-बाँधने वाली मर्यादाओं-मूल्यों से लड़ाई इसी पीढ़ी ने ली।" यह भी कहा गया है कि "कविता को सीधे समाज से जोड़ने वाले मुहावरे की अनायास ईजाद अब हुई है।" इसी प्रसंग में कुछ-एक कवियों को इस बात का भी श्रेय दिया गया कि उन्होंने राजनीति के चालू शब्दों और मुहावरों में निहित कविता को मुक्ति देकर "हिन्दी में सामाजिक-राजनीतिक काव्य को फिर से—बल्कि सचमुच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब जाकर—सम्भव बनाया है।" यह सब इसलिए सम्भव हुआ कि इन कवियों में कविता के लिए राजनीति से किसी कदर कम चिन्ता नहीं है—बल्कि कविता की चिन्ता कुछ अधिक ही है। रघुवीर सहाय ने लिखा है कि "राजनीति की ओर मेरा वही रवैया है—संकटकालीन रवैया कह लीजिए—कि 'वह बहुत ज़रूरी है' या 'वह फ़िज़ूल है' दोनों फ़तवे संकट से भागने के बहाने हैं—वह बहुत ज़रूरी है, पर मैं भी अपने लिए बहुत ज़रूरी हूँ—अपनी उस कला-परम्परा के लिए जिसमें मैं अपनी एक मूर्ति बनाता और एक ढहाता हूँ और आप कहते हैं कि कविता की है।" कविता के बारे में ऐसी ही अतिरिक्त चिन्ता श्रीकान्त वर्मा की उन पंक्तियों में कुछ 'काव्यात्मक' ढंग से व्यक्त हुई है जहाँ वे कहते हैं कि "मूर्खो! देश को खोकर ही/मैंने प्राप्त की थी/यह कविता/जो किसी की भी हो सकती है।" पिछली पीढ़ी के हाथों कविता की मृत्यु से क्षुब्ध होकर ही राजकमल चौधरी ने लिखा था कि "हम भी कविता को एक ताकत मानते हैं, जो आदमी के बाहर को सही, आदमी के अन्दर को मज़बूत और स्वाधीन करती है···और यह ताकत ही कविता की राजनीति है।" इस प्रकार आदमी के बाहर को सही और अन्दर को मज़बूत तथा स्वाधीन करने के लिए इन क़वियों ने 'कविता की राजनीति' को अपनाया तो इसलिए कि उन्हें अपने इस प्रयास में राजनीतिक क्षेत्रों से किसी प्रकार की मदद की उम्मीद न दिखाई पड़ी : शासक दल से तो ख़ैर कोई उम्मीद थी ही नहीं, प्रतिपक्ष के राजनीतिक दलों ने भी इन कवियों को बहुत-कुछ निराश ही किया; यही नहीं बल्कि जनता भी एक 'मुश्किल' ही मालूम हुई "जिस पर कि मेरा क्रोध बार-बार न्योछावर होता है।" निस्सन्देह यह 'संकटकालीन रवैया' है और यह भी सही है कि कविता को संकट से मुक्ति दिलाने में यह रवैया उपयोगी प्रमाणित हुआ।

किन्तु इधर उन्हीं कवियों की रचनात्मक स्थिति को देखकर ऐसा लगता है कि कविता फिर एक संकट-बिन्दु पर पहुँच गई है। इस दशक के साथ तथाकथित राजनीतिक कविताओं का—जिनमें राजनीति-विरोधी कविताएँ भी शामिल हैं—जो दौर शुरू हुआ था उसमें अब एक तरह का ठहराव आ गया है : ठहराव कहीं आवृत्ति के रूप में है तो कहीं मौन के रूप में। इस संकट से उबरने और ठहराव को तोड़ने के लिए इस दौर की असंगतियों की ओर ध्यान जाना अस्वाभाविक नहीं और इस प्रक्रिया में जिस राजनीतिक रुझान ने कविता को थोड़ी देर के लिए जीवंत बनाया था उसकी पड़ताल अप्रासंगिक न होगी।

सबसे पहले उन तथाकथित राजनीतिक कविताओं को लें जिनमें कविता को जीवन्त और मूर्तिमान करने के लिए समकालीन राजनाति के ठोस व्यक्तियों, शहरों, देशों, घटनाओं आदि का खुलकर उपयोग किया गया। उल्लेखनीय है कि इस प्रकार की कविताएँ कालक्रम से प्रायः लम्बी होती जा रही हैं और अब ये अन्तहीन विस्तार में पहुँचकर इस प्रकार हतप्रभ हो गई हैं कि किसी एक बिन्दु पर कविता को समाप्त करने के लिए कोई युक्ति नहीं मिल रही है। मुद्राराक्षस ने इन कविताओं की तुलना संविद सरकारों के 'न्यूनतम कार्यक्रम' से करते हुए इनमें निहित 'सुधार-वादी' दृष्टि की ओर संकेत किया है। निस्सन्देह इनका आधार 'विरोध की राजनीति' है किन्तु इसका लक्ष्य सतही बदल से अधिक नहीं है। आकस्मिक नहीं कि इन कविताओं का ढाँचा भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सतही बदल से अधिक का आभास नहीं देता। एक ग़लत या सीमित राजनीतिक रुझान कविता की आन्तरिक संरचना के लिए किस हद तक नियामक होता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ये तथाकथित राजनीतिक कविताएँ हैं। विडम्बना यह कि ये कविताएँ राजनीति का उपयोग करते हुए भी राजनीति का विरोध करती जाती हैं। इस प्रकार विरोध की राजनीति, राजनीति के विरोध की मंज़िल तय कर कविता के विरोध पर दम तोड़ने के लिए अभिशप्त है। राजकमल चौधरी के 'मुक्ति प्रसंग' की आलोचना करते हुए सुरेन्द्र चौधरी ने ठीक कहा है कि "व्यवस्था के प्रश्न से लड़ाई राजकमल की भी थी, मगर एक व्यवस्था से लड़ता हुआ वह पूरी व्यवस्था के प्रश्न को ही नकारता चला गया। इसलिए व्यवस्था से लड़ता हुआ वह जितना ही जीवन्त और तीखा मालूम पड़ता था, व्यवस्था के प्रश्न को नकारता हुआ वह उतना ही अराजक और नाटकीय हो जाया करता था। 'मुक्ति प्रसंग' इसी अराजकता का शिकार हो गया। 'मुक्ति प्रसंग' में यह अराजकता न केवल कथ्य के स्तर पर है, बल्कि पूरे रचनात्मक प्रयत्न में उसे लक्षित किया जा सकता है।" क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि निर्विकल्प विरोध की राजनीति जिस तरह राजनीतिक जीवन में अराजकता को जन्म देती है उसी प्रकार कविता की बनावट को भी अराजकतापूर्ण बना देती है?

दूसरी ओर वे कविताएँ है जिन्हें कथ्य से लेकर संरचना तक राजनीति-विरोधी कहा जा सकता है। इनमें न तो स्थूल राजनीतिक घटनाओं, समस्याओं, व्यक्तियों, स्थानों आदि का उपयोग होता है और न ये स्पष्टतः राजनीति से कहीं टकराती ही हैं। जैसा कि श्रीकान्त वर्मा ने कहा है, ये विरोध की भी कविताएँ नहीं हैं, बल्कि इनमें 'गहरा आत्मसाक्षात्कार' होता है। यह उस 'संकट' की कविता है 'जिसके आगे मनुष्य अपने को गूँगा और अर्थहीन पाता है।' स्पष्ट है कि इस प्रकार की कविताएँ सतही बदल के स्थान पर आमूल बदल की कायल हैं—कथ्य में भी और कविता की संरचना में भी। स्वभावतः व्यावहारिक राजनीति से इस काव्यात्मक 'विज़न' का मेल बैठना असम्भव है। इसलिए यदि ये कविताएँ एक ओर से सभी राजनीतिक दलों और विचारधाराओं को अपने रास्ते से बुहारकर अलग कर देती हैं तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। किन्तु जैसा कि मुद्राराक्षस ने कहा है, इस मनःस्थिति के मूल में 'आतंकवाद' है जो राजनीति की तरह कविता में भी 'विस्फोट' के द्वारा आमूल बदल की कोशिश करता है; और कहना न होगा कि राजनीति की तरह कविता में भी इस आतंकवाद की परिणति आत्महत्या अथवा आत्महत्याधर्मी कार्रवाइयों में होती है। कविता में 'यौन-मर्यादा के निर्मम भ्रंश का आतंकवादी प्रयत्न' इसी रुझान की एक शाखा है। कविता के सामान्य तन्त्र को सिरे से तोड़कर प्रयोगशीलता के चरम-बिन्दुओं तक पहुँचने के प्रयास इसी आतंकवादी रुझान से उत्पन्न होते हैं; और आकस्मिक नहीं कि यौन-तन्त्र और काव्य-तन्त्र दोनों क्षेत्रों में भ्रंश के आतंकवादी प्रयास प्रायः एक ही स्थल पर साथ-साथ दिखाई पड़ते हैं। स्पष्टतः इस रुझान में एक प्रकार का अधीरतापूर्ण निरंकुश आदर्शवाद है। निस्सन्देह यह राजनीतिक दृष्टि नहीं बल्कि अतिनैतिक दृष्टि है। यह दृष्टि कविता के आमूल परिवर्तन में पूर्णतः सक्षम है। 'दादावाद' और 'सुररियलिज्म' इसी दृष्टि की उपज थे; किन्तु उन काव्य-आन्दोलनों की परिणतियाँ इस आतंकवादी दृष्टि की सीमा भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाणित करती हैं। हिन्दी में यह आतंकवाद शुरू से ही अपने सीमित रूप में प्रकट हुआ किन्तु अब उसकी सम्भावनाएँ भी समाप्तप्राय दीख रही हैं। कविता पर ग़लत राजनीति के घातक प्रभाव का यह दूसरा उदाहरण है।

दरअसल विरोध की राजनीति का भी क्रमशः एक अपना 'रेटरिक' बन जाता है—फिर यह विरोध चाहे जितना 'निजी' हो; और नहीं तो अपनी ही आवृत्ति होने लगती है। यदि यह विरोध 'स्थायी' हुआ तो कविता में उसकी मुद्रा भी स्थायी हो जाती है, जिसे स्वीकार की स्थायी मुद्रा से अधिक आकर्षक मानने का कोई कारण नहीं। स्वीकार में जो सरलीकरण है उसी सरलीकरण का ख़तरा समग्र-विरोध में भी है। अपनी भाषा में दोनों दृष्टियाँ समान रूप से सरल होती हैं। निस्सन्देह समग्र-विरोध के तेवर में उत्तेजना कुछ अधिक होती है किन्तु शुरू-शुरू में ही, अन्त उसका भी एक ठंडेपन में ही होता है। इसलिए विरोध-मात्र महत्त्वपूर्ण नहीं, बल्कि महत्त्व-पूर्ण है विरोध की यह आत्म-विडम्बना। विडम्बना का यह स्वचेतन-बोध ही कवि को एक ज़िम्मेदारी से बाँधता है जिसके कारण कविता हर तरह के सरलीकरण से बच पाती है। समाज-वादी व्यवस्था के अन्दर निजी विरोध की कविता में यही द्वंद्वात्मक बोध विशेष है जो उसे ग़ैर-समाजवादी व्यवस्था की विरोधी कविता से अधिक जीवन्त बनाता है; और ग़ैर-समाजवादी व्यवस्था में रहने वाले जो मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि के समर्थ कवि हैं वे इसी द्वन्द्वात्मक बोध के द्वारा अपने सहकर्मियों से कहीं अधिक तनावपूर्ण नाटकीयता की सृष्टि कर ले जाते हैं।

विचित्र विडम्बना है कि इस दौर में समाजवादी कवियों का यह निजी विरोध भी शीत-युद्ध की राजनीति का शिकार बन गया। एक समय पश्चिम ने एव्तुशेंको को उछाला, फिर उसे छोड़कर वोज़्नेसेंस्की को उछाला गया और अब एव्तुशेंको के विरुद्ध वोज़्नेसेंस्की को उछालना ही पश्चिम के बुद्धिजीवियों का प्रिय व्यसन है। तर्क निश्चय ही काव्यमूल्यों के ही दिए जाते हैं, किन्तु उन काव्यमूल्यों के समर्थन में इन दोनों कवियों के राजनीतिक रवैये में जिस तरह भेद दिखाने की कोशिश की जाती है उससे स्पष्ट है कि राजनीति की कविता के साथ कविता की राजनीति भी पूरी तरह सक्रिय है। विरोध की राजनीति पर आधारित कविता की आलोचना में भी कितना सरलीकरण हो सकता है, इसका यह ज्वलंत उदाहरण है। विडम्बना यह है कि इस सरलीकरण के शिकार ज़्यादातर वही लोग हैं जो राजनीति को सरल और सपाट कहते हैं। इससे अधिक-से-अधिक यही निष्कर्ष निकलता है कि शीतयुद्ध की राजनीति सरल-सपाट होती है; वरना जीवन्त कविता के समान जीवन्त राजनीति भी काफ़ी जटिल, तनावपूर्ण और यथातथ्य होती है। इसीलिए जीवन्त राजनीति के साथ गहराई से संलग्न कविता में भी वैसी ही जीवन्तता आती है।

निस्सन्देह एक अर्थ में सभी कविताएँ राजनीतिक होती हैं—वे भी जिनमें कवि अपने राजनीतिक संदर्भ के प्रति सचेत नहीं होता। इस रुख़ की द्वन्द्वात्मकता को बर्टोल्ट ब्रेख़्ट ने इन प्रसिद्ध पंक्तियों में जैसे हमेशा के लिए व्यक्त कर दिया है :

यह कैसा ज़माना है।
कि पेड़ों के बारे में बातचीत भी लगभग जुर्म है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
क्योंकि इसमें बहुत सारे कुकर्मों के बारे में चुप्पी शामिल है।

जब एक चुप्पी भी संदर्भ के द्वारा अर्थ पा जाती है तो फिर किसी भी कविता का राजनीतिक अर्थ प्राप्त कर लेना स्वयंसिद्ध है। जागरूक कवि अपने कवि-कर्म के दौरान सतर्कता के साथ इस राजनीतिक संदर्भ को परिभाषित करते चलते हैं और इस प्रकार सीधे-सीधे राजनीतिक विषयों पर कविता न लिखते हुए भी अपनी प्रत्येक रचना को एक निश्चित राजनीतिक अर्थ देते हैं। महत्त्वपूर्ण है राजनीतिक संदर्भ का गहरा और सही बोध। ज़रूरी नहीं कि कवि इस राजनीतिक संदर्भ के बारे में लिखे ही—क्योंकि संदर्भ तो कविता में प्रायः व्यंग्य होता है; लेकिन इस संदर्भ को व्यंजित करने के लिए उसका वास्तविक बोध ज़रूरी है। इस संदर्भ-बोध के बिना अराजनीतिक तो क्या राजनीतिक कविता भी अर्थशून्य है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ठेठ राजनीतिक कविता जैसी कोई चीज़ होती ही नहीं। विश्व-साहित्य में उच्चकोटि की अनेक राजनीतिक कविताएँ सुलभ हैं। अवश्य ही हर अच्छी कविता की तरह राजनीतिक कविता की रचना के भी अपने विशेष नियम हैं—नियम का अर्थ कोई फ़ार्मूला नहीं, बल्कि रचना में अन्तर्निहित नियम। इस दृष्टि से बर्टोल्ट ब्रेख्ट की राजनीतिक कविताओं का अध्ययन आज के संदर्भ में प्रासंगिक है। राजनीतिक कविता में जिस सरलता और सपाटता से लोग इतना बिदकते हैं, ब्रेख्ट ने प्रतीकों और बिम्बों की भाषा को छोड़कर सीधे उपदेशात्मकता के गद्य को कविता के लिए इस्तेमाल किया, फिर भी कोई कह नहीं सकता कि यह कविता नहीं है। सवाल यह है कि वह सपाटबयानी कविता कैसे बनी? स्पष्टतः उस सपाटबयानी का कवित्व उसकी नाटकीयता में होता है जिसका विधान ब्रेख्ट की अपनी ख़ास निष्कवच आत्म-विडम्बना करती है। यह आत्म-विडम्बना कोरा आलंकारिक नुस्खा नहीं, बल्कि एक गहरी जीवन-दृष्टि है जिसके मूल में ब्रेख्ट की अपनी परिपक्व राजनीतिक समझ है। एक समर्थ राजनीतिक कवि के नाते ब्रेख्ट तात्कालिक सार्वजनिक आवश्यकता और दूरगामी निजी स्वप्न-दृष्टि या विज़न के बीच संतुलन खोजने का उत्तरदायित्व अनुभव करते थे और संतुलन के इस प्रयास में ही उन्होंने आवश्यकतानुसार इन दोनों के बीच के तनाव को कविता में अभिव्यक्त किया। इस प्रकार एक ओर जहाँ उन्होंने वास्तविकता को ढकने वाले राजनीतिक माया-प्रतीकों या मिथकों को अनावृत किया वहीं दूसरी ओर लोगों में वास्तविकता का बोध भी पुनर्जाग्रत किया। यदि वे सरल समाधान से संतुष्ट नहीं हुए तो प्रश्न भी उन्होंने सरल ढंग से नहीं पूछे। हर सवाल दुधारा था जिसकी एक धार पर हमेशा कवि स्वयं अपने-आपको रखता था। यह ईमानदारी, यह समझदारी और यह ज़िम्मेदारी ही कवि की श्रेष्ठता के मूल मंत्र हैं। और इस दृष्टि से ब्रेख्ट के समान ही एक अन्य स्तर पर मुक्तिबोध भी हमारे लिए सर्वथा प्रासंगिक हैं।

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता और राजनीति

इस संवाद का आयोजन 'आलोचना' ने स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध की ५१वीं जन्मतिथि के उपलक्ष्य में १७ नवम्बर '६८ को नई दिल्ली में किया था। गोष्ठी की अध्यक्षता सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने की। अशोक वाजपेयी और श्रीकान्त वर्मा के निबन्धों ने विचार-विनिमय के लिए आधार प्रस्तुत किया तथा कृष्णनारायण कक्कड़, रघुवीर सहाय और नेमिचन्द्र जैन ते अपने विचार व्यक्त किये। यहाँ अज्ञेय, कृष्णनारायण कक्कड़ और रघुवीर सहाय के भाषणों का संक्षेप देना ही संभव हो सका है। संवाद-पूरक के रूप में पीटर वाइस और रघुवीर सहाय के दो वक्तव्य संलग्न हैं जिनसे प्रस्तुत विषय के कुछ अन्य पहलू प्रकाशित हो सकते हैं। इस संवाद में अन्य लेखकों के विचार भी आमंत्रित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१

अशोक वाजपेयी

टॉमस मान के तीस-चालीस बरस पुराने इस कथन से आज भी शायद कोई इन्कार नहीं करेगा कि हमारे समय में मानव-नियति अपने को राजनीति की शब्दावली में प्रकट करती है। इसलिए यह सवाल कि कविता, जिसे ज़ाहिर है समकालीन मनुष्य की हालत से सीधा और गहरा सरोकार है, और राजनीति का रिश्ता एक प्रासंगिक सवाल है। बल्कि रचनात्मक स्तर पर राजनीति के साथ लेखक के रिश्ते का सवाल एक विकसित होते प्रजातन्त्र में एक ऐसा सवाल है जिससे कतराना असंभव नहीं तो बहुत मुश्किल ज़रूर लगता है। लेकिन अजीब बात है कि नया कवि इस सवाल से दो-चार होने से बचता रहा है। यह बचाव राजनीति से कोई सरोकार न रखकर नहीं किया गया। बौद्धिक रूप से इस पर ख़ासा सोच-विचार, बहस-मुबाहसा और वक्तव्यबाज़ी हुई, लेखक की आस्था जैसे सवाल के रूप में उसे सामान्यीकृत किया जाता रहा, लेकिन रचना के स्तर पर यह सरोकार प्रायः बिलकुल नहीं रहा या अधिक-से-अधिक काफ़ी कमज़ोर ढंग से प्रतिफलित हुआ। इसके कई कारण रहे हैं, पर प्रमुख वह ग्रन्थि है जो प्रगतिवाद में हुए राजनीतिक अतिचार से युवा-प्रतिभा को प्राप्त हुई थी। हिन्दी कविता के आधुनिक काल में प्रगतिवाद के दौरान पहली बार कविता और राजनीति में सीधी घनिष्ठता हुई थी। इस घनिष्ठता ने जहाँ एक ओर कविता में उजागर मानवीय सहानुभूति और सामाजिक वास्तविकता का क्षेत्र आगे बढ़ाया, वहीं दूसरी ओर कवि के निजी मुहावरे, उसके व्यक्तित्व और अद्वितीयता को एक सामान्य आडम्बर और बड़बोली सार्वजनिकता से आक्रान्त कर दिया। प्रगतिवादियों के राजनीतिक उत्साह और सामाजिक स्वप्नदर्शिता का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण नतीजा हुआ सरलीकरण के रूप में—कविता का सरलीकरण, राजनीति का सरलीकरण, और अन्ततः मनुष्य का सरलीकरण। स्टीफेन स्पेण्डर के शब्दों में कहा जा सकता है कि कविता के आन्तरिक मूल्यों का राजनीति के सार्वजनिक रेटारिक से साक्षात्कार कराये बिना प्रगतिवादी राजनीतिक कार्य और इच्छा के रेटारिक को लेकर उसका कविता के रेटारिक में अनुवाद करने के प्रलोभन में पड़ गये। मनुष्य की प्रतिभा छायावादी मुहावरों में अमूर्त हो ही गई थी, उसे ठोस और सामाजिक रूप से परिभाषित और प्रतिष्ठित करने में प्रगतिवाद में जो अतिचार और सरलीकरण किये गये उनसे वह फिर अमूर्त हो चली। इसलिए यह स्वाभाविक था कि कविता के आन्तरिक मूल्यों की, जो हमेशा सूक्ष्मता, तनाव और जटिलता के मूल्य हैं, रक्षा और खोज की परवाह करने वाले कवियों में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। इस स्वाभाविक प्रतिक्रिया का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह रहा कि समूची राजनीति लेखक के लिए अछूत-सी हो गई। अपनी दृष्टि के राजनीतिक आयाम को रचना के स्तर पर विन्यस्त और कभी-कभार स्पष्ट करने का मार्ग जो आधुनिक नागरिक लेखक के लिए स्वाभाविक होना चाहिए था कुछ हास्यास्पद और शक की चीज़ बन गया। आधुनिकता के बढ़ते दबावों और नागरिकता के विकास के रहते धार्मिक सम्वेदना पहले ही क्षीण और लुप्तप्राय हो चुकी थी—इस ख़ास ढंग के राजनीति-विरोधी प्रतिक्रियावाद की वजह से राजनीतिक चेतना कविकर्म के लिए अनावश्यक ही नहीं अप्रासंगिक हो गई। धर्म, राजनीति और राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा के रूप में जो तीन पारस्परिक सहारे अभी तक कविता को उपलब्ध थे वे अगर एकदम ख़त्म न भी हुए हों तो कम-से-कम उल्लेखनीय नहीं रह गये। बल्कि यह कहा जा सकता है कि इससे एक तरह का वैचारिक शून्य उत्पन्न हुआ : कवि-कर्म वैचारिक शून्य में होनेवाला कर्म हो गया और कविताओं का आस-पास भी इस शून्य से घिर गया।

राजनीतिक विचारधारा के प्रति घृणा या अरुचि, क्योंकि उससे प्रेरित कविता अधिकांशतः तनावहीन और नामहीन ही रही, अज्ञान की हद तक बढ़ गई। पर प्रगतिवादी अतिचार और सरलीकरण के अलावा आम तौर पर दुनिया में जो हुआ वह भी इस अरुचि के लिए कारण बना। वामपन्थी और प्रतिक्रियावादी दोनों ही तरह के राजनीतिक आदर्शवादों का हश्र आख़िर तानाशाही में हुआ और राजनीतिक विचारधाराओं से विकर्षण इतना चरम हो गया कि सारी राजनीति ओछी, टुच्ची, और मानवद्रोही जान पड़ने लगी। अर्द्धसत्यों, विराट् सरलीकरणों और तुच्छताओं से भरी राजनीति से पाक-साफ़ रहना कविधर्म ईमानदारी से निबाह सकने के लिए एकबारगी बहुत उचित लगने लगा।

यहाँ तक तो ठीक था। लेकिन राजनीति दो महायुद्धों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भयानक मानव-संहार आयोजित कराने के बाद शक्ति-क्षीण नहीं हुई बल्कि शीतयुद्ध, एशियाई-अफ्रीकी क्षेत्रों की स्वतंत्रता, दो महान् शिविरों में विश्व-राजनीति का विभाजन, फिर उनके बीच सौहार्द, निशस्त्रीकरण इत्यादि के बीच से वह मनुष्य की दुनिया के और बड़े हिस्से को घेरती गई, इस कदर कि आज वह मनुष्य को नियमित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति है। इसलिए कविता की स्थिति में एक बुनियादी अन्तर्विरोध घर करता गया। राजनीति से दूरी, बचाव और विकर्षण मनुष्य की समकालीन स्थिति की पूरी जटिलता, तनाव और ट्रेजेडी से विकर्षण हो गया। मनुष्य के सरलीकरण से इनकार करने के लिए राजनीति से दूरी दूसरी तरह का सरलीकरण बन गयी। नयी कविता का अधिकांश अगर मानवीय प्रासंगिकता की दृष्टि से क्षीण और शक्तिहीन लगता है तो उसका एक प्रमुख कारण अवश्य ही राजनीति के प्रति नये कवि की अरुचि और उदासीनता रही है। इस सिलसिले में अज्ञेय और मुक्तिबोध के उदाहरण दिलचस्प हैं। अपनी कलात्मक सक्षमता के बावजूद अज्ञेय की कविताओं की दुनिया का बुनियादी और प्राथमिक सरोकार समकालीन मनुष्य की नहीं सार्थकता और स्वायत्तता की खोज है—उनकी कविता समकालीन ब्यौरों से भरी-पूरी दुनिया नहीं बल्कि ज़्यादातर पारस्परिक और लगभग शाश्वत तत्त्वों का सुगठित संसार है। मुक्तिबोध की दुनिया सीधे-सीधे समकालीन है—उसमें अज्ञेय-जैसा क्लैसिकी ठण्डापन नहीं, उद्वेग है। वह राजनीति से केन्द्रित-शासित मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष और उम्मीद का भयावह जटिल संसार है जहाँ विवेक अज्ञेय की तरह शाश्वत तत्त्वों से मन्द तनाव की स्थिति में रहकर नहीं उभरता बल्कि हमारे समय की सचाइयों, षड्यन्त्रों, दबावों से उलझता, पददलित होता और मनुष्य की अपराजेय उम्मीद से विन्यस्त होता है। मुक्तिबोध की दुनिया आदमियों की दुनिया है, मनुष्यता के अनगिनत ठोस जीवन्त तात्कालिक संस्करणों से भरी छटपटाती-चीख़ती दुनिया, जबकि अज्ञेय की संस्कारी दुनिया में आदमी नहीं है—सामान्यीकरण और अमूर्तन है। इस अन्तर के लिए प्रतिभा, सरोकार और सामर्थ्य की भिन्नताएँ भी ज़रूर उत्तरदायी होंगी, पर क्या यह कहना निराधार होगा कि मनुष्य से सरोकार और सार्थकता और स्वायत्तता की खोज कई बार इतनी अलग हो सकती हैं कि कलात्मक परिपक्वता और मानवीय समृद्धि में असामंजस्य या अलगाव पैदा हो जाए ?

मुझे लगता है कि कुछ इसी तरह का अहसास कुछ युवा कवियों को राजनीति से फिर रिश्ता जोड़ने की ओर ले गया है। नई कविता की मुख्य धारा की मानवीय विपन्नता ने उन्हें बाध्य किया है कि वे हमारे समय के मनुष्य की हालत परिभाषित करने के लिए उसकी आन्तरिक और बाहरी सचाइयों की जड़ों की खोज करें। यह खोज उन्हें वहाँ ले आई है जहाँ राजनीति से साक्षात्कार अनिवार्य हो उठा है। अपने-अपने सर्वथा निजी प्रतीक-धर बनाये बैठे रहना एकाएक कायरता लगने लगा है, इसलिए साहसपूर्वक अपनी सम्वेदना और अनुभव को बाहरी ठोस दबावों के प्रति खुला रखकर उनसे प्रतिकृत होने देना कविता की आन्तरिक आवश्यकता हो गई है, मगर उसे हाशिये पर की रहने के बजाय मनुष्य की केन्द्रीय स्थिति से तात्कालिक ढंग से अपने सरोकार को गहरा और प्रासंगिक बनाना है।

इसका मतलब इस ख़ास शताब्दी में हमारे मनुष्य होने का जो अनुभव है, सम्पूर्ण और साक्षात्कृत, उसकी जटिलता को, राजनीति के प्रति उदासीनता या अरुचि के सरलीकरण ने जिसे दरकिनार कर दिया था, कविता की मानवीय सार्थकता के हित में रचनात्मक स्तर पर राजनीति से नया रिश्ता कायम कर परिभाषित करना है। राजनीति से नया सम्बन्ध अन्ततः मनुष्य की सम्पूर्ण परिभाषा की खोज है—वह सुरक्षित साहित्य से जोखिम-भरे साहित्य की ओर जाना है। वह नयी कविता की बिम्बमालाओं, प्रतीक मुद्राओं और रूढ़ियों में फँसकर अमूर्त हो गई मानव-प्रतिभा को फिर जीवन्त, ठोस और तात्कालिक बनाने की कोशिश है—वह उसे सभा-जुलूस, नारेबाज़ी, भाषण, कर्फ्यू, मतदान, बहस, षड्यन्त्र, क्रान्ति, लाठीचार्ज, युद्ध, गुप्त नियन्त्रण, मार्शल लॉ, चुनाव, संसद आदि में यानी उसकी रोज़मर्रा की दुनिया में रखने, पहचानने और प्रतिष्ठित रहने की कोशिश है।

राजनीति का नया अहसास सिर्फ़ कलात्मक आंतरिक मूल्यों को मानवीय समृद्धि देने के लिए ही हो ऐसा नहीं है। राजनीति का दबाव इतना आक्रामक और तीव्र होता गया है कि उससे बचना वयस्क कविता के लिए मुमकिन नहीं रह गया है। समकालीन सच्चाई राजनीतिक कर्म, इच्छा, तथ्यों से उलझी सचाई है और बिना राजनीति से दो-चार हुए उसका साक्षात्कार अधूरा और अप्रामाणिक रहेगा। राजनीति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सुरक्षित संसार इच्छित संसार है, अतीत-जीवी या भविष्यत् संसार है, समकालीन संसार नहीं, जिसे चरितार्थ करने के लिए कविता, नयी कविता, अगर उसकी मूल प्रतिज्ञाएँ अभी भी सही हैं, प्रतिश्रुत है। राजनीति से अछूता काव्य-संसार कलात्मक ढंग से सार्थक हो सकता है, स्वायत्त भी, पर मानवीय ढंग से समृद्ध और तात्कालिक नहीं। यह भी सत्य है कि सारे समाज में पिछले कुछ वर्षों में कुछ गहरी उथल-पुथल हुई है और स्थापित व्यवस्था के विरुद्ध आज नागरिक का स्वर स्पष्ट और तीखा हुआ है। सामाजिक स्तर पर, जिसमें राजनीति शामिल है, अब तक अन्तर्निहित हिंसात्मकता भी उभरकर आगे आई है। मुख़्तसर यह कि कविता की आन्तरिक ज़रूरतों और हमारी तात्कालिक बाहरी दुनिया के दबावों और चुनौतियों ने एक साथ कविकर्म और राजनीति के पारस्परिक साक्षात्कार को अनिवार्य बना दिया है, जैसा कि ऋतुराज ने अपनी एक ताज़ा कविता में कहा है :

एक काला दरवाज़ा और
उसके भीतर वनबिलावों का रुदन
—ऐसा यथार्थ हमें सहना पड़ता है।

इस यथार्थ की पहचान एक नई साहसिकता की माँग करती है—ऐसी साहसिकता जिसमें "अपने-आपका जहरीला विश्लेषण" करना पड़े। रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकान्त वर्मा, ऋतुराज, धूमिल, कमलेश आदि युवा कवियों की कविता इसलिए जोखिम की कविता है—एक ऐसी कविता जिसके लिए रघुवीर सहाय के शब्द सार्थक हैं :

भाषा कोरे वादों से
वायदों से भ्रष्ट हो चुकी है सबकी
न सही यह कविता
यह मेरे हाथ की छटपटाहट सही

ख़ासकर रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह और श्रीकान्त वर्मा के उदाहरण इस सिलसिले में दिलचस्प हैं। वे पहले ही प्रतिष्ठित युवा कवि थे, लेकिन उनके मूलतः तथाकथित 'कलात्मक' और रूमानी मुहावरे और उससे चरितार्थ दुनिया में एक बड़ा भारी परिवर्तन आया है। रघुवीर सहाय में यह अन्तर सबसे स्पष्ट है। सन् '६० में प्रकाशित उनके पहले संग्रह 'सीढ़ियों पर धूप में' की समीक्षा करते हुए मैंने उनकी कविता को जीने के कर्म की परिभाषा कहा था। तब उनकी कविता में प्रेम था, स्त्री थी, सहज भावना थी, विस्मय, उत्साह और उत्सुकता थी : प्रकृति-प्रेम और जिजीविषा के साथ छोटी चीज़ों के बीच मनुष्य होने का हर्ष, सुख और तनाव थे। वह कविता कुछ आदिम-से लगते सम्बन्धों और उनके विकल होकर बदलने की सुन्दरता और कोमलता की कविता थी। 'आत्महत्या के विरुद्ध' शीर्षक ही बदला हुआ तेवर सूचित करता है। नये संग्रह की कविता अभी भी जीने के कर्म को परिभाषित करने की कोशिश करती है, लेकिन उसका दृश्य शान्त और सहज नहीं बल्कि आक्रामक, छटपटाहट और चीत्कार-भरा, अधिक सीधे समकालीन और सार्वजनिक है। वह अधिक सीधे आज के हिन्दुस्तानी आदमी के जीने के कर्म को परिभाषित करने की ओर प्रवृत्त है। जैसा कि रघुवीर सहाय ने अपने वक्तव्य में कहा है : "लोकतन्त्र—मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतन्त्र ने हमें इन्सान की शानदार ज़िन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।" इस चाँप को खोजने और उसका बखान करने की कोशिश ही रघुवीर सहाय का नया काव्य-संस्कार है।

इस काव्य-संस्कार के रहते कविता में मनुष्य होने के सुख या हर्ष के बजाय "हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द है।"

'आत्महत्या के विरुद्ध' शीर्षक कविता का एक अंश देखिए :

कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का
मेरे अन्दर एक कायर टूटेगा टूट
मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ अब मत रूठ
मत डूब सिर्फ़ टूट जैसे कि परसों के बाद
वह आया बैठ गया आदतन एक बहस छेड़कर
गया एकाएक बाहर ज़ोरों से एक नकली दरवाज़ा
भेड़कर
दर्द दर्द मैंने कहा क्या अब नहीं होगा
हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द…

रघुवीर सहाय जिस कायर के टूटने का ज़िक्र कर रहे हैं वह राजनीतिक सचाइयों, सार्वजनिक दुनिया से बचे रहने की कायरता से जुड़ा है। अगर इन कविताओं को किसी एक मूल्य से प्रेरित देखना हो तो वह मूल्य साहस का होगा जो पिछली कायरता को तोड़ता और सीधे साक्षात्कार की ओर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ले जाता है। इस साक्षात्कार का सौन्दर्य कोमल या रूमानी नहीं होता है।

जाहिर है इस सार्वजनिक और किसी हद तक भयावह दुनिया के लिए मुहावरा और प्रतीक-व्यवस्था की गई होगी। काव्यरचना के तथाकथित सौन्दर्य-परक मूल्य इस दुनिया के लिए अपर्याप्त हो जाते हैं। रघुवीर सहाय इस दुनिया को चरितार्थ करने के लिए अपनी भाषा और मुहावरे का उचित विस्तार करते हैं। उनकी भाषा में पहले भी चौक-बाज़ार का सुथरापन और रवानगी थी। जीने के कर्म की अपनी इस परिभाषा के लिए वह बाज़ार, संसद्, राजनेता, अख़बार, भीड़, भाषण, नारे आदि के कई मुहावरों को गूँथकर अपना निजी मुहावरा विकसित और विन्यस्त करते हैं।

कोरे वादों और वायदों से भ्रष्ट हो चुकी भाषा के पुनरुद्धार के लिए यह प्रायः अनिवार्य-सा है कि भाषा कवि जान-बूझकर विपर्यस्त करे—उसे चीरे—फाड़े—तोड़े। ऐसी हालत में भाषा स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं रह जाती बल्कि कविता भी कविता नहीं लगती। नाप-जोख वाले नये-पुराने पैमाने उसके समझने के लिए नाकाफ़ी हो जाते हैं। तब एक तरह से कविता 'हाथ की छटपटाहट' हो जाती है जो अधिक प्रासंगिक, अधिक मानवीय और अधिक तात्कालिक होती है। रघुवीर सहाय की कविता कुछ ऐसी ही कविता है—वह ऐसे युवा कवि की रचना है जो अपने इस ख़ास प्रजातन्त्र के ख़ास मोड़ पर खड़ा अपनी आँखें खोले पूरे साहस से अपनी कविता में हमारी दुनिया को देख रहा है, छटपटा रहा है, चीख रहा है। अगर प्रार्थना काव्य हो सकती, जैसे कि अक्सर पुराने काव्य में हुई है, तो चीख भी कविता हो सकती है बल्कि उतनी ही उद्दाम, सहज और सार्थक—उतनी ही मार्मिक और प्रभावशाली।

ऊपर जिन कवियों का ज़िक्र है उनसे बीसियों उदाहरण देकर यह बताया जा सकता है, भले उनमें कुछेक अहसासों की बिरादरी-सी बन गई हो—उनके सरोकार, उन पर पड़ रहे दबाव और तनाव अलग-अलग हैं, विशिष्ट और पहचाने जा सकने वाले हैं। धूमिल जब कहते हैं :

मैं जानता हूँ कि 'इनकार से भरी हुई चीख'
और एक 'समझदार चुप'
दोनों का मतलब एक है—
भविष्य गढ़ने में, 'चुप' और 'चीख'
इतनी अपनी जगह एक ही किस्म से
अपना अपना फ़र्ज़ अदा करते हैं

तो उनकी मुद्रा केदारनाथ सिंह से स्पष्ट अलग पहचानी जा सकती है :

भाषा जो मैं बोलना चाहता हूँ
मेरी जिह्वा पर नहीं
बल्कि दाँतों के बीच की जगह में
सटी हुई है
मैं बहस शुरू तो करूँ
पर चीज़ें एक ऐसे दौर से होकर
गुज़र रही हैं
कि सामने की मेज़ को
सीधे मेज़ कहना,
उसे वहाँ से उठाकर
अज्ञात अपराधियों के बीच में रख देना है।

संक्षेप में यह कि ये कवि प्रगतिवादियों की तरह किसी बड़बोली सार्वजनिकता और राजनीतिक दर्शन से आक्रान्त नहीं हैं। रघुवीर सहाय को अपवाद के रूप में छोड़ दें तो इन कवियों ने राजनीति की अपनी भाषा से काव्य-भाषा को भ्रष्ट और हवाई नहीं होने दिया है। रघुवीर सहाय ने राजनीति के अस्पष्ट रेटारिक और क्लीशेज़ को अपने काव्य-मुहावरे में गूँथकर व्यंग्यात्मक इस्तेमाल किया है—एक तरह के एक्सपोज़र के लिए जो उतना ही अपना है जितना दूसरों का। हर दिन मनुष्य से एक दर्जा नीचे रहने का दर्द सामाजिक भर्त्सना ही नहीं आत्म-भर्त्सना भी है बल्कि इसीलिए वास्तविक लगती है। प्रगतिवादियों की तरह इन कवियों ने अपनी-अपनी विशिष्ट सम्वेदनाओं से प्राप्त ठोस और सूक्ष्म ब्यौरों की सम्पदा को एक हीरोइक सार्वजनिक रेटारिक से हित में तिलांजलि नहीं दे डाली है। बचे-खुचे शब्दों, क्लीशेज़ और अपरीक्षित परिभाषाओं से जड़ीभूत होकर उनकी भाषा ज़िन्दगी की भावात्मक और नैतिक जड़ों से कट नहीं गयी है। बल्कि जैसा कि मुक्तिबोध की कविता में, जो निश्चय ही इस कविता का अग्रदूत है, सामाजिक दृश्य सिर्फ़ एक पीड़ा-भरा 'बाह्य' नहीं वैसी ही पीड़ावाला 'अन्तस्' भी है और इसलिए अत्यन्त सामाजिक होते हुए अत्यन्त निजी है। व्यक्तित्व की अद्वितीयता और सामाजिक चेतना, कविता के निजी मूल्य और राजनीति की सार्वजनिक भाषा ये द्वैत उनकी कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में समाप्त हो जाते हैं। आम प्रगतिवादी की कविता में भी यह द्वैत मिट जाता था, लेकिन इसलिए कि अन्तर्मुखता को सम्पूर्ण बहिर्मुखता के सामने कोई स्थान नहीं था। लेकिन मुक्तिबोध की कविता 'इनक्लूज़िव' है; उसमें राजनीति का गान या प्रचार नहीं, आन्तरिक-करुण हुआ है। अगर 'अँधेरे में' पिछले बीस वर्ष की कविता की सम्भवतः श्रेष्ठतम उपलब्धि है तो इसलिए भी कि उसमें मनुष्य की आत्मा और निजीपन तथा सार्वजनिक घटनाओं और राजनीति की ठोस तात्कालिता को एक अनिवार्य और अटूट संयोग में चरितार्थ किया गया है।

इन कवियों की राजनीति को किसी स्पष्ट विचार-प्रणाली या दलीय पक्षधरता से जोड़ना मुमकिन हो भी तो ग़लत ज़रूर होगा। उनकी कविता की स्वतन्त्रता और वयस्कता के लिए यह तथ्य काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार है कि वे किसी विशिष्ट और संकरी विचारधारा से, उसकी चौखटा-सचाइयों से बँधी-सीमित नहीं है। पिछले बीस वर्ष में हर राजनीतिक विचारधारा को अन्ततः तानाशाही में परिणत होते देखने के बाद इन कवियों का अपने शब्दों को किसी विचारधारा की सेवा में समर्पित न करने का निश्चय और कभी-कभी हठधर्मी निश्चय ही सहज विवेक कहा जा सकता है। उन्होंने राजनीति के लिए कविता का नहीं कविता के लिए राजनीति का इस्तेमाल किया है। किसी विचारधारा से स्पष्ट प्रतिबद्धता के अभाव का मतलब यह नहीं है कि इन कवियों ने विचारधाराओं से कोई सरोकार ही नहीं रखा है। मसलन, मुक्तिबोध ने सामाजिक यथार्थ के अपने गहन काव्यान्वेषण के लिए मार्क्सवाद का इस्तेमाल किया है, उसके विश्लेषणों और उसके रूपकों का भी, लेकिन उन्हें मार्क्सवादी कवि कहना उनके काव्य के कलात्मक और मानवीय अर्थों और परिणतियों को अकारण सीमित, लगभग विकृत करना होगा। मार्क्सवादी कवि उनके लिए एक बिलकुल अधूरी और अपर्याप्त संज्ञा होगी।

मुक्तिबोध फिर भी अपवाद हैं, क्योंकि मार्क्सवाद के प्रति उनका लगाव स्पष्ट रहा है। लेकिन बाकी युवतर कवियों की राजनीति, या शायद उसे प्रतिराजनीति कहना आज के मुहावरे में बेहतर हो, ज़्यादा-से-ज़्यादा सामान्य रूप से वामपक्षीय कही जा सकती है : पर वह क्रान्तिकारी या आदर्श-प्रेरित वामपक्षीयता नहीं है। वह निजी प्रोटेस्ट, विद्रोह या विरोध की राजनीति है—अल्वारेज़ के शब्द उधार लेकर कहें तो वह स्थायी रूप से विरोध पक्ष में रहने की राजनीति है। नयी राजनीतिक शब्दावली 'एस्टेब्लिशमेण्ट' 'एण्टीएस्टेब्लिशमेण्ट' की है, क्रान्ति, मुक्ति। समानता इत्यादि की नहीं क्रान्तिकारिता और आदर्शों के रहते जो सरलीकरण अपरिहार्य होते हैं उनसे इसलिए यह कविता अछूती है। कवियों में अपने-अपने ढंग के छोटे-मोटे सरलीकरण भले हों, लेकिन मनुष्य की हालत, समकालीन पीड़ा, उसके भविष्य के बारे में कोई विराट् सरलीकरण, बँधे-बँधाए नुस्खे उनकी कविता या सम्वेदना में नहीं हैं। इस तरह के सरलीकरणों के बावजूद भावोच्छ्वास-भरी मुद्राओं की कवि-सम्वेदना में जो अलगाव-सा आ जाता है वह इन कविताओं में नहीं है—ये हिस्सा लेती कविताएँ हैं—सचाई को उसकी अराजक, जटिल तीव्रता में घेरती, खोजती, चरितार्थ करती। यह आकस्मिक नहीं है कि रघुवीर सहाय या श्रीकान्त वर्मा की श्रेष्ठ कविताओं का स्वर मूलतः चरितार्थता का है। उत्सवधर्मिता का नहीं। प्रगतिवादी को सुलभ ऐतिहासिक आश्वस्ति के कारण उसकी कविता सरल दिमाग़ी थी—पर इस कविता को यह भोला आत्मविश्वास और बाहरी सहारा दुर्लभ है। इसलिए वह जटिल है। कविता के जो नये प्रतिमान जटिलता, तनाव और सूक्ष्मता के रूप में पिछले दो दशकों में विकसित हुए हैं उन्हें यह कविता अवमूल्यित नहीं करती—नयी प्रतिष्ठा और सार्थकता देती है। थोड़े-से मानव-सम्बन्धों, मध्यवर्ग के भद्रलोक, स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की क्रूर सचाइयों और निजी प्रतीक-धरों तक सीमित हो रही जटिलता इन कवियों में नया संस्कार पा रही है। वह मनुष्य को नियमित करने वाली भयानक, अमूर्त पर सदा उपस्थित शक्तियों की छाया के नीचे चित्रित करती है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की आत्यन्तिकता का अनादर किये बिना वह उनके निरर्थक होते जाने की क्रूर अमानवीयता को एक बृहत्तर मानवीय संदर्भ में रख देती है।

लेकिन राजनीति से इस पुनर्घनिष्ठता के रहते, यह बिलकुल सम्भव है कि राजनीतिक लगती 'थीमों' को चरितार्थ करने के बजाय उन्हें 'सेलीब्रेट' किया जाने लगे। अपने 'प्रोटेस्ट' को कवि फिर अलंकार या आभूषण की तरह मुखरता के साथ धारण करे। श्रीकान्त वर्मा की कविता **'चेकोस्लोवाकिया'** ऐसी ही एक कविता है :

जलने दो पुस्तकालयों को, बहने दो लेनिन की मूर्तियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरने दो सीढ़ी पर गोली खा **लिंकन** को।
जैसी पंक्तियाँ साफ़-साफ उत्सवधर्मी हैं और बावजूद कविता में दिये गये नामों और ब्यौरों के, कविता हिस्सागिरी की कविता नहीं जान पड़ती। उसमें एक तरह का **सपाट** बड़बोलापन है। तुकों के साथ श्रीकान्त का सुपरिचित खिलवाड़ चेकोस्लोवाकिया में हुए की क्रूरता और मानवीय अपमान के साथ तनाव की स्थिति में नहीं रहता बल्कि कई बार तो स्थिति में व्याप्त गहरी मानवीय यातना को तुकों और नामों का खेल ओछा-सा कर देता है।

ज़ाहिर है, कविता के इस तरह राजनीति के पास जाने से पुराना डर जागता है: कहीं कविता को फिर राजनीतिक हथियार तो नहीं बनाया जा रहा है? कहीं फिर संकीर्ण मतवादिता रुचि की तानाशाही स्थापित कर कविता के रूप में उजागर होने वाली अनन्त मानवीय सम्भावनाओं को दबा तो नहीं देगी? जैसा मैंने ऊपर बताने की कोशिश की है, इस तरह की आशंकाओं का समुचित उत्तर स्वयं कविताएँ देती हैं। प्रगतिवाद में और संसार में अन्यत्र तथाकथित राजनीतिक कविता का जो हश्र हुआ है उसे नज़र में रखते हुए वे वयस्क विवेक की कविताएँ हैं। काव्य-भाषा को नयी तात्कालिकता, चमक और विस्तार उनमें मिल रहा है तो इसलिए भी कि वे किसी सामूहिक आन्दोलन का परिणाम नहीं हैं—वे कवियों की निजी मुद्राएँ हैं स्वयंस्फूर्त और मुक्त। मुक्तिबोध ने कहा था कि हमारे युग में अनुभूत वास्तव का जैसा अनादर है वैसा कभी नहीं था। खुद उनकी कविता और इन युवतर कवियों की रचनाएँ 'अनुभूत वास्तव' को पूरे साहस, बिना लाग-लपेट के चरितार्थ करने की मूल्यवान कोशिश है। यह उनके विवेक की वयस्कता का ही प्रमाण है कि वे जानते हैं कि कविता मनुष्य की हालत या उनकी समकालीन यन्त्रणा को बदल नहीं सकती—एक ऐसे संसार में जिसमें भाषा और कविता अप्रासांगिक और अवमूल्यित होते जाते हैं, कविता मनुष्य के अपमान और अमानवीयकरण के विरुद्ध निजी 'प्रोटेस्ट' भर कर सकती है। हमारी युवा कविता ऐसे ही निजी 'ट्रेजिक प्रोटेस्ट' की कविता है।

२

श्रीकांत वर्मा

प्लेटो ने जिन किन्हीं भी कारणों से कविता को अपने गणतंत्र से देशनिकाला दिया हो; कवि के पास अपने गणतंत्र से राजनीति को देशनिकाला देने के यथेष्ट कारण नहीं। स्थूल अर्थों में कविता किसी भी चीज़ का निषेध नहीं करती, सूक्ष्म अर्थों में वह बहुत-सी चीज़ों का निषेध करती है—शायद कविता को छोड़ हर चीज़ का निषेध करती है। कवि का अनुभव-संसार जितना भी व्यापक हो; अनुभव की परिणतियों का संसार सीमित है। सारा अनुभव कविता नहीं—सारा संसार अनुभव भले ही हो। एक स्तर पर सर्वधर्मिता और दूसरे स्तर पर आत्मधर्मिता—कविता का यह दोहरा स्वभाव ही उसे अनिश्चित और परिवर्तनशील बनाता है। कविता का यह एक बुनियादी अन्तर्विरोध है जो स्वयं कविता के स्वरूप को लेकर भ्रान्तियाँ पैदा करता है और हर युग की कविता के आगे प्रश्नचिह्न लगाता है। हर युग कविता से स्पष्टीकरण माँगता है और कविता हर युग के प्रश्नों और शंकाओं से जूझती हुई, दरअसल, केवल अपने ही प्रश्नों से जूझती है। कवि के लिए किसी भी युग के प्रश्न उसी हद तक संगत हैं जिस हद तक वे कविता के प्रश्न हैं। राजनीति का प्रश्न भी उसके लिए उसी हद तक संगत है जिस हद तक वह कविता का प्रश्न है।

कविता को अपने जन्म और मृत्यु में तीन तरह के नरक से गुज़रना होता है: अनुभव का नरक, सृजन का नरक और मूल्यांकन का नरक। जहाँ तक मूल्यांकन का सम्बन्ध है, राजनीति का प्रश्न असंगत है। कविता की परीक्षा केवल उसके अपने नियमों से की जा सकती है। जो आलोचक, चाहे वह राजनीति के आग्रही आलोचकों में सबसे कम आग्रही जार्ज लूकाच ही क्यों न हों, रचना के मूल्यांकन के लिए किसी ऐसे संदर्भ की तलाश करता है, जिससे जाकर जुड़ना उस विशिष्ट रचना की नियति या आकांक्षा नहीं रही, वह केवल अपनी ही विफलता को प्रमाणित करता है। काफ़्का का साहित्य संगत है या टॉमस मान का, इलियट की कविता प्रामाणिक है या येट्स की, इसकी पहचान उस युग की प्रचलित मान्यताओं के आधार पर नहीं बल्कि समस्त शंकाओं के साहित्यिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप-परिवर्तनों को समझकर ही किया जा सकता है। जो आलोचक काफ़्का के उपन्यासों में बीसवीं सदी के बुनियादी भय की बनावट को नहीं समझ सकता, स्पष्ट है कि वह टॉमस मान की बहुत हद तक नंगी, रूपविहीन शंका को ही प्रामाणिक मानकर, काफ़्का को असंगत कहकर बरखास्त करेगा। वह इलियट की कविता की बनावट को 'क्रान्तिकारी' मानता हुआ, उसके अनुभव को ओछा करार देगा। इस तरह का आलोचक अनुभव और भाषा को पृथक् करता हुआ कविता को जाने या अनजाने नष्ट करता है। अनुभव और भाषा को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। कोई भी कवि केवल भाषा में ही अनुभव करता है, भाषा से बाहर नहीं। अगर किसी कवि का अनुभव ओछा है तो उसकी भाषा भी उतनी ही ओछी होनी चाहिए। अनुभव को महान् और भाषा को अवरुद्ध या कि भाषा को क्रान्तिकारी और कविता को तुच्छ कहने का कोई अर्थ नहीं। कविता के प्रश्न उसकी भाषा और बनावट में ही हैं; उन वक्तव्यों में नहीं जो कि अपनी कविता के दौरान कवि देता है। वक्तव्यों के ज़रिये खड़ी की गयी शंकाएँ रचयिता की शंकाएँ हो सकती हैं, रचना की नहीं। एलियट की एक कविता (जेरोन्शन) की इन पंक्तियों का आशय, किस चीज़ को समझने में सहायक है :

"थिंक नाउ हिस्ट्री हैज़ मेनी कनिंग पैसेजेज़, कंट्राइव्ड कॉरिडर्स
एण्ड ईशूज़, डिसीव्स विथ व्हिसपरिंग एम्बिशन्स,
गाइड्स अस बाई वैनिटीज़।
× × ×
थिंक नाइदर फीयर नॉर करेज सेव्स अस। अननेचुरल वाइसेज़
आर फादर्ड बाइ अवर हीरोइज़्म। वर्च्यूज़ आर
फोर्स्ड अपॉन अस बाइ अवर इम्प्युडेंट क्राइम्स।"

इलियट के इस उद्धरण को उसके संदर्भ से काटकर कोई आलोचक सुविधा के साथ यह कह सकता है कि इलियट की यह कविता बीसवीं सदी के नैराश्य और संशय को उपस्थित करती है। अगर यह बात सही भी है, और यह सही है, तो उसके सही होने का आधार यह उद्धरण नहीं बल्कि वह समग्र कविता है जिसकी भाषा और बनावट इस शताब्दी के अन्तर्विरोध से जुड़ी हुई है। यह उद्धरण केवल अपने से पहले की पंक्तियों के संदर्भ में ही संगत हो सकता। इलियट ने इस वक्तव्य का इस्तेमाल काव्य-विडम्बना के रूप में किया है। अपने विशिष्ट बिम्ब-विधान के तुरन्त बाद ही वक्तव्य का उपयोग कर बिम्ब और वक्तव्य के बीच तनाव उत्पन्न करना ही उनका अभीष्ट था। वक्तव्य और बिम्ब के बीच का तनाव ही वह अर्थ था जिसकी सृष्टि के ज़रिये उन्होंने अपने युग की कविता की सृष्टि की :

"इन दि जुवेसेंस ऑफ़ द इयर
केम क्राइस्ट द टाइगर
इन डिप्रेव्ड मे, डागवुड एण्ड चेस्टनेट, फ्लावरिंग जुडास,
टु बी ईटन, टु बी डिवाइडेड, टु बी ड्रंक
एमंग व्हिस्पर्स; बाइ मिस्टर मिल्वेरो
विथ केरेसिंग हेंड्स, एट लिमोजेस
हू वाक्ड ऑल नाइट इन दि नेक्स्ट रूम्स;
बाइ हाकागावा, बोविंग एमंग द टिटियन्स;
बाइ मादाम दे तार्नक्वि, इन द डार्करूम
शिफ्टिंग द केंडल्स; फ्राडलिन वॉन कुप
हू टर्न्ड इन द हॉल, वन हैंड ऑन द डोर। वेकेंट शटल्स
वीव द विंड। आई हैव नो गोस्ट्स।
ऐन ओल्ड मैन इन ए ड्राउटी हाउस
अंडर ए विंडी नॉव।"

कविता को उसकी समग्रता और अंतर्विरोध में न देखकर केवल सुविधाजनक वक्तव्यों के आधार पर कविता के सम्बन्ध में किसी नतीजे पर पहुँचना कवि के अनुभव-संसार और उसकी कलात्मक परिणतियों की उपेक्षा करना है। किसी भी अनुभव की काव्य-परिणतियों में ही वे मूल्य निहित होते हैं, जिनसे आक्रान्त होकर कविता को बार-बार कठघरे में खड़ा किया जाता है या कि खड़ा किया जाना चाहिए। जहाँ तक ये मूल्य इन परिणतियों में हैं वहीं तक वे संगत हैं, उससे आगे नहीं। कविता को मूल्य-प्रक्रिया मानने वाले आलोचकों की ग़लती यह है कि वे कविता के कर्तव्यों का निर्धारण करना चाहते हैं। कविता कर्तव्यवश कुछ नहीं करती, स्वभाववश बहुत-कुछ करती है। हर युग की कविता का स्वभाव बदलता है, उसकी ग्रहणशीलता का क्षेत्र बदलता है और इसीलिए उसके प्रश्न बदलते हैं। आलोचक तभी ठीक निष्कर्षों पर पहुँच सकता है जबकि वह कविता के प्रश्नों को कविता के ही प्रश्नों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में ले। जो संसार कविता में नहीं है, वह इसलिए नहीं है कि कविता ने अपने कारणों से उसका निषेध किया है। मूल्यांकन के प्रसंग में वह असंगत और अनर्गल है क्योंकि उस विशिष्ट रचना के प्रसंग में वह असंगत और अनर्गल था। आलोचक को केवल यह निर्णय करना होगा कि क्या सचमुच ही उस कविता के प्रसंग में वह संसार असंगत था; क्या उस संसार के निषेध के लिए कविता के पास अपने कारण थे या कि यह महज़ एक ढकोसला है। इसकी पहचान आसान नहीं। भाषा के ज़रिये केवल संसार की परिभाषा ही नहीं की जाती, छला भी जा सकता है। भाषा के छल को पहचानना कठिन है। लेकिन जो आलोचक भाषा के छल को पहचानने में समर्थ है उसे यह पहचानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि कवि का संसार प्रामाणिक है या नहीं; दूसरे शब्दों में निषेध का औचित्य है या नहीं।

कविता का दूसरा, अनुभव का, संसार वास्तव में कवि का संसार है जिसमें वह रहता है, झेलता है, जीता और मरता है; राजक्रान्तियों में हिस्से लेता और राजनेताओं के तलुए चाटता है; राजनीति के मंच से क्रान्ति का आह्वान करता और साहित्य अकादमी के मंच से पुरस्कार ग्रहण करता है। कवि का संसार बहुत विवादयोग्य नहीं। बहुत हद तक वह आम आदमियों का संसार है जिसमें पाप, आत्महत्याएँ, क्रान्तियाँ, उत्थान और पतन, कवि और आलोचक सबका अस्तित्व है और कविता किसी के आड़े नहीं आती। बल्कि कविता कवि को इस संसार में अधिक-से-अधिक हिस्सा लेने की छूट देती है। यह प्रतीकों का नहीं घटनाओं का, अर्थ का नहीं, ध्वनियों का संसार है। अपने-आपमें, कविता के लिए, यह बेमतलब संसार है। कविता इसी अर्थहीन संसार को अर्थ देने की प्रक्रिया है।

सृजन के संदर्भ में ही साक्षात्कार की समस्या रचना की समस्या का रूप ग्रहण करती है। वहीं यह प्रश्न संगत है कि क्या रचना राजनीति से साक्षात्कार करती है और अगर करती है तो किस स्तर पर ?

कविता राजनीति से दो स्तरों पर साक्षात्कार करती है। एक घटना के स्तर पर और दो, उसकी परिणतियों और अभिप्रायों के स्तर पर। साक्षात्कार के स्तर ही कविता के भी स्तर हैं। बहुत-कुछ कवि के मन की बनावट और युग के दबाव पर निर्भर करता है। जो कवि केवल प्रतिक्रियाएँ करता है और जिस पर दबाव गहरा नहीं उसकी कविता केवल घटनाओं के क्रम को स्थापित करती है। वह कविता के मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं करता केवल ऊपरी ढाँचे को बदलता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण युवा सोवियत कवि यूजीन एव्तिशेंको की कविताएँ हैं। उनकी कविताओं की सार्थकता राजनीति के उन संदर्भों में है जिनसे वे पैदा हुई हैं। कोई कविता अगर बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहती है तो यह उतनी चिन्ता का विषय नहीं जितना कि यह विरोध कि कविता लिखने वाले कवि की कविता की बनावट में कोई परिवर्तन नहीं आया। एव्तिशेंको की कविताओं का रूप बहुत हद तक परम्परागत है और उसमें कविता का संहार नहीं हुआ है जो कि आधुनिक कविता की पहली शर्त है। इसके विपरीत एव्तिशेंको के ही समकालीन कवि आन्द्रे वोज्जेनेस्सेंस्की की कविताएँ रूसी कविता के बदले हुए रूप से परिचय कराती हैं। वोज्जेनेस्सेंस्की की कविताएँ पढ़ते हुए अनुभव होता है कि वे केवल अपने समय की कविताएँ हैं; एव्तिशेंको की कविताएँ पढ़ते हुए लगता है कि अगर सोवियत समाज का भाग्य-परिवर्तन बीसवीं की जगह अट्ठारहवीं पार्टी कांग्रेस में हो गया होता तो भी उनकी बनावट वही होती। 'काम्सोमोल' की भाषा और येसेनिन के अंदाज़ में लिखी गई एव्तिशेंको की कविताएँ सोवियत समाज के गहरे संकट और अवसाद से परिचय नहीं करातीं। इसका यह अर्थ नहीं कि एव्तिशेंको की कविताएँ कविताएँ या कि उनकी कोई संगति नहीं। एव्तिशेंकों की कविताएँ अपनी जगह पर सार्थक और संगत हैं। लेकिन उनकी उस संकट से कोई संगति नहीं जो कि कविता को गहरा अर्थ देता है। मनुष्य के भीतरी अवरोध का, जिसकी सबसे अधिक संगति बदलते हुए सोवियत समाज में है, या कि समृद्धि के नरक में पड़े हुए व्यक्ति के अवसाद का या कि एक समूची सभ्यता की विफलता से उत्पन्न नैराश्य का कोई चिह्न एव्तिशेंको की कविताओं में क्यों नहीं ? क्या इसका कारण यह है कि एव्तिशेंकों में साहस की कमी है? या कि यह कि राजनीति की क्रांति की सामाजिक और आध्यात्मिक परिणतियों से उन्होंने साक्षात्कार ही नहीं किया।

अपने पूर्ववर्तियों और समकालीनों की इसी विफलता की ओर इशारा करते हुए वोज्जेनेस्सेंस्की ने झुँझलाकर कहा :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कला और प्रेम, दोनों अनिश्चित थे,
निश्चित था एक-एक प्रश्न : वीएतनाम।"

जहाँ कवि की सारी शंकाएँ और सारे प्रश्न वीएतनाम, राज्य-क्रान्ति और चौथा चुनाव पर जाकर चुक जाती हैं वहीं कविता का ढोंग भी ख़त्म हो जाता है। समाज के गहरे संकट से पलायन अपने असली रूप में आ जाता है।

अपने समाज से किसने पलायन किया—मायाकोव्स्की ने या पास्तेरनाक ने। सतह पर नज़र आने वाले दृश्यों से साक्षात्कार को ही कवि का साक्षात्कार माननेवाले आलोचक यह कह सकते हैं और कहते रहे हैं कि मायाकोव्स्की ने अपने समय से नंगा साक्षात्कार किया और पास्तेरनाक ने उससे पलायन किया, जबकि स्थिति इससे विपरीत थी। अगर मायाकोव्स्की ने सचमुच ही अपने समय से साक्षात्कार किया तो क्यों नहीं उसमें सोवियत सभ्यता के उस संकट की छाया है जिसमें १९२४ में ही दरारें पड़ चुकी थीं। जार्जिया के किसानों के दमन और यहूदी बुद्धिजीवियों की हत्या के साथ ही सोवियत सभ्यता के भीतर अन्तर्विरोध पैदा हो चुका था; 'पतलूनधारी बादल' नंगे हो चुके थे। इस संकट से साक्षात्कार मायकोव्स्की की कविताओं में नहीं, उनकी आत्महत्या में और उनके अन्तिम नाटक 'खटमल' की उन पंक्तियों में हैं जो एक तरह से समूची सभ्यता के विरुद्ध मायाकोव्स्की का आर्तनाद है:

"नागरिको ! भाइयो ! मेरे अपने लोगो ! प्रियजनो ! तुम यहाँ कैसे आये ? इतनी बड़ी संख्या में तुम सब ! तुमने कब मुक्ति पा ली ? इस पिंजरे में मैं अकेला क्यों हूँ ? प्रियजनो ! दोस्तो ! आओ ! मेरे साथ आओ ! मुझे यह यातना क्यों ? नागरिको !"

कविता कवि से आत्महत्या की माँग नहीं करती बल्कि उस मृत्यु से साक्षात्कार का आह्वान करती है जो अदृश्य है, भीतर है, गुमनाम है। सोवियत सभ्यता के लिए यदि पास्तेरनाक की संगति अधिक है तो इसका कारण यह नहीं कि पास्तेरनाक ने सोवियत क्रांति की विफलताओं का ब्यौरा प्रस्तुत किया, बल्कि इसलिए कि उन्होंने समूची सभ्यता के संकट से साक्षात्कार किया। राजनीति की सामाजिक और आध्यात्मिक परिणतियाँ कविता के लिए चुनौती होती हैं और बदले में कविता की स्थूल परिणतियाँ राजनीति के लिए चुनौती बनती हैं। कविता परिणतियों के स्तर पर राजनीति से साक्षात्कार करती है और राजनीति भी कविता की परिणतियों के स्तर पर उससे मुठभेड़ करती है। यद्यपि एक आलोचक को पास्तेरनाक के साहित्य की राजनीतिक परिणतियों से सरोकार नहीं होना चाहिए, मगर जहाँ राजनीति को कविता का धर्म मानकर पास्तेरनाक या उनके समानधर्मा कवियों को अ-राजनीतिक कहकर ख़ारिज किया जा रहा हो वहाँ यह स्मरण दिला देना उचित होगा कि इस तरह की कविता का राजनीतिक आशय, जो कि सम्पूर्ण कविता के ढाँचे और अर्थ में है, अधिक गहरा और गम्भीर है। यह अकारण नहीं है कि पास्तेरनाक को उनके साहित्य के लिए उत्पीड़ित किया गया।

टॉमस मान ने यह ज़रूर कहा था कि हमारे युग में मानव-नियति अपने को राजनीति के माध्यम से व्यक्त करती है। मगर उन्होंने यह कब कहा था कि राजनीति अपने को कविता के माध्यम से व्यक्त करती है। यह सही है कि बीसवीं सदी के समस्त मानवीय सम्बन्धों पर राजनीति की छाया है। कवि या कि रचनाकार का क्षेत्र राजनीति के नियमों की खोज नहीं बल्कि इसी मानव-अनुभूति की तलाश है। 'हिरोशिमा : मेरे प्रेम' की लेखिका मार्ग्रेट दुरा ने 'हिरोशिमा' की भयावहता और मृत्यु को दर्शाने के लिए क्यों एक प्रेम-प्रसंग को चुना ? क्यों नहीं उन्होंने 'हिरोशिमा' के संहार की राजनीति से साक्षात्कार के लिए एक राजनीतिक प्रसंग चुना ? मनुष्य की सूक्ष्म अनुभूतियों पर युग की विकराल छाया के ज़रिये अपने संसार को उसकी समग्रता में पेश करना ही रचनाकार का दायित्व और नियति है। युग का स्वभाव निश्चित करने वाले नियमों की खोज उसका कार्य नहीं। आलोचक का, समाजशास्त्री का हो सकता है।

राजनीति के साथ ही युग की बनावट में भी परिवर्तन होता है और उसी के साथ-साथ स्त्री-पुरुषों के, राज्य और व्यक्ति के, रचनाकार और रचना के सम्बन्धों में परिवर्तन होता है और बदले हुए सम्बन्धों को पहचानना और उन्हें अर्थ देना ही कला की सार्थकता है।

साधारणतया जिसे विरोध की कविता कहा जाता है उसके अस्तित्व में वंचना होती है। विरोध की कविता का अर्थ है राजनीति से विरोध की कविता। इस तरह की कविता राजनीति की शर्तों पर उसका विरोध करती है; दूसरे शब्दों में, वह विरोध नहीं करती, वह राजनीति को कविता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्ष कार्य-क्षेत्र मानकर उसी के नियमों से अपना संगठन करती है। यह आकस्मिक नहीं है कि राज्यसत्ताएँ इस तरह के काव्य का स्वागत करती हैं बल्कि अभिनन्दन करती हैं। विरोध का विकल्प पलायन नहीं—बल्कि गहरा आत्म-साक्षात्कार है। आत्मसाक्षात्कार का साहित्य मनुष्यता, ममता, मुक्ति, स्वाधीनता जैसे अर्थ-खो-चुके शब्दों का साहित्य नहीं होता। वह उस संकट का साहित्य है, जिसके आगे मनुष्य अपने को गूँगा और अर्थहीन पाता है। संसार को संहार की ओर ले जा रही राज्यसत्ताएँ अपने लिए वास्तविक चुनौती इसी साहित्य में पाती हैं। छद्म-विरोधी साहित्य के स्वर-में-स्वर मिलाती हुई वे उसे 'अमानुषिक' और 'मानव-विरोधी' करार देती हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि सार्त्र के विरोधी संसार को सत्ताप्रतिष्ठान ने स्वीकृति दे दी; लेकिन बेकेट के नरक से साक्षात्कार करने का माद्दा उसमें नहीं। कारण स्पष्ट है। उसका असली चेहरा 'अल्तोना' या 'बंद कमरा' में नहीं बल्कि 'सुख के दिन' और 'गोदो का इंतज़ार' में है। तथाकथित राजनीतिक कविता की बनावट कला के मूल्यों का विरोध करती है। राजनीतिक कविता का आधार अनुभव नहीं विचार होता है। वह या तो किसी विचार को प्रतिष्ठित करती है या किसी प्रतिष्ठित विचार का विचार के स्तर पर विरोध करती है। दोनों ही सूरतों में वह विचार का समर्थन करती है और विचार के समर्थन के ज़रिये अनुभव को झुठलाती है। जिस कविता में, जैसे कि मुक्तिबोध की कविता में, विचार और अनुभव का अन्तर्विरोध हो उसे राज-नीतिक कविता नहीं कहा जा सकता। मुक्तिबोध के लिए राजनीति एक तात्कालिक उत्तेजना है लेकिन उनकी चिंता का विषय समाज के भीतर चल रहा वह द्वंद्व है जिसकी गड़-गड़ाहट 'अँधेरे में' या 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में सुनायी पड़ती है।

यदि 'मुक्तिबोध ने मूल्य के स्तर पर, आध्यात्मिक स्तर पर, या कि परिणतियों के स्तर पर अपने युग और उसकी राजनीति से साक्षात्कार न कर परिणतिविहीन, संकट-रहित, अर्थच्युत राजनीतिक संसार से साक्षात्कार किया होता तो उनकी कविताएँ अपने समस्त विशाल संदर्भों और गहरे अर्थों से विहीन होतीं। तब भी कविता और राजनीति पर बहस होती। मगर तब मुक्तिबोध के जन्मदिन पर नहीं।

३

नेमिचंद्र जैन

यह आकस्मिक नहीं है कि कविता और राजनीति के सम्बन्ध का प्रश्न, जो हिन्दी-लेखन के क्षेत्र में बीस-पच्चीस वर्ष पहले इतना प्रमुख बनने के बाद परवर्ती युग में कुछ दब गया था, अब पिछले दिनों फिर से उठने लगा है। कुछ वर्ष पहले मुक्ति-बोध के काव्य और विचारों की ओर ध्यान जाना और उनका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में व्यापक स्वीकृति प्राप्त करना साहित्य के असली सरोकार के सम्बन्ध में बदलती हुई समझ की पूर्वसूचना जैसा था। किन्तु वास्तव में उसके पहले से ही, और उसके बाद से विशेष रूप से, पिछले दिनों के प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण लेखन में आज के आदमी की ज़िन्दगी को बड़ी सम्पूर्णता से नियमित और नियंत्रित करने वाली शक्ति के रूप में राजनीतिक सत्ता और उसके परोक्ष-प्रत्यक्ष प्रभावों और सम्बन्धों की अभिव्यक्ति इतनी अधिक बढ़ती गयी है कि इन प्रभावों और सम्बन्धों को परिभाषित करने और समझने के प्रयास से बचना असंभव है। यह सही है कि एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ के कारण हिन्दी-लेखक के लिए इस प्रयास में कुछ अतिरिक्त तीखापन आ जाता है। इसलिए सबसे पहले इस ऐतिहासिक संदर्भ को ही देखें।

यों तो इस जाँच-पड़ताल को रास्ते से ढकेलकर भटकाना हो तो कहा जा सकता है कि राजनीति और कवि का सम्बन्ध कोई ऐसा नया नहीं है। ऋग्वेद और महाभारत से लगाकर शूद्रक, विशाखदत्त, चंदवरदाई और भारतेन्दु तक न जाने कितने नाम गिनाये जा सकते हैं जो अपनी रचना में राज-नीति को किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त करते रहे हैं। और भी हाल में नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, दिनकर आदि का नाम भी तथाकथित राष्ट्रीय कविता के संदर्भ में लिया जा सकता है। पर ऐसा करना प्रश्न को अना-वश्यक अतिव्यापकता देकर उसे निरर्थक बनाना मात्र है। रचनाकार के लिए एक तीव्र सर्जनात्मक तथा नैतिक उलझन के रूप में, और पाठक तथा आलोचक के लिए एक महत्त्वपूर्ण मूल्य के रूप में, राजनीति और कविता के सम्बन्ध का प्रश्न चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में ही प्रकट हुआ। और इसके आन्त-रिक और बाह्य दोनों ही प्रकार के बड़े तीखे और साफ़ कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। एक ओर हिन्दी कविता अपने उस छायावादोत्तर दौर में बड़ी संकुचित और क्षुद्र व्यक्तिगत सीमाओं में जकड़ती जा रही थी, उसका आन्तरिक और बाह्य परिवेश बड़ा सतही और भावुकतापूर्ण होता जा रहा था जो भावावेग, कल्पना के विस्तार और बौद्धिक प्रखरता और सजगता, सभी दृष्टियों से सीमित छायावादी काव्य की तुलना में भी कहीं अधिक सीमित था। वह शब्दशः टुटपूँजिया काव्य था जो निजी क्षुद्र सुख-दुःख, आशा-निराशा, सफलता-असफलता की अत्यन्त छोटी परिधि में चक्कर काटने लगा था। और छायावादी काव्य की तुलना में वह अधिक 'यथार्थ' और 'सच्चा' भले ही हो, उसमें न तो दृष्टि का विस्तार था न व्यक्तित्व का। इसलिए उस दौर के सर्जनशील कवियों में इस क्षुद्र और संकीर्णकारी दमघोंटू काव्य-स्थिति के विरुद्ध छटपटाहट और नया रास्ता खोजने की बेचैनी होना स्वाभाविक था।

दूसरी ओर बाह्य परिस्थितियों में भी वह एक गहरी उथल-पुथल का दौर था। विदेशी सत्ता के विरुद्ध आज़ादी की लड़ाई, जो पूरे राष्ट्रीय जीवन की सर्वप्रमुख केन्द्रबिन्दु थी, अब और भी तीखी होकर देश के अधिकाधिक वर्गों को, समुदायों को, व्यक्तियों को अपने भीतर खींच रही थी और किसी भी संवेदनशील व्यक्ति के लिए उससे दूर रहना या उसकी भीतरी दुनिया का इस आँच से अछूता रह जाना असंभव होता जाता था। इसलिए उस दौर में बहुत-से कवियों का उग्र, क्रान्तिकारी और प्रायः वामपंथी राजनीति से कई स्तरों पर कई रूपों में नाता जुड़ा। इससे उनके जीवन की गतिविधि में तो बड़ा परिवर्तन आया ही, साथ ही अपने परिवेश के साथ उनका एक भिन्न प्रकार का सम्बन्ध बना, उनकी संवेदनाओं और सहानुभूतियों में, तथा समग्रतः उनके अनुभव-क्षेत्र में, विस्तार हुआ, और उनकी जीवन-दृष्टि अधिक प्रखर और सजग, व्यापक और समृद्ध हुई। कवि और परिवेश से उसके इस बदले हुए सम्बन्ध की अभिव्यक्ति हिन्दी की उस कविता में हुई जिसे, कुछ परवर्ती आलोचकों की मूढ़ता के कारण, और कुछ स्वयं उस दौर के कवियों में से कुछ के निजी उद्देश्यों के तथा कुछ की मानसिक अस्पष्टता के कारण, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी नामक दो खानों में बाँटकर देखा-पहचाना गया। इस कविता के समर्थ अंश में—और वह अंश बहुत बड़ा है—राजनीति की कई स्तरों पर अभिव्यक्ति हुई थी : राजनीतिक परिस्थितियों और संघर्षों के सीधे विवरण के रूप में, उनसे उत्पन्न विभिन्न मानवीय सम्बन्धों के चित्रण के रूप में, अथवा समग्र परिवेश अथवा विशेष राजनीतिक परिवेश के साथ कवि-व्यक्ति के निजी सम्बन्ध के रूप में। ये कवि यथाशक्ति अपनी नयी प्राप्त जीवन-दृष्टि को कविता में अभिव्यक्त करके अपने बाह्य और आन्तरिक जीवन को समझने और परिभाषित करने का, और इस प्रकार इंसान की हालत को पहचानने का प्रयास कर रहे थे।

निस्संदेह यह व्यापक अर्थ में राजनीति के साथ 'संपूर्ण-लगाव' को सूचित करता था, पर यह कहना ईमानदारी नहीं है कि ये कवि संकुचित अर्थ में राजनीतिक कविता को ही एकमात्र प्रकार मानकर बाकी सब कविता को रद्दी समझते थे। वास्तव में कवि का अपने परिवेश के साथ, जिसे वह व्यापक अर्थ में राजनीति के माध्यम से पहचान रहा था, यह नया उलझाव पूर्ववर्ती अथवा समकालीन राष्ट्रीय कवियों से मूलतः इस बात में भिन्न था कि वह सर्जनात्मक कवि-कर्म की तलाश का एक हिस्सा था। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इस कविता में राष्ट्रीय कवियों की भाँति परिवेश के प्रति सामान्य भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के बजाय उसके यथार्थ विभिन्नीकृत स्वरूप तथा उसके भीतर चलने वाले द्वन्द्व को भी पहचानने, तथा विदेशी सत्ता के साथ-साथ अपने समाज के भी मानवद्रोही और परोपजीवी तत्त्वों को देखने और परिभाषित करने का प्रयास था। फलस्वरूप ये कवि अनिवार्यतः उग्रपंथी राजनीतिक दलों की ओर खिंचे और बहुत-से साम्यवादी दल के भी सक्रिय सदस्य हुए। यह बात एक पूर्वग्रहपूर्ण सरलीकरण है कि उस दौर के कवियों ने किसी दल का सदस्य होने के कारण ही तथाकथित राजनीतिक कविताएँ लिखीं; असलियत यह थी कि अपनी कविता में एक उग्र राजनीतिक दृष्टि और यथार्थ को अभिव्यक्त करने की आन्तरिक बाध्यता और प्रयास में ही वे बहुत बार उनके अनुरूप राजनीतिक दल की ओर आकर्षित हुए।

किन्तु इस सारी परिस्थिति में ही एक अंतर्विरोध और आन्तरिक संघर्ष के बीज मौजूद थे जिसका शीघ्र ही इन कवियों ने कई स्तरों पर कई प्रश्नों के रूप में सामना किया। कवि का अपने परिवेश के साथ क्या सम्बन्ध है ? वह क्या केवल उसका द्रष्टा, पर्यवेक्षक, आलोचक, टिप्पणीकार रहे या उसके बदलने के कार्य में—जो प्रत्यक्ष राजनीतिक कार्य का ही दूसरा नाम है—सक्रिय भाग ले ? परिवेश के प्रति वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्दोलनकारी का दृष्टिकोण अपनाये या नहीं? राजनीतिक कर्मी अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपने समस्त कार्य को बहुत-से छोटे-छोटे अतिसरलीकृत चरणों में बाँटकर देख सकता है और देखता है। पर कवि यदि समग्रता को उसके जटिल, उलझे हुए, बहु-आयामी रूप में देखता है तो वह क्या करे? अपने राजनीतिक कर्मी या सहभागी और कवि-व्यक्तित्वों में कैसे और किस प्रकार का सामंजस्य स्थापित करे? इसके अतिरिक्त राजनीतिक परिस्थिति और कार्य जीवन का महत्त्वपूर्ण अंश होने पर भी वह सम्पूर्ण जीवन तो नहीं है, कम-से-कम अपने सीमित अर्थ में तो नहीं ही है। यदि राजनीतिक कर्तव्य और निजी इच्छाओं-आकांक्षाओं में संघर्ष हो, या ऐसा जान पड़े, तो कवि क्या करे? बाकी जीवन की आवश्यकताओं और राजनीतिक जीवन तथा कार्य की आवश्यकताओं के बीच कैसे और क्या संतुलन अथवा सामंजस्य पैदा हो? उस दौर के बाह्य तथा आन्तरिक जगत् के प्रति नयी दृष्टि से आत्मसजग कवि ने इन सभी प्रश्नों को बड़ी तीव्रता से अपने सामने पाया। और वह इनके कई प्रकार के समाधान खोजने में उलझता रहा।

किन्तु उसके अन्तर्द्वन्द्व का केवल यही स्तर न था। राजनीतिक संघर्ष के तीव्र, प्रबल और अधिक सजग होने की एक अनिवार्य परिणति यह भी थी कि राजनीतिक आदर्शों और व्यवहार में, व्यापक मानवीय मूल्यों और तात्कालिक राजनीतिक सिद्धान्तों और कार्यों में, साध्य और साधन में, अन्तर्विरोध भी धीरे-धीरे प्रकट होकर तीव्र होने लगा। तेज़ी से बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के व्यापक नैतिक-मानवीय मूल्यों के साथ सम्बन्ध के बारे में कवि और राजनीतिक कर्मी की दृष्टि में मौलिक अन्तर हो सकता है, होता भी है। जहाँ दलगत अनुशासन कवि से एक विशेष प्रकार की तात्कालिक प्रतिक्रिया की अपेक्षा या माँग कर सकता है, वहाँ कवि का अपना आन्तरिक अनुशासन और समग्र जीवन-बोध किसी भिन्न परिप्रेक्ष्य और परिणति की प्रतिक्रिया के लिए बाध्य कर सकता है।

हमारे देश की विशिष्ट राजनीतिक परिस्थितियों में पाँचवें दशक में यह संघर्ष बड़ा तीव्र हो गया और बहुत-से कवि अपने परिवेश और अपने अनुभव तथा उसकी काव्यगत अभिव्यक्ति के सम्बन्ध को फिर से निर्धारित तथा परिभाषित करने के लिए बाध्य हुए। राजनीतिक दलों के व्यवहार और कार्यक्रम तात्कालिक लाभ के लिए जिस अवसरवादिता और सिद्धान्तहीनता, सरलीकरण और यथार्थ को इच्छित रूप में पेश करने की प्रवृत्ति से ग्रस्त थे, उसमें कवि का विद्रोह करना अनिवार्य था। उसी समय और उसी पृष्ठभूमि में 'अनुभूति की प्रामाणिकता' की बात इन कवियों ने उठाई थी। एक प्रकार से यह प्रश्न को सरल करके देखना ही था, पर उसके पीछे एक प्रेरणा स्पष्ट थी कि कवि के लिए सचाई की तलाश में, किताबी, सैद्धान्तिक अथवा प्रचारात्मक नुस्खों की बजाय, अपने निजी अनुभव पर ही भरोसा करना अधिक विश्वसनीय है। किन्तु इस आवाज़ में सिद्धान्त या जीवन-दृष्टि को, सचाई को पहचानने में बुद्धि के इस्तेमाल को, महत्त्वहीन मान बैठने की सम्भावना और प्रवृत्ति भी मौजूद तो थी।

व्यापक जीवनदृष्टि और प्रत्यक्ष अनुभव के बीच सम्बन्ध खोजने और स्पष्ट करने के कवियों के इस अन्तःसंघर्ष को पाँचवें दशक की एक अन्य राजनीतिक परिस्थिति ने दुर्भाग्य-वश और भी गलत दिशा की ओर मोड़ दिया। यह परिस्थिति थी दूसरे महायुद्ध के बाद से संसारव्यापी शीतयुद्ध का वातावरण, जिसमें कविता में राजनीति-विरोध एक विशेष राजनीतिक दृष्टि का आधार बन गया था। फलस्वरूप कवि का राजनीति से, बल्कि किसी भी प्रकार की व्यापक जीवनदृष्टि मात्र से, अपने को जोड़ना संकीर्णता का पर्याय समझा जाने लगा। शाश्वत मानव-मूल्यों के नाम पर एक विचित्र प्रकार की सरलीकृत अनुभववादिता का आग्रह होने लगा। इस बात पर ज़ोर दिया जाने लगा कि कवि को राजनीतिक जीवन से, राजनीतिक संघर्ष और आन्दोलन से, सम्बद्ध ही नहीं होना चाहिए। किसी राजनीतिक दल से सम्बद्ध होना या सहानुभूति रखना कवि के भ्रष्ट होने का सूचक बताया जाने लगा। दिलचस्प बात यह है कि यदि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' या माखनलाल चतुर्वेदी का कांग्रेस का सक्रिय कार्यकर्ता होना कवि-धर्म से भटकना नहीं माना गया, भले ही उनकी कविता हीनतर कविता समझी गई हो, तो उसका कारण यही था कि उनकी और कांग्रेस की राजनीति एक सर्वसामान्य और अविभक्त राजनीति थी। किन्तु पाँचवें दशक के कवियों की राजनीति अधिक उग्र और वामपंथी थी और पाँचवें दशक का राजनीति-विरोध राजनीति मात्र का विरोध न होकर वास्तव में उस उग्र राजनीति का विरोध था। यही कारण है कि इसी दौर में लिखे गए धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' की प्रायः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रच्छन्न राजनीति पर यह आपत्ति न उठी, पर नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल की कविता को लेकर और सामान्यतः प्रगतिवादी कहे जाने वाले कवियों-लेखकों के कृतित्व के संदर्भ में यह आलोचना होती रही। उस पूरे दौर में मुक्तिबोध के उपेक्षित रह जाने का अन्य कई कारणों में यह भी एक बड़ा कारण था कि उनकी कविता एक उग्र, दोटूक जीवनदृष्टि और राजनीतिक सहानुभूतियों तथा मान्यताओं पर आधारित थी। जो हो, महत्त्वपूर्ण बात यह समझ लेना है कि कविता में और व्यापक जीवनदृष्टि तथा संकीर्ण दलगत राजनीतिक कार्यक्रम में यह अलगाव, कविता का एक अलग स्वायत्त शाश्वत जान पड़ने वाला संसार रचने का आग्रह, दो स्पष्ट तथा सर्वथा भिन्न दबावों के कारण और दो अलग-अलग स्तरों पर था। और स्वयं कवियों के मन में एक दैनन्दिन राजनीति की सरलीकृत और फार्मूलाबद्ध व्याख्याओं को छोड़कर अपनी निजी प्रामाणिक अनुभूति पर आग्रह था तथा घिसी-पिटी, विवरणात्मक, सतही नारों की भाषा की बजाय अपनी अद्वितीय मौलिक और व्यंजनापूर्ण भाषा की तलाश थी। दूसरी ओर कुछ अन्य लोग जाने-अनजाने एक विश्वव्यापी राजनीतिक दृष्टि के फलस्वरूप सर्जनात्मक कार्य को व्यापक जीवन-परिप्रेक्ष्य से काटकर, प्रभावी सामाजिक कार्य और अनुभव से विच्छिन्न कर, एक सीमित निजी बिम्ब-लोक की सृष्टि पर ज़ोर दे रहे थे। इस प्रकार हिन्दी कविता के व्यापक परिवेशगत प्रश्नों और जीवनदृष्टि और अनुभव से विच्छिन्न हो जाने के पीछे जहाँ कवि के अपने निजी आन्तरिक दबाव सक्रिय थे, वहीं एक अन्य राजनीतिक रुझान भी उसे स्वयं अपनी सार्थकता से काटकर एक ऐसी मरीचिका में ठेले लिए जा रहा था जो परवर्ती वर्षों में हिन्दी कविता के लिए बहुत घातक सिद्ध हुई।

ऐतिहासिक संदर्भ की यह इतनी लम्बी चर्चा इसलिए आवश्यक है कि कविता और राजनीति की आज की बहस में भी, एक भिन्न और नए स्तर पर, वे सारे सवाल मौजूद हैं जो पिछले दौर में थे। उत्तरछायावादी काव्य की भाँति ही पिछले आठ-दस वर्ष की अधिकांश हिन्दी कविता 'भोगे हुए यथार्थ' के नाम पर एक विचित्र प्रकार की मानसिक रुग्णता, संकीर्णता और क्षुद्रता में भटकती रही है, उसने क्रमशः अपना एक काल्पनिक काव्य-संसार रच लिया है जो कभी-कभी सुन्दर और तीखा होने पर भी मूलतः सीमित और सार्थकता-हीन है और जीवन्त दुनिया के हाशिये पर स्थित है। कविता को सार्थक बनाने के लिए उसे जीवन के वृहत्तर और महत्त्वपूर्ण अनुभव और परिप्रेक्ष्य से, ज़िन्दगी को किसी-न-किसी प्रकार से रचने और बदलने के अनुभव से, जोड़ना सर्वथा आवश्यक हो गया है। दूसरी ओर हमारे देश का पूरा जीवन एक ऐसे तीव्र उथल-पुथल और संकट के दौर से गुज़र रहा है कि कोई भी संवेदनशील और जागरूक व्यक्ति, मानव-नियति के बारे में उद्विग्न और उसके भविष्य से सरोकार रखने वाला व्यक्ति, सर्वथा आत्मस्थ होकर नहीं बैठ सकता। विश्व के स्तर पर, एक ओर सीमाहीन प्राविधिक विकास और मानवीय सर्जनात्मक क्षमता के नए-नए क्षितिजों का उद्घाटन और दूसरी ओर स्थापित व्यवस्था के दिनोंदिन बढ़ते हुए विराट् संवेदनहीन अमानवीय तन्त्रों की स्वार्थपरता के कारण सर्वग्रासी मानव-विनाश की छाया; और देश के स्तर पर, शताब्दियों से जड़ताग्रस्त करोड़ों नर-नारियों के भीतर सिर उठाती आत्मचेतना और दूसरी ओर जीवन के हर स्तर पर आडम्बर, पाखंड, ढोंग, झूठ और भ्रष्टाचार का दौरदौरा—इस युग के मूलभूत अन्तर्विरोधों के ये निरन्तर चुभने वाले छोर किसी ईमानदार आदमी को चैन नहीं लेने देते। राजनीति आज इस प्रकार इतने विविध रूपों में और इतनी दूर तक समुदाय और व्यक्ति के जीवन में घुस आई है कि उससे किसी के लिए तटस्थ होने की गुंजाइश नहीं। किसी-न-किसी स्तर पर राजनीति में उलझे बिना तो आज की ज़िन्दगी के यथार्थ को, उसकी सचाई और उसके झूठ को, पहचानना तक असम्भव हो गया है। और यह आकस्मिक नहीं कि फिर एक बार कवि अपनी अस्मिता की खोज में ही, सचाई की तलाश में ही, अपने को राजनीति से घिरा हुआ पाता है। यह स्पष्ट है कि जो कवि अपनी कविता में इन्सान की हालत को समझने और परिभाषित करने का दावा करता है, जो अपने ज़माने के सार्थक अनुभव को मूर्त करने के लिए उलझ रहा है, वह राजनीतिक परिस्थिति, कार्य और दृष्टि से अपने को विलग नहीं कर सकता। और यह भी आकस्मिक नहीं कि पिछले दौर की भाँति **आज भी कविता को राजनीति से दूर रखने की बात अन्ततः एक मानवविरोधी राजनीति की ही एक युक्ति है—उन स्थापित व्यवस्थाओं के हित में है जो नहीं चाहतीं कि अपनी नियति को स्वयं अपने हाथ में लेने और**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे बदलने की इन्सान की कोशिश में कवि और कविता किसी प्रकार सहायक हो। कविता और राजनीति के संबंध को समझने में इस सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य की सुस्पष्ट चेतना आवश्यक जान पड़ती है।

किन्तु यह संदर्भ और उसकी ऐसी चेतना अपने-आपमें कविता और राजनीति के अत्यन्त उलझे हुए सम्बन्ध को समझने के लिए नाकाफ़ी है। इस बात की कुछ गहराई में जाकर पड़ताल ज़रूरी है कि कविता के संदर्भ में राजनीति से क्या अभिप्राय है, कवि राजनीति से सम्बन्ध किस प्रकार और किन-किन स्तरों पर बनाता है और फिर वह सम्बन्ध किस प्रकार कविता में प्रकट होता है। जहाँ तक आम आदमी का सवाल है वह राजनीति से प्रायः दो रूपों में सामना करता है : नागरिक की हैसियत से चुनाव आदि में हिस्सा लेकर और विभिन्न दलों के कार्यक्रमों, आन्दोलनों, प्रचार आदि में सक्रिय सहयोग द्वारा अथवा उदासीन दर्शक की भाँति; दूसरे, राज्य की विभिन्न नीतियों से उत्पन्न परिस्थितियों, नियंत्रणों अथवा वैयक्तिक लाभ का, सुविधाओं अथवा दमन का अनुभव अथवा सामना करके। अधिक सुशिक्षित, संवेदनशीलऔर जागरूक नागरिक इन सभी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष स्थितियों के पीछे कार्यशील विभिन्न शक्तियों के पारस्परिक तथा आन्तरिक द्वन्द्वों की भी तलाश या पहचान करता है। नागरिक के रूप में कवि भी इस अनुभव के सभी रूपों से गुज़रता है, या कम-से-कम उसे गुज़रना चाहिए. बल्कि औसत से अधिक संवेदनाशील और इन्सान की नियति के बारे में अधिक जागरूक और बेचैन व्यक्ति की हैसियत से उसका ज़िन्दगी के इस अनिवार्य महत्वपूर्ण अनुभव से और भी गहरा लगाव होना आवश्यक है।

दरअसल, आम आदमी से कवि की भिन्नता इस बात में नहीं कि कवि का जीवन की इस अनिवार्य और बुनियादी परिस्थिति से कोई सरोकार नहीं, बल्कि इस बात में है कि इस अनुभव को वह किस रूप में ग्रहण या आत्मसात करता है, मानवीय सम्बन्धों और स्थितियों के बारे में उससे क्या नतीजे निकालता है, उन्हें किन मूल्यों से और किस प्रकार जोड़ता है, और फिर इस सबको किस तरह निचोड़कर कविता में व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए, दलगत कार्यक्रम या राजनीतिक लक्ष्य और उनके लिए होने वाले आन्दोलनों को ही लें। क्या उनसे सर्वथा बचकर, केवल द्रष्टा, अवलोकनकर्ता रहकर ही वह इस पूरी प्रक्रिया और आदमी की परिस्थिति पर पड़ने वाले उसके प्रभाव को जान सकता है? क्या राजनीतिक लक्ष्य मानवीय मूल्यों के साथ जुड़े हुए नहीं हैं? और ठोस व्यवहार में उनकी जाँच-पड़ताल के बिना क्या मूल्यों की मानवीय सार्थकता और प्रासंगिकता समझी जा सकती है? एक और स्तर पर भी ये प्रश्न बहुत ज़रूरी हैं। क्या कवि का काम इतना ही है कि वह दूर से सब-कुछ देखता और टिप्पणी करता रहे? या अपने अनुभव को जाँचने-परखने के लिए उसे स्वयं सहभागी और सहकर्मी भी होना चाहिए, किसी लक्ष्य की प्राप्ति के कार्य में दायित्व लेकर सक्रिय प्रयास करना चाहिए? क्या केवल **बौद्धिक दिलचस्पी** से यथार्थ की पहचान हो जाती है, या उस पहचान के लिए उस यथार्थ को बदलने के कामों में हिस्सा लेना भी आवश्यक है? अधिकतर आदमी के सामने कोई चरम स्थितियाँ नहीं होतीं, यानी इन्सान की अपूर्णताओं को देखते हुए, चुनाव पूरी तरह अच्छे और पूरी तरह बुरे के बीच कभी नहीं होता; अधिकांश मानवीय व्यापार की भाँति राजनीति में भी निरन्तर दो बुराइयों में से किसी छोटी बुराई को या शायद सबसे सार्थक संभावना को चुनने की अनिवार्यता होती है। यह आदर्श स्थिति नहीं है, पर यही तो कठिनाई है कि आदर्श स्थिति कभी उपलब्ध नहीं होती, इसके बावजूद इंसान अपनी स्थिति को बदलने के लिए निरन्तर जूझता रहता है। तो फिर कवि ही बहुत बार क्यों यह सुविधा चाहता जान पड़ता है कि वह केवल अस्वीकार करे, सबकी और सब-कुछ की आलोचना करता रहे, सबसे ऊपर अलग खड़ा रहे, दो बुराइयों में से किसी एक को चुनने की अनिवार्य ज़िम्मेदारी से बचे? क्या बहुत हद तक राजनीति से कविता को अलग रखने की बात स्वयं कवि के इस ज़िम्मेदारी से बचने का बहाना मात्र नहीं होती?

बचने की इस प्रवृत्ति का ही एक अन्य रूप यह घोषणा भी है कि आज तो समस्त राजनीति टुच्ची और मानवद्रोही हो गयी है; कि स्थापित व्यवस्था के बड़े-बड़े तन्त्रों के बीच मानव-व्यक्ति एकदम अकेला है, असहाय है, कुछ भी कर सकने में असमर्थ है; कि हर राजनीतिक सिद्धान्त और व्यवहार ने इंसान के साथ दग़ा की है, और वे सब फ़रेब, पाखंड और विराट् सामूहिक शक्ति के द्वारा प्रतिरोध के दमन पर कायम हैं। किसी हद तक आज की राजनीतिक हालत का यह मूल्यांकन शायद सही है। पर फिर? क्या इस स्थिति में उसका विरोध और भी आवश्यक नहीं हो जाता? अपना सब-कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दाँव पर लगाकर उसको चुनौती देने के कार्य में क्या कवि को सबसे आगे नहीं होना चाहिए ? पर क्या यह केवल चरम अस्वीकार के द्वारा हो सकता है ? दूसरे शब्दों में **राजनीति मात्र** का विरोध आवश्यक है अथवा **राजनीति विशेष** का ? कवि को आत्महत्या या चरम ध्वंस की अनिवार्यता की घोषणा करनी है या आत्महत्या के विरुद्ध खड़े होना है ? आज की ज़िंदगी का अर्थ तलाश करने वाला कोई भी सार्थक कवि अन्ततः इस प्रश्न से बच नहीं सकता। **मानव की चरम व्यर्थता और अनिवार्य अन्धकारपूर्ण भविष्य की घोषणा भी अन्ततः एक राजनीति ही है चाहे कवि स्वयं उसे राजनीति के रूप में पहचानता हो अथवा नहीं। स्थायी रूप से विरोध में रहने की प्रतिज्ञा भी किसी-न-किसी प्रकार की पक्षधरता या प्रतिबद्धता के संदर्भ में ही मूल्यवान हो सकती है।** प्रश्न सहज आशावादिता का नहीं, किसी-न-किसी स्तर पर जीवन के साथ, मानव-भविष्य के साथ प्रतिबद्ध होने का, और उस प्रतिबद्धता के परिप्रेक्ष्य में अपने अनुभव को जाँचने का है। इस प्रकार कवि राजनीति से अनेक रूपों में और अनेक स्तरों पर जुड़ा हुआ है, चाहे यह सचेतन रूप में हो चाहे अनजाने ही, यद्यपि जिस हद तक कवि इस विषय में सचेतन होगा, उसी हद तक वह व्यक्ति के रूप में और कवि के रूप में, अपने कार्य को अधिक सक्षम और सार्थक बना पायेगा।

राजनीति के साथ कवि के इस बहुमुखी सम्पर्क को देखते हुए यह कहना प्रायः बेमानी है कि कविता का राजनीति से कोई वास्ता नहीं। जो अनुभव कवि के जीवन और व्यक्तित्व से इतना गहरा जुड़ा है, उसका कविता से कोई सम्बन्ध न होना कैसे तर्कसंगत हो सकता है ? वास्तव में इस वक्तव्य के पीछे एक विचित्र प्रकार का भय और सरलीकरण है : कवि से राजनीति के सम्बन्ध को उसके अनेक स्तरों पर स्वीकार करते हुए भी, कविता में राजनीति को उसके सबसे प्राथमिक और यांत्रिक रूप में, किसी दल के आदेशानुसार अथवा उसके कार्यक्रम को चरितार्थ करने के लिए रचे जाने के अर्थ में ही समझा जाता है। इस भय का एक कारण शायद वह पिछला अनुभव हो जब बहुत-से कवि इस परिस्थिति में सचमुच उलझकर अपने मार्ग से हट गए थे। पर ऐसा सरलीकरण तो किसी भी अनुभव को लेकर हो सकता है—स्त्री-पुरुष के तथा अन्य मानवीय सम्बन्धों के विषय में, व्यक्तिगत सुख-दुख, आशा-निराशा, कुण्ठा-उल्लास के विषय में, अथवा किसी भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभव के विषय में। वास्तव में कवि अपने किसी भी अनुभव को भाषा में किस प्रकार संगठित करता है या कर पाता है, यह प्रतिभा के अतिरिक्त उसके अनुभव के रूप, विस्तार, गहराई और उसके उपयुक्त सही भाषा की तलाश पर ही निर्भर है, चाहे वह अनुभव किसी टूटती हुई समाज-व्यवस्था का हो, चाहे किसी औरत के साथ सोने का। असमर्थ कवि के हाथ में दोनों ही अनुभव निरा निर्जीव शब्दजाल मात्र रह जा सकते हैं; उससे किसी अनुभव-विशेष का कविता के लिए विशेष उपयुक्त या अनुपयुक्त होना नहीं साबित होता। वास्तव में **कवि के लिए राजनीति एक स्तर पर इंसान की हालत का साक्षात्कार है तो एक अन्य स्तर पर इस साक्षात्कार का साधन भी है।** कवि का उद्देश्य कविता द्वारा चाहे अपनी अस्मिता की खोज करना हो, चाहे मानव की दशा और समाज के संकट से साक्षात्कार करना, हर हालत में राजनीति का उपयोग किये बिना, और उसी के माध्यम से असली हालत को पहचाने बिना आज वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। कवि सीधे राजनीतिक संसार की रचना भले ही नहीं करता हो, पर जो भी संसार वह कविता में रचता है वह यदि सार्थक है तो राजनीति के अनुभव से और उसी के औज़ारों से बना हुआ संसार होता है। सारी सार्थक और समर्थ कविता किसी-न-किसी स्तर पर परिवेश से आदमी के सम्बन्ध को, आदमी-आदमी के सम्बन्ध को, अपने-आपसे आदमी के सम्बन्ध को, नये सिरे से परिभाषित करती है जो राजनीति से बचकर और बाहर जाकर नहीं किया जा सकता। एक पूरे लम्बे दौर में हम इस ग़लतफ़हमी में पड़े रहे कि राजनीति के संसर्ग से कविता भ्रष्ट हो जाती है। इस बहाने हम एक घटिया राजनीति के शिकार तो होते ही रहे, साथ ही इस प्रक्रिया में कविता से हमने उस जीवन्त और सर्जनात्मक तत्त्व को निकाल दिया जो कविता को इन्सान का सबसे मूल्यवान और अनोखा दस्तावेज़ बनाता है। और आज भी यह कहना कि राजनीति और कविता के सम्बन्ध पर चर्चा से रचनाकार को कोई मतलब नहीं, न केवल घटिया और 'लचर' राजनीति है, बल्कि बुद्धि के दिवालियेपन का भी सूचक है। जैसा प्रारम्भ में ही कहा गया, मौजूदा दौर में परिवेश के साथ कवि के सर्जनात्मक सम्बन्ध के मानक राजनीति में सिर से पैर तक डूबे हुए मुक्तिबोध के काव्य में मिलते हैं, किसी चक्रान्त शिला के खोजी अज्ञेय की कविता में नहीं। और यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य ही है कि आज का हर संवेदनशील और क्षमतावान् कवि अपने निजी खोल से निकलकर व्यापक मानवीय जगत् के साथ अपने सम्बन्धों की नये सिरे से तलाश को अपने कविकर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण दायित्व माने और इसके लिए राजनीति के माध्यम से मिलने वाले असलियत के 'नंगे संस्पर्श' की ओर बेझिझक बढ़े।

४

रघुवीर सहाय

'कविता और राजनीति'—इस विषय से पहले-पहले तो मन में उलझन है कि यह कोई विषय है भी या नहीं। मैं तो यह मानता रहा हूँ कि कवियों को कविता पर बहस करनी चाहिए राजनीति पर नहीं। राजनीति पर बहस से कवि उलझन में पड़ सकता है इसलिए वह हमेशा कतराता रहा है। मैं चाहता हूँ कि राजनीति पर अलग बहस करूँ, कविता पर अलग। कवि जब भी इस सवाल पर बोलने चलता है तो वह अपने-आपको सफ़ाई देने के लिए मजबूर नहीं पाता, सुनने वाले सफ़ाई चाहते हैं। मेरे मन में स्पष्ट है कि कवि-कर्म अलग है राजनीति अलग। जीवन-वृत्ति के स्तर पर दोनों एकदम अलग हैं। अगर मैं अभी कहूँ कि मैं अपने देश में नेताशाही नहीं होने दूंगा तो कोई राजनीतिक दल समर्थन नहीं करेगा। मेरे लिए बहुत बड़ा मूल्य है स्वातंत्र्य का। जब सत्ता मेरे पास होती है तब वह होती है। दोनों बातों को चलाने का प्रयत्न ग़लत है। जो दोनों बातों को जोड़ देते हैं वे अँधेरे कोने की फिसलन में फिसल जाते हैं, जब तक कोई राजनीतिक नहीं लिखता तब तक वह राजनीतिक कविता नहीं होती। कविता राजनीतिक नहीं होती, कविता कविता ही होती है। दोनों तरह की जीवन-विधियों में जो अन्तर होता है वह रहता ही है। जहाँ दोनों जुड़ते हैं वह कवि का अंतस् है। आपको कविता से मतलब है। मैं अपने अंदर अपने को कितना पाता हूँ, मैं कैसी विचारधारा को मानता हूँ, इन सबसे आपको कोई मतलब नहीं। आपको मेरी कविताओं से मतलब है। मैं इस बात को तरह-तरह से कई बार कह चुका हूँ।

मैं जानता हूँ कि इस जीवन को, समाज को, मनुष्य को, हो सके तो मनुष्य की जाति को बदलना है। यह मैं अपना परम कर्त्तव्य मानता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि इसको बदलने के लिए मुझे यह जानते हुए कि यह व्यवस्था अधूरी है, यह जानते हुए कि वह मनुष्य का दमन करने लगता है। समाज में संगठन चाहिए। संगठन का मतलब है सरकार। जब तक ऐसा मनुष्य समाज की कहीं परिणति होते नहीं देखता तब तक हमें सरकारों की ज़रूरत है। सरकार ज़रूरी है। सरकार ही एक साधन है समाज को बदलने का, सही और अनुकूल साधन। आप किसी दूसरे के माध्यम से जानते हैं तो उसके प्रति अन्याय होगा। अपनी चिड़िया वाली कहानी का हवाला देते हुए कहूँ तो कवि वह चिड़िया है जो अपनी पीड़ा में फँसा हुआ है। आलोचक वह व्यक्ति है जो यह समझता है कि शायद उसने सब समझ लिया है और कवि को मुक्त कराने के लिए बेचैन हो जाता है।

यह एक बड़ा अद्‌भुत सत्य है अपनी राजनीतिक मान्यताएँ कहीं न प्रकाशित करना। विश्वविद्यालय को आप लें, वहाँ जिन मान्यताओं को लेकर साहित्य की समीक्षा की जाती है, वे सर्वविदित हैं। विश्वविद्यालय से बाहर कोई भी आलोचक आधुनिक रचना को लेकर जैसे ही अपना आलोचना-शास्त्र बनाना चाहता है वैसे ही वह एक दूसरे दर्जे का प्रतिष्ठान बन जाता है। वैसे ही उसकी क़ीमत हो जाती है। जब मैं कविता लिखता हूँ तो आपके सामने कविता रख देने के बाद मेरा काम समाप्त हो जाता है। लेकिन जब आलोचक व्यंग्य करता है तो वह तमाम ऐसे प्रतिष्ठानों की ओर चलना शुरू कर देता है जो उसके विरोधी हैं। कवि का सबसे अच्छा साथी उसका पाठक है। मैं जो कुछ भी लिखता हूँ वह समाज बदलने के लिए पहले से प्रतिश्रुत होकर नहीं लिखता, अपने से प्रतिश्रुत होकर लिखता हूँ इसलिए मैं किसी भी आलोचक को यह अधिकार नहीं दे सकता कि वह मेरी कविता की आलोचना राजनीतिक दृष्टि से करे।

आज से तीन साल पहले, नेहरू की मृत्यु से थोड़ा-सा पहले एक धारा चली थी कि राजनीति से हमें कोई मतलब नहीं। वह राजनीति की एक बहुत बड़ी धारा से सम्बद्ध थी। राजनीतिक तरीकों को अपनाने से साहित्य का हमेशा क्षय होता है, लेकिन उससे अलग कोई तरीक़ा नहीं होता, इसलिए उसे स्वीकार करना पड़ेगा—पीड़ा से स्वीकार करना पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० लोहिया का तमाम साहित्यिकों से परिचय था, फिर भी साहित्य के सम्बन्ध में साहित्यिकों पर अपनी राय लादने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। मैं कवि हूँ, मैं राजनीति में हिस्सा लेता हूँ। मैं राजनीति में हिस्सा लेता हूँ इसलिए कविता करता हूँ, जैसे ही यह कहूँगा मेरी मृत्यु निश्चित है। यह जो समय है वह तमाम राजनीतिक व्यवस्थाओं के टूटने का समय रहा है। ऐसे समय पर सतही तौर पर यह मान लेना कि कविता और राजनीति का सम्बन्ध है, बहुत बड़ा धोखा होगा। वास्तव में हम जानते हैं कि भाषा के माध्यम से किसी भी तरह के सम्वेदन को व्यक्त करना कठिन और प्रायः असंभव होता है। जिसे सामान्य भाषा में विरोध कहा जाता है वह तो और भी असंभव। सारे समाज में लोग अपना मित्र नहीं अपना शत्रु ढूँढते फिरते हैं। शासनतंत्र भी यही चाहता है।

जो पहले कहते थे कि उन्हें राजनीति से कोई मतलब नहीं, बाद में कहने लगे हैं कि वे ही इस विरोध के वाहक बने रहे हैं। एक और राजनीतिक चक्र चलता है जो कहने लगता है कि राजनीति सबसे भ्रष्ट है। लेकिन उस विद्रोह को मनुष्य की नियति का वाहक बनाना होगा।

५

कृष्णनारायण कक्कड़

मुझसे कहा गया है कि मैं एक आलोचक के रूप में बोलूँ। मेरे लिए यह कठिन है। श्रीकान्त वर्मा जब कुँवर नारायण पर लिखते हैं तब वह आलोचक होते हैं, जब मैं दूसरे कवि पर लिखता हूँ तो मैं भी आलोचक होता हूँ। श्रीकान्त वर्मा की बहुत-सी बातों से मैं सहमत नहीं हूँ। कवि और आलोचक में जो 'डेकाटामी' बनाया जाता है वह बहुत ही ग़लत है। इस प्रकार की द्वन्द्वात्मकता साहित्य में नहीं होती। जो यह कहते हैं कि आलोचना के सिद्धान्त और हैं वे यह प्रभाव देते हैं कि कवि ईमानदार और आलोचक, कभी-कभी बेईमान होता है। लेकिन जिस तरह श्रीकान्त वर्मा अपने को ईमानदार कवि मानते हैं उसी तरह मैं भी अपने को एक ईमानदार आलोचक मानता हूँ और मुझे ऐसा मानने का पूरा हक है। श्रीकान्त वर्मा ने कुँवर नारायण की आलोचना करते हुए लिखा है कि कवि बौद्धिक नहीं होता। मैंने उसे आलोचना माना और आलोचना की तरह उसकी आलोचना की।

कविता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि कविता एक संयम है, फिर इसे परिभाषित क्यों नहीं कहा जाता ? यह वक्तव्य मान लेना मेरे लिए कठिन है। राजनीति भी एक संयम है। उसे परिभाषित क्यों नहीं किया गया ? श्रीकान्त जी की एक कविता में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग दो जगह दो अर्थों में हुआ है। कवि को इसका अधिकार है, लेकिन आलोचक को नहीं। अपने अन्दर आत्मसंगति होना बहुत ज़रूरी है। 'आलोचना' शब्द का एक अर्थ मूल्यांकन माना जाता है। नामवरजी ने इसे बहुत घिसा है। कुछ लोग कहते हैं कि आलोचना का काम वर्णन करना है। मूल्यांकन खतरनाक बात है। आज के आलोचक मूल्यांकन की बात बार-बार करते हैं। क्या वे अपने मूल्यों का अंकन बार-बार करते हैं ? इन सब पर मेरा एतराज़ है।

आलोचकों ने यह विषय आरम्भ नहीं किया। मैं उन आलोचकों के विरुद्ध हूँ। कविता और राजनीति के सम्बन्धों की चर्चा आलोचक ने लगभग दस वर्षों में आरम्भ नहीं की। कुछ लोग कह रहे हैं राजनीति और कविता का सम्बन्ध है, क्योंकि कविता पर राजनीति का दबाव है। कुछ लोग कह रहे हैं कि नहीं है। आत्महत्या की कविताओं पर बहुत आलोचना हुई, लेकिन किसी एक कविता को लेकर उसका विश्लेषण करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए हम क्यों नहीं तैयार हैं ? विजय देवनारायण साही राजनीतिज्ञ हैं, लेकिन उनकी कविता में राजनीति किस हद तक है मेरे लिए कहना कठिन है। मिल्टन ने भी राजनीतिक कविता लिखी है। पर वास्तव में 'राजनीतिक कविता' की बात मेरी कल्पना से परे है। राजनीतिक कविता तो नहीं होती। कबिता का कहीं-न-कहीं राजनीति से सम्बन्ध हो सकता है और हम उस सम्बन्ध का अध्ययन भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कर सकते हैं। भाषा-विज्ञान के जो नये तरीके निकले हैं, कुछ सीमा तक मैं उनका समर्थन करता हूँ। हम लोग यथासंभव आलोचना में भी ऐसे सूत्र पैदा करने की कोशिश करेंगे जिनका परीक्षण होता चले। और वह आत्मसंगति में हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६

सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

यह कहना ग़लत है कि पहले-पहल प्रगतिवाद ने ही कविता और राजनीति की समस्या का साक्षात्कार किया या करवाया। जब से कविता है तब से उसका उपयोग सामाजिक या सामूहिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए किया जाता रहा है। ऋग्वेद तक के मंत्रों से युद्ध जीतने का काम लिया गया है। महाभारत में क्या समाज और राजनीति की आलोचना कम है? क्षेमेंद्र की 'देशोपदेश'-जैसी कृतियाँ समकालीन परिस्थिति पर, राजनीतिक स्थिति पर भी, तीखे व्यंग्य करती हैं। भारतेन्दु-काल के सभी कवियों में प्रबल राजनीतिक चेतना थी। फिर आज़ादी की लड़ाई के ज़माने के सभी प्रमुख कवियों ने ऐसी कविताएँ लिखीं जिन्हें राजनीतिक माना जा सकता है। अगर हम काव्य को राष्ट्रीय या राष्ट्रीयतावादी कह सकते हैं तो राजनीतिक क्यों नहीं कह सकते?

तो प्रगतिवाद ने पहले साक्षात्कार तो नहीं किया, लेकिन जो किया वह उससे पहले की कविता से एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में भिन्न ज़रूर था। पहले राजनीतिक कविता काव्य के अनेक प्रकारों में से एक प्रकार-भर मानी जाती थी, वह भी एक हीनतर प्रकार। प्रगतिवाद ने उसे **एकमात्र प्रकार** माना और बाकी सब कविता रद्दी कर दी। इस प्रकार एक नया संपूर्ण लगाव (टोटल कंसर्न) प्रकट हुआ जिसे धर्म का संपरीय बना दिया गया। राष्ट्रीय काव्य भी राजनीतिक काव्य था पर उस की राजनीति के मूल्य धर्म के मूल्य थे, उसकी राष्ट्रप्रतिमा भारत माता, दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी ही थी। यही कारण था कि राष्ट्रवाद के युग के कवि छायावादी या रहस्यवादी भी हुए। प्रगतिवाद ने राजनीति को अनुप्राणित करने वाली उस आध्यात्मिक दृष्टि के बदले एक स्थूल लौकिक दृष्टि प्रस्तुत की।

मैं किसी तरह नहीं मान सकता कि काव्य या साहित्य का समाज पर या उसको बदलने में कोई असर नहीं होता। मैं तो मानता हूँ कि कविता समाज को बदल सकती है और बदलती रही है। ऐसा नहीं होता तो आज न कविता पढ़ने वाले होते न लिखने वाले। लेकिन बदलने से हमारा अभिप्राय क्या है यह स्पष्ट होना चाहिए। कविता का असर समाज पर सीधे-सीधे नहीं होता। यह भी हम मान सकते हैं कि हमेशा ठीक वही असर नहीं होता जो कवि डालना चाहता है, लेकिन होता ज़रूर है। अगर कविता से हमारे संवेदन की गहराई बढ़ती है, कवि-चेतना का विकास होता है, तो क्या यह बदलना नहीं है? समाज का बदलना नहीं है?

इस समस्या की चर्चा मैं बीस साल पहले से करता आ रहा हूँ। प्रश्न असल में कविता और राजनीति का नहीं, कवि और राजनीति का है, और समकालीन राजनीति में एक महत्त्व की बात यह है कि हमारे जीवन के हर क्षेत्र में सरकार का दख़ल बढ़ता जा रहा है और सरकार दिन-प्रतिदिन और अधिक निर्वैयक्तिक होती जा रही है। एक समय विद्रोह का मतलब था राजा नाम के एक व्यक्ति का विरोध, लेकिन अब यह स्थिति नहीं रही है। सामन्त-विरोध, बुर्जुआ-विरोध, पूँजीपति-विरोध, यहूदी-विरोध, गोरी या काली चमड़ी का विरोध—नयी परिस्थिति में घृणा उँडेलने के लिए अलग-अलग देशों, समाजों में अलग-अलग पात्र चुने गये हैं। वह इसीलिए कि सरकार का तो कोई चेहरा नहीं है। यह निर्वैयक्तिक राज्यसत्ता आज नागरिक के जीवन में सर्वत्र दिखायी देती है लेकिन उसका कोई चेहरा या रूपाकार न होने से यह भी नहीं समझ में आता कि लड़ा कैसे जाए। इस माया युद्ध का एक पहलू यह भी है कि लड़ने वाले को अपने पर भी शक होने लगता है कि क्या मैं भी ऐसा ही बिना चेहरे और व्यक्तित्व का जीव तो नहीं हूँ? इस प्रवृत्ति का उदाहरण आज की कविता में ढेरों मिलेगा।

आज कवि की समस्या यह है कि वह एक अनैतिक या नीति-अतीत सूत्र से एक नैतिक युद्ध (क्योंकि मूल्यों के लिए युद्ध) लड़ रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक निर्णय

इस विभाजित विश्व में लेखक के लिए दस कर्म-सूत्र | पीटर वाइस

१

मैं जो भी शब्द लिखता और प्रकाशित करता हूँ वह राजनीतिक होता है। उसका उद्देश्य यही होता है कि वह एक विशाल पाठक-वर्ग तक पहुँचे और एक निश्चित प्रभाव उत्पन्न करे। मैं अपनी रचनाएँ किसी-न-किसी संचार-संस्थान को दे देता हूँ और तब वे उपभोक्ताओं द्वारा अपना ली जाती हैं। मेरे शब्दों का कैसा स्वागत होता है यह बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि वे किस प्रकार की समाज-व्यवस्था में वितरित किये जाते हैं, क्योंकि मेरे शब्द उपलब्ध मतों का एक छोटा-सा अंश होते हैं, और सो भी ऐसा अंश जो निरन्तर घटता जाता है, इसलिए अगर मुझे अपने मत को कारगर बनाना है तो मुझे अधिक-से-अधिक निश्चयात्मकता प्राप्त करनी है।

२

जिस भाषा में मैं लिखता हूँ उसका चुनाव शिल्पगत प्रयोजन मात्र है। मैं वही भाषा चुनता हूँ जिस पर मेरा सबसे ज़्यादा अधिकार है। मेरे संदर्भ में यह भाषा जर्मन है।

इस भाषा के प्रयोग का लाभ यह है कि उसका प्रत्येक शब्द तत्काल उत्कट रूप से प्रभावित हो जाता है। नितान्त विरोधी सामाजिक संरचना वाले दो राज्यों में जर्मनी का विभाजन विश्व के भंजन को प्रतिबिम्बित करता है। जर्मन-भाषी लेखक की घोषणाएँ तुरन्त तराजू पर चढ़ा दी जाती हैं, जहाँ दो भिन्न मूल्य-व्यवस्थाएँ उसकी जाँच-परख करती हैं। इससे मेरा काम आसान हो जाता है। मैं जो कुछ भी लिखता हूँ वह सर्वदा मतामत के आलोक में रहता है। तथापि, यह लक्ष्य करना चाहिए कि मैं जिन समस्याओं और द्वन्द्वों का निरूपण करता हूँ वे विशेष रूप से जर्मन भाषा-क्षेत्र के नहीं हैं। वे तो उन्हीं विषयों के अंश-मात्र हैं जो आज प्रत्येक भाषा में उठाये जा रहे हैं।

३

यद्यपि विश्व के भंजन में बहुतेरे छोटे-छोटे भंजन निहित हैं जिनकी प्रवृत्तियाँ जटिल और अक्सर विरोधिनी होती हैं, तथापि दो स्पष्ट शक्ति-गुट उभरते हैं। एक गुट में वे समाजवादी शक्तियाँ हैं जो या तो स्थापित हो चुकी हैं या उभर रही हैं और पुराने उपनिवेशों या पराधीन क्षेत्रों के स्वातंत्र्य-आन्दोलन हैं। दूसरे शक्ति-गुट में पूंजीवाद पर आश्रित सामाजित व्यवस्था है, जिसकी जड़ें सीमाहीन और निर्बाध प्रतियोगिता की साहसिक भावना में हैं और जो बड़े-बड़े साम्राज्यवादी केन्द्रीकरण को जन्म देती हैं। इस गुट के अन्तर्गत, विशेषतया स्कैण्डिनेवियाई राज्यों में, ऐसे दूरगामी जनतंत्रीकरण के गोजे हैं जहाँ वर्ग-संघर्ष ने बरबस कतिपय सामाजिक परिवर्तन करा लिये हैं। अन्ततोगत्वा ट्रेड यूनियन आन्दोलन और 'मज़दूर' सरकारों की सामर्थ्य पूंजीवादी एकाधिपत्य की ताकतों से बँधी है जो अपनी सम्पत्ति को स्वेच्छा से कभी नहीं त्यागेंगी। सर्वाधिक विकसित कल्याण-राज्य भी स्पष्ट रूप से एक ऊँचे स्तर का वर्गीय समाज ही है जहाँ का पूर्वकालीन क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग अभिजात-वर्ग के मान स्वीकार करने लगता है।

४

यह पता करना मेरा काम है कि इस विभाजित विश्व में वाद-विवाद के उभयपक्ष मेरे शब्दों का किस रूप में स्वागत करेंगे।

मुझे अनुभव ने बताया है कि अपने-आपको मुक्त पाश्चात्य विश्व कहने वाले गुट में ऐसी प्रत्येक कलात्मक अभिव्यक्ति का स्वागत किया जाता है जिसमें अन्तर्मुखी अनुभूति और रूप-गत प्रयोग की छाप होती है, अथच सामाजिक आलोचना का भी आदर होता है लेकिन तभी तक जब तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह मानववाद और जनतंत्र की ओट में छिपी समाज-व्यवस्था की सीमाओं का अतिक्रमण न करे। सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से, कोई सीमाएँ नहीं खींची जातीं, और इस क्षेत्र में प्रत्येक नवीन आविष्कार को समर्थ दलाल भी मिलते हैं और उपभोक्ता भी; लेकिन सामाजिक दृष्टि से, प्रहारों पर अत्यन्त कठिन नियंत्रण होता है। लेखक को इन सामाजिक सीमाओं के अन्वेषण में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि वह अक्सर लेखक के प्रति प्रतिश्रुत स्वातंत्र्य को चरम स्वातंत्र्य समझने की भूल कर बैठता है। उसे काफ़ी दूर पीछे लौटकर उस बिन्दु तक आना होता है जहाँ उसका स्वातंत्र्य समाज के लिए निरापद न रह जाए।

५

पाश्चात्य गुट में अगर उस कलात्मक श्रम का सर्वाधिक व्यावसायिक मूल्य है जो अपने उपभोक्ताओं को बौद्धिक अथवा सौन्दर्यशास्त्रीय आनन्द संप्रेषित करता है या संवेगात्मक उत्तेजन देता है, तो पूर्व में कलाकृति का मोल व्यावहारिक प्रयोजन के अनुसार आँका जाता है। रूप-गत प्रयोग, आन्तरिक एकालाप, काव्यात्मक बिम्ब—यदि वे समाज को बदलने के काम में उपयोगी न हों तो थोथे माने जाते हैं।

हम लोग, जो अभिव्यक्ति के चरम स्वातंत्र्य की आस्था में बड़े हुए हैं, हमें यह बात अपनी परियोजनाओं को सीमित करती प्रतीत होती है—तब तक जब तक कि हम कला के उद्देश्य की अपेक्षा उसके अन्तर्निहित मूल्य का अधिक आदर करते हैं। पर यदि हमें लक्ष्य मिल जाये तो हम उद्धत-से-उद्धत रूपों की उपलब्धि के लिए संघर्ष कर सकते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि क्रान्तिकारिणी कला सामाजिक व्यवस्थागत क्रान्ति में ही बसती है।

अतएव यह एक अन्तर्विरोध है—क्योंकि कला में ऐसी अन्तर्जात शक्ति है इसलिए कुछ समाजवादी देशों में उसे पालतू बनाकर सामान्यता में जकड़ दिया जाता है जबकि अभिजात देशों में वह मर्यादाहीन होकर उच्छृंखल रूप से विकास करती है।

६

यही वह स्थल है जहाँ मुझे निर्णय लेने की समस्या का सामना करना पड़ता है। मैं दोनों में से कौन-सा पक्ष चुनूँ? सारी अपूर्णताओं, अन्तर्विरोधों और भूलों के पीछे, दोनों में से किस पक्ष में मैं मानवता और न्याय की अपनी धारणाओं के अनुरूप विकास की सम्भावना देखता हूँ? क्या मैं अपने अज्ञान और द्वैध पर विजय पाकर सचेत रूप से अपनी रचना में वह राजनीतिक प्रभाव समन्वित कर सकूँगा जो अबतक उसमें परोक्ष रूप से ही प्रकट होता रहा है, क्योंकि मैं पाठक-समाज के सामने एक नामहीन संवादी की नाईं आता रहा हूँ? क्या मैं तीसरे शिविर की वह सुविधाजनक स्थिति छोड़ सकता हूँ जो हमेशा मेरे लिए पिछवाड़े का दरवाज़ा खुला रख आती है ताकि मैं उसमें होकर विशुद्ध कल्पना की अवान्तर भूमि में खिसक सकूँ?

७

इस सवाल को उठाना ही जवाब की शुरुआत है। जवाब की अपनी तलाश के दौरान मैं देखता हूँ कि केवल दो ही विकल्प हैं, और कि अनिश्चय में मैं पड़े रहना और भी बड़ी व्यर्थता (विफलता) की ओर ले जाता है।

जब मैं अपने काम के प्रतिमान के रूप में जर्मन भाषा-क्षेत्र को लेता हूँ तो मैं पाता हूँ कि पश्चिम में मेरा संशय और असमंजस केवल स्वीकार ही नहीं किया जाता, सराहा भी जाता है। यह स्वाभाविक है: जब तक मैं सिर्फ़ अपनी दुश्चिन्ता को अभिव्यक्ति देता हूँ, समाज के प्रति अपने क्षोभ को व्यक्त करता हूँ, तब तक वह केवल एक मनोवैज्ञानिक समस्या ही रहती है जो सत्ताधारियों को खतरा नहीं बन सकती। जब मैं अपनी हताश स्थिति का वर्णन करता हूँ तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होती, क्योंकि मेरी हताशा उन संस्थाओं की शक्ति की ही पुष्टि करती है। मेरे ऊलजलूल ऊलजलूल विचार, मेरी तितीक्षा, मेरा व्यंग्य—सबको शरण मिल जाते हैं क्योंकि इनके माध्यम से मैं सिर्फ़ इसी बात की गवाही देता हूँ कि जो शक्ति-सम्पन्न हैं वे कितने उदार हैं कि वे अपनी जगह पर इतने सुरक्षित महसूस करते हैं कि ऐसी बहुत-सी बातों का पक्ष-समर्थन करने दिया जाता है जो मुझे प्रगतिशील लगती हैं। अगर मैं यह मत व्यक्त करता हूँ कि वर्तमान सामाजिक विभेद पूर्णतः मिटाये जा सकते हैं तो वे विशाल हृदयतापूर्वक सहमत हो जाते हैं। सच पूछिए तो हमारे शासकों का एक केन्द्रीय तर्क यह बताता है कि विभेद काफ़ी हद तक मिटाये जा चुके हैं और कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मालिक और मज़दूर पाते हैं कि उनके हित एक-से हैं। यहीं आकर मैं उनके यथार्थ के सूक्ष्म मिथ्याकरण के समस्त संसार के विरोध में खड़ा होता हूँ। क्योंकि वे संचार के साधनों के स्वामी हैं और शिक्षा पर उनका नियंत्रण है, अतएव उन्होंने जनता के प्रत्येक स्तर पर अपने मूल्य व्याप्त कर दिये हैं। क्योंकि उन्होंने एक वामपंथी विरोध को आंशिक रूप से अ-हानिकर बना डाला है, या कि समृद्धि की छलना की बाह्य सफलता के आधार पर यह विरोध आंशिक रूप से अनुगामी बन गया है, अतएव इस समृद्धि के संदर्भ के सवाल और उसे उपलब्ध करने में लगाये गए खर्च के सवाल विरले ही उठते हैं। जब कभी ऐसा होता है तो सवाल उठाने वाले को स्वयमेव घृणिततम अपवचनों का लक्ष्य बनना पड़ता है, और हम देखते हैं कि सम्पत्तिधारी जनों के Scutcheon पर मानवता और जनतंत्र की धारणाएँ कितनी धुँधली पड़ जाती हैं।

८

किसी झण्डे के नीचे इकट्ठे होने में मेरी असमर्थता पूर्वी जर्मन राज्य में अधोगति का चिह्न समझी जाती है। अगर मैं अपने अलगाव को समाप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं करता तो अभिजात समाज के मेरे प्रबलतम नकारात्मक वर्णन भी कोई महत्त्व नहीं रखते। जब तक मैं यह मानता हूँ कि इस समाज में मेरी इयत्ता और मेरा कर्म-स्वातंत्र्य सुरक्षित है तब तक मैं इस समाज का बन्दी बना रहता हूँ; और यह मानकर कि सामाजिक दबाव मात्र से इस समाज को बदला जा सकता है, मैं अपने अंतःकरण को हलका कर लेता हूँ और इस तथ्य को युक्ति-मण्डित कर देता हूँ कि मैं इसी समाज से अपनी आजीविका प्राप्त करता हूँ।

भ्रष्टाचार पर, शोषण पर और निजी स्वामित्व के एकाधिकारों द्वारा जन-मानस के विषाक्तीकरण पर प्रहार कोई फल नहीं दे सकते अगर वे कोई स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत न करें। जिस प्रकार पश्चिम जर्मनी में लेखक से और सब बातों के ऊपर राजनीतिक चुप्पी की अपेक्षा की जाती है, ठीक उसी प्रकार पूर्वी जर्मनी में एक स्पष्ट राजनीतिक दृष्टिकोण आवश्यक माना जाता है।

यहां मैं एक बार फिर एक विशेष भाषा-क्षेत्र की संकीर्ण धारणा से विदा लेता हूँ और समस्त विश्व को कलात्मक श्रम के कार्यक्षेत्र के रूप में ग्रहण करता हूँ।

यही वह विश्व है जिसमें निर्णय लिया जाना चाहिए।

सारी धरती के सम्पत्तिवान जन, जिनका दल अपेक्षया छोटा-सा है, दिन-रात अपनी स्थिति को दृढ और सुरक्षित बनाने में लगे हैं। युद्धोत्तर संकट से लाभ उठाकर और अपने-आपको फिर से प्रभूत समृद्ध बनाकर वे अब लुटे हुए जनों की शक्तियों को उभरते देख रहे हैं। उनके सामने जो भूत प्रकट हो रहा है वह उन्हें केवल यूरोप में ही नहीं, अपितु सर्वत्र नज़र आ रहा है। अफ्रीका, एशिया या लातीनी अमरीका—जहाँ भी वे अपने दुर्ग बनाते हैं वहीं मुक्ति के आन्दोलन उभरने लग जाते हैं और उन्हें रोकना अब संभव नहीं है। पर बहुतेरे स्थानों में वे अपने हथियारों और सिपाहियों के बल-बूते पर अब भी हावी हो रहे हैं। वे अब भी गाँवों को जलाकर और भूमि को उजाड़कर आतंक फैला सकते हैं, वे अपनी नृशंसता और आर्थिक धौंसबाज़ी से अब भी राष्ट्रों को बस में कर सकते हैं। पर ऐतिहासिक दृष्टि से वे बाज़ी हार चुके हैं।

एक शक्ति धीरे-धीरे उनको बस में करती जा रही है—एक ऐसी शक्ति जो इस सिद्धान्त पर टिकी है कि धरती के पदार्थ समान रूप से हर मनुष्य के हिस्से में आने चाहिए। हम अब भी इस दूरव्यापी परिवर्तन के प्रथम चरणों में हैं। कुछ देशों ने विश्व के भंजन से उत्पन्न बहुत-सी आर्थिक कठिनाइयों पर विजय पा ली है और साम्यवादी या समाजवादी व्यवस्था स्थापित कर ली है। कुछ अन्य देश प्रधानतः एक राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष के झण्डे के नीचे इस व्यवस्था की ओर प्रयत्नशील हो रहे हैं। पर शीतयुद्ध, जिसकी भीतरी गरमी लगातार प्रकट द्वन्द्व में फूटती रहती है, इस नयी सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या में सर्वत्र एक असंतुलन और द्वन्द्व को जन्म देता रहता है। ऐसी स्थिति में, समाजवाद के शत्रु उसकी अपूर्णताओं और असंभावना के प्रदर्शन के लिए भरपूर मसाला पा जाते हैं।

इस प्रसंग में लेखक का यह कर्तव्य है कि वह सदा अपने आधारभूत सत्य का उद्घाटन करता रहे, विकृति के पीछे छिपे सत्य का आविष्कार करता रहे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०

मेरे लिए वास्तविक सत्य समाजवाद की सामान्य-नीति में निहित है। समाजवाद के नाम पर जो भी ग़लतियाँ हुई हैं या अब भी हो रही हैं उनसे हमें सीखने का अवसर प्राप्त करना चाहिए और समाजवादी धारणा के बद्धमूल सिद्धान्तों के आधार पर उनकी मीमांसा करनी चाहिए। आत्मालोचन, द्वन्द्वात्मक विचार-विमर्श, परिवर्तन और अग्रिम विकास के प्रति निरन्तर उन्मुक्त भाव—समाजवाद के स्थायी तत्त्व हैं। मेरे लिए जिन दो विकल्पों की संभावनाएँ खुली है उनमें से मैं केवल समाजवाद में ही विश्व की वर्तमान विषमताओं पर विजय पाने की संभावना देखता हूँ।

मैं अभिजात समाज में बड़ा हुआ हूँ, और अपने निजी जीवन और कर्म का अधिकांश समय मैंने अपने-आपको उन प्रतिबन्धों, पूर्वग्रहों और अहम्मन्यता से मुक्त करने में बिताया है जो मेरे सामाजिक परिवेश ने मुझमें समाहित कर दिये थे। मेरा यह सुदीर्घ विश्वास रहा है कि कलात्मक कर्म वह स्वाधीनता प्रदान कर सकता है जो मेरे लिए विश्व का द्वार उन्मुक्त कर दे। पर आज मैं देखता हूँ कि टेक के विना कला औद्धत्य बन जाती है, क्योंकि जिन देशों में जातीय भेद-भाव और वर्ग-विरोध बलपूर्वक बनाये रखे जाते हैं वहाँ की जेलें परिवर्तन के हामी उत्पीड़ित योद्धाओं से भरी हुई हैं। विश्व के अधिकांश में विद्यमान दुरवस्था के सम्मुख तथाकथित स्वातंत्र्य में उपलब्ध मेरी सारी कलात्मक सफलताएँ निपट उपहास जान पड़ती हैं।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि मेरा कर्म तभी फलदायक हो सकता है जब वह उन शक्तियों के साथ अधिक प्रत्यक्ष रूप से जुड़े जो मेरे तई विश्व की हितकारिणी शक्तियाँ हैं। ये शक्तियाँ आज सर्वत्र, यहाँ तक कि पश्चिम में भी खोजी जा सकती हैं। अगर पूर्वी गुट में और अधिक स्पष्टवादिता आ जाए, यदि विचार-विनिमय अधिक मुक्त और कम हठधर्मी हो, तो ये शक्तियाँ और भी बलशालिनी होंगी, उनमें एकता की वृद्धि होगी और उनकी संगति अधिक दूरगामी हो जायेगी।

(न्यू लेफ्ट रिव्यू-४७, जनवरी-फरवरी १९६८ से साभार)

पीटर वाइस : जन्म १९१६। जर्मन लेखक। इंग्लैंड, चेकोस्लोवाकिया, स्विट्ज़रलैंड में शरणार्थी। १९३९ से स्वेडेन में निवास और १९४५ से स्वेडेन के नागरिक। प्रमुख रचनाएँ मरात साद (नाटक); आबशाइट फॉन डेर एल्टर्न, फ़्लुख्टपुंक्ट (उपन्यास), गेस्प्राख डेर ड्राइ गेहेन्डेन (आख्यान) इत्यादि। १९६५ में 'जर्मन जनवादी गणतंत्र' (पूर्वी जर्मनी) का पक्ष लेने की घोषणा के लिए पश्चिम जर्मनी के उदारपंथी और वामपक्षी लेखकों के कोपभाजन बने।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तानाशाही के विरुद्ध : एक वक्तव्य

रघुवीर सहाय

यह वक्तव्य इस समय मेरे लिए अनिवार्य हो गया है, क्योंकि १९६७ के आम चुनाव के बाद राजनीतिक भारत में धीरे-धीरे करके यह स्थिति आ गई है कि यदि मैं अपनी राजनीतिक मान्यताएँ स्पष्ट नहीं करता तो यह काम मेरे लिए कोई राजनीतिक संगठन नहीं करेगा। और इससे बड़ी कोई घुटन हो नहीं सकती कि व्यक्ति का कोई राजनीतिक समर्थन न हो।

मैं जानता हूँ कि १९४७ से '६७ के बीस वर्ष में राजनीतिक सत्ता किस तरह से केन्द्राभिमुख, दिशाहीन और गद्दीवादी हुई है और यह भी जानता हूँ कि राजनीतिक तन्त्र संविधान, मन्त्रिमण्डल, संसद और राजनीतिक दलों ने शुद्ध सत्तापरक कारणों से किस प्रकार असली जीवनदायी कार्यों से पलायन किया है। नेहरू के बाद केवल एक व्यक्ति और एक राजनीतिक दल ने लोकतंत्रीय राष्ट्रीय दृष्टि से मनुष्य की नियति को दिशा देने का प्रयत्न किया था : राममनोहर लोहिया और संसपा ने, और यह याद रखना चाहिए कि इनके पास सत्ता न थी। केन्द्र से कांग्रेस को हटाने में ये सफल न हो सके, यह सत्य है। पर यह केवल एक अर्द्धसत्य है कि राज्यों से कांग्रेस को हटाकर भी ये विफल रहे। नहीं कहा जा सकता कि यदि सत्ता से परिवर्तन के लोहिया-कार्यक्रम में विहित छः मास की अवधि का अन्त उनकी मृत्यु से न होता तो आज लोहिया के विचारों की राजनीतिक परिणति किस कार्यपद्धति में होती। संसपा के सामने इस समय जो समस्याएँ हैं वे सत्ता में परिवर्तन न करने से उत्पन्न हैं और ये कम्युनिस्ट, कांग्रेस और जनसंघ की समस्याएँ हैं, लोहिया की समस्याएँ नहीं हैं। अगर लोहिया होते तो शायद संसपा भी कुछ और होती, शायद दो संसपा होतीं और उनमें से एक जनसंघ और कांग्रेस की तरह होती, एक उनसे अलग होती। पर यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि जो नहीं है उसके होने से क्या होता, जो है वह है १९६७ के बाद संसदीय लोकतन्त्र के क्षय के सन्दर्भ में कांग्रेस, कम्युनिस्ट, संसपा और जनसंघ का वर्तमान कार्य।

कांग्रेस के वर्तमान केन्द्रीय सत्ताधारी हर कीमत पर केन्द्रीय गद्दी दबाये रखने पर कमर कसे हैं। हर कीमत पर। भारतीय मनुष्य की, भारतीय भूमि और भारतीय भविष्य की। उनमें संसदीय लोकतंत्र की टूटफूट से और नये राजतंत्र की रचना के लिए विकलता है तो यह है कि अधीनस्थ नौकरशाही, पुलिस और सेना के तथा बचे-खुचे संसदीय लोकतंत्र के माध्यम से वे किस तरह सत्ताधारी बने रहें।

कम्युनिस्ट पार्टियों में यह प्रतीति स्पष्ट है कि यह तंत्र बदल देना है। रूस और चीन के परस्पर सम्बन्ध के अनुसार देश में कम्युनिस्ट पार्टियों की कार्यनीतियाँ स्थिर होती हैं और कुल मिलाकर वे भारतीय मनुष्य की नियति में परिवर्तन के लिए कोई मौलिक नीति नहीं देतीं—सिवाय इसके कि इस तंत्र में केन्द्र की सत्ता को नष्ट कर देना होगा। जनसंघ की शुद्ध नकारात्मक—मनुष्य-विरोधी सभी प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक और भयभीत मनुष्य-विरोधी दीवार चाहे वह गुंडागर्दी की हो या जाति प्रथा की—खड़ी करने की दृष्टि है—अन्ततः यह भारतीय मनुष्य को किसी भी कम्युनिस्ट नतीजे में ले जाकर फँसा दे सकती है।

भारतीय मनुष्य का संकट बहुत गहरा है। उसकी अपूर्ण राजनीतिक आकांक्षा का अब तक का मान्य वाहक, संसदीय लोकतंत्र और राजनीतिक दलों से उसका सम्बन्ध प्रायः टूट चुका है : वर्तमान राजतंत्र के लिए, कांग्रेस और जनसंघ के पास विकल्प नहीं है : कम्युनिस्ट पार्टियों के पास है। अन्ततः पहले दोनों दल या पहले दोनों में से एक और तीसरा या तीनों मिलकर किसी विकल्प पर चुपचाप समझौता कर ले सकते हैं : वह विकल्प एक भारतीय राष्ट्रवादी तानाशाही हो या किसी और किस्म की हो, वह भारतीय जन के हर तरह से विरुद्ध होगा। कैसी भी हो तानाशाही उन तमाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दा. ाओं ी सम्पूर्ण परिणति होगी, जिनसे पिछले २० वर्षों में भारतीय जन को बाँध रखा गया है। मुझे यह सोचकर कोई उत्साह नहीं होता कि जब यह घटना घट जायेगी तब पाप का घड़ा भर जायेगा या तब वास्तविक स्वतंत्रता की ज्योति विद्रोही जन-मानस में उदित होगी। यह नितान्त कविकल्पना है जो दीखती तो अराजनीतिक है, परन्तु वास्तव में व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता को सबसे अधिक पुण्य मानती है। मैं यह भी नहीं मान पाता कि जब वह दिन आयेगा तब मैं उसका विरोध कर लूँगा। मैं अभी से लेकर उस दिन तक किसी भी प्रकार की तानाशाही का विरोध करूँगा। ठीक वैसे जैसे संसदीय लोकतन्त्र में प्रच्छन्न प्रत्येक सर्वसत्तावादी प्रयास का विरोध किया है। अन्तर यह होगा कि इस विरोध में कभी-न-कभी राजनीतिक दल भी सहभागी रहे हैं—उस विरोध में न शायद कोई राजनीतिक दल साथ है न शायद होगा।

तानाशाही का यह भय मेरे मन में एक वास्तविकता है क्योंकि मैं भारतीय मनुष्य की मुक्ति के लिए प्रयत्न करके अपने को परास्त पा रहा हूँ। उसकी मुक्ति का मूल है भाषा। और उसी के मामले में उन कुछ एक व्यक्तियों ने सबसे ज़्यादा मुँह की खायी है जो तुरन्त आज अभी भाषा का निर्णय चाहते हैं। पर हमें अब भी ज़ोर देना है कि भाषा के विषय में यानी अँग्रेज़ी हटाने के विषय में कोई निर्णय हो सकता है तो वही जोकि तुरन्त, अभी, अँग्रेज़ी हटाए। धीरे-धीरे हटाने वाली बाकी सब बहसें अँग्रेज़ी को बनाये रखने की हैं।

भाषा के मामले में पिछले २० वर्ष में उन लोगों को, जो भाषा को बरतने के पक्ष में हैं, उन लोगों से लड़ा दिया गया है जो भाषा को पूजने के पक्ष में हैं। अब एक तरफ़ हैं अपनी भाषा न पाकर छटपटाते और घुटते असंख्य युवजन, असंख्य बच्चे, असंख्य निरक्षर भारतीय और असंख्य आने वाली सन्तानें। दूसरी तरफ़ हैं भाषा के पुजारी—अंग्रेज़ी के भी —और इसीलिए अपनी भाषा के भी पुजारी, जो अंग्रेज़ी की जगह, ठीक उसी तरह उसी जगह हिन्दी की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं ताकि हिन्दी भी एक तरह की अंग्रेज़ी बन जाये, जो अंग्रेज़ी और हिन्दी को साथ-साथ बनाये रखना चाहते हैं ताकि एक जनभाषा, हिन्दी, कभी राजभाषा न हो पाये ताकि जब हिन्दी राजभाषा हो भी तो वह जनभाषा न हो सके। इसलिए आज यह साफ़-साफ़ समझ लेना ज़रूरी हो जाता है कि जनभाषा या हिन्दी समाज और सरकार के सम्बन्ध में मौलिक परिवर्तन लाने और जड़ से समाजवादी समाज बनाने के लिए ज़रूरी है। केवल राजभाषा का साइन-बोर्ड बदलने के लिए नहीं।

राजभाषा और जनभाषा का व्यवधान मिटने से एक बहुत बड़ी स्फूर्ति भाषा और उसके इस्तेमाल करने वालों के बीच में फूटती है और यह स्फूर्ति भाषा के अन्य क्षेत्रों पर भी असर डालती है। इस समय हिन्दी में आधुनिक साहित्य में उन शब्दों को नये अर्थ देने की छटपटाहट है जो पास हिन्दी में जड़ हो गये हैं। परन्तु हम उन रचनात्मक सम्भावनाओं को जान ही नहीं सके हैं जो कि सामान्यजन और सत्ता की भाषा के बीच व्यवधान होने से उत्पन्न हो सकती हैं। इसीलिए हम नहीं जान पाते कि हम सब लोग वास्तव में कुंठित भावनाओं के लिए संसार में आसमानी सितारे तोड़ लाने के लिए छटपटा रहे हैं।

भाषा के सम्बन्ध में कोई भी परिवर्तनकारी दृष्टि तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम यह न समझ लें कि यह राष्ट्रीय एकता का मूल आधार नहीं है बल्कि मनुष्य की भौगोलिक, आर्थिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं का एक स्थान पर संपुंजित होना ही राष्ट्र का आधार है। समय-समय पर ऐसे संपुंजनों से जो परम्पराएँ बनी हैं और जो हमारी संस्कृति में शामिल हो चुकी हैं वे सब किसी भौगोलिक और आर्थिक समन्वय की उपलब्धियाँ हैं। भारतीय भाषाओं के वैविध्य में आन्तरिक एकता-सूत्रों को पकड़ने के लिए सब भाषाओं के एक साथ और एक समान व्यवहार होना चाहिए, किन्तु सबसे पहले बिना शर्त अंग्रेज़ी सत्ता से हटनी चाहिए। मैं को अंग्रेज़ी कभी एक नहीं होने देगी और यह भी कह दूँ कि यदि अंग्रेज़ी की जगह ठीक उसी तरह से इस्तेमाल के लिए कोई भारतीय भाषा रखी गयी तो वह भी कभी देश को एक नहीं होने देगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर

गजानन माधव मुक्तिबोध

ये सब—हम हैं, यह ज़मीन है
      यह जगह जहाँ
      सब बँधे खड़े
जिनके मुँह से
प्रज्ज्वलित गैस-सी साँस आग
वे बड़े करिश्मे वाले
गहरे स्याह तिलिस्मी तेज़ बैल
तगड़े-तगड़े
अपने-अपने खूँटों से सारे बँधे खड़े ।
यह खूँटा—स्वर्ण-धातु का है
स्वार्थैक ज्योति का है
आत्मैक प्रीति का है !!

जो दिव्य चिरन्तन अनन्त अब तक कहलाता
वह युगानुयुग से तना हुआ
कोमल उदार आकाश
मनोहर व्यापक स्वप्न
अरे काग़ज़-छत सा
वह अकस्मात् भभका
जल उठा किसी दुर्घटना से
वह दुर्घटना क्या है, क्या है ।
आज के उठाईगिरे ज़माने में दिन-भर
क्यों जी मितलाता रहता है ।
वह भभक अचानक है
आदमी बदल जाने की यह प्रक्रिया भयानक हैं ।

(अब स्वर्गारोहण करता रहता यह भूमिनाश का
   धुआँ)

हमने सब चीरफाड़ देखा
सब ताक-झाँक कर देखभाल रक्खा
सबको नंगा उघाड़कर, हम भी उघड़ गये
सबको उधेड़कर, खुद उधड़े ।
अनुभूत सत्य के प्रेतों से भर गया हाय ब्रह्माण्ड कुआँ
क्या किया
हाय रे ! हमने यह क्या किया ?
जल गया नील आवरण
श्याम है गगन ।
काला-काला फैलाव दूरियों का सिर पर
लहराता स्याह सिफ़र
                  इस हाथ और उस हाथ ।
गम्भीर !!
हमारा चेहरा स्याह गोल धब्बा
जो चला हमेशा साथ, हमेशा साथ
हम किसी भयंकर उपग्रह के
                  टेकड़ी-शीश पर खड़े-खड़े
बिगड़े चिल्लाये एक-दूसरे पर
अपनों से खूनाखून लड़े ।
यह सही है कि वह गगन दहन
था एक चरण युग का
वह युग जिसमें कि प्रजापतियों का
दृप्त व्यभिचरण था ।
यद्यपि काले शून्याकाशी फैलावों में
मानव-जग का था नाम नहीं
फिर भी फिर भी,
दूर ही सही,
सुन्दर रहस्यमय चन्द्रलोक सामने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बराबर दिखता था
जिसका उड़ता प्रकाश-अंचल थामने
स्पष्टतर नये साहस प्रसंग की क्षमता भी चाहिए
दीखता शून्य में कोटि योजनों दूर सूर्य
पर, उससे निज सम्बन्ध बनाने की इच्छा
को धमकाता रहता विचित्र-सा भय
विचित्र आशय—
"हमको अपना घूरा प्रिय है
निज के ऊँचे कचरे के ढेर शीश पर ही
जीना मर जाना श्रेयस्कर
घूरे का घर, घर का घूरा
अपना-अपना सबको प्रिय है
बस उसी हमारी कक्षा में निज रक्षा है"
काले सूने उस अंतरिक्ष बिस्तर
पर लेटा है बेफ़िक्र
अरे कोई विचित्र !!
वह कौन,
कौन वह
—हाँ, निःसंग विराट्
ले रहा भीषण खर्राटे
हम सन्नाकर सुन रहे भयानक सन्नाटा
यह वही शून्य का जोर
हमारी वर्तमानता का वह अद्भुत शोर
अनहद नाद
कि जिससे खीझे चिढ़े-चिढ़े
अपने भीतर ही धँसी नोक से हमीं गड़े
अन्दर है एक भयद अटकाव
कहाँ हम जायँ।

थर्राता रहता विराट् हिम का जाड़ा
तन कण-कण में
वह दुष्ट ब्रह्म कर रहा ज़बर्दस्ती वसूल
हमसे-तुमसे
यह रक्त-किराया, अस्थि-मांस-भाड़ा

धरती पर रहने का।
अब किससे टंटा करें
कहाँ हम जायँ
अपनों से ऐंठा करें
जिन्दगी…एक कबाड़ा है,
भूतों का बाड़ा है।

उलटा-पुलटा छिछला सतही जो ज़िन्दापन
पल-पल के क्षण-क्षण के अपव्यय का अन्धापन
जो एक असार्थक वृथा निरर्थक
निज केन्द्रित जीवन-यापन का गन्दापन
वह चढ़ा धड़कते दिल पर जड़
चमड़े की मोटी परतों-सा
मढ़ गया…
क्या किया, जब रन्दे और बसूले से
खुद को छीला
तो अपना खून पिया
इसलिए, अनाशा की गहरी शैम्पेन
विनाशक नशा
स्वयं के गहन बोध की देन
ज़हरीला दुःख बहा
अपना ही खून पिया।
पर, देख नहीं पाये शिखरों की आकृतियाँ
आत्मा की भूमि पहाड़ हुई जाती हो जब
मीठे-मीठे अंगारों की मनोज्ञ गतियाँ
तुम देख नहीं पाये उदार ज्वालाओं के सन्दर्भ
निज अंश-सत्य की खण्ड प्रतीत सहारे से
पहुँचे उजाड़ सुनसान उदार कगारों पार
अपना सब-कुछ हारकर
तुम देख नहीं पाये—जीवन की भव्य चमत्कृतियाँ

उलटा-पुलटा छिछला सतही जो ज़िन्दापन
उसका मैं कर्ता कारक कारण या उपकरण
वह परम्परा रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थिति घेरे ही सा मुझे मिला
उस एक भयानक तक्षक के सर्पिल गुम्फन
में फँसी बँधी भी चाय पी रही
शकुन्तला-ऊर्मिला।

सच, जन्म-कक्ष में शिशु की मेरी आँखों को
दिख गया खुली खिड़की में एक विरूपाकृति जानवर
उसने मुझको कमरे में से ही उठा लिया
ले गया घने पेड़ पर भयानक जंगल में
झुरमुट में जाकर छिपा दिया…
मानव-जग ही से चुरा लिया।
मेरा धाता–पिता–और रक्षक वह वानर है।
वह मर्कट दिव्य-सृष्टि-कर्ता
विघटन में रचना में उसकी विचित्र आकृति
मुँह चिढ़ा रही।
वह कवि भी है,
ब्रह्माण्ड-रेडियो स्टेशन के बरामदे में
उसका फोटो द्युति-छवि भी है,
पर कविताएँ गड़बड़ा रहीं,
प्रतिपल स्वतन्त्र व्यक्तित्व
स्वनिर्भर लीलाशील पूर्ण सत्ता
बड़बड़ा रही।
अनगिनत साथियों ने मेरे
देखे ही नहीं आत्म-तल में
नीलाभ झील-जल में
अपने चेहरे
कि जिसमें कभी एक मुनि को
दिख पड़ा अचानक मर्कट-मुख
अपना निज का
संध्या के श्याम क्षुब्ध पल में गहरे-गहरे
ज़िन्दगी यहाँ—
अनसधा अनफला थका इरादा है
अच्छे-अच्छे प्यारे-प्यारे
दिल भरे खयालों का बारीक बुरादा है।
ओ घोर निराशा के अघोरपन्थी
तुम स्वयं स्वकल्पित एक किंवदन्ती
या लावारिस लाशों की काली मोटर-ट्रक
जो स्वयं घोर-दृश्यों का सार-दृश्य बनती।
जो हारा हुआ ज़िन्दगी से उसका दिमाग़
हो उठे अरे जब-कभी खराब
एक खयाली स्याह झाग
उसका हो उठे जब कभी खौफनाक
तुम वही, तुम वही हो
नित खुली-खुली पर कुछ न देखती आँख
गहरी निषेधवादी ज़हरीली तुम सलाख
रात में उठे खंजर की तेज़ खुदकुशी हो
जिस व्यक्ति-मूल सभ्यता क्षेत्र में रहते हो
उसकी आसन्न-मृत्यु
का एक इरादा तुम
कारावासी तुम स्वयं जगत् की कारा तुम

झूलने लगे जब व्यक्ति-व्यक्ति के आसपास
गहरे-गहरे लम्बे-लम्बे शून्यावकाश
तब शून्य तरंगों अदृश्य लहरों का
अध्ययन वेदनाकारक है
मन की काली सूनी अकादमी में
कोई दिलचस्पी नहीं आदमी में।
इसलिये, मनोबल-ह्रास, भयानक चारित्रिक विघटन।
से प्रेरित घोर कल्पना
विद्रूप कल्पनाओं से प्रेरित व्याख्याएँ
सच तो यह है
इन्द्रियानुरागी जीवन के पथ पर चल पड़े सभी
विक्षुब्ध अहं, विक्षुब्ध उदर,
विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध के कुछ पत्र

श्री गजानन मुक्तिबोध के सम्बन्ध में पिछले वर्षों में बहुत-कुछ लिखा गया है। स्वयं उनकी भी बहुत-सी रचनाएँ प्रकाश में आई हैं और इस सबसे उनके व्यक्तित्व और मानसिक संसार को समझने में सहायता मिली है। पर यह बात शायद बहुत-से लोग न जानते हों कि मुक्तिबोधजी के पत्रों में उनके प्रखर किन्तु हार्दिक, निश्छल किन्तु तेजस्वी व्यक्तित्व का एक अलग ही अत्यन्त अन्तरंग और लुभावना परिचय मिलता है। यह बात भी दिलचस्प है कि उनके पत्र भी उनकी कविताओं-कहानियों की भाँति ही प्रायः लम्बे और एक गहरी बेचैनी से भरे होते थे। १९४१-४२ से लगाकर १९६४ तक वे निरन्तर ही मुझे पत्र लिखते रहे, जिनमें से अधिकांश, मेरे जगह-जगह भटकते रहने के बावजूद, सुरक्षित रह गए हैं। कई मित्रों को यह बात पता थी और उनका बड़ा आग्रह रहा है कि ये पत्र प्रकाशित किए जाएँ। किन्तु ये सभी पत्र अत्यन्त भावाकुल और प्रखर विश्लेषणयुक्त होने पर भी बहुत ही व्यक्तिगत हैं, और मैं अभी तक आश्वस्त नहीं हो पाता कि उनका प्रकाशन अभी उचित होगा या नहीं। मुझे यह भी लगता है कि उन सबको एक साथ छापने पर ही उनकी मानसिक पृष्ठभूमि और उनमें अभिव्यक्त निजी तथा वैचारिक प्रतिक्रियाएँ किसी हद तक सही परिप्रेक्ष्य और सन्दर्भ पा सकेंगी, अन्यथा उनके ठीक-ठीक न समझे जाने अथवा भ्रम पैदा करने का भी भय है। एक कठिनाई और भी है कि अधिकांश पत्र अँग्रेज़ी में हैं, और यह प्रश्न भी उलझन-भरा है कि उन्हें यथावत् अँग्रेज़ी में प्रकाशित किया जाए या अनुवाद करके। अनुवाद का काम बहुत आसान होगा यह भी नहीं लगता।

इन सब दुविधाओं के बावजूद बन्धुवर नामवरसिंहजी ने इस बार मेरे लिए कोई रास्ता न छोड़ा। उन्होंने बहुत आग्रहपूर्वक मुझे आश्वस्त किया है कि व्यक्तिगत सन्दर्भों के बावजूद ये पत्र प्रकाशनीय हैं, और मुक्तिबोधजी को, उनके रचनाकार व्यक्तित्व को, समझने में निश्चय ही बहुत सहायक होंगे। इसलिए सम्प्रति कुछेक हिन्दी में लिखे पत्र मुक्तिबोधजी की जन्मतिथि के अवसर पर 'आलोचना' के इस विशेष स्मृति-अंक में प्रकाशित किए जा रहे हैं।

ये पत्र अविकल छापे जा रहे हैं। केवल एक पत्र को छोड़कर जिसमें अँग्रेज़ी का अंश जो बहुत लम्बा था, छोड़ दिया गया है। अन्य पत्रों में आए अँग्रेज़ी के शब्द नागरी

मुक्तिबोध के इन पत्रों का पुस्तकाकार प्रकाशन आगामी वर्ष में राजकमल प्रकाशन द्वारा हो रहा है। इस पुस्तक में लगभग ७५ पत्रों के अतिरिक्त श्री नेमिचन्द्र जैन की एक लम्बी भूमिका भी होगी। —सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिपि में रखे गए हैं। दो-एक पत्रों पर तारीख नहीं है, उनके वर्ष का अनुमानतः संकेत दे दिया गया है। पर उनमें जिन व्यक्तिगत सम्बन्धों की झलक मिलती है वह एक खास सामाजिक-राजनीतिक दौर के हैं। यह असम्भव नहीं कि वे सम्बन्ध आज यथेष्ट तर्कसंगत और स्पष्ट जान पड़ें—न उनकी बुनियादी प्रतिज्ञाएँ ही और न उनका स्वरूप ही। इन पत्रों के पुस्तकाकार प्रकाशन के समय शायद उनकी पृष्ठभूमि को किसी हद तक उजागर किया जा सके।—**नेमिचन्द्र जैन**

: १ :

सरस्वती प्रेस,
बनारस कैंट,
२६-१०-४५

प्रिय नेमि बाबू,

आपका पत्र नहीं। समय का अभाव नित्य से अधिक ही होगा। पर, याद आपकी आती रहती है। आजकल धूप बहुत अच्छी खिलती है और मन तैर-तैर उठता है, और आपकी याद भी इसी सुबह के रास्ते से उतर आया करती है।

गो मैं यह सोचता हूँ कि यह सब ग़लत है। दिन के बँधे हुए कार्य को अधिक बाँध-कर करने के पक्ष में रहते हुए भी कामचोरी से दिली मुहब्बत टूट नहीं पाती। मैं मानता हूँ कि कर्तव्य ही सब-कुछ है, पर उसके न करने का उत्तरदायित्व मानो मैं अपने ऊपर नहीं लेना चाहता। क्या ज़रूरी है कि कर्त्तव्य किया ही जाए, और उस समय आनेवाली आपकी याद को बाहर ही खड़ा रख मन के दरवाज़े को बन्द कर दिया जाए। कर्त्तव्य के फ़लसफ़े की बात ज़्यादा समझ में नहीं आती।

इसी कर्त्तव्य ने तो लोगों को पंगु कर दिया है, उनके हृदय के पंख तोड़कर उसे अधिक सामान्य बना दिया है। सरदी की पारदर्शिनी हल्की-हल्की चोटें करने वाली यह धूप और उसका उष्ण स्पर्श मानो मुझे जगा देता है। मन दैनिक नींद से जाग उठता है। वृक्षों के पत्र संभार पर फैलकर उनके गाढ़ हरियाले अन्तराल में छाया प्रकाश उत्पन्न करने वाली यह धूप मन में सपने जगा देती है। कोई विलास-स्वप्न नहीं वरन् विजय-स्वप्न। जिन्हें देख लें पुराने मकान की जीर्ण मुण्डेर पर बैठकर दूसरे के आँगन में ताकने वाले लोग —कर्त्तव्य के पुराने महल्ले के बाशिन्दे।

सचमुच अब सारे कर्त्तव्य से आज़ादी चाहता हूँ। चाहता हूँ मात्र कार्य, अपने अनुकूल। यह नहीं कि पेटीबुर्जुआ कर्त्तव्य चलते ही चले जाएँ और मैं उसमें फँसता हुआ ही चला जाऊँ।

अब मैं ज़िन्दगी के प्रति उदास नहीं हूँ। पहले उसकी शिकायत थी। अब तो उससे तकाज़ा है, माँग है।

रोज़ लिखने की सोचता हूँ। लिखता भी हूँ, पर बहुत थोड़ा। आप विश्वास नहीं करेंगे, एक कविता को दुरुस्त करने के लिए छः घण्टे लगते हैं। मैंने कई सुधार भी दी हैं। कई तो सुधारने की प्रक्रिया में परिवर्तित हो गई हैं। पता नहीं कब तक मैं कविताओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यों सुधारता बैठूँगा।

आपसे बड़ी-बड़ी शिकायतें हैं। पर अभी इस समय नहीं। बाहर बहुत नरम धूप खिली है और इस समय सोचने का कोई उत्साह नहीं। यदि आप यहाँ होते तो आपको पकड़कर मैं रेस्तराँ में ले जाता और काम की और अपनी ऐसी-तैसी करता।

यह बतलाइए कि आपने इधर कुछ लिखा? लेकिन फ़ुरसत तो आपको भी नहीं मिलती होगी, जो भी आपका समय खूब मज़े में कट जाता होगा।

वाकई अब बनारस छोड़ने की इच्छा हो रही है। दो दिन के लिए ही सही। कुछ ज़रूरी मालूम होता है। मैंने भी शादी क्या कर ली, अपने को धोखा दे दिया, आज़ादी का मुहताज हो गया। और अब शक्ति होते हुए भी शक्ति-हीन और सामर्थ्य-हीन मालूम होता हूँ। खुद को ही बेवकूफ़ लगने लगता हूँ। घर-गिरस्ती भी एक बला है। सचमुच उज्जैन में मैं काफ़ी आज़ाद था (जो भी यहाँ सुखी अधिक हूँ) ईश्वर करे कोई लेखक अब शादी न करे, और करे तो घर-गिरस्ती के चक्कर से खुदा उसे मुआफ़ रखे। घर-गिरस्ती भी एक बला है, जिसके दो सींग हैं, जो गधे के होते हैं। बाल-बच्चेदार आदमी सोलह आना गधा होता है, इसमें शक नहीं।

दुनिया के करोड़ों गधों में से मैं भी एक हो गया हूँ, लेकिन अभी नया हूँ। दुलत्तियाँ झाड़ देता हूँ और अभी पूरे तौर से गधे का फ़लसफ़ा—उसका बौना आदर्शवाद—आत्मसात् नहीं कर सका हूँ। पर इससे तकलीफ तो होती ही है।

डॉक्टर साहब के क्या हाल हैं? उनसे भेंट होती है? मैं उन्हें अभी तक लिख नहीं सका। वे नाराज़ तो होंगे ही।

मेरे कविता-संग्रह की भूमिका के बारे में क्या सोचा? आप क्यों नहीं लिख देते? अब तक बड़े-बड़े लोग ही लिखा करते हैं, अब यह बात भी सही। उत्तर जल्दी दीजिए। पुस्तक के नाम-वाम के चक्कर में नहीं पड़ता। कुछ तो भी रख दूँगा। पर छायावादी नाम नहीं रखूँगा।

मेहनत करूँ तो लेखन से पैसे मिल सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। पर साहित्यिक श्रम जितना अधिक आवश्यक है उतना ही अभाव है समय का। दुनिया के सारे कार्यों से निवृत्त हो, थकी हुई पीठ और बोझिल मस्तिष्क ले, टिमटिमाते कन्दील के धुँधले प्रकाश में कलम चलने तो लगती है पर खुद को कोसती हुई। इस मेहनत को देखते हुए, मुझे हर कविता के पाँच रुपए प्रकाशक से चार्ज करना चाहिए।

पर अब साहित्यिक श्रम मुझे करने ही पड़ेंगे। हिन्दी सुधारने की कोशिश शुरू हो गई है। छोटी-सी फ्रेज़, कोई चुस्त ज़बान-बन्दी झट नोट कर लिया करता हूँ, बिल्कुल शा के लेडी ऑफ दि डार्क के शेक्सपियर की भाँति।

इसके पहले, मैं हिन्दी के साहित्यिक प्रयासों के सिवाय, कभी भी लिखा नहीं करता था। मेरे अत्यन्त आत्मीय विचार मराठी या अँग्रेज़ी में निकलते थे; जिसका तर्जुमा यदि अवसर हो तो हिन्दी में हो जाता था। इसीलिए जान-बूझकर यह पत्र हिन्दी में लिख रहा हूँ। मेरा खयाल है कि मेरी भाषा सुन्दर न भी हो सके, वह सशक्त होकर रहेगी, क्योंकि उसके पीछे अन्दर का ज़ोर रहेगा। बतलाइए, क्या मेरा सोचना गलत है? इसके बारे में आप ज़रूर लिखिए। मुझे साज-सँवार की प्रतिष्ठित बोली पसन्द नहीं। चाहता हूँ कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके विषय में आप मत-प्रदान करें। क्या मैं अपनी हिन्दी सुधार सकता हूँ? उसे सक्षम, सप्राण और अर्थ-दीप्त कर सकता हूँ?

पत्र आप लम्बा लिखें; देखिए, मैं आपके बारे में कुछ भी नहीं जान रहा हूँ, और अभी साल काटना है जिसके बाद आप मुझे मिलेंगे। यह भी लिखें कि पत्र की भाषा कैसी है। और···और···सब लिखें। मेरे लिए किसी भी तरह से दो घण्टे निकाल लें, शीघ्र ही।

शान्ता स्कूल जाया करती है। शायद मैं उसे अब अधिक प्यार करता हूँ। कुछ आप-ही-आप अन्दर से तब्दीली हो गई है। मुझमें और उसमें भी। परन्तु मेरी आँखों के सामने घर-गिरस्ती को देखकर काले सपने आया करते हैं। मैं वज़न सम्हाल नहीं पाता; और हर महीने की बीस तारीख के बाद दिवालियापन सताता रहता है क्रुद्ध प्रेत-सा। और अब सरदी आ गई है।

बपन साहब ने स्कूल छोड़ दिया है, और वे वकालत करने लगे हैं। दादा (हमारे पिता) के पत्र नित्य आते रहते हैं। बड़े ही विह्वल पत्र। सचमुच वात्सल्य भी आपत्ति है। ईश्वर करे, मुझे न सताए यह रोग। बेरुखी सबसे अच्छी। श्रीपतरायजी जयपुर गये हुए हैं; उन्तीस तक वापस आ जाएँगे। अज्ञेयजी को एक पत्र लिखा था अर्थहीन (नान्सेन्सीकल) पत्र। जिसका उत्तर था कि मैं कलकत्ते पर जाने वाली ट्रेन पर उन्हें मिलूँ। मिला था। देख-भर लिया। बातचीत होती ही क्या!

श्रीमती रेखाबाई की क्या स्थिति है? और आगे का कार्यक्रम क्या? क्या ही विवेक बाध्य (इर्रेशमल) तृषा है कि जिन-जिन लोगों से आपको लगाव है उन्हें मैं भी जानूँ-पहचानूँ और निकट आऊँ! यही कारण है कि भारतभूषणजी के प्रति नित्य से अधिक उत्सुक रहता हूँ।

आजकल कुछ उर्दू कविताएँ मन में ठहर गई हैं उसके कुछ शेर···

फकीराना आये सदा कर चले
मियाँ, खुश रहो हम दुआ कर चले
क्या चीज़ है आह जिसके लिए
हरयक चीज़ से दिल उठाकर चले
कोई नाउम्मेदाना करके निगाह
सो तुम हमसे मुँह भी छिपाकर चले
दिखाई दिये यूँ कि बेखुद किया
हमें आपसे भी जुदा कर चले
जबीं सिजदे करते ही करते गई
हके बन्दगी हम अदा कर चले
परस्तिश की याँ तक कि ऐ बुत तुझे
नज़र में सभी की खुदा कर चले
गई उम्र दर बन्द फिक्रे गज़ल
सो इस फ़न को ऐसा बड़ा कर चले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहे क्यों जो पूछो कोई हमसे 'मीर'
जहाँ में तुम आये थे क्या कर चले ।।

हके बन्दगी अदा करते हुए,
आपका सस्नेह
ग० मा० मु०

: २ :

हमारा दफ्तर
३०-१०-४५

प्रिय नेमि बाबू,

सहसा आपकी याद आ गयी है, मीठी बयार के औचक जगाने वाले झोंके-सी। जैसे जाग उठा हूँ अपनी समस्त चेतना लेकर। समस्त चेतना अपने अन्तर्विश्व की। मन के वे ज्ञान के और प्रेम के झिलमिलाते स्वप्न, हृदय की अनुभूतियों के विकास के स्रोत क्षण-भर के लिए जाग उठे हैं। अभी क्षण-भर के बाद ही वे सो जायेंगे और धुँधली ज़िन्दगी का मटमैला स्पर्श उन्हें सुला देगा कि सहसा आपका ख़याल आ गया।

याद है, आपकी बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी है। आपने एक व्यक्ति के साथ नाज़ुक खेल खेला है। उसे कम्यूनिस्ट बनाया, दुर्धर्ष घृणा के उत्ताप से पीड़ित। और उसकी स्त्री के प्रति उसका रुख पलटा। अधिक सहनशील भावनामय उसे बनाया। यह काम बहुत बड़ा ही नहीं, नाज़ुक भी है।

और इन क्षणों में, जीवन के विचित्र तर्क-प्रवाह के द्वारा, आज, जबकि क्षण-भर के लिए ही सही, मैं जागृत हो उठा हूँ तो सहसा यह वाक्य निकल आता है—देखो, विक्षुब्ध आत्मा लेकर एक आदमी ने जन्म लिया—अपने युग की उच्चतम आकांक्षाओं और अपने ज़माने की महानतम दुर्बलताओं से विक्षुब्ध। हाँ, मैं अपने को यही समझता हूँ। इस विशाल व्यक्तिवाद की विशालतम ट्रैजेडी को शब्द-बद्ध कर सकूँ तो मेरा जीवन-कार्य समाप्त हो जायेगा। क्योंकि न सिर्फ मैं अपनी राह को खोजता हूँ बल्कि वह भी मुझे खोजती है, और इसी में सारी उलझन की बदमाशी है।

दैनिक जीवन के पूर्ण रूप से आबद्ध कार्यक्रम में आदर्शवाद की बू तक नहीं रहती। कहीं मन का विस्तार नहीं हो पाता। और सहसा बिजली कौंधने की भाँति याद आ गया कि विवाहित जीवन का आदर्शवाद मनुष्य की समस्त चेतना को सुलाने का काम करता है। इस आदर्शवाद के विरुद्ध मैं तर्क के द्वारा बगावत नहीं कर पाता, परन्तु मैं सोचता हूँ कि मन के सारे अधूरेपन, व्यक्तित्व के सारे बौनेपन की जड़ यहीं है। ज़िन्दगी के एंजिन के लिए लोहे की पटरी यानी विवाहित जीवन। दिन-भर आर्थिक प्रयास का फ्रस्ट्रेशन और रात में बे-आराम, सपनों से टूटती-जुड़ती ज़िन्दगी। अब बतलाइए, मनुष्य का वास्तविक सामर्थ्य और उसकी शक्ति—जिसकी कमी मैं अपने अन्दर कभी नहीं अनुभव करता हूँ—मात्र सो जाती है। शरीर और मन दोनों को चैन कहाँ?

फिर अध्ययन और लेखन की वह चिन्तनशील मादकता, और राजनीति का वह उत्साह जैसे काफ़ूर हो जाता है। मन में एक द्वन्द्व होने लगता है—पारिवारिक लायल्टी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आन्तरिक विकास-बुद्धि में। इन दोनों में मानो सामंजस्य होने वाला ही नहीं। और मैं अपने से, ज़िन्दगी से और इस विश्व से नाराज़ हो उठता हूँ।

किन्तु आज सहसा मैं अपनी सही जगह आ गया था, क्षण-भर के लिए ही सही, मैं अपने से चेतन हो उठा। मेरी ज्ञान-तृषा, सौन्दर्य-शक्ति, मुक्त हृदयदान तथा स्वानुकूल कर्मण्य शक्ति का मानो मुझे, क्षण-भर के लिए ही सही, बोध हो गया जिसकी आग अभी-अभी राख हो जाएगी। जिस ज़िन्दगी को जीने का मुझे आदेश मिला है, वह कुछ दूसरी ही थी। यह नहीं। परन्तु फिर भी, यही चाहता हूँ कि मैं इस दलदल को भी पार कर जाऊँ। सचमुच मुझे ज़िन्दगी की तब्दीली की वहुत बड़ी ज़रूरत है।

फिर भी नैराश्य के गीत लिखना मैंने बन्द-सा कर दिया है। और जो भी चमकीले गीत मैंने इधर लिखे हैं उनमें मात्र क्षोभ और उत्ताप की अग्नि-लताएँ हैं। इन नये गीतों से भी मैं नाराज़ हूँ, और आधुनिकतावाद के गीतों में भरी हुई सर्दी की ठिठुरन से तो मैं अब ऊब उठा हूँ।

परन्तु आज की वास्तविक परिस्थिति के आदर्शवाद को सही समझते हुए भी बार-बार लगता है कि जब तक मैं अपने को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं कर लेता, और अपना तन-मन-धन एकाग्र नहीं कर लेता तब तक ज़िन्दगी गधे की चाल में चलती रहेगी। रहेगी न?

आपका पत्र न आना एक विपत्ति ही है। फ़ुरसत का अभाव तो हम-आपको है ही। परन्तु कभी-कभी जब मन बहक जाय, मुझे याद कर लिया करना। जैसा कि मैं आपको कर लिया करता हूँ।

देखिए, मैं न मालूम क्या-क्या कह गया और मुझे अब डर लगने लगता है कि कहीं आपको मैं सता न बैठूं। पता नहीं क्यों, पर आपसे संकोच ज़रूर होता है जैसे सारी बातें कह जाऊँ तो आपके मन पर प्रतिकूल परिणाम हो। कभी-कभी अविवेकपूर्ण तर्क उठने लगते हैं आपके बारे में। लगता है कि जैसे आप खुलते ही बन्द हो जाते हैं। जैसे कि हम एक-दूसरे से झेंपते हैं; खिंचे चले आते हैं, पर दूर भागने की तैयारी करके, अवचेतन रूप से निस्सन्देह। पता नहीं क्या बात है। पर अन्दर की ऊष्ण मदिर धारा एक दफा फिर खुल ज़रूर जाती है और मन के सारे पाप गलकर घुल जाते हैं। इससे अधिक और क्या कोई चाह सकता है।

श्रीपतरायजी की बातचीत से पता चला—मैंने सूंघा—कि आप मेरे बारे में उत्सुक, यदि कहूँ चिन्तित तो ठीक होगा, रहते हैं। पर क्या याद है आपको कि आपने कोई विस्तृत चिट्ठी नहीं भेजी है।

साँझ हो रही है। पुराने मकानों की वीरान छतों और उड़े रंगों की दीवारों से ढलती हुई। घर की मीठी सुगन्ध यहाँ तक आ-सी रही है। और चाहता हूँ कि पैर चलने लगें।

मेरा पत्र अब सम्पूर्ण हुआ चाहता है आधी बात ओठों में दबाकर। और पूरी बात 'फिर कभी' के लिए रखें। इसके पहले कि प्रणाम करूँ।

'याद आती है तुम्हारी तैरती-सी,
राह से जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी कोई आ नहीं सकता
न माता, पुत्र या पत्नी, पिता'

मेरी बेसब्र बेकाबू ज़िन्दगी जब किसी की ज़रूरतमन्द हो उठती है तो पहले वह आपको ज़रूर याद कर लिया करती है, ध्यान न देते हुए, मात्र अवचेतन रूप से।

कहते हैं जो कहता है वह करता नहीं है, यानी ये बातें कहने की नहीं। पर मन है कि कर बैठता है, ज़िन्दगी है कि जी बैठती है। श्री रेखा बाई को प्रणाम।

बस अभी इतना ही

सस्नेह आपका
ग० मा० मु०

: ३ :

वही स्थान और
वही टेबिल
७-११-४५

प्रिय नेमि बाबू,

न, नेमि बाबू, इस प्रकार से तो काम नहीं चलने का। आख़िर फ्रस्ट्रेशन है तो रहे, वह इतनी बुरी चीज़ नहीं, जितना उसका ग्लूम। न, इसको दूर करना ही पड़ेगा। यह नहीं कहता कि आप हमेशा इसी मूड में रहते होंगे। पर ज़रा सोचिये तो सही कि ज़िन्दा रहने का हक तो हमें है ही। और यदि लोग हमारी वैलिडिटी नहीं मानते तो न मानें। अभी हमने किया ही क्या है। हम अभी पुस्तक के भाव हैं—अलिखित पुस्तक हैं। अभी से उस पर आलोचना कैसी? अभी से यदि हम निश्चयात्मक आलोचनाएँ भोगने लगें, या लोग करने लगें तो हमारे सबसे बड़े मैग्नम ओपस की भ्रूण-हत्या ही हो जाएगी। न, बाबा, ऐसी गलती न करो।

हमारी सबसे बड़ी विपत्ति यह नहीं कि हममें फ्रस्ट्रेशन है, वरन् यह कि उसकी जैसी परिस्थिति हमें चारों ओर से घेरे है। यदि उचित परिस्थिति रहे, बने, या हम बनायें तो फ्रस्ट्रेशन के काले नाग का फन हम मरोड़कर तोड़ देंगे।

बात यों है कि हमने अभी अपनी निजी ज़िन्दगी बनाना शुरू नहीं किया है। हम अभी तक वायवी आदर्शवाद से ही प्रेरित हैं, यानी हमारे थाट्स विचार नहीं, वरन् मानसिक प्रतिक्रियाएँ हैं। और हम एक अर्थ में ज़रूर बह जाते हैं बाहरी परिस्थिति के प्रवाह में; परिणाम—हमारा अपना काम यों ही अधूरा रह जाता है। कम-से-कम मेरे अपने बारे में तो यह सोलह आना सही है; और इसके प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न होती है घोर ग्लानिपूर्ण अन्तर्मुखता जिसे आप फ्रस्ट्रेशन कहते हैं।

इसके लिए आवश्यक है हम अपनी ज़िन्दगी को ठीक-ठाक जमाएँ एक स्थान पर, और फिर अपने मन की पूरी एकाग्रता से ऐसा कार्य हाथ में लें और पूरा कर डालें। आख़िर फ्रस्ट्रेशन वही व्यक्ति अनुभव करता है जिसका कोई निश्चित जीवन-कार्य (मिशन) है, और उसके आरम्भ करने में आन्तरिक और बाह्य अनेक बाधाएँ हों। गलती हमने यह की है कि पूरे बनने की (के) पहले ही प्रकाश में आ गये हैं। यानी, हमारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति से लोग अपरिचित हैं और गुण-दोष से परिचित। अब उन्हें हमारी शक्ति का भी परिचय हो जाना चाहिए। अपनी अन्तःशक्ति का यों अपमान न कीजिए नेमि बाबू।

क्या यह सही नहीं है कि शक्ति की एकाग्रता और वैज्ञानिक ईमानदारी हममें सब-कुछ करा सकती है? इसका अभाव हममें निश्चित रूप से नहीं है, जो भी बहुत बार हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। हमारी अनेक आत्मवंचनाओं में से वह भी एक है। हमारी गलती यही है—महान् अपराध भी यही है कि हम अपने निजी कार्य को स्थगित कर देते हैं, पोस्टपोन कर देते हैं।

बस, अब जाने दो। आप मुझसे अधिक सशक्त हैं और बातों को जानते भी हैं। परन्तु बम्बई की ज़िन्दगी आपको ठीक नहीं पड़ती, यह सच है।

अब वास्तविक परिस्थितियाँ बतलाइये, यानी वह बतलाइए जो घेरे हैं, जो काबू में नहीं आ रहा है। और कि भविष्य के बारे में आपने क्या सोचा है? रेखा बाई के फ्यूचर प्रोग्राम्स क्या हैं और उनके साथ आपके क्या होंगे?

पिता बनने का मेरा आयोजन बस समझ लीजिए कि एक आपत्ति है। आर अन्तिम आश्रय तो अपना धैर्य है ही। यदि ज़िन्दगी में ठिठुरते ही रहना है तो इसके सिवा कि रोओ और कोई चारा तो है ही नहीं। इसलिए, अब तो बिल्कुल पेटीबुर्जुआ दृष्टिकोण यानी दो हँस के मीठी बातें कर लो, परस्पर का सौहार्द्र और स्नेह जता लो और अधिक-से-अधिक दो कप चाय पी लो, इससे अधिकऔर कुछ तो है ही नहीं। न हो सकता है। इधर रमेश काफी बीमार था और मैं भी। लेकिन उसे उज्जैन नहीं भेजना चाहता। जैसा है वैसा चलेगा।

जैसे आप बिलकुल अकेले पड़े हैं, वैसा मैं भी। निःसंगता अखरती है। आप अपने पत्र में भी, सचमुच बहुत दूरता से बोलते हैं। मालूम होता है मेरे पहले पत्र से आपको तकलीफ हुई, काफी। शायद, इसीलिए आप किसी ऐब्सट्रैक्शन का सहारा ले रहे हैं, या आपने बहुत भारी, सघन अवस्था में पत्र लिखा है।

कविताएँ सुधारते नाक में दम आ गई है। कैसी विपत्ति मोल ले ली! पर अब तो करना ही पड़ेगा। रास्ता ही वह है। अपनी नकेल को खुद हाथ में लेकर ही अब चलना पड़ेगा।

देखिए, फुर्सत तो आपको मिलती ही नहीं, सो तो मिलना ही मुश्किल है; पर पत्र की आवश्यकता कम नहीं होती, वरन् वह बढ़ती ही जाती है। आखिर एक ही तो भार हल्का करने का उपाय है। जानने-बूझने और पाने-पहचानने का एक ही तो मार्ग है। फिर उसकी इतनी अवज्ञा क्यों?

और आप कुछ नहीं लिख पाते, तो पत्र तो लिखिये। इस बहाने से ही मुझे पत्र भाया करेंगे। देखिए कितना स्वार्थी हो गया हूँ, जैसे बच्चा स्वार्थी हो।

बस अब आपके पत्रों की ही आवश्यकता है। साथ, दो पत्र और हैं, मेरी झक के नवजात पुत्र हैं। शेष बातें विस्तार के साथ लिखिए और नियमित रूप से अवश्य लिखें। श्री रेखा बाई को प्रणाम।

आपका सस्नेह
ग० मा० मु०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनश्च—अभी पत्र दूसरी बार पढ़ा और जीनियस वाली बात मन में अटक गई। हैं नहीं, और समझते हैं जीनियस। वास्तविकता यह है कि हम जीनियस हैं यानी वह शक्ति बीज-रूप में है, परन्तु हम उससे इन्कार करते हैं अपने प्रतिदिन के चलनेवाले जीवन में। यानी उसका एसर्शन नहीं करते, अर्थात् हम उसके विकास और प्रसार के आग्रही उचित मात्रा तक हो नहीं पाते। क्यों ? इसलिए कि उस शक्ति के विकास के लिए हम प्रयास नहीं करते दृढ़ निर्घृण। परिणाम, हम अपनी ज़मीन छोड़कर दूसरे की कुर्सी पर जा बैठते हैं। और फिर ? आस्था और विश्वास खो बैठते हैं। यह है एक दुष्ट वर्तुल विशस सर्किल। सांकृत्यायन को कोई बुर्जुआ क्यों नहीं कहता ? क्योंकि जिस ज़मीन पर वे खड़े हैं वहाँ कोई टकरा नहीं सकता। हममें भी त्याग की, सहनशीलता की, कार्य की, बुद्धि की और लेखनी की शक्ति है। क्यों नहीं हो सकती ? वह है ही।

: ४ :

नागपुर
२७-४-५५

नेमिजी,

रूह मँडराती रही, वहाँ जहाँ आप बैठते हैं। ऐसा ही होता है ?

इलाहाबाद में आपको अधिक समय तक रहना ज़रूरी हो गया; मन में कुशंका उठी, कहीं ऐसा न हो कि किसी उलझन या आफत में फँस गए हों। आजकल जो न हो जाए सो थोड़ा।

अभी भी जब कोई रिक्शा मेरी गली के मुहाने सहसा खड़ा होता-सा दीखता है, मन सोचता है—हो-न-हो, आप ही उस रिक्शे से उतर रहे हैं। आजकल साक्षात् मिलन का कार्य मानसिक विभ्रम ने अंगीकार कर लिया है।

आपने पिछले पत्र में अपना पता नहीं लिखा था। माचवेजी का पत्र जिसमें वह था, खो गया था। इसलिए आपको पत्र नहीं लिख सका। अब दिल्ली जाकर पता लेते आया।

तनाव और दुराव की दुनिया में मन दूर भागता है और पास वाले आदमी को दूर से पकड़ लाता है। मन का यह लम्बा सफर व्यर्थ नहीं जाता; लेकिन शक्ति तो क्षीण होती ही है। और यह क्षीणता क्या साधारण मनुष्य के मन में 'दर्द का कीड़ा' नहीं बन जाती।

ज़माना गलत है, ये कहने पर भी आदमी गलत नहीं होता। इसलिए गम गलत करने की कोई ज़रूरत नहीं। हमें यह भी गम है कि मुलाकात नहीं हो सकी। खैर, अब नहीं और कभी होगी। हम इसी तरह, मन को तसल्ली देते आए।

सुना है, आपने खूब कविताएँ लिखी हैं। हमको कब पढ़ने को मिलेंगी, खुदा जाने। जो कविताएँ, यहाँ-वहाँ देखने को मिलीं वे बहुत अच्छी लगीं—एक 'हंस' में और दूसरी 'कवि-भारती' में। यहाँ के लोगों को भी पसन्द आईं।

आपकी भाभी और रमेश आपको सस्नेह नमस्ते कहते हैं।

बेकारी में नौकरी की ज़रूरत होती है। क्या यह दिल्ली में या और किसी जगह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्भव है ? इस तीस के आगे बन्देशरीफ बेकार हैं । बड़ी इज़्ज़त बख्शी है यारों ने । किस कदर 'अवांछनीय' समझा गया !!

बाकी सब बुरी तरह कुशल है। कुशल के फल-फूल खूब सड़ाये गए हैं। उनके फर्मेन्टेशन से नयी ठर्रा शराब पैदा हो रही है। हम यही देसी माल लेते-देते हैं।

रेखाजी का क्या हाल है ? किस तरह क्या चला हुआ है ? अब तो यह है कि बैलगाड़ी में जुते हुए हैं। पति—एक बैल, दूसरा बैल—पत्नी। गाड़ी में बच्चे-बच्चियाँ, माँ-बाप। बुद्धि-विवेक, आवश्यकता, मोह, हृदय, किसी को भी गाड़ीवान बना दीजिए। गाड़ी चल रही है। कभी चढ़ान पर, कभी उतार पर, कभी सपाट मैदानों पर। खेद इसी का है कि कोई नहीं कहता—"वारे पट्ठे होशियार, बढ़ते जाओ होशियार !"

अपने बारे में लिखिये। कुछ इतिहास का भी महत्त्व होता है। भावनाओं का भूगोल तो याद कर चुके। इसलिए, ज़रूरी है कि अपने सम्बन्ध में कुछ वार्ता कहें।

जहाँ तक मेरी बात, सब-कुछ अनिश्चित है। पता नहीं कहाँ, क्या, कैसे होगा !! अगर सुविधा से प्राप्त कर सकें तो चित्रकार रामकुमारजी और वात्स्यायनजी का पता लिख भेजें।

बच्चों को प्यार, रेखाजी को सादर नमस्ते।

सस्नेह

ग० मा० मुक्तिबोध

: ५ :

१९५६ में (?)

प्रिय नेमि बाबू,

पत्रोत्तर तो मैंने बहुत-बहुत पहले लिख दिया था, लेकिन भेजने में देर हो गई। ग्लानि और शिथिलता का एक युग-सा बीत रहा है। पिछले लगभग डेढ़-दो महीनों में, विश्वास कीजिए, एक दर्जन से ज्यादा पत्र अनुत्तरित रहे हैं। पिताजी को तो मैंने यह कहकर क्षमा माँग ली कि दिन-रात चाहते हुए भी उनके लिए एक सतर नहीं लिख सका। हाल ही में उन्हें पत्र भेजा है। विश्वास कीजिए नेमि बाबू, इन्हीं दिनों कई बार आपसे स्वप्न में भेंट हुई !! यह कहना भी शायद मुझे शोभा नहीं देता !! इस आधुनिक बौद्धिक युग में ड्राइंगरूम का महत्त्व बढ़ा है, घर की छोटी-सी बैठक का नहीं जहाँ घनिष्ठ बातें होती हैं। पत्र लिखना मुझे बहुत अच्छा लगता है और पत्रोत्तर देने में, वस्तुतः मैं बिल्कुल शिथिलता नहीं बरतता। किन्तु, कभी-कभी कोई चीज़ सर पकड़ लेती है। आपको लिखा पत्र भी इसी तरह पड़ा रहा। लेकिन यह मेरी आदत नहीं है। आजकल मैं अपने पास अलग से चिट्ठी-पत्री का सामान रखता हूँ और यथासम्भव उत्तर जल्दी दे देता हूँ।

यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि पत्रोत्तर में मेरी ओर से देर का कहीं मुझे दण्ड न मिले, यानी आप मुझे देर से उत्तर न दें।

इसलिए, मैं यह सोचता हूँ कि कम-से-कम आप मुझे जल्दी उत्तर दें और बताएँ कि हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं; साहित्य के क्षेत्र में भी, अन्य क्षेत्र में भी। एक बात मुझे याद आई—आपने लिखा था कि कविता की एक लाइन लिखते वक्त आपको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानो तकलीफ होती हो। किन्तु, मेरा खयाल है कि जब खूब कहने का मन हो, निबन्ध के क्षेत्र में, तब शायद कविता न लिखी जा सके। एक बार विचारों का उद्वेग निकल जाने पर फिर कविता को भी नयी गति और दिशा तथा क्षेत्र मिल जाता है। मेरा खयाल है कि असल में आपके लिए यह एक मोड़ है। मोड़ से निकल जाने पर राह सुथरी-साफ दिखाई देती है।

पत्रोत्तर शीघ्र दें। मैं राह देखता रहूँगा। और सब बातें विस्तार से लिखें।

सस्नेह
आपका ही
ग० मा० मुक्तिबोध

: ६ :

१९५७(?)

प्रिय नेमि बाबू,

आपका पत्र क्या मिला, आप आधे मिल गये। कितनी ही बार उसे पढ़ता रहा। मैं दिल्ली आने के लिए बिल्कुल तैयार हूँ। लेकिन, सच तो यह है कि मैं बगैर ठीक-ठिकाने के कैसे रह सकता हूँ। अब यह नामुमकिन-सा है। अगर ऐसा ही होता तो मैं यूँ ही कई बार दिल्ली आ जाता। वैसे मेरा यहाँ भी कोई ठौर नहीं। मौजूदा नौकरी सवा दो सौ देती है। वह बिल्कुल नाकाफी है। और सोच तो यह रहा हूँ कि आमद के सुनिश्चित जर्ये (जरिये) पैदा किये जाएँ, लेकिन अब तक हो नहीं पाया है। दिल्ली में ढाई सौ मुझे बहुत ही कम होंगे। अगर कोई तीन-सौ साढ़े-तीन-सौ की नौकरी आपके ध्यान में आये तो ज़रूर सूचित कीजिएगा।

वैसे, मेरा जी दिल्ली आने को ललक रहा है। मैंने यहाँ यह रंग बाँधकर रखा है कि दिल्ली में मैं नौकरी की कोशिश कर रहा हूँ। लोगों को विश्वास है कि मैं जल्दी ही वहाँ निकल आऊँगा। लेकिन, असलियत मैंने आपको लिख दी।

आपने बहुत-सी बातें लिखीं, जिसमें 'बस मिस' करने की बात भी थी। मैं तो यह कहता हूँ कि आपके लिए स्पेशल बस आयेगी। आखिर, जो बस पर चढ़ ही गये थे, और आगे बढ़ गये, उन्होंने कौन-से तीर मार लिए!! हाँ यह सही है कि उनके नाम बजते हैं (गूँजते तो क्या हैं!!)

मैंने नई कविता के सम्बन्ध में आपका लेख पढ़ा था। बहुत शक्तिशाली लेख था। हमारे यहाँ उसे, मुझे शामिल करके, कई लोगों ने पढ़ा और सबको पसन्द आया। मुझे जो मज़ा आया वह और किस्म का था।

आपके पुराने गद्य से नया गद्य कोई मुकाबला नहीं रखता। नये गद्य में हार्दिक ओज है, जिससे शैली मनोहर हो सकी है। भाव-तत्परता और चुटीली वैचारिक वेदना के साथ, विश्लेषण गम्भीर हो उठा है। लगता है कि अगर आप कलम उठायें और लिखते चले जाएँ—तो विचारों और भावों की गंगाएँ और नर्मदाएँ बहा देंगे!! अब इस ओर आपको जुट जाना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि कवि का पद अनिवार्य रूप से विचारक के पद से बड़ा ही हो। मेरा तो खयाल है यह कि आज हिन्दी को अच्छे विचारक की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जितनी अधिक आवश्यकता है उतनी कवि को नहीं। प्रकृति और वेदना से जो व्यक्ति कवि होकर परिस्थितिवश विचारक हो जाता है, उसकी वह यात्रा, जो उसने काव्य से लेकर विचार तक की है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान है और उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त आवश्यक है। पुराने कवि-व्यक्तित्व के प्रति आपका मोह होना अत्यन्त मानवीय है, किन्तु कवि से लेकर विचारक तक की यात्रा में आपने जो कुछ मानव-सत्य पाये हैं उनका महत्व बहुत अधिक है। अगर यह देश अधिक उन्नत और सुशिक्षित होता तो आप देखते कि उन विचारों द्वारा आप कितने प्रथित-यश हो गये हैं। अब हिन्दी में ज़माना आ रहा है कि जो विचारों को बहुत महत्त्व देता है। विचार का सम्बन्ध, आपके लिए, जितना आन्तरिक है, उतना ही वह प्रभावशाली भी है।

'आजकल' में नई कविता-सम्बन्धी आपके लेख को पढ़कर तबियत बहुत खुश हुई थी। मैंने उस लेख के नोट्स भी लिये थे। किन्तु, आपकी ओर से रेसपोंस के अभाव की सम्भावित स्थिति में मैंने उस पर अपने विचार लिखकर नहीं भेजे। दो-एक जगह मुझे लगा कि आपके आब्सर्वेशन ठीक नहीं हैं और अगर वे ठीक हैं तो उनका ठीकपन बहुत सीमित है। तभी से मुझे यह प्रतीत हुआ कि विचारों के क्षेत्र में हम सब लोगों का कोऑपरेशन बहुत आवश्यक है।

कुल मिलाकर, मुझे उस लेख की ऐटीट्यूड बहुत पसन्द आयी। भाषा भाव और शैली का तो क्या कहना! आपने फूल बरसाये हैं।

ऑल इंडिया रेडियो की नौकरी मैं न छोड़ता; लेकिन मंथली कान्ट्रैक्ट पर मैं भोपाल जाने के लिए तैयार न था। अगर आपको गवर्नमेंट डिपार्टमेंट अथवा यूनिवर्सिटी में कोई अच्छी नौकरी दिखाई दे तो मुझे ज़रूर सूचित कीजिएगा। वैसे, मुझे लेक्चरशिप की भी तलाश है, लेकिन उसमें पैसे इतने कम मिलते हैं यानी १५०.३० कि अब प्रतीत होता है इतनी कम तनख्वाह में मैं गतप्राण हो जाऊँगा। सब जगह एम० ए० फर्स्टक्लास या डॉक्टरेट माँगते हैं। मैं मात्र सेकण्ड क्लास हूँ। वैसे लेक्चरशिप के लिए मेरा जी अभी भी ललकता है।

और यहाँ सब कुशल है। मेरी लिखाई यहाँ चल रही है, जैसी-तैसी!!

आपसे मिलने की इच्छा बहुत अधिक है। और मुझे प्रतीत होता है हम लोग अवश्य शीघ्र ही मिलेंगे? वह योग निश्चित है। देखिए, आगे क्या होता है?

वैसे, मन शिथिल है। ग्लानि और अवसन्नता वैसे ही स्वभावजात है, अब मित्रहीन और साधनहीन होने के कारण, अधिक अवसन्नता है।

श्री श्रीकान्त वर्मा से मिलकर आपके बारे में जो बातें हुईं, उनसे ऐसा लगा कि बस अब आपसे मिलना अवश्यम्भावी-सा है।

रेखाजी से सस्नेह प्रणाम कहिए। बच्चों को प्यार!! पिताजी कहाँ हैं? आपके पास हैं या और कहीं!!

आशा है, पत्र आप ज़रूर लिखेंगे।

आपका ही
ग० मा० मुक्तिबोध

नागपुर,
२३०, भारती भवन,
तेलघानी रोड, गणेश पेठ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ७ :

नागपुर
२८-५-५८

प्रिय नेमि बाबू,

आपके सब उपहार, पुस्तकें और प्रिय शब्द––सब मिल गये। हम लोगों के लिए तो आप, रेखाजी, बालवृन्द एक किंवदन्ती बन गये हैं––किंवदन्ती, जो मनोहर है, जो यथार्थ है और यथार्थ का उन्मूलन भी। शायद, नहीं पक्का, इन्हीं महीनों में ठीक दस वर्ष पूर्व, मैं आपके साथ इलाहाबाद में था। यादें पीछे की ओर दौड़ जाती हैं, मन दिल्ली की ओर भागता है। आपकी, आपके निबन्धों की (जो मुझे पढ़ने को नहीं मिलते) आपकी अन्यान्य गतिविधियों की चर्चा निकलती है। और, हम लोग, श्रीकान्तजी व मैं, उसके रस में डूब जाते हैं।

किन्तु, न कही हुई ज़िन्दगी की धारा में अनेक बार आपके चित्र उभरते रहते हैं, याद आती रहती है। यह किसे कहें!! आप एक अपना फोटो और एक बाल-बच्चों सहित फोटो हमारे पास भेजिये न। कम-से-कम, चेहरा तो दिखा करेगा!!

आपका अनुवादित उपन्यास मैंने आधा पढ़ लिया है। अनुवाद खूब अच्छा हुआ है। लेकिन, लगता है उसे रिवाइज़ नहीं किया गया था।

आप तो कुछ अपने सम्बन्ध में लिखते ही नहीं। दिल्ली से आने-जाने वालों से ही आपके हालात मालूम होते रहते हैं।

अब जल्दी ही अपना निबन्ध-संग्रह प्रकाशित करवाइये और कविता-संग्रह भी। आप फ़िज़ूल अपनी कविता के बारे में बेरुखी रखते हैं। कविता का मूल्य, क्षण-स्थायी नहीं हुआ करता।

जब श्रम ही करना है तो 'इमेजिनेटिव लेबर' ही क्यों न किया जाये? क्यों नहीं आप एक उपन्यास लिखते!! इतनी सामग्री है आपके पास कि तीन-चार उपन्यास लिख सकें।

बाकी यहाँ सब कुशल है। स्थानान्तर की सम्भावनाएँ बढ़ गई हैं। बाकी सब श्रीकान्तजी बतायेंगे। सब ठीक होगा।

आपका अपना
ग० मा० मुक्तिबोध

: ८ :

राजनांद गाँव
२८ फरवरी (१९६४)

प्रिय नेमि बाबू,

आपका पत्र अकस्मात मेघ-वर्षा की भाँति ही आह्लाददायक है। आप मेरे बौद्धिक और हार्दिक सहचर रहे हैं। आप से हमेशा ही सहायता प्राप्त करता रहा हूँ। इस समय भी उसे स्वीकार करूँगा। श्री प्रभाकर माचवे का पत्र आया है। उन्हें विश्वास दिलायें कि मुझे उनके पत्र से विशेष सुख हुआ। अलग से उन्हें उत्तर दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रिय श्री भारतभूषण अग्रवाल को कभी-कभी मेरा स्मरण दिला दिया करें।

अभी मैं इस मानसिक स्थिति में नहीं हूँ कि कोई अपना मैनुस्क्रिप्ट आपके पास भेज दूँ। थोड़ी-सी शक्ति और स्वास्थ्य प्राप्त करने पर मैं उसे अवश्य ही करूँगा।

आपके बुलाने पर मैं नई दिल्ली अवश्य ही आऊँगा, यद्यपि, मैं अब खाट पर से नीचे नहीं उतर सकता हूँ। आप सबकी बहुत-बहुत याद आती है। सौ० रेखाजी को स्नेह-स्मरण और अभिवादन भेजते हैं। कृपया उन तक अवश्य ही पहुँचा दें।

आपका ही,

ग० मा० मुक्तिबोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध : एक संस्मरण

हरिशंकर परसाई

भोपाल के हमीदिया-अस्पताल में मुक्तिबोध जब मौत से जूझ रहे थे, तब उस छटपटाहट को देखकर मोहम्मद अली 'ताज' ने कहा था :

उम्र भर जी के भी जीने का न अन्दाज़ आया।
जिन्दगी छोड़ दे पीछा मेरा मैं बाज़ आया।।

जो मुक्तिबोध को निकट से देखते रहे हैं, जानते हैं कि दुनियावी अर्थों में उन्हें 'जीने का अन्दाज़' कभी नहीं आया। वरना यहाँ ऐसे उनके समकालीन पड़े हैं, जो प्रगतिवादी आन्दोलन के कन्धे पर चढ़कर 'नया पथ' में 'फ्रंट पेजित' भी होते थे, फिर पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र की 'कृष्णायन' का धूप-दीप के साथ पाठ करके फूलने लगे और अब जनसंघ-राजमाता की जय बोलकर फल रहे हैं। इसे मानना चाहिए कि पुराने प्रगतिवादी आन्दोलन ने भी मुक्तिबोध को प्राप्य नहीं दिया। (बहुतों को दिया) कारण, जैसी स्थूल रचना की अपेक्षा उस समय की जाती थी, वैसी मुक्तिबोध करते नहीं थे। न उनकी रचना में कहीं 'सुर्ख परचम' था, न प्रेमिका को प्रेमी लाल रूमाल देता था, न वे उसे 'लाल चूनर' पहनाते थे। वे गहरे अन्तर्द्वन्द्व और तीव्र सामाजिक अनुभूति के कवि थे। मज़े की बात यह है कि जो 'निराला' की सूक्ष्मता को पकड़ लेते थे, वे भी मुक्तिबोध की सूक्ष्मता को नहीं पकड़ते थे।

दूसरी तरफ के लोग उनके पीछे 'विह हंट' लगाये थे। उनके ऊबड़-खाबड़पन से आभिजात्य को मतली आती थी। वे उनके दूसरे खेमे में होने की बात को इस तरस के साथ कहते थे जैसे—'ए गुड मेन फॉलन एमंग फेबियन्स'।

ऐसा भी नहीं है कि मुक्तिबोध को समझने वाले लोग नहीं थे। पर निष्क्रिय ईमानदार और सक्रिय बेईमान मिलकर एक षड्यंत्र-सा बना लेते हैं। मज़े की बात यह है, प्रगतिवादी सत्ता प्रतिष्ठान के नेता भी, जिन्हें 'प्रतिक्रियावादी' कहते थे, उन्हीं की चिरौरी करके उन्हें अपने बीच सम्मान से बिठाकर 'रिस्पैक्टेबिलिटी' प्राप्त करते थे, मगर जो अपना था उसे अवहेलित करते थे। वह तो अपना है ही, उसकी नियति तय है—वह कम्बख्त कहाँ जाएगा? पूर्वी यूरोप से साहित्य के आयात-निर्यात की जो फर्म है, उसके माल की लिस्ट में भी मुक्तिबोध की एक लाइन नहीं थी। हाँ, उन्हें बराबर भेजा जाता था, जिन्हें घर में 'फासिस्ट' कहा जाता रहा है।

मुझे याद है, जब हम उन्हें भोपाल के अस्पताल में ले गए और मुख्यमंत्री की दिलचस्पी के कारण थोड़ा हल्ला हो गया, पत्रकार मित्रों ने प्रचार किया, तब कुछ लोग जो साहित्य की राजधानियों के थे या वहाँ से बढ़कर आए थे, यह कहते थे कि हम प्रान्तीयता से ग्रस्त लोग उसे 'हीरा' बना रहे हैं। हम लोग 'प्रविंशल' संस्कार के लोग कहलाते थे। प्रोफेसरान और ऊँचे लेखक उन्हें देखने शुरू-शुरू में इसलिए नहीं आते थे कि कहीं प्रयाग, दिल्ली और कलकत्ता में बदनामी न फैल जाए कि हम 'प्रविंशल' में दिलचस्पी ले रहे हैं। प्रयाग और दिल्ली वालों ने जब 'गेटपास' दे दिया और 'अदीब' ने 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' में अँगरेज़ी में तारीफ कर दी, तब इनका दिलचस्पी लेने का साहस बढ़ा। बाद में तो लेख के शुरू में मुक्तिबोध की पंक्तियाँ मंगलाचरण के रूप में लिखने लगे—'वंदे वाणी विनायकौ' होने लगा। उनकी मृत्यु के बाद फूल बाँटने की झपटा-झपटी में कबीर की चादर की बड़ी फजीहत हुई।

यह सब—बाई दी वे। मुझसे तो नामवरजी ने कुछ संस्मरणात्मक लिखने को कहा है। संस्मरणात्मक कुछ भी लिखने में अपने को बीच में डालना पड़ता है। संस्मरण की यह मजबूरी है। यह सावधानी बरतते हुए कि उनके बहाने अपने को 'प्रोजेक्ट' न कर दूँ, कुछ चीज़ें लिखता हूँ—गो सफल संस्मरण का वही गुण है, जिससे मैं बचना चाहता हूँ।

जबलपुर में जिस स्कूल में मुक्तिबोध ने नौकरी की थी, उसी में बाद में मैंने की। अपनी मुदर्रिसी का वह आखिरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दौर था, उनकी मास्टरी भी उसी अहाते में खत्म हुई थी। पुराने अध्यापक उनकी बात करते थे। साहित्य में (बल्कि पत्रकारिता में) मेरा प्रवेश तब हो चुका था। सुनता था, यहाँ 'तार-सप्तक' वाले मुक्तिबोध रहते थे। उन्होंने 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना की। फिर वे नागपुर प्रकाशन-विभाग में चले गए। तब मुक्तिबोध की नई जवानी थी। छरहरे खूबसूरत आदमी थे। तब का उनका एक चित्र है, जो 'राष्ट्र वाणी' के मुक्तिबोध अंक में छपा है। बड़ी-बड़ी गहरी भावुक आँखें हैं। नाक बहुत 'सेंसुअस' है। शरीर सूख जाने पर भी मुक्तिबोध की आँखें धुँधली नहीं हुईं, सूखा चेहरा भी खूबसूरत रहा।

मैं कुछ लिखने लगा था। वे देखते रहते थे। मित्रों ने भी बताया होगा। मैं नागपुर शिक्षक-सम्मेलन के सिलसिले में गया था। मित्र मुझे उनसे मिलाने शुक्रवारा स्थित (शायद) उनके मकान पर ले गए। सच कहूँ मुझे मुक्तिबोध से डर लगता था। मित्रों, प्रशंसकों में वे 'महागुरू' कहलाते थे। एक आतंक मेरे ऊपर था। मैं अपने अज्ञान में सिकुड़ा-सिकुड़ा पहुँचा। वे दरी पर पालथी मारे बैठे थे। पास पानी का लोटा और उस पर प्याला। हम लोग दरी पर बैठ गए। मुझसे बोले—आइये साहब! निहायत औपचारिक। दो-चार मामूली बातें हुईं। यह जानकर कि मैं शिक्षकों के श्रम-संगठन के काम से आया हूँ, उन्होंने आँखें फाड़कर ग़ौर से देखा। मुझसे न लिखने की बात की, न कोई तारीफ। चाय ज़रूर पिलाई। आगंतुक के बहाने खुद चाय पीने का मौका वे चूकते नहीं थे। यह मुलाकात बहुत सूखी रही। मुक्तिबोध मुझे शंका से देख रहे थे। जाँच रहे थे। वे एकदम गले किसी से नहीं मिलते थे। प्रकृति से वे शंकालु थे। किसी को जैसा-का-तैसा स्वीकार नहीं करते थे। बाद के कटु अनुभव और अकेलेपन ने यह शंका की प्रवृत्ति और बढ़ा दी थी। राजनाँद गाँव में तो वे कई लोगों की कल्पना में न जाने कैसे, कैसी तस्वीरें बनाकर परेशान हुआ करते थे। दिल्ली, कलकत्ता, प्रयाग के बहुत-से लोगों की इतनी अतिरंजित तस्वीर वे बनाते थे कि लगता ये सब विकट शैतान हैं, जबकि वे अपने काम में लगे तटस्थ लोग थे। शंका व असुरक्षा की भावना इतनी तीव्र हो उठी थी, बाद में, कि वे भयावह कल्पना करते रहते थे कि अमुक-अमुक लोग मेरे खिलाफ षड्यंत्र कर रहे हैं—जबकि उन्हें अपना भला करने से ही इतनी फुरसत नहीं मिलती थी कि उनका बुरा करें। उनके मित्रों को शायद यह नहीं मालूम कि मुक्तिबोध कभी-न-कभी भयंकर शैतान के रूप में उनकी कल्पना कर चुके हैं। सामान्य आदमी का वे एकदम भरोसा करते थे, लेकिन राजनीति और साहित्य के क्षेत्र के आदमी के प्रति शंकालु रहते थे। कोई सहज ही उनके समीप होना चाहता या उनकी मदद करना चाहता, तो वे सशंकित हो जाते। कहते—पार्टनर, इसका इरादा क्या है? ज्यों-ज्यों उनकी मुसीबतें बढ़ती गईं, ज्यादा कड़ुए अनुभव होते गए, उनके कई विश्वसनीयों का चारित्रिक पतन होता गया, उनकी शंका बढ़ती गई। वे अपने को असुरक्षित अनुभव करते गए। अन्त के एक-दो साल तो वे अपने चारों तरफ डर के काँटे लगाकर जीते थे। उन्हें लगता, कोई भयंकर षड्यंत्र चारों तरफ से उन्हें घेर रहा है। यह स्थिति तब बहुत तीव्र हो गई, जब सरकार ने उनकी पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगाया। इस बात को आगे लिखूँगा।

नागपुर में चार-पाँच दिन रहकर भी मैं उनसे दोबारा नहीं मिला। उन्होंने भी ऐसी कोई इच्छा नहीं की। यह सीधा कहलानेवाला आदमी, कुछ मामलों में बड़ा काँइयाँ था। वह चुपचाप बैठा जाँच रहा था। आगे साल-भर तक कोई सम्बन्ध नहीं रहा। एक दिन 'नया खून' का ताज़ा अंक खोला तो तीन कॉलम की एक टिप्पणी का शीर्षक था—'थॉट' और परसाई की स्पिरिट में अन्तर है। टिप्पणीकार—गजानन माधव मुक्तिबोध। मेरी एक कहानी का अनुवाद 'थॉट' ने छापा था। मुक्तिबोध ने 'थॉट' की राजनीति बतलाई थी और मेरी कहानी को जैसे 'मिसफिट' कहा था। चेतावनी थी कि ये पत्र प्रचार और पैसे का लोभ देकर कैसे किसी बनते लेखक को फँसाते हैं। मेरी उस कहानी का अर्थ 'थॉट' ने साम्यवादी व्यवस्था में 'रेजिमेंटेशन' के सन्दर्भ में लगाकर छापा था। यों मेरी एक 'फेंटेसी' को 'पांचजन्य' ने पौराणिक कथा समझकर धर्मार्थ उद्धृत कर लिया था। अपनी समझ का उपयोग करने का हरएक को हक है।

मैंने उन्हें नहीं लिखा। वे भी चुप रहे। सालेक बाद जब 'वसुधा' निकालने की योजना बनी, तो मैंने उन्हें पत्र लिखा। वे भरे बैठे थे। बड़ा लम्बा पत्र आया। लिखा था कि 'नया खून' की उस टिप्पणी के बाद यहाँ लोगों ने मुझसे बार-बार कहा कि आपको बहुत बुरा लगा है। मैं दूर हूँ। लोगों से सम्पर्क होता नहीं है। सुनता रहता हूँ। सोचा, सीधे आपसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात कर लूं। मैं साफ बात करना पसन्द करता हूँ। आप मुझे साफ बताइये कि क्या उस टिप्पणी से आपको बुरा लगा।

मैं समझ गया, मेरी-उनकी निकटता को घटित न होने देने में किन्हीं लोगों ने अपना फायदा देखा होगा। अपना फायदा देखने का भी हर एक को हक है। बाद में पता चला कि इन लोगों ने अपने समकालीनों के लिए खुफिया विभाग भी खोल रखा था और जगह-जगह एलची नियुक्त कर रखे थे। हमारे मित्र, प्रमोद वर्मा जब तबादले पर जबलपुर आये, तब उन्हें हेड ऑफ़िस से चिट्ठी मिली थी कि यहाँ किस से सम्बन्ध रखना और किससे नहीं, इस बारे में अमुक से हिदायत ले लो। प्रमोद ने लिख दिया था कि शत्रु और मित्र मैं खुद बनाता हूँ। उस चिट्ठी को मुक्तिबोध के सामने हम लोगों ने पढ़ा और खूब हँसते रहे। खैर, ये स्थानीय मधुर पॉलिटिक्स की बातें हैं। मगर परिवेश से कटकर आदमी रह नहीं सकता। मुक्तिबोध जैसे पारदर्शी सचाई के सरल आदमी को अपने आसपास की यह अविश्वसनीयता और अकेलापन दे देती थी।

'कामायनी पुनर्विचार' को छापने के लिए एक पुस्तक-विक्रेता मित्र शेष नारायणराय राजी हो गये थे। वे पेशे से प्रकाशक नहीं हैं। पैसा लगा देने को तैयार थे। मुक्तिबोधजी पर उनकी श्रद्धा थी। तब मुक्तिबोध को कोई प्रकाशक नहीं मिलता था। पुस्तक का कम्पोज़िंग चल रहा था, तब वे जबलपुर आये। तीन दिन हो गये, पर उन्होंने न किताब की बात की, न राय से मिलने की इच्छा। पहले तो रात-दिन पुस्तक छपने की लौ लगी रहती थी और अब यह विराग। मैंने कहा--आप प्रकाशक से तो मिल लीजिये। वे यहीं पास में रहते हैं। मुक्तिबोध खिन्न भाव से बोले--मिल लेंगे, पार्टनर। कोई उससे मिलने थोड़े ही आये हैं। मैंने कहा--सच बताइये मामला क्या है? वे बोले--अब तो पांडुलिपि दे ही चुके। अमुक साहब कह रहे थे कि आप बुरे फँस गये। वह राय तो बहुत खराब आदमी है। खैर। मैंने राय से कहा, राय हँसा। कहने लगा--वही साहब मुझसे कह गये कि तुम पैसा पानी में डाल रहे हो। उस किताब को कौन खरीदेगा? मुक्तिबोध उनका विश्वास करते थे। वे बड़े हैरान हुए। कहने लगे--आखिर उसने ऐसा किया क्यों? बाद में राय ने उन्हें रुपये पेशगी दिये। दुकान से वे कुछ किताबें भी ले गये। बहुत गद्गद थे। ऐसे मौके पर वे बच्चे की तरह हो जाते थे--वाह पार्टनर, आपका यह राय भी मज़े का आदमी है। उसने इतने रुपये दे दिये। अगर उन्हें किसी से मुश्किल से १००) मिलने की उम्मीद है और वह २००) दे दे, तो वे चकित हो जाते। कहते--पार्टनर, यह भी बड़ी मज़े की बात है। उसने तो २००) दे दिये। इतने रुपये कोई कैसे दे देता है। इस पुस्तक का प्रकाशन वे अपने ऊपर एहसान मानते थे। राजनांदगाँव से उन्होंने राय को अंगरेज़ी में ऐसी चिट्ठी लिखी जो कोई लेखक प्रकाशक को नहीं लिखेगा। लिखा था--पुस्तक अच्छी छपनी चाहिए। मैं आपको लिखकर देता हूँ कि मुझे आपसे एक भी पैसा नहीं चाहिये, बल्कि आपका कुछ ज्यादा खर्च हो जाए, तो हरजाना देने को तैयार हूँ।

राजनांदगांव में वे अपेक्षाकृत आराम में रहे। शरद कोठारी तथा अन्य मित्रों ने उनके लिए सब-कुछ किया। पर वे बाहर निकलने को छटपटाते थे। वे साल में एक-दो बार किसी सिलसिले में जबलपुर आते और खूब खुश रहते। रंगीन सपने में डूबते हुए कहते—पार्टनर, ऐसा हो कि एक बड़ा-सा मकान हो। सब सुभीते हों। कोई चिंता न हो। वहाँ हम कुछ मित्र रहें। खूब बातें करें, खूब लिखें-पढ़ें और जंगल में खूब घूमें। फिर कहते—आप राजनांदगाँव आइये। वहीं कुछ दिन रहिये। बहुत बड़ा मकान है। कोई तकलीफ नहीं होगी। नो, नो, आइ इनवाइट यू।

मुक्तिबोध की आर्थिक दुर्दशा किसी से छिपी नहीं थी। उन्हें और तरह के क्लेश भी थे। भयंकर तनाव में वे जीते थे। पर फिर भी बेहद उदार, बेहद भावुक आदमी थे। उनके स्वभाव के कुछ विचित्र विरोधाभास थे। पैसे-पैसे की तंगी में जीनेवाला यह आदमी पैसे को लात भी मारता था। वे पैसा देनेवाली पत्रिकाओं में लिखकर आमदनी बढ़ा सकते थे, पर लिखते नहीं थे। कहते—अपनी पत्रिका में लिखेंगे। बस मुझे तो कागज़ आप दे दीजिये। यों वे बहुत मधुर स्वभाव के थे। खूब मज़े में आत्मीयता से बात करते थे। मगर कोई वैचारिक चालबाज़ी करे या ढोंग करे, तो मुक्तिबोध चुप बैठे तेज नजर से उसे चीरते रहते। उस वक्त उनके ओंठ किसी बदमाश स्कूली लड़के की तरह मुड़ जाते। आपस में मित्रों में एकरस हो जाते, मगर तभी वर्ग-चेतना जाग उठती, तो अजनबी होने लगते। जबलपुर आये, तो मेरे घर पर एक मित्र हनुमान वर्मा से मुलाकात हुई। हनुमान कालेज में पढ़ाते हैं। खूब यारबाश आदमी हैं। दो-तीन दिन खूब मज़े में उनसे मुक्तिबोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जमती रही। फिर हनुमान अपने घर ले गया। वहाँ अच्छा-सा सोफा था। डाइनिंग-टेबिल भी थी। मुक्तिबोध को खटका लग गया। वे शिष्ट व्यवहार करने लगे। लौटते वक्त रास्ते में मुझसे बोले—पार्टनर, इस आदमी से अपनी कैसे पट सकती है! उसका सोफा देखो, डाइनिंग-टेबिल देखो। यह अपनी दुनिया का आदमी नहीं है। ही बिलांग्ज़ टू ए डिफ़रेंट वर्ल्ड। मैंने कहा—कुल छः-सात सौ ही पाता है वह। अपनी ही दुनिया का आदमी है। पर यह बात गले उतरने में देर लगी।

वर्ग-चेतना के तीव्र बोध की दो-एक घटनाएँ दिलचस्प हैं। मुझ पर एक प्रकाशक ने कापीराइट का मुकदमा चला दिया था। मुक्तिबोध आये हुए थे। दिसम्बर का महीना था। भोजन करके वे सामने के मैदान में बैठे थे। मैं कचहरी जाने लगा, तो पूछा–पार्टनर, मैजिस्ट्रेट कौन है? मैंने नाम बताया। वे बोले—नाम से मालूम होता है कि वह नीची जाति का है। विदर्भ में होते हैं ये लोग। आप छूट जायेंगे। मैंने पूछा—यह अन्दाज़ आपको कैसे लगा? उन्होंने कहा—वह नीची जाति का है न! उसकी वर्ग-सहानुभूति लेखक के प्रति होगी, प्रकाशक के साथ नहीं। संयोग से मुकदमा खारिज भी हो गया।

एक साहित्य-समारोह में एक वयोवृद्ध ब्राह्मण आचार्य थे। विवाद की स्थिति थी ही। आचार्य के मातहत एक अध्यापक ने भी भाषण में आचार्यजी का समर्थन किया। बाद में मुक्तिबोध अकेले में हम लोगों से बड़ी गम्भीरता से बोले—वह जो अध्यापक है, उसकी सहानुभूति हमारी तरफ है। नौकरी के लिए आचार्य की बात बोल रहा था। वह जाति का अहीर है न! वह हमारा ही साथ देगा, ब्राह्मण आचार्य का नहीं।

पर एक दूसरे मौके पर दूसरी ही तरह की बात कहकर उन्होंने हमें चौंकाया। एक आदमी बड़ा ओछा व्यवहार कर रहा था। हम सब लोगों की पीठ-पीछे निन्दा करता था। मुक्तिबोध सुनते-सुनते बोले—पार्टनर, वह जात का लोधी है न! इसीलिए।

मुक्तिबोध विचारों से आधुनिक वैज्ञानिक लेकिन इसके साथ ही व्यवहार में कई बातों में बिलकुल सामंती। किसी को अपने घर में साग्रह खाना खिलाना, अपनी हैसियत से बाहर खातिर करना उनकी खास प्रकृति थी। लगता था, कोई पुराने ठाकुर साहब हैं, जिन्हें मूँछें मुड़ाना पड़ेगा, अगर मेहमाननवाज़ी में कमी आई एक बार नागपुर में जब वे तीव्र ज्वर में 'नया खून' के टीन के नीचे काम कर रहे थे, मैं पहुँच गया। भर दोपहर में पास की दुकान पर मुझे मिठाई खिला लाये तब चैन पड़ी। मैंने बहुत मना किया, पर वे कहते—नहीं साहब, आप आये हैं, तो कुछ खाना तो पड़ेगा। पक्षाघात से जब वे पीड़ित थे, तब हम उन्हें भोपाल के लिए लेने पहुँचे। उस हालत में भी वे हड़बड़ा रहे थे कि इनके लिए क्या कर दिया जाए। कहने लगे—आप मेरे मेहमान हैं। आप मेरे यहाँ क्यों नहीं ठहरेंगे, कोठारी के यहाँ क्यों? कोठारी से भी शिकायत की—क्यों साहब, यह क्या हरकत है? इन्हें आपने रास्ते में क्यों रोक लिया? इसमें बनावट नहीं थी। उनकी सच्ची ममता थी, उनके आन्तरिक संस्कार थे। वे नई-से-नई वैज्ञानिक उपलब्धि से मुग्ध होते थे, पर परिवार-नियोजन के खिलाफ थे। परिवार-नियोजन को पूँजीवादी सभ्यता की प्रवृत्ति मानते थे। विचारों के मामले में जितने सधे हुए, ज़िन्दगी की व्यवस्था में उतने ही लापरवाह। स्वास्थ्य के प्रति अत्यन्त असावधान थे। सम्बन्धों में लचीले, मगर विचारों में इस्पात की तरह। कहीं कोई समझौता नहीं। पैसे-पैसे के लिए तंग रहते थे, पर पैसे को लात भी मारते थे। कभी बिलकुल निस्संग हो जाते, कभी मोहग्रस्त।

मुक्तिबोध विद्रोही थे। किसी भी चीज़ से समझौता नहीं करते हैं। स्वास्थ्य के नियमों और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से भी नहीं। उनकी राजनीति है, यह बात सर्वविदित थी। नागपुर में सरकारी नौकरियों में थे, तब उनके पीछे साम्यवाद-विरोधी भूत लगे रहते थे। उनके विचारों ने कभी उन्हें नौकरी में ऊपर नहीं उठने दिया। राजनांदगाँव के प्राइवेट कालेज की नौकरी उन्हें अनुकूल पड़ी। वहाँ उन्हें लोगों ने बड़े श्रद्धा-प्रेम से रखा।

मुक्तिबोध भयंकर तनाव में जीते थे। आर्थिक कष्ट उन्हें असीम थे। उन जैसे रचनाकार का तनाव साधारण से बहुत अधिक होगा भी। वे संत्रास में जीते थे। आजकल संत्रास का दावा बहुत किया जा रहा है। मगर मुक्तिबोध का एक-चौथाई तनाव भी कोई झेलता, तो उनसे आधी उम्र में मर जाता। मृत्यु से दो साल पहले वे जबलपुर आये थे। रात-भर वे बड़बड़ाते थे। एक रात चीखकर खाट से फर्श पर गिर पड़े।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभले, तब बताया कि एक बहुत बड़ी छिपकली सपने में सिर पर गिर रही थी।

उन दिनों उनकी पुस्तक 'भारत : इतिहास और संस्कृति' पर प्रतिबन्ध लग चुका था। वह पुस्तक कोर्स में लग चुकी थी। उसके खिलाफ आन्दोलन कराने वाले मुख्यतः दूसरे प्रकाशक थे। आन्दोलन में जनसंघ प्रमुख था। इसके साथ ही ग़ैर-साम्प्रदायिक पत्रों के भी बिके हुए सम्पादक थे। जनसंघ उनके पीछे पड़ गया था। राजनांदगाँव में उसके स्वयंसेवक उन्हें बहुत परेशान करते थे। उस वक्त विद्वान लेकिन अधिकारहीन राज्यपाल था और भ्रष्ट तथा मूर्ख मुख्य-मंत्री। राज्यपाल ने डेढ़ घंटे बात की, बात मानी भी, पर कहा—मैं क्या कर सकता हूँ! मुख्यमंत्री के पोर्टिको के पास मुक्तिबोध घंटे-भर खड़े रहे। वह बँगले से निकला तो ये बात करने बढ़े। बात शुरू ही की थी कि बोला—उसमें अब कुछ नहीं हो सकता। इन्होंने कहा—पर आप मेरी बात तो सुन लीजिए। वह बोला—मेरे पास इतना वक्त नहीं है। मुझे ज़रूरी काम है।

जबलपुर लौटे तो बहुत टूटे हुए और बहुत क्रोधित। वह आदमी चट्टान जैसा था। लेकिन इस घटना ने उनके भीतर भय और असुरक्षा की भावना पैदा कर दी थी। वे बेहद उत्ते-जित थे। इस प्रतिबन्ध से उनकी अपार क्षति हुई। यदि पुस्तक चलती, तो उन्हें इतनी रायल्टी मिलती कि सारा संकट खत्म हो जाता। व्यक्तिगत क्षति का आघात तो था ही। पर इस पूरे कांड को व्यापक राजनीतिक संदर्भ में देखकर वे बहुत त्रस्त थे। कहते थे—यह नंगा फासिज़्म है। लेखक को लोग घेरें, शारीरिक क्षति की धमकी दें। इधर सरकार सुनने तक को तैयार नहीं। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता जा रही है। गला दबाकर आवाज़ घोंटी जा रही है।

'अँधेरे में' कविता का यही रचनाकाल है। उन दिनों मुक्तिबोध बहुत आशंकाग्रस्त थे। छोटी-से-छोटी बात उन्हें विचलित कर देती थी। चाबी जिस जेब में रखी होने की उन्हें याद थी, अगर वह उस जेब में नहीं है तो वे ऐसे सशंकित हो उठते थे, जैसे कोई बड़ा षड्यन्त्र उन्हें घेर रहा है। उन दिनों वे बहुत उत्तेजित होकर घंटों बहुत ज़ोर से बोलते रहते थे। गले की नसें तनी हुई साफ दिखती थीं। कनपटी लौकती थी, दम भर आता था और वे 'डबल स्ट्रांग' चाय की माँग करते थे।

अन्तिम बीमारी के महीने-भर पहले वे जबलपुर आए थे। हाथ और पाँव में एक्ज़िमा था। पाँव सूजे थे। वे नीम की बहुत-सी पत्ती पीसकर साथ ले आए थे। सुबह पाँवों को धोकर नीम की पट्टी करते। बहुत दुर्बल हो गए थे। बहुत परेशान थे। पर शारीरिक और आर्थिक कष्ट की बात लग-भग नहीं करते थे। रात को उन्होंने हम लोगों को 'अँधेरे में' कविता सुनाई थी। डेढ़ घंटे के पाठ के बाद वे शिथिल होकर बिस्तर पर लुढ़क गए थे। हम लोगों ने उन्हें थोड़ी ब्रांडी देकर सुला दिया था। सुबह बोले—पार्टनर, दवा बहुत अच्छी थी।

महीने-भर बाद ही उन्हें पक्षाघात हो गया। आदमी यह सोचने को मजबूर है कि अगर ऐसा हो गया होता, तो वैसा नहीं होता। बहुत-से मित्र यहाँ सोचते हैं, अगर वे तभी जबलपुर रुक गए होते तो बीमारी इतनी न बढ़ती। यहाँ मेडिकल कालेज में उन्हें कुछ दिनों के लिए भरती करा देने का हम लोगों ने तय किया था। पर उन्हें बीमार पिताजी से मिलने नागपुर जाना था। वे कह गए थे कि महीने-भर में मैं लौटकर आता हूँ और कुछ दिन रहकर यहीं आराम करूँगा और इलाज कराऊँगा। पर महीने-भर बाद उन्हें पक्षाघात हो गया। दिल्ली से जब मैं चल ही रहा था कि श्रीकांत के नाम उनके पत्र से यह खबर मिली।

मुक्तिबोध अपनी बीमारी की भयंकरता जानते थे। वे जानते थे कि यह बीमारी प्राणांत भी कर सकती है। शारी-रिक कष्ट उन्हें बहुत था। छोटे-छोटे बच्चों के भविष्य की चिन्ता भी थी। रात कराहते बीतती थी। भोपाल के मित्र रात-भर कमरे के बाहर बरामदे में बैठे 'आई ग' (ओ माँ) और 'अग' (पत्नी को बुलाने के लिए) सुना करते थे। पर मुक्तिबोध का उत्साह कम नहीं हुआ था। वे टूटे नहीं थे। संज्ञाहीन होने के पहले तक वे बीमारी की शिकायत लगभग नहीं करते थे। वे साहित्य और राजनीति की बातें करते थे। खूब उत्साह से बोलते थे। कभी हम उन्हें स्वास्थ्य के बारे में झूठा भरोसा दिलाते तो वे पलकें नीची करके कहते—हाँ, पार्टनर। ठीक तो हो ही जाएँगे। उनके भाव से हम समझने लगे थे कि यह आदमी जानता है कि ये लोग मुझे दिलासा दे रहे हैं। वे संकेत से बता देते थे कि मैं सब जानता हूँ। मुझे क्यों बहलाते हो?

अपनी तरफ बढ़ती हुई मृत्यु को जो साफ़ देख रहा था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी ज़िन्दगी की जकड़ कम नहीं हुई थी। यह किसी भी तरह जीवन से अटके रहने का घटिया मोह नहीं था। ऐसा नहीं था कि जीवन के सारे संदर्भ कटकर सिर्फ आत्म-मोह बचा हो। आत्म-मोह अन्तिम क्षण तक उस आदमी में नहीं आया। वह सिर्फ जीवन-सन्दर्भों में उलझा हुआ था। सिगरेट और चाय के लिए अलबत्ता वे बाल-हठ जैसा करते थे। बाकी अपने बारे में कुछ नहीं। नेहरूजी की तबियत कैसी है? देश की राजनीति किस ओर से गुज़र रही है? साहित्य में इन दिनों क्या चला हुआ है? यही सब बातें वे करते थे। पीड़ा होती तो कराह देकर वे फिर वैसे ही नार्मल हो जाते थे।

बीमारी से लड़कर मुक्तिबोध निश्चित जीत गए थे। बीमारी ने उन्हें मार दिया, पर तोड़ नहीं सकी। मुक्तिबोध का फौलादी व्यक्तित्व अन्त तक वैसा ही रहा। जैसे ज़िन्दगी में किसी से लाभ के लिए समझौता नहीं किया, वैसे मृत्यु से भी कोई समझौता करने को वे तैयार नहीं थे।

वे मरे। हारे नहीं। मरना कोई हार नहीं होती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध की सार्थकता

श्रीकांत वर्मा

कविता का प्रत्येक युग अपने संदर्भ-ग्रन्थ की तलाश करता है। बीट कवियों ने अपने सन्दर्भ के रूप में विलियम कार्लोस विलियम की लगभग खोती हुई कविता को ढूंढ़ निकाला और युवा सोवियत कवियों ने अपने युग की 'ट्रेजेडी' के गवाह के रूप में पॉस्तेरनाक को स्वीकार किया। यूरोप और अमेरिका के युवा चित्रकारों को पिकासो और मातीस में नहीं, पॉल क्ले में अपने युग का चरित्र नज़र आता है।

मुक्तिबोध के साथ भी ११ सितम्बर, १९६४ को उनकी भयावह मृत्यु के बाद से कुछ ऐसा ही हुआ है। इन चार वर्षों में मुक्तिबोध हिन्दी के युवा कवियों का सन्दर्भ-ग्रन्थ बन गए। उनके जीवन और मृत्यु में युवा कवियों ने अपने लिए एक अर्थ प्राप्त किया और उनकी कविता में उन्होंने वे सभी चुनौतियाँ पाईं जो कि उनके मन में अस्पष्ट रूप से मौजूद थीं।

किसी भी कवि के मसीहा बनने में उसके नष्ट होने का खतरा होता है। मुक्तिबोध के साथ भी यह खतरा है। मगर इस खतरे से न कोई बचाव है और न ही इसकी कोई खास चिन्ता ही होनी चाहिए। अपने युग को अर्थ देने से अधिक सार्थक कार्य कोई कवि क्या कर सकता है। अगर कविता के जरिए इस युग के प्रश्नों से जूझने की कोशिश में मुक्तिबोध की कविता नष्ट हो भी गई तो क्या फर्क पड़ता है! केवल साधारण कवियों की जगह 'सुरक्षित' होती है—महान् कवि केवल अपने युग का कवि होता है। इतिहास के क्रम में वह बनता और नष्ट होता चलता है। शताब्दियों के अन्तराल में वह सैकड़ों बार बनता और सैकड़ों बार नष्ट होता है। अँग्रेज़ी साहित्य के इतिहास में वर्ड्सवर्थ और टेनीसन के 'स्थान' को कौन चुनौती दे सकता है—ऑक्सफोर्ड या कैम्ब्रिज में हमेशा उनकी कुर्सी बनी रहेगी; जबकि मिल्टन या जॉन डन येट्स या एलियट पर बार-बार निर्णय होता रहा है और होता रहेगा।

अपने जीवनकाल में या मृत्यु के बाद बुत की तरह स्थापित हो जाना नहीं बल्कि आने वाले युगों के लिए चुनौती के रूप में बना रहना अमरता है। अनिर्णीत साहित्य ही इतिहास की कड़ियों में बार-बार जुड़ने वाला साहित्य है। मुक्तिबोध का साहित्य अब भी अनिर्णीत है और आगे भी रहेगा—एक चुनौती के रूप में बना रहना ही उसकी नियति है।

शंका केवल महान् साहित्य को लेकर की जाती है। केवल महान साहित्य को लेकर यह प्रश्न उठता है कि वह साहित्य है या नहीं? केवल 'यूलीसिस' ही यह प्रश्न उत्पन्न करता है कि वह उपन्यास है या नहीं? अपनी 'सतही प्रामाणिकता' से सबको या बहुतेरों को आश्वस्त करने वाली कृति अपने विषय में शंकाएँ नहीं पैदा करती। उसकी एक निश्चित और नियत संगति होती है। महान साहित्य की ऐसी कोई निश्चित संगति नहीं होती। विशिष्ट सन्दर्भों में ही उसकी संगति होती है। सन्दर्भ से हटते ही वह असंगत और गैर-साहित्य प्रतीत होने लगता है।

मुक्तिबोध का साहित्य भी विशिष्ट सन्दर्भों का साहित्य है। ये सन्दर्भ हैं वे तमाम प्रश्न जो कि मुक्तिबोध ने अपने समूचे साहित्य, कविता, कहानी और डायरी में उठाए हैं। जिनके लिए ये सवाल महत्त्वपूर्ण नहीं उन्हें स्वाभाविक है, मुक्तिबोध का साहित्य भी महत्त्वपूर्ण नहीं लगेगा। मगर इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि जिन्हें ये सवाल संगत नहीं लगते स्वयं उनकी संगति क्या है? या तो ये प्रश्न असंगत हैं या इन प्रश्नों को असंगत मानने वाले आलोचक-अध्येता कवि असंगत हैं।

स्वयं को प्रमाणित करने के अलावा एक लेखक के साहित्य में उठाये गए प्रश्न उन तमाम लेखकों के साहित्य को असंगत कर देते हैं जो कि इन प्रश्नों से कतराते रहे हैं या कि इन्हें झुठलाते रहे हैं। कविता केवल रचना नहीं बल्कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्वंस भी है।

मुक्तिबोध की कविता भी केवल कविता न होकर ध्वंस भी है। मुक्तिबोध की कविता के साथ ही जो परिवर्तन हुआ उसमें मान्यताओं के बहुत-से दुर्ग गिर गए। इसमें कुछ भी अप्रत्याशित नहीं। जो भी कविता लिखता है उसे समझ लेना चाहिए कि कविता क्षुद्र प्राप्तियों का संसार नहीं। यह धर्मयुद्ध की दुनिया है, जिसमें कवि अपने प्रश्नों की अकेली और बहुत हद तक अमूर्त लड़ाई लड़ता है। अपनी साहित्यिक परिणतियों में ये प्रश्न उन सब साहित्यिक मूल्यों का संहार करते हैं जो कि अपने युग के द्वन्द्व, नैराश्य और आकांक्षा से पैदा नहीं हुए थे। वास्तव में संघर्ष साहित्यिक परिणतियों का नहीं प्रश्नों का होता है।

नई कविता की शुरुआत ग़लत नहीं हुई थी। 'तारसप्तक' एक सही शुरुआत था। वह भाषा के कर्तव्यों को पहचानने का हिन्दी कविता में पहला प्रयत्न था। भाषा और अनुभव दो अलग चीजें नहीं बल्कि एक ही चीज़ हैं, इस तथ्य को पहली बार 'तारसप्तक' ने ही पहचाना था। भाषा और अनुभव के अविभाज्य हो जाने के बाद ही कविता के प्रश्न शुरू होते हैं। इन प्रश्नों को, जिन पर कि छायावादी कवियों ने ग़ौर नहीं किया था, 'तारसप्तक' ने उठाया। 'तारसप्तक' का सम्पादकीय और अज्ञेय, गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन तथा भारतभूषण अग्रवाल के वक्तव्यों और कविताओं में कविता तथा मनुष्य की स्थिति से सम्बन्धित शंकाओं ने पहली वार हिन्दी कविता को एक वयस्क धरातल प्रदान किया। हिन्दी कविता की यह सबसे बड़ी दुर्घटना है कि कुछ 'तारसप्तक' के और कुछ 'तार-सप्तक' के बाद के कवियों ने छायावाद के अदृश्य आक्रमण के आगे घुटने टेकते हुए रचना का यह जटिल धरातल छोड़ दिया और भाषा तथा मनुष्य से सम्बन्धित बुनियादी प्रश्नों से पलायन कर रचना के लिए एक अपेक्षाकृत सरल सार चुना, जिसमें विविधता चाहे जितनी हो, सार्थकता बहुत कम है।

'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही कविता का एक 'टाइप' बन गया। यह 'टाइप' नई कविता के नाम से जाना जाने लगा और एक विशिष्ट मुहावरे में कविता की जाने लगी। 'दूसरा सप्तक' और उसके कवियों की कविताएँ इतनी कामयाब हुईं कि अपने परवर्तियों की कामयाबी से घबराकर और आतंकित होकर स्वयं 'तारसप्तक' के अधिकतर कवि नई कविता के मुहावरे में कविता करने लगे।

'सप्तकों' की परम्परा बनाने का एक खतरनाक नतीजा यह हुआ कि 'दूसरा सप्तक' और 'तारसप्तक' को एक-दूसरे से जोड़ दिया गया; जबकि वास्तविकता यह है कि रचना के सार पर दोनों का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। 'तारसप्तक' एक शुरुआत है और एक शुरुआत का अन्त है। 'तारसप्तक' के कवियों ने 'तारसप्तक' को दफ़नाकर उन प्रश्नों से छुट्टी पा ली जिनसे जूझता हुआ कवि कविता को नष्ट करता है।

'तारसप्तक' के प्रति अपनी निष्ठा को आखिर तक निबाहते हुए मुक्तिबोध ने जीवन-भर कविता को नष्ट किया। जब तक नयी कविता केवल संयोजन-धर्मी रही तब तक मुक्तिबोध की प्रतिष्ठा एक भाषा-विरोधी कवि के रूप में रही। लेकिन जैसे ही भाषा ने करवट ली और यह तथ्य उभरकर आया कि आज की कविता के लिए संयोजन आवश्यक नहीं बल्कि स्वयं भाषा और इस तरह कविता का संहार जरूरी है, मुक्तिबोध की कविता अपने युग का सबसे प्रामाणिक स्वर हो गई।

नौजवान कवियों को यदि आज नयी कविता का बहुत-सा हिस्सा छायावादी और रूमानी जान पड़ता है तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं। नयी कविता का एक महत्त्वपूर्ण अंश सचमुच ही रूमानी और छायावादी है। छायावाद से मुक्ति पाने के लिए भाषा का संहार ज़रूरी था। मगर अधिकतर नये कवियों ने भाषा का संहार न कर, उसका संस्कार किया। नयी कविता के गठन और छायावादी कविता के अंत:संगठन में ऊपरी फ़र्क कितना ही अधिक हो, भीतर बहुत-सी सम्भावनाएँ हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि नयी कविता की कामयाबी का कारण उसका वह भावबोध है जिसकी परिणति संगीत में हुई है। नयी कविता अपने युग की प्रतिनिधि विधा चित्रकला की शर्तों को नहीं बल्कि परम्परा से प्राप्त संगीत की शर्तों को निबाहती है।

मुक्तिबोध का काव्य संगीत का निषेध करता है। यही नहीं बल्कि वह संगीत को कविता-विरोधी मानता है। संगीत कविता की अमूर्त परिणति है। मुक्तिबोध जिन प्रश्नों से जूझ रहे थे उनकी अमूर्त्त परिणति क्या हो सकती थी? मनुष्य के नरक को उपस्थित करने वाले काव्य की परिणति संगीत कैसे हो सकता है? अपने युग के बर्बर सवालों को उठाने वाली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता का गठन संगीतात्मक कैसे हो सकता है ? इस तरह की कविता भाषा में संगीत के मूल्यों को नष्ट करती है, उसे सख्त, नुकीली और चट्टानी बनाती है।

संगीत के न रहने से कविता में शून्य पैदा हो जाता है और कविता कविता नहीं रह जाती। मुक्तिबोध ने संगीत से पैदा हुए शून्य को तनाव से भरा। संगीत का स्थान तनाव ने ले लिया। छायावादी कविता के संगीत से मुक्तिबोध का यह तनाव अधिक सच्चा और सार्थक है। सुमित्रानन्दन पंत के 'परिवर्तन' और जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' की निस्सारता मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' पढ़ने के बाद ही मालूम होती। 'परिवर्तन' और 'कामायनी' का कविता-संसार नाट्य-कौशल और संगीत की बुनियाद पर खड़ा है—'अँधेरे में' कविता में न कोई कौशल है न कोई संगीत—केवल एक तनाव उसके अन्तर्विरोधों से भरे हुए संसार को जोड़े हुए है। इस तनाव के कारण ही यह कविता, कविता है; अन्यथा, उसके अभाव में, उसमें और गद्य में कोई फर्क नहीं रह जाता। नयी कविता की चरम परिणति गद्य की लय में हुई। मुक्तिबोध की कविता गद्य की लय नहीं, गद्य का तनाव है।

क्यों नहीं मुक्तिबोध ने संगीत की दुनिया को अपनाया ? क्यों उन्होंने तनाव को अपने लिए आवश्यक माना ? क्यों उन्होंने भाषा को नष्ट करते हुए अपने को नष्ट कर डाला ? क्यों नहीं उन्होंने भाषा से समझौता किया ?

इसका एकमात्र उत्तर यह है कि मुक्तिबोध के लिए कविता की नियति का प्रश्न मनुष्य की नियति के प्रश्न से जुड़ा हुआ था। कविता स्थूल स्तरों पर समाज को परिवर्तित नहीं करती लेकिन कर्त्तव्यवश नहीं बल्कि स्वभाववश कविता संकट का, मृत्यु का अहसास कराती है। मनुष्य का भीतरी संकट ही कला का कर्मक्षेत्र है; दूसरे शब्दों में, रचनाकार का रचना-क्षेत्र है। जिस कवि की कविता में संकटबोध जितना ही गहरा और व्यापक होता है वह अपने युग का उतना ही समर्थ प्रतिनिधि होता है।

मुक्तिबोध की कविता मनुष्य की दशा को सैकड़ों स्तरों पर और सैकड़ों रूपों में उपस्थित करती है। ये कविताएँ अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं; मनुष्य के आत्मसंहार के भयानक और आक्रामक चित्र हैं। इनका माध्यम शब्द नहीं। मुक्तिबोध की कविता में शब्दों का कोई अर्थ नहीं रह गया है। शब्द केवल समूह होकर रह गये हैं अर्थ उनसे अलग जा पड़ा है। शब्द और अर्थ के अलग-अलग हो जाने से एक असंगत संसार पैदा हो गया है जो कि जितना ही पैशाचिक है उतना ही मानवीय है।

मनुष्य और पिशाच, अर्थरहित शब्द और शब्दहीन अर्थ का संघर्षपूर्ण सह-अस्तित्व ही मुक्तिबोध का रचना-संसार है। वास्तविकता यह है कि यही हमारा असली संसार भी है; जिसे मुक्तिबोध ने अपनी अपूर्व प्रतिभा से इतना काल्पनिक बना दिया कि वास्तविकता और काल्पनिकता का फ़र्क नष्ट हो गया। मुक्तिबोध का दावा भी था कि यथार्थ अपनी कलात्मक परिणति में 'फ़ैंटेसी' में परिणत हो जाता है। कम-से-कम मुक्तिबोध का यथार्थ ज़रूर इतना भयानक है कि फ़ैंटेसी के स्तर पर ही उससे साक्षात्कार किया जा सकता है।

समकालीन मनुष्यता का यथार्थ सचमुच ही इतना भयावह है कि उसे देखकर आदमी अन्धा हो सकता है; सम्बोधित कर गूँगा हो सकता है और उससे नंगा साक्षात्कार आत्मघात कर सकता है। कविता इस यथार्थ को देखने योग्य, सम्बोधन योग्य और संवाद योग्य बनाती है। गूँगे और अन्धे हो जाने के भय से हिन्दी की यशस्वी कवि-पीढ़ी ने जिस यथार्थ से साक्षात्कार करने से इन्कार किया, मुक्तिबोध ने उसे संवाद योग्य बनाया।

'यथार्थ' का नाम लेते ही कई तरह की प्रत्याशाएँ पैदा हो जाती हैं। कवि से यह उम्मीद की जाने लगती है कि वह अपने युग का ब्यौरा देगा या उसका कोई स्थूल खाका तैयार करेगा। कविता इस तरह की किसी स्थूल परिणति को अपना निर्दिष्ट मानकर नहीं चलती। अपनी बनावट के ज़रिये वह अपने युग की मानसिक बनावट का आभास कराती है।

मुक्तिबोध की प्रतिनिधि कविता 'अँधेरे में' अपने युग की घटनाओं से नहीं बल्कि उसकी बनावट से सामना कराती है। इस कविता में वे सभी खतरे हैं जो कि उसे कविता की जगह उपन्यास में परिणत कर सकते थे। 'अँधेरे में' के अनुभव की समग्रता चरित्रों और घटनाओं में बिखरकर स्थूल अर्थों में एक यथार्थवादी उपन्यास बन सकती थी। मुक्तिबोध ने इस खतरे को पहचानते हुए अपने अनुभव को और भी गुमनाम होने दिया। वास्तव में 'अँधेरे में' इस युग के यथार्थ की काव्य-परिणति है।

इस कविता के विषय में यह ठीक ही कहा गया है कि इसका एक काव्य-नायक है। यह काव्य-नायक मुक्तिबोध नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यह काव्य-नायक बेचैन, खंडित, जर्जर, व्यग्र हिन्दुस्तान है। यह स्वाधीनता के बाद का भारतवर्ष है जिसका शरीर और मन क्षत-विक्षत है। उसके चेहरे पर इतिहास की झुर्रियाँ, सीने पर गोली के घाव और अन्तरात्मा में बेचैनी है :

'ज़िन्दगी के···
कमरों में अँधेरे
लगाता है चक्कर
कोई एक लगातार;
आवाज़ पैरों की देती है सुनाई
बार-बार···बार-बार,
वह नहीं दीखता···नहीं ही दीखता
किन्तु वह रहा घूम
तिलस्मी खोह में गिरफ़्तार कोई एक,
भीत पार आती हुई पास से,
गहन रहस्यमय अन्धकार ध्वनि-सा
अस्तित्व जनाता
अविवार कोई एक,
और मेरे हृदय की धक्-धक्
सुनाई जो देता, पर नहीं देता दिखाई !
इतने में अकस्मात् गिरते हैं भीतर से
फूले हुए पलिस्तर
खिरती है चूने-भरी रेत
खिसकती हैं पपड़ियाँ इस तरह
खुद-ब-खुद
कोई बड़ा चेहरा बन जाता है,
स्वयमपि
मुख बन जाता है दिवाल पर
नुकीली नाक और
भव्य ललाट है,
दृढ हनु,
कोई अनजानी अन-पहचानी आकृति।
कौन वह दिखाई जो देता, पर
नहीं जाना जाता है !!
कौन मनु ?'

हिन्दुस्तान केवल नक्शे में नहीं कविता में भी है। और शायद कविता का हिन्दुस्तान ज़्यादा सच है। इस हिन्दुस्तान को पहचानने में हिन्दी कविता को लगभग पचास वर्ष लग गये। और जब इस प्रश्नाहत 'मनु' को पहचाना गया तब तक देश सचमुच ही 'अँधेरे में' जा चुका था। मुक्तिबोध की सार्थकता इसमें है कि उन्होंने इतिहास के प्रश्नों को केवल इतिहास के प्रश्न कहकर नहीं छोड़ दिया, बल्कि उन्हें कविता के प्रश्नों में बदल दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानीकार मुक्तिबोध : 'कौन मनु ?'

अग्न्येश्का सोनी

"और फिर हम दोनों के बीच दूरियाँ चौड़ी होकर गोल होने लगीं। हमारे साथ हमारे सिफ़र भी चलने लगे।

अपने-अपने शून्य की खिड़कियाँ खोलकर मैंने—हम दोनों ने—एक-दूसरे की तरफ़ देखा कि आपस में बात कर सकते हैं या नहीं!"

—'क्लॉड ईथरली'

: १ :

गजानन मुक्तिबोध की साहित्यिक साधना मूलतः कविता के क्षेत्र में हुई। वे मूलतः और अनिवार्य रूप से कवि ही थे—शुरू से आखिर तक।

कवि और विचारक, ऐसे विचारक जिन्होंने स्वयं अपनी कला के विस्तृत सिद्धान्त और समकालीन साहित्य को परखने की निजी मज़बूत कसौटियाँ बहुत साफ़ और सुलझे हुए ढंग से अनेक ओजपूर्ण निबन्धों में सामने रखी हैं।

उनकी गद्य-शैली प्रायः आकर्षक और सजीव होती है, इसमें शक्ति भी है और लचीलापन भी; पर यह बात भी असन्दिग्ध है कि उनके लेखक की मुख्य प्रवृत्ति गद्य रचने की नहीं थी; न ही बन सकी। उसका सबूत खुद उनके शब्दों में मिलता है, जिन्हें यहाँ पर याद करना वाजिब होगा :

"ट्रैजेडी यह है कि लोग मुझे गद्य लिखने को कहते हैं··· मुझे सलाह दी गई है कि मैं उपन्यास लिखूँ और अपना दलिद्दर मिटाऊँ।"[1]

'एक साहित्यिक की डायरी' में यह व्यंग्यपूर्ण शिकायत कितनी मार्मिक है! और साथ ही, कवि-मन का जो मूलभूत आग्रह है, वह इस विडम्बना को कितना कटु बना देता है :

"मैंने इस ओर काम भी शुरू कर दिया है। लेकिन क्या बताऊँ, कि एक चीज़ है, जिसका नाम है धुन, जिसका नाम है लौ।···वह मुझे कविता की ओर ही ले जाती है। लेकिन मैं वचन देता हूँ कि मैं कविता नहीं, बल्कि गद्य लिखूँगा।"[2]

और विडम्बना का यह चरम बिन्दु आता है जब वे अपनी कविता का गद्यानुवाद करने का विचार करते हैं :

"सोचता हूँ कि अपनी इस प्रदीर्घ कविता को किसी कहानी का रूप दे दूँ। सम्भव है कि कहानी की कोई मासिक पत्रिका मुझे कम-से-कम पन्द्रह-बीस रुपये दे दे। इससे मैं अपने मित्रों के सामने यह सिद्ध कर सकूँगा कि मैं अयोग्य नहीं हूँ और रुपये कमा सकता हूँ!"[3]

यों कविता उनका "पिण्ड नहीं छोड़ती थी।" "समय के कई काल क्षणों को प्रायः एक साथ आयामित करने"[4] पर जो उनका आग्रह था ("जैसे स्वप्न के भीतर स्वप्न आते हों—उलट-पुलट होकर"[5])—उस अद्भुत अत्याधुनिक 'उलट-पुलटपन' का निर्वाह वे कविता में ही कर सकते थे। लेकिन बीच-बीच में कहानियाँ भी लिखीं; और उनमें से कई हैं जो अपना अलग महत्त्व रखती हैं। (कुछ इस तरह, जैसे मिकेलांजेलो के वे कतिपय 'म्योरल' चित्र जो विख्यात मूर्तिकार की अभिव्यक्ति के प्रिय और सही माध्यम न होने पर भी—अपनी सौंदर्य-कल्पना में अपूर्व बन गये)।

: २ :

मुक्तिबोध की कहानियों की संख्या कविताओं की तुलना

श्रीमती अग्न्येश्का सोनी सम्प्रति दिल्ली विश्वविद्यालय में पोलिश भाषा की प्राध्यापिका हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बहुत कम है : 'काठ का सपना' के नाम से जो संग्रह पाठकों के सामने आ चुका है[६] इसमें कुल ग्यारह कहानियाँ एकत्रित की गई हैं।

ये सब कहानियाँ समान मूल्य की नहीं हैं। इनके स्तर में फ़र्क है—जिसका ज़िक्र श्रीकान्त वर्मा ने संग्रह की भूमिका में किया है। और यह फ़र्क काफ़ी हद तक "ज़माने के साथ बदलते कहानी-कौशल" का नतीजा है[७]—बिला शक। लेकिन—अन्तर केवल शिल्प-कौशल का नहीं, कहानियों के भीतरी ताप-मान का है! यह ग़ौर करने की बात है।

वैसे, इन सभी कहानियों में **नैतिक** प्रश्न प्रधान हैं; और हर एक में, कोई नैतिक निष्कर्ष भी मिलता है—कोई उत्तर। फ़र्क है—उन प्रश्नों की कठिनाई में, उन उत्तरों की कठोरता में। या यों समझें, कि फ़र्क है—कहानियों के अन्दर इस विशेष तत्त्व की मात्रा में, जिसे हम 'मुक्तिबोधपन' कह सकते हैं। इस बात को उदाहरणों से पुष्ट करना होगा।

संग्रह की कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, जिन पर मुक्तिबोध के लेखक-व्यक्तित्व की 'छाप' अपेक्षाकृत कम है; जो मानो किसी और से भी लिखी जा सकती थीं; जो मुक्तिबोध की उलझी, गुम्फित भावनाओं का परिचय नहीं देतीं। ऐसी कहानियाँ हैं—**'दो चेहरे', 'प्रश्न', 'मोह और मरण'**।

इन छोटी, सीधी और सजीव कथाओं में साधारण लोगों की भावनाओं के प्रति सहानुभूति की उष्मा है, मानवीय आत्मा की मूल पवित्रता और उदार शक्ति पर गौरवपूर्ण विश्वास है, जो मुक्तिबोध का अपना है। कहानी को पेश करने में एक नाटकीय मुद्रा भी दिखाई देती है। इस पर भी ये मुक्तिबोध की विशिष्ट, 'असली' कहानियाँ नहीं हैं। फलतः, ये तीखी कम हैं—आधुनिक भी कम।

'मुक्तिबोधपन' का आभास **'ब्रह्मराक्षस का शिष्य'** शीर्षक वाली कहानी में ज़रूर झलकता है; पर यह केवल एक आभास है, एक छाया है! आखिर यह कहानी, जो पहले एक बाल-पत्रिका में छपी थी, लिखी भी गई **किशोर** पाठकों के लिए उपयुक्त ढंग से (कथा का आदिम प्रारूप लेखक के मन में चाहे जैसा भी रहा हो)। इस बात का पहला सबूत है—कहानी की भाषा और शैली, जो जयशंकर प्रसाद की गद्य-कृतियों की जैसी मालूम पड़ती है। और, श्रीकान्त वर्मा की इस धारणा से असहमत होना पड़ेगा, कि यही "इस संग्रह की सबसे अच्छी कहानी" है। यह उस प्रौढ, **अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान** कविता का साथ कैसे दे सकती जहाँ "अतिरेकवादी पूर्णता की व्यथाएँ" इतने विलक्षण ढंग से अंकित हुई।

कविता के इस ट्रैजिक, पागल ब्रह्मराक्षस के सामने, जो उगलता है :

> "अनोखा स्तोत्र, कोई क्षुब्ध मन्त्रोच्चार
> अथवा शुद्ध संस्कृत गालियों का ज्वार"

कहानी का ब्रह्मराक्षस बहुत फीका है। इसलिए, कहानी के अन्त में, 'ज्ञान का लाया हुआ उत्तरदायित्व' केवल शिष्य को एक सुन्दर उद्‌बोधन बनकर रह जाता है : शिष्य के मन में इस उत्तरदायित्व की **पीड़ा** नहीं है (वह तो "भीतर से किसी प्रकाश" का अनुभव करते हुए, गुरु का "सिखाया पाठ मन-ही-मन गुनगुनाते हुए" घर लौटता है)। ग़ौर से देखने पर पता चलता है कि—**'ज्ञान'** शब्द यहाँ प्रचलित अर्थ में आया है—यह परम्परागत सत्-चित्-आनन्द से सम्बन्ध रखता है, मुक्तिबोध की **"भीषण सत्-चित-वेदना"** से नहीं! 'मुक्तिबोधपन' को सरलीकृत नहीं किया जा सकता!

: ३ :

संग्रह में दूसरी श्रेणी की कहानियाँ हैं जिनका वस्तुतत्त्व सीधे लेखक के जीवन-संघर्ष के क्षेत्र से लाया गया है। इन कहानियों के भावों और विचारों का मुक्तिबोध की 'डायरी' से गहरा रिश्ता है; जगह-जगह पर—परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से—कविताओं से भी।

यहाँ भी स्तर में फ़र्क दिखाई देता है : 'टेकनीक' की क्षमता का, अन्तर्योजना की दृढता का, और समस्याओं के स्तर का—हालाँकि 'मुक्तिबोधपन' इन सबमें मौजूद है।

और यह आकस्मिक नहीं है, इत्तिफ़ाक की बात नहीं, कि इनमें जो सबसे अनोखी, सबसे साहसिक कृतियाँ हैं—उनका नायक **'उत्तम पुरुष'** में ही बयान करता है। इस कथा-नायक के भाव और प्रतिक्रियाएँ प्रत्यक्ष रूप से स्वयं मुक्तिबोध की—कवि मुक्तिबोध की—हैं। कथानक (जो कि बाहरी चीज़ है) चाहे काल्पनिक ही हो।

स्वयं की ही आलोचना इतनी पाताल-स्पर्शी हो सकती है—और इतनी निर्मोह, क्रूर, जैसे उन **'मैं' (या 'हम') की कहानियों** में 'क्लॉड ईथरली', 'पक्षी और दीमक', 'विपात्र', 'जंकशन'।

जहाँ-जहाँ कहानी का नायक इस 'मैं' से इतर होकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'प्रथम पुरुष' में उपस्थित है, वहाँ उसके प्रति लेखक की सहानुभूति भी रहती है—जैसे **'काठ का सपना'**, **'अंधेरे में'** या **'नयी ज़िन्दगी'** कहानियों में।

पहले इन्हीं पर दृष्टिपात करें।

'काठ का सपना' एक सफल, सुसंगठित कृति है, जो—'नयी कहानी' के मान्यताप्राप्त ढंग से ही—रोज़मर्रे के छोटे-छोटे ठोस चित्रों द्वारा उस घुटन-भरी ग़रीब मध्यवर्गीय ज़िन्दगी के अँधेरे का अवलोकन करती है, जहाँ "ख़यालों से माथे का दुखना नहीं थमता, देह की थकन दूर नहीं होती, असंतोष की आग और बेबसी का धुआँ दूर नहीं होता।"

पर यही सब-कुछ नहीं है। कहानी का वह थका, हताश नायक, जिसे "सिर्फ़ एक सन्देह है।···कि इस निष्क्रियता में एक अलगाव है—**एक भीतरी अलगाव है**", जो अपने अन्दर की जड़ता से मुक्त नहीं हो पाता—अन्त में एक सपना देखता है: वह और उसकी पत्नी, दोनों "निष्प्राण काठ हो गए हैं", जो जल-विप्लव में एक-दूसरे से "गुँथे-बँधे वहे जा रहे हैं"। लेकिन 'उन पर एक बालिका बैठी हुई है'—अपनी बच्ची। और पिता अनुभव करता है कि "उस बाल-मूर्ति की रक्षा करनी ही होगी! उन दोनों काठ-लट्ठों का यही कर्त्तव्य है।"

इस प्रसंग में, मुक्तिबोध की कई कविताओं में उपस्थित यह प्रतीक याद आता है—एक शिशु, जिसकी रक्षा करनी है:

"छाती से, कन्धे से चिपका है नन्हा-सा आकाश
स्पर्श है सुकुमार प्यार-भरा कोमल
किन्तु है भार का गम्भीर अनुभव।"[8]

अन्य स्थानों से प्रकट है कि इस शिशु से जिस चीज़ की उपमा दी गई है—वह है "जीवन का आत्मोत्पन्न सत्य।"[9]

'अंधेरे में' और **'नयी ज़िन्दगी'** कहानियाँ सफल शायद नहीं मानी जा सकेंगी, यद्यपि दोनों के कथ्य की अर्थवत्ता पर कोई सन्देह नहीं कर सकता।[10]

'नयी ज़िन्दगी' का रमेश, जो 'लीडर और विचारक' था, जिसकी "सशक्त गद्य-वाणी में से ज़िन्दगी के अनुभव, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृश्य, स्थानीय और प्रान्तीय हलचलों के नज़ारे कविता की भाँति फूट पड़ते", पर जिसके दिल को अपने ग़रीब "घर की अवरुद्ध हवा" कचोट लेती थी—कहानी के अन्त में अपने पारिवारिक जीवन में ही सच्चा परिवर्तन लाने का फ़ैसला कर लेता है। समस्या का समाधान कहानी में चाहे कुछ अतिसहज रूप से प्रस्तुत किया हो (रमेश जब "अपनी बीवी को अखबार पढ़कर सुना रहा है")—पर समस्या वास्तविक और ज्वलन्त है। इसी समस्या को मुक्तिबोध ने अपने निबन्धों में भी उठाया है।

"बाहर राजनीति या साहित्य में 'नये जीवन', 'नये मानव-मूल्य' की बात चलती है।···लेकिन जहाँ कार्य की बात आई—ख़ास तौर पर **'परिवार में'** मूल्यों की स्थापना की बात आई कि बड़े विचारक कन्नी काट गए। मानो घर, समाज के बाहर हो।"[11]

'अँधेरे में' का कथ्य अधिक जटिल है। कहानी के भीतर जो 'नुकीला एक कीला तेज़' गड़ा हुआ है, वह शुरू में दिखाई नहीं देता, गहरे में छिपा है।

उस युवक को, जो बरसों बाद मध्य प्रदेश के 'अपने' शहर में आकर, रात को सोई हुई सड़कों पर घूमने निकला है—शहर का सारा निम्न-मध्यवर्गीय वातावरण, उसके विभिन्न दृश्य, "अत्यन्त प्रिय", "आत्मीय जैसे" महसूस होते हैं। कहानी धीमी अलसाई गति से चलती है, उसके रंग व्यक्तिगत-लगते हैं, जैसे वे किसी वास्तविक पूर्व-संस्मरण के पृष्ठ हों: चाय की दुकान पर लोगों की गप्पें, एक शरीफ बुजुर्ग मुसलमान से बातचीत, अब तक कोई घटना नहीं, केवल प्रलम्बित रात्रि-भ्रमण, और अचानक अख़ीर में, अँधेरे से आवृत वह—घटना? या संवेदना पर घोर आघात?

"उसका शरीर काँप गया। उसकी बुद्धि, उसका विवेक काँप गया। वह यदि कदम न रखता तो एक ही शरीर पर—न जाने वह बच्चे का है या स्त्री का, बूढ़े का या जवान का—उसका सारा वज़न, एक ही पर, जा गिरे···। वह भागने लगा एक किनारे की ओर। परन्तु कहाँ—वहाँ तक आदमी सोए हुए थे। इनके शरीरों की गरम कोमलता उसके पैरों से चिपक गई थी···। वह पुण्यात्मा विवेक शक्ति केवल काँप रही थी···। मानो इस गहरे अँधेरे में भी भूखी आत्माओं की हज़ार-हज़ार आँखें उसकी बुज़दिली, पाप और कलंक को देख रही हों।"

यही घोर भयानक अनुभव जो कविता ("चकमक की चिनगारियाँ") की उन पीड़ित उद्विग्न पंक्तियों में:

"अधूरी और सतही ज़िन्दगी के रास्तों पर गर्म,
अचानक सनसनी भौंचक
कि पैरों के तलों को काट खाती कौन-सी वह आग?
·········

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भयानक, हाय, अंधा दौर
कि जीवित छातियों पर और चेहरों पर
कदम रखकर
चले हैं पैर !
अनगिन अग्निमय तन-मन व आत्माएँ
....
कुचलता चल निकलता हूँ।"

कविता की इन पंक्तियों के साथ, कहानी की गूँजती हुई आवाज़ कहती है : "पाप, हमारा पाप, हम ढीले-ढाले, सुस्त, मध्यवर्गीय आत्म-सन्तोषियों का घोर पाप !"

यह अनुभव—अपने ही वर्ग के **पाप** का—मुक्तिबोध के सिवा हिन्दी नवलेखन में नहीं मिलता; इसलिए, '**जंक्शन**'-जैसी कथा वे ही लिख सकते थे।

यहाँ ज़हरीला तजुर्बा लेखक की अपनी ही ओर से बताया जाता है।

दो **अलग ग़रीबियों** का साक्षात्कार :

एक वह स्वयं की, गर्वीली, सचेत निर्धनता—जिस पर लेखक, मनहूस प्लेटफ़ार्म पर टहलता हुआ, कड़वा मज़ाक करता है ("विचित्र समस्या है। खुद ही अकेले में, अपने को अकेले ही शानदार समझते रहो"—'शानदार' अच्छे गरम कपड़ों के कारण जो उधार लिये हुए हैं, जबकि घर में बच्चों के पास "रजाई भी नहीं है"। इसी ग़रीबी का आदर करना, इसे अपनी 'जन्मभूमि' समझकर उसके प्रति वफ़ादार रहना तो इन्होंने "अपने बच्चों को सिखा दिया है" ("तुम कटे-पिटे दाग़दार चेहरेवालों की सन्तान हो। उनसे द्रोह मत करो। अपने इन लोगों को मत त्यागना।")

और वह दूसरी ग़रीबी, जो इन्सान को "आदमी नहीं, आदमीनुमा गन्दा सामान" बना देती है, जो खामोश, सिमटी-सिमटी रहती है, जो "दूसरे और निचले किस्म के, निचले तबके के लोगों की" ख़ानदानी विरासत है। उसके सामने मध्यवर्गीय 'आदर्शवादी मन' निरुत्तर रह जाता, "जड़ हो जाता" है, उसका उपकार नहीं कर सकता। इसी बोध से वह "अपने भीतर ही नंगा हो जाता" है "और अपने नंगेपन को ढाँपने की कोशिश भी नहीं करता"।

: ४ :

"अच्छा आदमी वह होता है जिसकी **बुराई ढँकी रह जाती** है, चाहे आप-ही-आप, चाहे किए-कराए।"

'**विपात्र**' में यह कटु परिभाषा केवल एक स्फुट व्यंग्य-उद्गार नहीं है ! इसके पीछे जो सन्ताप, जो तड़पन है उसे मुक्तिबोध की उन सब व्याकुल कहानियों में महसूस किया जा सकता है।

पर उस तड़पन के 'गुप्त नाटक' प्रकट करने में ख़ास तौर से पारदर्शी, अपने-अपने ढंग से 'क्लासिक' तीन कहानियाँ हैं : '**क्लॉड ईथरली**', '**पक्षी और दीमक**' तथा—अपनी विस्तृत बहसों और व्याख्याओं में कहीं-न-कहीं शिथिल पड़ने के बावजूद !—'**विपात्र**'।

ये ही तीन कहानियाँ हैं जिनका कला-पक्ष सबसे समृद्ध, मौलिक और चुनौती देने वाला है। ये मानो 'आलोचनाओं के चमकते तारों' से बनी हैं; तारों की कठोर चमक, और उनकी बारीक बुनाई, दोनों चीज़ें निराली हैं।

बयान के अनेक स्फुट, रोमांचक टुकड़े स्पष्ट रूप से प्रतीकात्मक हैं—जैसे कि साँप की चर्चा ('पक्षी और दीमक', 'विपात्र') या अपने चेहरे के बिगड़े हुए, डरावने अक्स के दर्शन ('पक्षी और दीमक', 'क्लॉड ईथरली'), या वह शुरू में हँसी का ठहाका ('विपात्र') जो आखिरी सीन में क्रूर उपहास का रूप लेता है; यहाँ तक कि कहानी-पात्रों की शक्लें-सूरतें भी प्रतीकात्मक हैं—जैसे भ्रष्टाचारी 'बॉस' का गदबदापन ('पक्षी और दीमक', विपात्र') या ('क्लॉड ईथरली' में) गुप्तचर के "जिस्म की ज़नाना लचक" (जिसके बारे में स्वयं लेखक कहता है कि "इस शख़्स का ज़नानापन ख़ास मानी रखता है")।

उन व्यंग्य-भरे प्रतीकों का घुमावदार आवर्त्त निरन्तर केन्द्रीय बिन्दु की ओर संकेत करता चलता है, इसी तरह जैसे 'क्लॉड ईथरली' में रास्ता हर बार अनिवार्यतः जाता है—"पागलखाने की ओर।"

'**पक्षी और दीमक**' तथा '**विपात्र**' की केन्द्रीय समस्या एक ही है : भारतीय समाज की असली शासक सत्ता के सामने—प्रभाव, धन और भ्रष्टाचार की सत्ता के सामने, अकेला प्रबुद्ध व्यक्ति किस हद तक, किस शर्त पर, अपने चरित्र का खरापन और अपना मानवीय गौरव बनाये रख सकता ?

गुप्त स्वार्थों और चालाक बेईमानियों की उस सभ्य तानाशाही का दबाव दोनों कहानियों में तीखे 'सैटायर' के साथ पेश किया गया है। इस दबाव के दो चलते-फिरते प्रतीक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं---'पक्षी और दीमक' का नाटा-मोटा भगवे खद्दर कुरते वाला नेता, और 'विपात्र' के "ठिगने क़द के और चौरस पीठ के" (बॉस')। दोनों किसी सांस्कृतिक संस्था के 'सर्वेसर्वा', दोनों फितरती दिमाग के मालिक, दोनों 'अपने आदमियों' के "कृपालु-मित्र और सहायक" होने के नाते, उनकी वफ़ादारी के हक़दार!

'पक्षी और दीमक' का नायक जब अपने कृपालु नेता से खुलेआम झगड़ा मोल लेने का, विद्रोह करने का निर्णय करता है—तो यह उसकी सहज प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि अपनी "भद्रता की कल्पना और सुविधा के भाव" के विरुद्ध एक तीव्र और कष्टप्रद, गुप्त संघर्ष की परिणति है!

"बुराई की इस अनेक चक्रों वाली दैत्याकार मशीन में" फँसा रहने की तकलीफ उसे ज़रूर है ("पैर भिंच गये हैं, पसलियाँ चूर हो गई हैं, चीख निकल नहीं पाती, आवाज़ हलक में फँसकर रह गई है"—मानसिक क्लेश का यह चित्र वही है, जो मुक्तिबोध की कई कविताओं में।) लेकिन वह किसी झगड़े में फँसना नहीं चाहता, अपनी आमदनी के ज़रिए ख़त्म करके सच्चाई का शहीद बनने की उसे कोई इच्छा नहीं।

इस पर भी, जब वह पहले अपनी प्रेमिका के सामने दुःखपूर्ण आत्मालोचना करता है (संकेतात्मक कथा सुनाकर जिसका सार कविता के छन्दों में यों व्यक्त हुआ : **"उदर-भरी बन अनात्म बन गए"**[१२] और फिर पाता है कि **"अपने भीतर के असामान्य के उग्र आदेश का पालन"**[१३] अभी भी कर सकता है, **"प्राण शक्ति शेष है, शेष!"**—तो देखना होगा कि 'असामान्य' की इस कठिन विजय का बहुत-कुछ श्रेय उस स्त्री-व्यक्तित्व को है, जो "एक गांधीवादी कार्यकर्ता की" है, जिसमें "बारीक बेईमानियों का सूफ़ियाना अन्दाज़" बिलकुल नहीं है, जिसका "अमिश्रित आदर्शवाद" केवल कहता है— "जहाँ साँप देखो, मार डालो!"

'विपात्र' में ऐसे 'अमिश्रित आदर्शवाद' का वाहक कोई पात्र नहीं है; इसलिए, परिणाम केवल यही हो सकता है : अपने ऊपर व्यंग-विस्फोट!

असल में, इस लम्बी कहानी का, जिसका विषय उलझी चरित्र-स्थितियों का विश्लेषण है—कोई 'नायक' भी नहीं है; या एक **सामूहिक नायक** है—'बॉस' साहब का 'दरबार'।

बयान के दौरान में यह समूह, उसके "ख़ास व्यक्ति और उनके व्यक्तित्व, उनके परस्पर सम्बन्ध और उनकी जीवन-प्रणाली" बार-बार निहारी जाती है, हर दफ़ा कुछ बदले पहलू से (कथा की योजना सपाट-बयानी से बहुत दूर है!), और उस मानव-समुदाय की मनहूस हक़ीकत धीरे-धीरे आँखों के सामने उभरने लगती है।

"एक तरह से हम सब भोले थे, सरल हृदय थे…। लेकिन, हममें सामाजिक अन्तरात्मा नहीं थी, सामाजिक चेतना नहीं थी क्योंकि असल में हम सब लोग हरामखोर थे।"

विद्याकेन्द्र के उन सब सदस्यों में—एक राव साहब को छोड़कर जो **अमिश्रित अवसरवाद** की मूरत है (और जिसकी "गम्भीरता, अनुशासनशीलता, श्रम करने की अपूर्व शक्ति और धैर्य", तथा अपने आराध्य 'बॉस' की उपासना, सब "अगली सीढ़ी पर चढ़ने" के साधन थे)—कोई भी उत्साही, स्फूर्तिमय व्यक्तित्व नहीं दीखता। वे सब अपने 'बॉस' की सहायता पर आश्रित, 'दरबार' में बैठने वाले लोग—आहत हैं, फँसे हुए हैं, कैदी हैं ("एक अजीब कैद थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपको विफल समझता था")। इस स्वयं-स्वीकृत हीन-भाव का प्रतीक अन्तिम 'सीन' में कौंध उठता है—

"एबीलार्ड! सन्त! जिसने अपनी जननेन्द्रियों को चाकू से काट दिया था, सन्त बने रहने के लिए।"

'विपात्र' शिक्षित मध्यवर्ग के सामूहिक 'नपुंसत्व' की घोषणा है।

: ५ :

और अन्त में, वह कहानी जो संग्रह में—बहुत ठीक!—प्रारंभिक स्थान पर रखी गई है, ताकि पाठक सबसे पहले इसी कृति से परिचय करे, जो मुक्तिबोध की सबसे निजी और विशिष्ट है।

यह और बात है कि **'क्लॉड ईथरली'** कथन-शैली की निगाह से मुक्तिबोध की बाकी सब कहानियों से एकदम भिन्न है : यह असल में, उनकी कविताओं की ही तरह एक 'फ़ैंटेसी' है।[१४]—एक बेचैन, भयावह **भाववादी** फ़ैंटेसी जो (यह विरोधाभास मुक्तिबोध की काव्य-कला की विशेषता है।[१५]) —आधुनिक मानव नियति का **गहरा यथार्थ बोध** कराती है।

कथा की रोमांचक नाटकीयता इसी शिल्प की देन है। वे ही कवि-मुक्तिबोध की प्रिय कविताओं में अनेक बार आती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई कल्पनाएँ : एक रहस्यमय अहाता; एक पागल जन की 'स्फटिक-सी तेज़ आँखें'; एक गुप्तचर जो अजीब और ख़तरनाक, राज़ की बातें सुना रहा है !

यह स्वप्न-लोक का अनजाना शहर है, इसलिए कथा-नायक अचानक विस्मय में आकर पूछता—"तो यहाँ भी पान की दुकान है ?" पर उसके मन-ही-मन में यह हिन्दुस्तान ही तो है, इसलिए क्लॉड ईथरली का ज़िक्र सुनकर वह चौंक पड़ता है—"तो क्या हिरोशिमा वाला क्लॉड ईथरली इस पागलखाने में है ?···तो क्या यह हिन्दुस्तान नहीं है ? हम अमरीका में रह रहे हैं ?" और जवाब में सुनी अपने 'गाइद' की व्यंग्यात्मक व्याख्या पर : "भारत के हर बड़े नगर में एक-एक अमरीका है ! ···हिन्दुस्तान भी अमरीका ही है।" यकीन करने को हरगिज़ तैयार नहीं है।

उसका वह दिलचस्प साथी (कैसा तीखा मज़ाक है) एक चतुर सी० आई० डी० वाला है, इसलिए कथा-नायक की 'अति-संस्कृत' भद्रता के पीछे गहरी आत्माशंका की 'महक' आसानी से सूँघ लेता है; वह 'ज़नाना आदमी' भी है, जिस वजह से शायद औचित्य के परे अवचेतन की बातों को अधिक पहचानता है। कथा-नायक के गुप्त-मन की आशंकाएँ और पिराते हुए ख़याल इसी शख़्स के शब्दों में मूर्त होकर सामने आते हैं।

वह पहले ठोस यथार्थवादी अन्दाज़ से, तर्क-संगत विश्लेषण के साथ, यह बात सिद्ध करता है कि "उनकी (पश्चिम की) संस्कृति और आत्मा का संकट हमारी संस्कृति और आत्मा का संकट है", इसलिए "क्लॉड ईथरली हमारे यहाँ भले ही देह रूप में न रहे, लेकिन आत्मा की वैसी बेचैनी रखने वाले लोग यहाँ भी हो सकते हैं"—और यहाँ भी, इन्हीं कारणों से, पागल ही कहे जायेंगे।

पर इसी वास्तविकता का एक गुप्त—आधुनिक मानव-अभ्यन्तरगत—आयाम भी है !

"हमारे अपने-अपने मन-हृदय-मस्तिष्कों में ऐसा ही एक पागलखाना है, जहाँ हम उन उच्च पवित्र और विद्रोही विचारों और भावों को फेंक देते हैं।" दूसरे शब्दों में—"आजकल हमारे अवचेतन में हमारी आत्मा आ गई है, चेतन में स्व-हित और अधिचेतन में समाज से सामंजस्य का आदर्श।"

यही अनुभव—जो मुक्तिबोध के जीवन-दर्शन का केन्द्रीय तथ्य है—उनके काव्य में कुछ भिन्न प्रतीकों और बिम्बों द्वारा व्यक्त हुआ है। कितनी ही बार उन कविताओं में ढूँढे और पाये जाते हैं बहुमूल्य विचारों और भावों के—

"ये मौन उपेक्षित रत्न"
"मैली सतहों में फँसा-दबा
चुपचाप धसाये गये, छिपाये गये
···विविध असुविधाओं के कारक होने से
नित उपेक्षिता भूमि में फिंके !"

यह 'ओ काव्यात्मन फणिधर' का चित्र है।[१६] 'चम्बल की घाटी में' और 'अँधेरे में' कविताएँ इसी प्रतीक का पुनः प्रयोजन करके, उसे और विस्तार देती हैं।[१७]

उन मन-मणियों को अवचेतन की "खोह में डाल देने" की अपनी क्रिया पर गहरा पछताव, अपनी 'समझौतावादी निष्क्रियता' का दुःख—निज अपराध-भावना का कारण है, जिससे उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व मुक्तिबोध की उन दो अन्तिम लंबी कविताओं में सबसे संपूर्ण और सशक्त रूप से प्रकट हुआ है।

'चम्बल की घाटी में' का यह चित्र यहाँ याद करें :

"दुष्ट व्यवस्था की वह जो
प्रतिनिधि-मूर्ति
तुम्हारे ही उर पर
दस्यु की चट्टानी आकृति बनकर
दबंग रौबीले ठाठ से बैठी,
··············
तुम्हारे स्वरूप का मूर्त महत्कृत
रूप है वह तो।
दस्यु-पराक्रम
शोषण-पाप का परम्परा-क्रम
वक्षासीन है
जिसके कि होने में गहन अंशदान
स्वयं तुम्हारा
इसीलिए जब तक उसकी स्थिति है
मुक्ति न तुमको।"[१८]

'क्लॉड ईथरली' में यही बात, इसी उपमा का प्रयोग करके, कथा-नायक के मन की 'स्क्रीनिंग' के तौर पर कही जाती है।

"ऐसे बहुतेरे लोग हैं जो पापाचार-रूपी, शोषण-रूपी डाकुओं को अपनी छाती पर बैठा समझते हैं। वह डाकू न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल बाहर का व्यक्ति है, वह उनके घर का आदमी भी है", अतः उनके "अन्तःकरण में व्यक्तिगत पाप-भावना रहती ही है, **रहनी चाहिए**।"

कहानी में इस बात के साथ किसी आशावादी आस्था की किरन नहीं दीखती; कथा-नायक को सिर्फ—जासूसी विभाग में शामिल हो जाने के प्रस्ताव की भूमिका पर! —यह खौफ़नाक फैसला सुनाया जाता है कि—"तुम-सरीखे सचेत जागरूक संवेदनशील जन क्लॉड ईथरली हैं।"

और वह इस आघात की पीड़ा से लहूलुहान हो उठता है।

पर क्या यही मानवीयता का दस्तावेज़ नहीं है : क्लॉड ईथरली का दर्दनाक किस्सा केवल एक व्यक्ति-विशेष की ट्रैजेडी नहीं—हम सबका मामला है। हम इससे अलग होकर, अपनी ज़िम्मेदारी से नहीं बच सकते।

मुक्तिबोध की "संकल्प-धर्मा चेतना का रक्त-प्लवित स्वर" सन्नाटे के दायरे को तोड़ता हुआ, तेज़ बजता है—उदासीनता के विरुद्ध, अलगाव के विरुद्ध—मानवीयता की जलती पीड़ाओं से हमारे भीतरी अलगाव के विरुद्ध।

पाद-टिप्पणियाँ

१. 'एक साहित्यिक की डायरी', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय सं० १९६४, पृ० ३१।
२. 'एक साहित्यिक की डायरी', पृ० ३४।
३. वही, पृ० ४३।
४. शमशेरबहादुरसिंह, 'एक विलक्षण प्रतिभा'—'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की भूमिका में।
५. 'एक साहित्यिक की डायरी', पृ० ४३।
६. गजानन माधव मुक्तिबोध : काठ का सपना, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९६७, वाराणसी, पृ० १७०।
७. वैसे, कहानियों का सम्पादन करते समय, प्रत्येक का रचना-काल (या प्रथम प्रकाशन-काल) सूचित करना चाहिए था, जिससे पाठक को मुक्तिबोध के चिन्तन और शिल्प के विकास को समझने में मदद मिल सके। अगले संस्करण में यह कमी ज़रूर पूरी करनी चाहिए—काव्य-संग्रह में भी।
८. 'अँधेरे में' कविता, चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ २८९।
९. 'डूबता चाँद कब डूबेगा' तथा 'ओ काव्यात्मन फणिधर' देखिए।
१०. दोनों कहानियों की सबसे बड़ी कमज़ोरी शायद यही है कि उनके मुख्य पात्रों की विशिष्टता लेखक की ओर से बताई जाती है, पर अपने-आप कम उभरती। दोनों 'नयी ज़िन्दगी' का रमेश और 'अँधेरे में' का युवक—ऐसे 'सचेत, जागरूक, संवेदनशील' मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी हैं, जो 'अपने विचारों-भावों और इरादों' से प्रेरित होकर, सहज ही सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में बढ़ते हैं और पिछड़े हुए महल्लों के 'ज्ञान-प्यासे, जानकारी के भूखे' लोगों के विश्वास के अधिकारी बनते हैं। ये सन्दर्भ कहीं मुक्तिबोध के नागपुर-जबलपुर जीवन के होंगे।
११. एक साहित्यिक की डायरी, पृष्ठ ८४।
१२. 'अँधेरे में'—'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ० २७७।
१३. 'एक साहित्यिक की डायरी', पृ० ७७।
१४. 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' इस अर्थ में 'फैंटेसी' नहीं है—वह काल्पनिक कथा है, आत्मगत 'स्वप्न-कथा' नहीं।
१५. इस प्रसंग में देखिए, डॉ० नामवरसिंह द्वारा 'अँधेरे में' कविता का विश्लेषण, 'कविता के नये प्रतिमान', पृ० २३९-२४२।
१६. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० १३१।
१७. वही, पृ० २३७, २४४, २४५ तथा २८१-२८२।
१८. वही, पृ० २५८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अँधेरे में' तथा मुक्तिबोध की अन्य कविताएँ—एक अन्तर्सूत्र

विष्णु खरे

चूँकि आलोचक चीजों को समझना चाहता है और उन्हें समझाने में सहायक होना चाहता है, वह एक व्यवस्था-प्रिय व्यक्ति होता है, या कह लें कि एक गणितज्ञ होता है जो परिणामों से कारणों की उल्टी यात्रा करता है। अन्य बातों के अलावा वह रचनाकार की कृतियों में एक सर्वनिष्ठ थीम, मोटिफ या मोटे तौर पर कोई बुनियादी समानता (या उनका अभाव) खोजता है जो न केवल उन कृतियों को समझने में मदद करे बल्कि रचनाकार के भीतरी विश्व की व्यवस्था (या अव्यवस्था) को भी उजागर कर सके। यह आवश्यक नहीं कि किसी रचनाकार की समस्त रचनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हों और उनमें कोई सुबद्ध विकास-सरीखी कोई चीज़ देखी जा सके—युवा ईट्स तथा बूढ़े ईट्स की रचनाओं में कितना फ़र्क है—किंतु इस तथ्य से भी छुटकारा नहीं है कि एक ही रचनाकार की कृतियाँ एक ही व्यक्ति की होती हैं और बहुत-कुछ बदलने के बाद भी हम सबमें कुछ ऐसा होता है जो कभी नहीं बदलता, बल्कि समय के साथ-साथ और गहरा पैठता जाता है। कविता में तथा कवि में जब भी बदलाव आता है तब वह न तो अनायास होता है और न पिछले संसार से असंबद्ध। कविता के जितनें दौर आए हैं उनसे जाहिर है कि उन दौरों में लिख रहे कवि बदलते हुए समय में बदले हुए स्वयं के प्रति सर्वथा जागरूक थे। 'पल-पल परिवर्तित' वेश अच्छी कविता का मानदंड नहीं माना जा सकता, किंतु यह भी सत्य है कि ऐसे कवियों में, जो स्वयं को नहीं बदलते, अधिकांश घटिया हैं। ईमानदार कवि के लिए बदलाव 'मुकरना' नहीं, जागरूक उत्तरदायित्व भाव है।

हिन्दी की नई कविता में अपने कृतित्व के प्रति सर्वाधिक जागरूक (मुग्ध नहीं) कवि मुक्तिबोध थे। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की कविताओं को जिन्होंने सरसरी दृष्टि भी दी है वे इससे परिचित होंगे कि वे एक गहरे ज़िम्मेदार, प्रतिबद्ध तथा एंगेज्ड कवि की रचनाएँ हैं। यदि मुक्तिबोध में यह नहीं होता और सि एकर्फ़ शब्दाडंबर होता तो वे हमारे युग के सर्वाधिक बड़बोले कवि होते, किन्तु उनमें वह प्रखरता तथा भयावह करुणा है जो उनके भावुकतम क्षणों, कल्पना की असम्भवतम उड़ानों पर भी प्रश्नचिह्न नहीं लगाने देती। उनके समक्ष कविता में उनके उद्देश्य इतने स्पष्ट हैं कि उनकी समस्त कविताएँ एक बड़ी कविता लगती हैं। मुक्तिबोध आज के महाभारत के सात्यकि तथा संजय दोनों हैं और उनकी कविताएँ इस युद्ध को विभिन्न कोणों तथा स्थितियों से दिखाने वाले प्रत्यक्षदर्शी ब्यौरे हैं। मुक्तिबोध की कविताओं की थीम एक ही है—संघर्ष—व्यक्तिगत तथा विराट् स्तरों पर। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की अट्ठाईस कविताओं में चौदह स्पष्टतः उनके बाह्य संघर्ष की कविताएँ हैं, यद्यपि यह सीमांकन अन्यायपूर्ण भी हो सकता है क्योंकि मुक्तिबोध में व्यक्ति कब विराट् स्वरूप धारण कर लेगा (इन कविताओं में 'अचानक', 'सहसा', 'इतने में ही', 'यकायक' आदि शब्द व्यर्थ नहीं हैं) यह न पाठक जानता है और न कवि स्वयं।

ऊपर जिन कविताओं को मुक्तिबोध की बाह्य संघर्ष की कविताएँ कहा गया है, उन्हें इस तरह के विभाजन में रखना सुविधाजनक नहीं है, तर्कसंगत आवश्यकता है क्योंकि इनके एक साथ अध्ययन से मुक्तिबोध की कविता की मौलिक यूनिटी साफ़ दीख पड़ती है। कविता में यूनिटी शिल्प की भी हो सकती है और अभिव्यक्ति की—यानी हो सकता है कि विभिन्न 'विषयों' पर लिखी गई कविताओं का शिल्प एक-सा ही हो अथवा शिल्प के साथ 'प्रयोग' किये गए हों किन्तु 'विषय' एक ही रहे। मुक्तिबोध की सारी कविताओं में भाषा एक-सी ही है, इससे शायद असहमति नहीं होगी। वे भाषा को एक इन्टैन्स तथा परिष्कृत स्तर पर इस्तेमाल करते हैं और उनकी कविता के प्रभाव में भाषा का योगदान नज़रअन्दाज़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं किया जा सकता। शमशेर तथा माचवे का शिल्पबाहुल्य भी उनकी कविताओं में नहीं है, किन्तु इससे 'अनगढ़ शिल्प' का दयनीय मूढ आरोप उन पर नहीं लगाया जा सकता क्योंकि यह सब जानते हैं कि अपनी कविताओं को उन्होंने कितनी बार सँवारा है, सुधारा है। दरअसल मुक्तिबोध अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त एक शिल्प पर पहुँच चुके थे और उनकी कविता के लिए शिल्पाक्रांत खटकों की आवश्यकता नहीं रह गई थी। किन्तु भाषा अथवा शिल्प की यथावत्ता ही उनकी कविताओं को यूनिटी नहीं देती। मुक्तिबोध का काव्य एक बड़ा कैन्वस है जो विविध आकारों तथा रंगों से भरा हुआ है। उन्होंने कलात्मक सुविधा को ख़याल में रखते हुए उसे कई जीवन्त टुकड़ों में बाँट दिया, किन्तु हर खण्ड में मूल वृहत्तर कैन्वस के कुछ अंश रह ही गए। इन खण्डों को पहचानना होता है, आपस में इन्हें जोड़ना होता है और तब शायद उस वृहत्तर कैन्वस का एक भव्य आभास होने लगता है।

मुक्तिबोध की कविताओं में एक विराटकाय रहस्यपुरुष अनेक बार प्रकट हुआ है। 'अँधेरे में' का प्रारम्भ इसी 'कोई एक' के कमरों में चक्कर लगाने से होता है। इस अज्ञात के विषय में कुछ संकेत प्राप्त होते हैं, कमरे के पलस्तर की पपड़ियाँ गिरती हैं और वहाँ एक बड़ा चेहरा वन जाता है जिसकी नासिका नुकीली, हनु दृढ तथा ललाट भव्य है—फिर यही चेहरा जल में भी दीख पड़ता है ('चम्बल की घाटी में' आदि रचनाओं में भी चीज़ों के अचानक चेहरों में परिवर्तित हो जाने के उदाहरण हैं) और आख़िरकार सशरीर समक्ष आ जाता है। किन्तु इस साक्षात्कार के पहले वन-वृक्षों की शाखाएँ, डालियाँ झूम-झपटकर एक-दूसरे पर पटकती हैं सिर और ऐसा ही विप्लवी दृश्य 'चकमक की चिनगारियाँ' में भी है जबकि 'बाहर के पहाड़ी पेड़' जड़ में जम भयानक नाच नाचने लग जाते हैं। पेड़ों के इस प्रलयवत् नर्तन के पश्चात् 'छिपी हुई एक तिलस्मी खोह का शिला-द्वार खुलता है धड़ से', 'मेरे सहचर मित्र' में भी 'अकस्मात्, जबरन' धक्के से शिला-द्वार वह गुहा-द्वार आत्मा का धड़ से खुलता है।

इस विराट् स्वरूप से मुकाबला गहरे लाल रंग में डूबे हुए वातावरण में होता है 'घुसती है लाल-लाल मशाल अजीब सी / अन्तराल विवर के तम में / लाल-लाल कुहरा / कुहरे में, सामने, रक्तालोक-स्नात पुरुष एक / रहस्य साक्षात्।' 'मुझे याद आते हैं' की 'निहाई से उठती हुई लाल-लाल / अंगारी तारिकाएँ बरसती हैं जिसके उजाले में कि / एक अतिभव्य देह / प्रचंड पुरुष श्याम / मुझे दीख पड़ता है' / 'पता नहीं' में 'होता है प्रकट एक / वह शक्ति पुरुष / जो दोनों हाथों आसमान थामता हुआ / आता समीप / अत्यन्त निकट। यही शक्ति पुरुष 'एक स्वप्न कथा' में 'सागर की थाहों में पैर टिका देता है /···सागर का पानी सिर्फ़ उसके घुटने तक है' / पर्वत-सा मुख-मंडल आसमान छूता है / अनगिनत ग्रह-तारे चमक रहे कंधों पर', किन्तु 'अन्तर्कथा' में अब तक दूर से ही दीखने वाला यह रौद्राकार 'कंधों पर खड़ा हुआ है···/ थामता नभस् दोनों हाथों से; / भारान्वित मेरी पीठ बहुत झुकती जाती / वह कुचल रही है मुझे देव आकृति।'

इस दुर्धर देव के तकाज़े बहुत कठिन हैं—'वह बिठा देता है तुंग शिखर के / ख़तरनाक, खुरदरे कगार-तट पर / शोचनीय स्थिति में ही छोड़ देता है मुझको / कहता है—"पार करो पर्वत-संधि के गह्वर, / रस्सी के पुल पर चलकर / दूर उस शिखर-कगार पर स्वयं ही पहुँचो" / 'एक अन्तर्कथा' में आकार वही है किन्तु प्रोटेगॅनिस्ट की आत्मीयता उसके विषय में कहती है, 'मैं जनमा जब से इस साले ने कष्ट दिया / उल्लू का पट्ठा कन्धे पर है खड़ा हुआ' और आदेश भी वैसे ही हैं—'बिल्कुल जगे रहो / तुम दाँव अड़ाओ, तने रहो' / यह और बात है कि दोनों बार प्रोटेगॅनिस्ट पलायनवादी है और उसका यह आदेश मानना उस पर भारी है। जब यह देव हारकर अदृश्य हो जाता है, तब वह उठता है किन्तु पाता है कि बाहर कोई नहीं है, केवल रात का पक्षी चीख़ता है—'वह चला गया है···/ उसको तू खोज अब / उसका तू शोध कर'. जिस तरह 'एक स्वप्नकथा' की यक्षिनियाँ कहती हैं 'सहस्रों वर्षों से यह सागर / उफनता आया है / उसका तुम भाष्य करो / उसका व्याख्यान करो···'

इस रहस्यपुरुष की एक मुद्रा और भी है—शान्त मुद्रा—जिसमें वह गम्भीर इतिहास-अध्येता तथा लेखक दोनों हैं। 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' में 'रहस्य-पुरुष-छायाएँ इतिहास लिखती हैं' तथा 'मेरे सहचर मित्र' में 'रक्ताभ' दिए की 'लाल-वलय-शाली' ज्योति के नीचे 'कालान्तर-अनुभव ग्रन्थ देश-देशान्तर के पाता हुआ कोई जातवेदस् उद्दंड क्रान्तदर्शी आजानुबाहु पत्थर-कुरसी पर बैठा हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दुर्धर देव के अन्तर्हित होने के बाद रात गहरी होती है और मन में जागता है 'किसी अनपेक्षित / असम्भव घटना का भयानक सन्देह / अचेतन प्रतीक्षा' तथा यही अंदेशा 'चंबल की घाटी में' में भी विद्यमान है' बियावान रात / ज़रूर कहीं होगी आज वारदात, भयानक बात ! !' किन्तु जबकि 'चम्बल की घाटी में' की यह भयानक बात 'कोई छाया-रूप नकाब-पोश' के दीखने से प्रारम्भ होती है, 'अँधेरे में' की उपरोक्त पंक्तियों के बाद विचित्र जुलूस दृष्टिगोचर होता है जिसमें शरीक 'लोगों के चेहरे / मिलते हैं मेरे देखे हुओं से'। 'एक स्वप्नकथा' में भी एक जुलूस है जिसमें 'चेहरों के चौखटे / अलग-अलग तरह के—अजीब हैं / मुश्किल है जानना; / पर, कई / निज के स्वयं के ही / पहचान वालों का भान हो आता है।'

जुलूस के ये चेहरे 'मेरे जाने-बूझे-से लगते, उनके चित्र समाचार-पत्रों में छपे थे, / उनके लेख देखे थे, / यहाँ तक कि कविताएँ पढ़ी थीं।···उनमें कई प्रकांड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण / मंत्री भी, उद्योगपति और विद्वान्' भी थे जैसे कि 'एक स्वप्नकथा' के 'जुलूस में अनेक मुख (नेता और विक्रेता, अफ़सर और कलाकार) अनगिन चरित्र / पर चरितव्य कहीं नहीं / अनगिनत श्रेष्ठों की रूप-आकृतियाँ / रिक्त प्रकृतियाँ / मात्र की महत्ता निराकार देवलता, दिखाई/ देती हैं'। 'मुझे याद आते हैं' में काव्यनायक पहले ही 'संस्कृति के सुवासित वस्त्रों के / अन्दर का वासी वह। 'नग्न अति बर्बर देह···' देख चुका है किन्तु भय अब हुआ है 'हाय, हाय ! मैंने उन्हें देख लिया नंगा, / इसकी मुझे और सजा मिलेगी।' शहर में मार्शल लॉ लगा हुआ है, बलवे, अग्निकांड, गोलीबार हो रहे हैं, किन्तु इस जुलूस में सम्मिलित 'सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक् , चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं' जिस तरह 'मूल गलती' के सामने पेश किये गए ईमान की उपस्थिति में 'सब खामोश / मनसबदार, / शाइर और सूफी, / अल गज़ाली, इब्ने सिन्ना, अलबरूनी, / आलिमोफ़ाज़िल सिपहसालार, सब सरदार / हैं खामोश'। यही 'अन्तःकरण का आयतन' के नगर बैबीलोन के 'प्रतिष्ठित राज्य संस्कृति के प्रभावी दृश्य / सुन्दर सभ्यता के तुंग स्वर्ण-कलश / सब आदर्श / उनके भाष्यकर्ता ज्ञानवान् महर्षि / ज्योतिर्विद, गणितशास्त्री, विचारक, कवि' हैं जो याद आते हैं।

इन्हें नंगा देख लेने से भयभीत होकर काव्यनायक भागता है और 'दीखता है सामने ही अंधकार स्तूप-सा/भयंकर बरगद—/सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों/ग़रीबों का वही घर, वही छत' जिसे अन्य रचनाओं के अतिरिक्त 'कल जो हमने चर्चा की थी' में 'सामने हमने देखा/युगान्तकारी आस्थाओं का विशाल भव्य अक्षयवट्' जिसकी छाया तले 'वेगवान पीड़ा की कन्या' खड़ी हुई है। इस पेड़ के नीचे रहने वाले पागल के गीत का प्रभाव कुछ यों हुआ कि 'मैं खड़ा हो गया/किसी छाया-मूर्ति-सा समक्ष स्वयं के/होने लगी बहस/ लगने लगे परस्पर तमाचे /' 'चम्बल की घाटी में' के सवालों के ढूह जब सामने खड़े होते हैं तब भी 'अपने ही गोरे-गोरे हाथों को खूब मार बैठते हैं/अपने ही काले-काले हाथ' क्योंकि 'मेरे कारण ही लग गया/मार्शल लॉ वह,/मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने ही संकट बुलाया, /मानो मेरे कारण ही दुर्घट हुई यह घटना' और यही आत्म-भर्त्सना 'चम्बल की घाटी में' भी उभरती है, 'दस्यु-पराक्रम/शोषण-पाप का परम्परा-क्रम वक्षासीन है/जिसके कि होने में गहरा अंशदान/स्वयं तुम्हारा···उसको बढ़ाने में तुम्हारा भी योग है।'

यह आत्मालोचन समाप्त हो कि यकायक 'ऊपर से गिरकर/कंधे पर बैठ गया बरगद-पात एक,/क्या वह संकेत, क्या वह इशारा ? क्या वह चिट्ठी है किसी की ?' इसी तरह 'चकमक की चिनगारियाँ' के गुज़रते चाँद ने 'लिफ़ाफ़ा एक नीला' दूर से फेर दिया था और किसी ने बहुत आतुर हो उसे फिर-फिर पढ़ा था। आगे स्वयं प्रोटेगॅनिस्ट गिरता है 'चुपचाप पत्र के रूप में, किसी एक जेब में वह जेब/किसी एक फटे हुए मन की।'

इशारा पाने के बाद पुनः पलायन प्रारम्भ होता है। कहीं छिप बैठने का मौका है कि 'स्वप्न में स्वप्न' दीखता है जिसमें दीप्त हो रही हैं मणियाँ जो 'दीप्ति में वलयित रत्न नहीं हैं' वरन् 'अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष/मेरे ही अपने यहाँ पड़े हुए हैं' जो 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' के 'चुपचाप धँसाये गए, छिपाये गए रत्न मन के, जन के' मूल्य-सत्य 'इस जग के परिवर्तन में हैं,' पछतावा है कि 'मैंने उन्हें गुहा-वास दे दिया/ लोकहित से कर दिया वंचित जनोपयोग से वर्जित किया और/ निषिद्ध कर दिया खोह में डाल दिया' क्योंकि काव्यात्मन् फणिधर के लिए वे 'बहुत असुविधाजनक थे/इसलिए कि उनसे होता था/पट-परिवर्तन, यवनिका पतन मन में, जग में !'

पुनः आसपास की भयावह स्थिति का आभास होता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि चारों ओर 'बूढ़े असम्भव पक्षी तेज़ निगाहों से टोह ले रहे हैं, जो 'मेरे सहचर मित्र' में 'सामाजिक जंगल के घुग्घू', 'चकमक की चिनगारियाँ' में 'उग्र, जंगली आँख' वाले समुद्री पक्षी, 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' के 'चमकती सावधान आँखों से देख रहे बूढ़े पक्षी' तथा 'चम्बल की घाटी में' के 'दानवी किसी बदनीयती के सावधान गिद्ध' हैं जिन्हें देख 'खुर्राट निगाहें' याद आती हैं।

पहरेदारों तथा टैंकों से बचकर भागता हुआ काव्यनायक जैसे ही तिलय प्रतिमा के पास आता है कि 'पाषाण पीठिका हिलती-सी लगती/···कण-कण काँप रहे जिनमें से झरते 'नीले इलेक्ट्रॉन/···मूर्ति के तन से झरते हैं अंगार/मुस्कान पत्थरी होंठों पर काँपी'। 'डूबता चाँद कब डूबेगा' में प्राचीन योद्धा की मूर्ति भी हिलती दिखाई देती है, 'देखता हूँ कि चल रही साँस/···वे होंठ हिले,वे होंठ हँसे।' 'द्युति पुरुष' गांधी जब शिशु सौंपकर अदृश्य हो जाते हैं और कह जाते हैं कि 'सँभालना इसको, सुरक्षित रखना' तब 'डूबता चाँद कब डूबेगा' का 'आत्मा-रूपी माता' का त्यागा हुआ 'जीवन का आत्मज सत्य' स्मरण हो आता है जो 'अनुभव-बालक' है, तथा जिसे गोद में उठाकर काव्य-नायक खुश-खुश घर लौटा था। सहसा शिशु रो उठता है और यह रुदन 'अतिशय परिचित' है, 'पहले भी कई बार कहीं तो सुना था।' 'एक अंतर्कथा' में भी प्रोटेगनिस्ट का विचित्र अनुभव है, 'सिर पर की टोकरी-विवर में मानव-शिशु/वह कोई सद्योजात/मृदुल-कर्कश स्वर में/रो रहा/सच, प्यार उमड़ आता उस पर।' किन्तु शिशु-स्वर में शिकायत गहरी है, भयंकर क्रोध है और पुचकारने, दुलारने पर भी वह चीख़ता है, 'वह शिकायतों से भरा बाल-स्वर मँडराता/प्रिय बालक दुर्भर, दुर्धर है।' यह शिशु कौन है? 'वह है मानव परम्परा/चिंघाड़ता हुआ उत्तर यह' और इसीलिए···'खुश बहुत हूँ।/जिसको न मैं इस जीवन में कर पाया,/वह कर रहा है।'

यह शिशु अदृश्य होता है, सूर्यमुखी पुण्य उसका स्थान लेते हैं, उनकी जगह कंधे पर राइफिल होती है और काव्य-नायक एक कमरे में पहुँचता है जिसमें वह 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' में 'पहले भी आया था, मैंने यह कमरा देखा है।' पहली बार प्रश्न था 'यह कौन यहाँ जो लेटी है। मृत आकृति पीली जड़ीभूत' किन्तु अब 'इस कमरे के बीच में···ज़मीन पर पसरा,/फैलाए बाँहें' जो 'ढह पड़ा आखिर', 'वह कलाकार था/गलियों के अँधेरे का, हृदय में, भार था।' हृदय में स्वप्न व ज्ञान व जीवनानुभव जो हलचल करता था वह किसी को दे न पाया था। 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' में प्रश्न है 'दिन-रातें—जिसकी तीव्र दृष्टि से विवेचिता/पल-क्षण—जिसके भाष्यों से जीवन के स्रष्टा/जीवन जिसकी प्रेरणा-व्यथा का वाहक था,/उसकी महिमा अब बिला गई,/किसने उसकी हत्या कर दी?' उत्तर 'अँधेरे में' प्राप्त है—वह अचानक झोंक में कुछ कर बैठा और संदेहास्पद समझा गया तथा उसकी हत्या कर दी गई। इस तरह 'कर गया एक युग, कर गया एक जीवनादर्श।'

इस कमरे से वह उतरा ही था कि सहसा घेर लिया गया तथा 'आततायी सत्ता के सम्मुख'—'मूल ग़लती' के सामने 'कैद कर लाया गया ईमान'—प्रस्तुत किया गया। फिर 'चाँटे से कनपटी टूटी कि अचानक/त्वचा उखड़ गई गाल की पूरी/कान में भर गई/भयानक अनहद नाद की अनमन।' यह पहले भी हुआ है, 'चकमक की चिनगारियाँ' में 'सहसा कनपटी पर ज़ोर से आघात, आँखों सामने विस्फोट' होता है तथा 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' में 'मानो कि कनपटी पर अन-पेक्षित अकस्मात् आघात/कि थप्पड़ है/···मस्तक की छत फूटने लगी, अपनी छाती पीटता हुआ नाद अनहद/सिर में भटका।' उसके पश्चात् शुरू होती है बाकायदा थर्ड डिग्री—(और मैं सुनता हूँ चिढ़ी हुई ऊँची/खिझलाई आवाज़)। स्क्रीनिंग करो मिस्टर गुप्ता,/क्रॉस-इक्ज़ामिन हिम थॅरोली।' यह आवाज़ निस्संदेह 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' के उस बड़े अफ़सर की है जिसकी सत्ता है, जो कमरों और परदों के पीछे 'सबके अन्दर ठीक केन्द्र में बैठा है, जिसका आतंक बहुत है।' किन्तु यह अत्याचार विफल होता है और उसे रिहा कर दिया जाता है और वह देखता है कि 'मेरे ही विक्षोभ-मणियों को लिए···/मेरे ही रत्नों को लेकर /बढ़ रहे लोग 'किन्तु उसे कोई मलाल नहीं है क्योंकि 'ओ नागात्मन् फणिधर' में स्थिति पहले ही स्पष्ट है, 'शोक मत करो नागात्मन्···/आ गए तुम्हारी अनुपस्थिति में लोग प्रतीक्षा जिनकी थी /ले गए ज्वलत्-द्युति प्रस्तर धन!!/अब उन रत्नों का अर्थ दीप्त होगा,/उनका प्रकाश घर-घर पहुँचेगा फिर से।'

प्रकाश पहुँचता है। विप्लव होता है। कहीं आग लगती है, कहीं गोली चलती है। 'मकानों की छत से गार्डर कूद पड़े धम से/घूम उठे खम्भे/भयानक वेग से चल पड़े हवा में।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'चकमक की चिनगारियाँ' में 'बिल्डिंग गूँजती है, काँप जाती है/दीवालें ले रहीं आलाप/···उखड़ते चौखटों में ही खड़ाखड़ खिड़कियाँ नचतीं।' अत्याचार की सरकार बरखास्त हो चुकी है और सड़कों पर भीड़ तथा सरकारी फ़ौजों के बीच मुठभेड़ें हो रही हैं जिनमें 'एक-एक वस्तु या एक-एक प्राणाग्नि बम है' जो शून्याकाश से होते हुए अरि पर अनिवार टूटते हैं। इस क्रान्ति के फलस्वरूप 'युवकों में होता जाता व्यक्तित्वांतर' जो 'जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे' में 'यह अग्नि-विश्वजित् फैली है जिन लोगों की वे नौजवान हैं।'

स्वप्न टूटता है। चित्र बिखर गए हैं, कवि अकेला है। स्वप्न स्मरण आता है जैसे 'कल रात किसी अनपेक्षित क्षण में ही सहसा प्रेम कर लिया हो।' वह 'अज्ञात प्रणयिनी मौन थी, मौन थी?' वह प्रेमिका 'चकमक की चिनगारियाँ' की 'जन-संग-ऊष्मा' है, 'महत् सम्भावनाओं की उजलती एक रेखा', जिसका श्याम भोला मुख (बहुत प्यारा) मुझे दिखता कि पाता हूँ—मुझे ही देखती रहती/मनो-आकार-चित्रा वह सुनेत्रा है।'

यह वास्तव में सौभाग्य का विषय है कि यह बात प्रमाणित सत्य है कि 'अँधेरे में' मुक्तिबोध की अन्तिम रचना है। यह भी कोई संयोग नहीं है कि यह उनकी सबसे लम्बी कविता है। यह तो मैं नहीं कहूँगा कि उन्हें इसका आभास था कि यह उनकी अंतिम कविता होगी—'नहीं होती, कहीं भी खत्म कविता नहीं होती'—किन्तु यह सोचने की इच्छा होती है कि इस कविता में मुक्तिबोध एक 'समिंग अप' कर रहे थे। अपनी पिछली कविताओं में निस्सन्देह उन्हें ऐसी सामग्री बिखरी हुई दीख पड़ी जिसे एक महाकाव्यवत् अभिव्यक्ति देना आवश्यक लगा होगा। उस सामग्री का 'अर्थ' क्या है तथा उसके पीछे कौन-सी प्रेरणाएँ कार्यरत हैं इस प्रश्न का उत्तर यहाँ अभीष्ट नहीं है। मैं यहाँ यही कहना चाहता हूँ कि मुक्तिबोध की इस रचना को अकेले देखना-परखना उचित नहीं है, बल्कि खतरनाक है, क्योंकि उससे सम्बद्ध कई प्रश्नों का उत्तर हमें अन्य कविताओं में या उनके सहारे प्राप्त होता है। उन अध्येताओं को जो एक-एक कविता को पकड़कर चलते हैं मुक्तिबोध की स्वतन्त्र कविताओं से जो हासिल होगा वह अधिक नहीं होगा। इसके सारे प्रमाण मौजूद हैं कि 'अँधेरे में' एक स्वतन्त्र कविता होते हुए भी एक 'स्ट्रेटिफिकेशन' (स्तर-बहुल रचना) है और उसका सही मूल्यांकन मुक्तिबोध की अन्य कविताओं को समानान्तर रखकर ही सम्भव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध और अज्ञेय के काव्य-बिम्ब

रणजीत और रशाद अब्दुल वाजिद

बिम्बों के आधार पर नयी कविता के दो शलाकापुरुषों का अध्ययन उनके वास्तविक कवि-व्यक्तित्व, उनकी अचेतन रुचियों-अरुचियों और उनकी संवेदनशीलता के विस्तार तथा प्रकार के विषय में अधिक प्रामाणिक जानकारी दे सकेगा, यही विश्वास प्रस्तुत अध्ययन की प्रेरणा है। क्योंकि हिन्दी में किन्हीं दो कवियों की कुछ प्रमुख कविताओं के समस्त बिम्बों को एकत्र कर उनके वस्तुगत अध्ययन-विश्लेषण का शायद यह पहला ही प्रयास है, इसलिए इस अध्ययन की विधि और पूर्वमान्यताओं पर कुछ शब्द यहाँ अप्रासंगिक न होंगे।

बिम्ब की परिभाषा, स्वयं ही एक ऐसा विषय है, जिस पर अगर एक पुस्तक नहीं तो, एक स्वतंत्र लेख अवश्य लिखा जा सकता है। इसलिए हम इस लेख में उस पर नहीं जायेंगे। हाँ, हम यह अवश्य चाहते हैं कि उदाहरण देते हुए बिम्ब की सीमारेखाओं पर विस्तृत विचार-विमर्श हो, ताकि काव्यबिम्ब की एक सर्वमान्य नहीं तो बहुमान्य परिभाषा सामने आ सके। पर इस लेख में तो हम इस अध्ययन के सिलसिले में मानी हुई बिम्ब की अपनी धारणा को स्पष्ट करके ही संतोष कर लेंगे। बिम्ब हमारे विचार से निश्चय ही एक ऐन्द्रिक और इसलिए मूर्त शब्दचित्र है। पर प्रस्तुत रूप में आये हुए ऐन्द्रिक शब्द-चित्रों को भी हमने इस अध्ययन में काव्यबिम्ब नहीं माना है, सिवाय उन स्थलों के जहाँ कवि या तो स्मरण करते हुए और या कल्पना करते हुए किसी वस्तु या संवेदना को पाठकों के समक्ष मूर्त रूप में प्रस्तुत करता है। परिणामस्वरूप स्मृति-मूलक और कल्पनामूलक बिम्बों के अतिरिक्त हमने उन्हीं शब्द-चित्रों को बिम्बों के रूप में गिना है, जो किसी-न-किसी प्रकार के अप्रस्तुत विधान के रूप में आये हों, अर्थात् जो उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, मानवीकरण, प्रतीक अथवा लाक्षणिक प्रयोगों के रूप में आये हों। फिर मूर्तता के अभाव के कारण अमूर्त उपमाओं आदि को भी हमने बिम्बों में नहीं गिना है। बिम्ब की इस धारणा पर विवाद हो ही नहीं सकता, है भी; हम स्वयं भी उस पर बहुत सुनिश्चित सैद्धान्तिक आधारों पर ही पहुँचे हों सो बात भी नहीं है, हम उसे परिवर्तन और परिष्कार का विषय मानते हैं, व्यवहार के लिए ही फ़िलहाल हमने बिम्ब की यह काम-चलाऊ परिभाषा स्वीकार की है। उदाहरण के लिए मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' में आये हुए इस शब्दचित्र को

> बावड़ी को घेर
> डालें खूब उलझी हैं
> खड़े हैं मौन औदुम्बर
> व शाखों पर लटकते घुग्घुओं के घोंसले
> परित्यक्त, भूरे, गोल।

प्रस्तुत रूप में आने के कारण ही मूर्तता के बावजूद, हमने काव्यबिम्ब नहीं माना है। और इसी तरह इस कविता की इस उपमा को

> सीढ़ियाँ डूबी अनेकों
> उस पुराने घिरे पानी में···
> समझ में आ न सकता हो
> कि जैसे बात का आधार
> लेकिन बात गहरी हो

अमूर्त होने के कारण ही बिम्बों में नहीं गिना है। पर अज्ञेय की इन पंक्तियों में आये हुए चित्रों को—स्मृति और कल्पनामूलक चित्रों को—बिम्ब मानने की अपनी व्यावहारिक नीति के अनुसार ही—हमने बिम्बों के रूप में गिना है:

> क्षण भर अनायास हम याद करें :
> तिरती नाव नदी में,
> धूलभरे पथ पर असाढ़ की भभक,
> झील में साथ तैरना,
> हँसी अकारण खड़े महावट की छाया में,
> वदन घाम से लाल, स्वेद से जमी अलक-तलट···
> —हरी घास पर क्षण भर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिम्ब की इस कामचलाऊ परिभाषा को स्वीकार करते हुए, हम लोगों ने अज्ञेय और मुक्तिबोध की कुछ चुनी हुई कविताएँ लेकर उनमें प्राप्त सब बिम्ब एकत्र कर लिए और उनका क्षेत्र, संवेदित इन्द्रिय, अप्रस्तुत विधान के प्रकार (अर्थात् उपमा, रूपक, मानवीकरण आदि), तथा नवीनता-परंपरागतता, सक्रियता-स्थिरता और संवृत्ति-विवृत्ति की दृष्टि से वर्गीकरण कर लिया।

वर्गीकरण की हमारी विधि का स्पष्टीकरण इन उदाहरणों से हो जाएगा :

कतारों में खड़े खुदगर्ज़ बाहथियार
बख़्तरबन्द समझौते

—मुक्तिबोध, भूल—ग़लती

हमने इस बिम्ब को वर्गीकरण की इन कोटियों में रखा : १ क्षेत्र की दृष्टि से—मानवजीवन से सम्बन्धित, वर्गों और समूहों से सम्बन्धित, सैनिक जीवन से सम्बद्ध। २ ऐन्द्रिक दृष्टि से—दृश्य बिम्ब। ३ विवृत्ति-संवृत्ति की दृष्टि से—विवृत बिम्ब। ४ सक्रियता-स्थिरता की दृष्टि से—स्थिर बिम्ब। ५ अप्रस्तुत विधान के प्रकारों की दृष्टि से—मानवीकरण (समझौते का)। और ६ नवीनता-परम्परागतता की दृष्टि से—नवीन। इसी तरह अज्ञेय का यह बिम्ब इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है :

रेल का आह की तरह धीरे-धीरे खिंचना

—हरी घास पर क्षण-भर

क्षेत्र—मानव-जीवन, मानव-क्रियाएँ; ऐन्द्रिक आधार पर—ध्वनि; संवृत्त, सक्रिय, उपमा, स्मृति, बिम्ब, नवीन।

बिम्बविधान के इस अध्ययन के लिए हमने मुक्तिबोध की 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' संकलन में से भूल-गलती, पता नहीं, ब्रह्मराक्षस, दिमाग़ी गुहान्धकार का ओरांगउटांग, लकड़ी का बना रावण, चाँद का मुँह टेढ़ा है, मुझे कदम-कदम पर, एक अरूप शून्य के प्रति और अँधेरे में, इन नौ कविताओं को तथा अज्ञेय की 'इत्यलम्' में से घृणा का गान, बंदीगृह की खिड़की, रक्तस्नात मेरा साकी, दूरवासी मीत मेरे, मैं वह धनु हूँ, रहस्यवाद, वनपारावत, मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ, उड़ चल हारिल, शिशिर की राका निशा, रात होते—प्रात होते, आशी : किसने देखा चाँद—१ और २; 'हरी घास पर क्षण-भर' में से हमारा देश, एक ओटोग्राफ़, कलगी बाजरे की और हरी घास पर क्षण-भर तथा 'आँगन के पार द्वार' में से असाध्य-वीणा, सरस्वती पुत्र, बना दे चितेरे, भीतर जागा दाता, अँधेरे में दीप और पहचान; इन चौबीस कविताओं को विषय बनाया है। चयन में यह ध्यान रखा गया है कि इन कवियों की बहुत प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कविताएँ अध्ययन का विषय बनने से छूट न जाएँ।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के काव्यबिम्बों के इस अध्ययन से प्राप्त तथ्यों की आपेक्षिक स्थितियाँ प्रस्तुत तालिका में अंकित हैं :

विषय	मुक्तिबोध	अज्ञेय
१. कुल कविताओं की संख्या	९	२४
२. कुल काव्यपंक्तियाँ	२५००	१०५७
३. कुल प्राप्त बिम्ब	३००	३००
४. औसत प्रति कविता-बिम्बों की संख्या	३३	१३
५. औसत कितनी पंक्तियों में एक बिम्ब प्राप्त होता है	८	३½
प्रकृति-सम्बन्धी	१११	१३७
धरती	४	२
पहाड़-गुफा	८	०
पानी-सम्बन्धी	२०	१७
हवा	२	५
आकाश	३	२
अग्नि	८	८
प्रकाश	८	६
सूर्यचंद्र-ब्रह्मांड	३	६
अंधकार	३	१
ऋतुएँ	वर्षा ६	गर्मी १
पेड़-पौधे-फूल	१५	२६
पशुपक्षी-कीटपतंग	२५	२८
ध्वनि-आकार-रंग	७	५
मानव-जीवन से सम्बन्धित	१२२	९८
मानव वर्ग और समूह	४९	३८
नारी और दाम्पत्य	३	१०
बालक	३	४
सैनिक जीवन	१३	२
मानव शरीर और क्रियाएँ	४८	५६
मानव स्थितियाँ	२५	४
दैनिक जीवन की वस्तुएँ	३३	२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिम्ब	मुक्तिबोध	अज्ञेय
पुराण-धर्म-दर्शन	१३	१५
लोक विश्वास सम्बन्धी	३	२
उद्योग सम्बन्धी	४	४
विज्ञान-सम्बन्धी	२०	२
भौतिक विज्ञान	६	१
अंकरेखा बीजगणित	५	०
भाषा विज्ञान	५	०
जीव विज्ञान	१	१
राजनीतिक व्यक्ति	२	०
साहित्य सम्बन्धी	५	०
संगीत सम्बन्धी	२	१३
उपमाएँ	४५	२५
रूपक	१०७	९८
प्रतीकात्मक-लाक्षणिक प्रयोग	४७	४६
मानवीकरण	५२	३३
विरोधाभास	४	८
स्मृति और कल्पनामूलक	१५	७८
नवीन बिम्ब	२०७	५८
सक्रिय बिम्ब	४५	१७०
विवृत बिम्ब	१६	३४
दृश्य बिम्ब	२६७	१७०
रंग बिम्ब	३५	२
ध्वनि बिम्ब	१४	७३
स्वाद बिम्ब	४	४
गंध बिम्ब	३	१४
स्पर्श बिम्ब	४	२६
वेदना बिम्ब	८	१३

इस तालिका में प्रस्तुत तथ्यों से क्या निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं ?

पहली बात तो यह कि कविताओं में बिम्बों की आवृत्ति अज्ञेय में मुक्तिबोध की अपेक्षा अधिक है। कुछ अन्तर तो इस कारण भी पड़ गया है कि काव्यबिम्ब की सीमारेखाओं में हमने स्मृतिमूलक और कल्पनामूलक बिम्बों को भी शामिल कर लिया है, ऐसे बिम्ब मुक्तिबोध में कुल १५ हैं, जबकि अज्ञेय में ७८ हैं। यदि इन बिम्बों को न गिना जाय तो अज्ञेय में बिम्बों का आवर्तन प्रति ४½ पंक्ति हो जाता है, पर यह भी मुक्तिबोध में बिम्बों के आवर्तन से कहीं अधिक है। स्पष्ट है कि अज्ञेय की कविता मुक्तिबोध की अपेक्षा अधिक बिम्बात्मक है। यह बात और तथ्यों से भी पुष्ट होती है कि मुक्तिबोध कथ्य पर अधिक ज़ोर देते हैं, जबकि अज्ञेय के यहाँ कथन का, अभिव्यक्ति का अधिक महत्त्व है। एक वाक्य में मुक्तिबोध अधिक विषयवस्तुवादी और अज्ञेय अधिक रूपाकारवादी हैं।

मुक्तिबोध और अज्ञेय के बिम्बों के क्षेत्र पर दृष्टि डालते ही यह तथ्य हमारे सामने आता है कि अज्ञेय में प्राकृतिक बिम्ब अधिक हैं, जबकि मुक्तिबोध में मानवजीवन से और दैनिक जीवन से सम्बन्धित बिम्बों की अधिकता है। स्पष्ट ही अज्ञेय की रुचि का प्रधान क्षेत्र प्रकृति है, जबकि मुक्तिबोध की मुख्य रुचि मानव-जीवन में है। स्वयं अज्ञेय में प्राप्त प्रकृति-सम्बन्धी बिम्ब उनके मानवजीवन-सम्बन्धी बिम्बों के १३७/९८ अर्थात् १४० प्रतिशत हैं, अर्थात् उनसे ४० प्रतिशत अधिक हैं, जबकि मुक्तिबोध के प्रकृति-सम्बन्धी बिम्ब उनके मानव-जीवन-सम्बन्धी बिम्बों के १११/१२२ अर्थात् ९१ प्रतिशत है, अर्थात् उनसे ८ प्रतिशत कम हैं। इस तथ्य से अज्ञेय की रूमानी और मुक्तिबोध की सामाजिक यथार्थवादी रुझान स्पष्ट है।

अज्ञेय के प्रकृति-संबंधी बिम्बों की अधिकता को यदि उनमें प्राप्त स्मृतिमूलक और कल्पनामूलक बिम्बों की मुखर अधिकता तथा वैज्ञानिक और आधुनिक जीवन से संबंधित बिम्बों की मुखर विरलता के साथ जोड़ दिया जाए तो उनकी रूमानी वृत्ति पर और अधिक प्रकाश पड़ता है। इस दृष्टि से पिछले दिनों हिन्दी आलोचना में उन्हें जो कभी-कभी नव-छायावादी कवि कहा गया है, इस बात को उनका बिम्ब-विधान भी पुष्ट करता प्रतीत होता है।

फिर दोनों कवियों के प्रकृति-बिम्बों में मात्र सांख्यिक अन्तर ही नहीं है। प्रकृति के अलग-अलग पक्षों और रूपों के प्रति इन कवियों ने भिन्न-भिन्न रुचि दिखाई है। मुक्तिबोध को पहाड़, पठार और गुफाएँ अधिक पसंद हैं, ये इनके बिम्बों में बराबर आती हैं, पर अज्ञेय में इनसे संबंधित बिम्ब नहीं हैं। मानव-हृदय की जटिलता को एक प्राकृतिक गुहा के इस विवृत बिम्ब से मुक्तिबोध ने इस तरह रूपायित किया है :

भूमि की सतहों के बहुत नीचे
अँधियारी एकान्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राकृत गुहा एक।
विस्तृत खोह के साँवले तल में
तिमिर को भेदकर चमकते हैं पत्थर
मणि तेजस्क्रिय रेडियो-एक्टिव रत्न भी बिखरे
झरता है जिन पर प्रबल प्रपात एक।
प्राकृत जल वह आवेग-भरा है
द्युतिमान् मणियों की अग्नियों पर से
फिसल-फिसल कर बहती लहरें
लहरों के तल में से फूटती हैं किरनें
रत्नों की रंगीन रूपों की आभा
फूट निकलती
खोह की बेडौल भीतें हैं झिलमिल।...
पाता हूँ अकस्मात
दीप्तिवलयित रत्न वे नहीं हैं
अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष
मेरे ही अपने यहाँ पड़े हुए हैं
विचारों की रक्तिम अग्नि के मणि ये
प्राण-जल-प्रपात में धुलते हैं प्रतिपल।

—अँधेरे में।

अग्नि और प्रकाश-संबंधी बिम्ब यद्यपि दोनों में लगभग बराबर हैं, तथापि सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र के बिम्ब अज्ञेय में अधिक हैं। ब्रह्माण्ड-संबंधी बिम्ब अज्ञेय में एक ही है और वह भी 'संसृति का वीरान'। मुक्तिबोध में एक-एक बार नेब्यूला और आकाशगंगा से संबंधित बिम्ब आये हैं। अँधेरे के बिम्ब मुक्तिबोध-काव्य में अधिक हैं, जबकि सन्नाटे और मौन के अज्ञेय काव्य में। अज्ञेय के इन बिम्बों के साथ एक रहस्यवादी-सा वातावरण जुड़ा रहता है :

और सचमुच इन्हें जब-जब देखता हूँ
यह खुला वीरान संसृति का घना हो सिमट आता है
और मैं एकान्त होता हूँ समर्पित।

—कलगी बाजरे की

ऋतुओं में भी दोनों की रुचि काफ़ी भिन्न है। मुक्तिबोध के छह ऋतुबिम्बों में तीन कोहरे के और दो वर्षा के हैं, जबकि अज्ञेय के यहाँ एक ही ऋतुबिम्ब देखा गया है और वह है 'असाढ़ की भभक' का।

पेड़-पौधों से संबंधित बिम्ब अज्ञेय में अधिक हैं। उनके काव्य में बाजरा, गेहूँ, सरसों, चीड़, महुआ, बबूल, शिरीष, जूही, कचनार, कमल, कुमुद, हरसिंगार, चम्पा तथा घास' दूब और करमकल्ले के बिम्ब आये हैं, जबकि मुक्तिबोध के काव्य में पेड़ों में बरगद और फूलों में कमल कई बार आया है, अन्य फूलों में उनका ध्यान गुलाब और पारिजात पर गया है। अज्ञेय में अंकुर का और मुक्तिबोध में काँटों का बिम्ब भी रेखांकित किया जा सकता है। इस सिलसिले में अज्ञेय द्वारा प्रयुक्त एक बिल्कुल निजी से स्मृति-बिम्ब को उद्धृत किया जा सकता है :

झाड़ का अंगुल-अंगुल नाप कर तोड़े तिनकों का समूह

—हरी घास पर क्षण भर

पशु-पक्षियों से संबंधित बिम्बों की संख्या यद्यपि दोनों में लगभग बराबर है, तथापि अज्ञेय में कीट-पतंगों के बिम्ब मुक्तिबोध की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। मुक्तिबोध ने सिर्फ़ दो बार पतंगों का और एक बार तितली का बिम्बात्मक प्रयोग किया है, जबकि अज्ञेय के काव्य में दो बार झिल्ली के और एक-एक बार पतंग, भंवरा, खद्योत, तितली, भुनगा और भौमाखियों के बिम्ब आये हैं। पक्षियों में चिड़िया के बिम्ब का अज्ञेय ने कई बार प्रयोग किया है, अन्य पक्षियों में हारिल, मोर, जलपंछी, सारस, टिटि्टभ, कठफोड़वा, फुलसुंघनी, सतभैये और हंस का नाम लिया जा सकता है। मुक्तिबोध ने कुल सात पक्षी-बिम्बों का प्रयोग किया है, जिनमें एक हंस, एक मुर्गा और एक कबूतर हैं। एक मृत पक्षी का बिम्ब भी उनकी एक कविता में आया है। पशुओं में अज्ञेय ने मृग, घोड़े, हाथी और भैंसे का बिम्बात्मक प्रयोग किया है, जबकि मुक्तिबोध के काव्य में मैमथ, ओरांगउटांग, टेरियर कुत्ते, कुतिया और बिल्ली के बिम्ब आये हैं। अज्ञेय ने मछली का दो बार, दादुर का दो बार और साँप का एक बार प्रयोग किया है। अजगर और साँप का बिम्ब मुक्तिबोध में चार बार आया है। पशु-क्रियाओं में अज्ञेय के काव्य में पशुओं और कीट-पतंगों की आवाज़ों का खूब प्रयोग किया गया है, जबकि मुक्तिबोध ने उनके जुगाली करने, हमला करने और छटपटाने की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। मुक्तिबोध ने एक मृत पशु के बिम्ब का प्रयोग भी किया है।

मुक्तिबोध के बिम्बों में आदिम जीवन के कुछ उपकरणों की कई बार आवृत्ति ध्यान देने योग्य है। जैसे 'बरगद की घनघोर शाखाओं की गठियल अजगरी मेहराब' और परित्यक्त सूनी बावड़ी आदि। उनके लोक-विश्वास-संबंधी, भूत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेत, ब्रह्मराक्षस आदि के बिम्बों के साथ मिलकर ये उपकरण एक आदिम वन्य जीवन के भयपूर्ण वातावरण को सामने लाते हैं।

अज्ञेय के प्रकृति-संबंधी बिम्बों की एक विशेषता यह है कि उनमें से अधिकतर प्रकृति के प्रति अज्ञेय की धनात्मक दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं। अरुचिपूर्ण संदर्भ में उन्होंने बहुत कम प्राकृतिक बिम्बों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए यह बिम्ब देखा जा सकता है :

> चीड़वनों में गंध-अंध-उन्मद पतंग की जहाँ-तहाँ टकराहट

यहाँ पतंगा गंध से अन्ध और उन्मद है। इसकी तुलना में मुक्तिबोध का यह बिम्ब ध्यातव्य है :

> धरती की चीखों के शब्द
> पंखदार कीड़ों से बेचैन
>
> —एक अरूप शून्य के प्रति

मानव-जीवन-संबंधी बिम्बों में भी दोनों में पर्याप्त विभिन्नता है। विभिन्न मानव वर्गों और समूहों से संबंधित बिम्ब निश्चय ही मुक्तिबोध में कहीं अधिक हैं। उनके यहाँ इस वर्ग के अन्तर्गत बादशाह और उससे संबंधित वस्तुओं के ५, सैनिक जीवन से संबंधित १३, कैदी और जेल से संबंधित ३, और विद्रोही, जासूस, थानेदार, मजिस्ट्रेट, नोकदार, पेन्टर, कारीगर, सुथार, लुहार, हलवाई, चोर, उचक्के, गुरु, शिष्य, फटेहाल व्यक्ति, असहाय, नपुंसक, साधु, फ़कीर, पागल और मूर्ख से संबंधित बिम्ब एक-एक बार आये हैं। अज्ञेय काव्य में त्राता, तात, सखा, गुरु, अग्रज, शरणार्थी, नगरसेठ, डाकिया, हरकारा, पनडुब्बा और गाहक तथा मंडी और वन्दीगृह के बिम्ब एक-एक बार आये हैं। स्पष्ट है कि अज्ञेय के इन बिम्बों में से अधिकांश परम्परागत और ग्रामीण जीवन से संबद्ध हैं। ऐसा लगता है कि आधुनिक नागरिक जीवन में उनकी रुचि बहुत कम है। मानव-जीवन से संबंधित उनके अन्य बिम्बों में भी उनकी सामाजिक रुचि कम ही व्यक्त होती है। ये बिम्ब उनके वैयक्तिक-रागात्मक संबंधों को अधिक प्रकट करते हैं। डाकिये और मंडी में उनकी रुचि 'डाकिये के पैरों की चाप' और 'मंडी की ठेलमठेल, गाहकों की अस्पर्द्धा-भरी बोलियाँ' (असाध्यवीणा) तक सीमित है। गाहकों की बोलियाँ यहाँ वीणा के स्वरों के लिए उपमान या उत्प्रेक्षा बनकर आया है, अर्थात् यहाँ भी उनकी रुचि का मुख्य विषय मंडी और गाहकों की बोलियों से संबद्ध विचार-संदर्भ नहीं, उन बोलियों का रूप-तत्त्व-मात्र है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मुक्तिबोध की रुचि मानव-जीवन में कहीं अधिक गहरी है और उनके ऐसे बिम्ब कहीं अधिक विविधतापूर्ण हैं। यदि शासक और शोषित वर्ग से संबद्ध बिम्बों के वर्ग बनाये जायँ तो उनमें पहले वर्ग के १० और दूसरे वर्ग के ११ बिम्ब मिलते हैं। पहले वर्ग के बिम्ब अधिकतर व्यंग्यात्मक या अरुचिपूर्ण संदर्भों में आये हैं, जबकि दूसरे वर्ग के बिम्बों के संदर्भ सहानुभूतिपूर्ण हैं। जैसे एक ठिठुरते हुए असहाय व्यक्ति का यह बिम्ब, जो आगे चलकर गांधीजी के बिम्ब में बदल जाता है :

> सामने मेरे
> सर्दी में बोरे को ओढ़कर
> कोई एक अपने
> हाथ-पैर समेटे
> काँप रहा, हिल रहा—वह मर जाएगा।
>
> —अँधेरे में

मुक्तिबोध में सैनिक-जीवन से संबद्ध बिम्बों की मुखर अधिकता भी ध्यातव्य है। इन बिम्बों में सैनिक जीवन की कोई गौरवपूर्ण भावना नहीं, फ़ौजी आतंक ही व्यक्त हुआ है। कुछ बिम्ब तो स्पष्ट ही सैनिक शासन से ही संबद्ध हैं। इस तरह का एक प्रभावक बिम्ब है :

> गगन में करफ्यू है
> धरती पर चुपचाप ज़हरीली छिः थूः है।
> पीपल के खाली पड़े घोंसलों में पक्षियों के
> पैठे हैं ख़ाली हुए कारतूस।

सैनिक शासन के आतंकपूर्ण वातावरण को निश्चय ही बहुत सबल बिम्ब के माध्यम से यहाँ रूपायित किया गया है। पक्षियों के घोंसलों में कारतूसों का बिम्ब एक अजीब विरोधाभास की प्राकृतिक-रागात्मक जीवन की पृष्ठभूमि पर मानवीय बर्बरता की ओर ही नहीं, आतंक की व्यापकता की ओर भी एक सार्थक संकेत करता है। अज्ञेय काव्य में दो ही बिम्ब ऐसे हैं जिन्हें सैनिक जीवन से संदर्भित कहा जा सकता है : ध्वजदंड (उड़ चल हारिल) और युद्ध के ढोल (असाध्य वीणा)। और ये दोनों ही सैनिक जीवन के प्रति गौरवभावना के ही द्योतक हैं। यह तथ्य एक बुद्धिजीवी के रूप में फ़ौजी बर्बरता के प्रति अज्ञेय की असजगता को ही व्यक्त करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नारी और दाम्पत्य जीवन से संबंधित बिम्ब मुक्तिबोध में कुल ३ हैं, जिनमें भी प्रेमिका का बिम्ब एक ही है। मुक्तिबोध के साथ तो खैर इस स्थिति को स्वाभाविक भी माना जा सकता है, क्योंकि नारी और उसके प्रेम को काव्य-विषय बनाकर लिखी हुई कोई कविता हमारे देखने में नहीं आयी, पर अज्ञेय के दस नारी-संबंधी बिम्बों में से भी प्रणय-संबंधी बिम्ब एक ही है, यह थोड़ी आश्चर्य की बात है। यह कुछ विचित्र-सी स्थिति है कि अनेक प्रेम-संबंधी कविताएँ लिखने के बावजूद अज्ञेय में इस क्षेत्र का एक ही बिम्ब प्राप्त हुआ है। कदाचित् यह उनकी प्रेम-संबंधी अवचेतन कुंठा के अभाव का द्योतक हो।

शिशु-संबंधी बिम्ब दोनों में लगभग समान हैं, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि अज्ञेय के बिम्बों में बालक-रुचि का केन्द्र कम है, मातृत्व अधिक, जबकि मुक्तिबोध में बालक के प्रति राग भावना अधिक मुखर है:

संगीतकार
वीणा को धीरे से नीचे रख, ढँक—मानो
गोदी में सोये शिशु को पालने डाल कर मुग्धा माँ
हट जाय दीठ से दुलराती

—अज्ञेय, असाध्य वीणा

बालक लिपटा है मेरे गले से चुपचाप
छाती से कन्धे से चिपका है नन्हा-सा आकाश
स्पर्श है सुकुमार प्यार-भरा कोमल
किन्तु है भार का गंभीर अनुभव

—मुक्तिबोध, अँधेरे में

मानव-शरीर और क्रियाओं-सम्बन्धी बिम्बों में जो सांख्यिक अन्तर है वह मुख्यतः अज्ञेय में मानव-क्रियाओं से सम्बन्धित बिम्बों के आधिक्य के कारण है। क्रियात्मक बिम्बों की आपेक्षिक अधिकता अज्ञेय के बिम्ब-विधान की एक मुखर विशेषता है। मानव-अंगों में मुक्तिबोध ने मुँह और चेहरे का पाँच बार, आँख का चार बार, सिर का तीन बार, कान का तीन बार, पेट, बाँह तथा रक्त का दो-दो बार और जबड़े, दाढ़ी, मूँछ, चरण, होंठ, हृदय, जीभ, आँत, भाल, हाथ, गरदन और नाभिनाल का एक-एक बार बिम्बात्मक प्रयोग किया है। अज्ञेय के ऐसे बिम्बों में नेत्र की पाँच बार और कन्धे, पैर, अँगुलियों, नथनों, मुट्ठी, अलकलट, रोमावली, अंजली और छाती की एक-एक बार आवृत्ति हुई है। मुक्तिबोध की क्रियाओं में नमस्ते करना, वन्दना करना, नाचना, झूमना, सूँघना, उतरना और फुसफुसाना प्रमुख हैं, जबकि अज्ञेय ने छीनना, अनिमेष होना, स्तब्ध होना, निर्वाक् होना, जागना, झिपना, उझकना, चौंकना, तनना, नमना, चीरना, हेरना, घेरना, चीत्कार करना, डूबना, तैरना, दुलराना, सोना, ढंकनाछाना, सोखना, चपत मारना, मत्त होना, झूमना, नाचना, झाँकना, हँसना, नहाना, साँस लेना, काँपना, तड़पना आदि क्रियाओं का प्रयोग किया है। मानव-क्रियाओं की यह अधिकता उनकी विकसित शरीर-संवेदना की ओर संकेत करती है। अज्ञेय में मानव-शरीर और उसकी क्रियाओं का यह बिम्बन एकाध स्थल को छोड़कर स्वतंत्र सुखवादी दृष्टि से किया गया है, जबकि मुक्तिबोध के यहाँ कई बार आँत, रक्त, पेट आदि के कुछ जुगुप्साजनक बिम्ब भी आये हैं। उदाहरण के लिए:

गमक नट्टिन की एड़ी के घुंघरू की

—अज्ञेय, असाध्य वीणा

अँधेरे के पेट में से ज्वालाओं की आँत बाहर निकल आये

—मुक्तिबोध, चाँद का मुँह टेढ़ा है

विभिन्न मानव-स्थितियों के बिम्ब मुक्तिबोध में कहीं अधिक हैं। अज्ञेय के मानव-स्थितियों-सम्बन्धी चार बिम्बों में से तीन रोग-चिकित्सा से और एक मृत्यु से सम्बन्धित हैं। मुक्तिबोध ने चार रोग-चिकित्सा-सम्बन्धी और चार मृत्यु-सम्बन्धी बिम्बों का प्रयोग किया है। रोग-चिकित्सा-सम्बन्धी दोनों के ये समान-से बिम्ब देखे जा सकते हैं:

हिम तुषार के फाहे धरती के घावों को सहलाते चुपचाप

—अज्ञेय

उदित होता चन्द्र
व्रण पर बाँध देता श्वेत धौली पट्टियाँ

—मुक्तिबोध

इनके अतिरिक्त मुक्तिबोध ने छः क्रान्ति-सम्बन्धी, तीन अत्याचार-सम्बन्धी और एक-एक सैनिक शासन, हड़ताल, जुलूस और शादी से सम्बन्धित बिम्बों का प्रयोग किया है। इन बिम्बों की अधिकता और विविधता निश्चय ही उनके विकसित सामाजिक-बोध और यथार्थ-सजगता को व्यक्त करती है।

दैनिक जीवन-सम्बन्धी बिम्बों में भी यद्यपि सांख्यिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर अधिक नहीं है, तथापि इस वर्ग के भीतर भी दोनों का रुचि-वैभिन्य स्पष्ट है। अज्ञेय के बिम्बों में अंगराग और बासन का दो बार तथा बटुली, तिजोरी, सोना, हथौड़ा, चमरौधा (जूता), कटारी, साबुन, चादर, दुकूल, सुरा, गागरी, प्याला, विष, मधु, राख, चित्र, मौना, मोती, भेड़, कुतिया, नौका, फाहा, अन्न, गलियारा आदि का एक-एक बार प्रयोग हुआ है। जबकि मुक्तिबोध के काव्य में घर-आँगन के चार, ढिबरी (मिट्टी के तेल का दीपक), शीशे और चिट्ठी के दो-दो और चक्की, कम्बल, स्याही, मटका, पलंग, साँकल, धागा, गाँठ, फिरकी, बिस्तर, रंदा, बघार, तेल, कचरे का ढेर, परचा, जाल, खंडहर, चोली, अण्डरवियर, रत्न और मणि के एक-एक बिम्ब आए हैं।

विज्ञान-सम्बन्धी बिम्बों की दृष्टि से दोनों कवियों में बहुत मुखर अन्तर है। अज्ञेय की वर्तमान वैज्ञानिक युग के प्रति असंवेदनशीलता आश्चर्यजनक है। उनके यहाँ ऐसे कुल दो बिम्ब हैं, जिन्हें किसी अर्थ में विज्ञान-सम्बन्धी बिम्ब कहा जा सकता है। एक है : 'मैं एक असीम अणु हूँ', और दूसरा :

लेकिन जान लेना तो अलग हो जाना है
बिना विभेद के ज्ञान कहाँ है ?
और मिलना है भूल जाना,
जिज्ञासा की झिल्ली को फाड़कर
स्वीकृति के रस में डूब जाना

जन्म की प्रक्रिया में पिण्डज झिल्ली फाड़कर पृथक् होता है, पर यहाँ झिल्ली फाड़कर पुनः रस में डूबने की बात है। दूसरी पंक्ति एक जीवशास्त्रीय प्रक्रिया को उलट देती है, इस बात को फ्रायड की पुनः गर्भ की ओर लौटने की धारणा के संदर्भ में देखा जा सकता है। पहले बिम्ब में 'अणु' शब्द को बहुत खींच-तानकर ही वैज्ञानिक कहा जा सकता है, वास्तव में वह एक सामान्य या अधिक-से-अधिक दार्शनिक सन्दर्भ में ही प्रयुक्त किया गया है। अज्ञेय की तुलना में मुक्तिबोध के वैज्ञानिक बिम्ब न केवल संख्या में बहुत अधिक हैं, वरन् अपने रूप में विज्ञान से अधिक स्पष्टतापूर्वक संयुक्त भी हैं। मुक्तिबोध के विज्ञान-सम्बन्धी बिम्बों को आज के हमारे जीवन में विज्ञान के प्रवेश का उनके द्वारा किया हुआ काव्यात्मक स्वागत कह सकते हैं। उनके काव्य-बिम्बों में रेडियो-ऐक्टिव मणियाँ ही नहीं, नीले इलेक्ट्रोन, प्राणाग्नि बम और प्रक्षेपास्त्र भी पहुँच गये हैं। गणित के क्षेत्र से लिया हुआ उनका एक बिम्ब देखा जा सकता है :

वे भावसंगत, तर्कसंगत
कार्य सामंजस्य योजित
समीकरणों के गणित की सीढ़ियाँ

—ब्रह्मराक्षस

अज्ञेय में संगीत-सम्बन्धी बिम्बों की अधिकता उनके विकसित ध्वनि-बोध का ही एक आयाम है। यह ध्वनि-बोध उनके ध्वनि-सम्बन्धी ऐन्द्रिक बिम्बों के आधिक्य से भी प्रकट है। ध्वनि-बिम्बों में उन्होंने शब्दानुकरण या नादार्थ व्यंजना का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। अज्ञेय का काव्य-संसार ढोल, मादल, बाँसुरी, वीणा, घुँघरू, ढोलक आदि वाद्यों के अतिरिक्त स्टीमर की भर्राई सीटी, सन्ताली झूमुर का लम्बा कसक-भरा आलाप, (हरी घास पर क्षण भर), बटिया पर चमरौधे की रुँधी चाप, सधे हथौड़े की सम चोटें, गोधूली की लघु टुनटुन, कुलिया की कटी मेंड़ से बहते जल की छुलछुल, कूजों का क्रेंकार, कौंध लम्बी टिट्टिभ की, झिल्ली-दादुर कोकिल-चातक की झंकार-पुकारों की यति में संसृति की साँय-साँय, आदि न जाने कितनी ही प्राकृतिक और मानवीय ध्वनियों से सम्पन्न है। मुक्तिबोध में संगीत-सम्बन्धी जो दो बिम्ब प्राप्त हुए हैं, उनमें से भी एक व्यंग्यात्मक है।

हाँ मुक्तिबोध के साहित्य-सम्बन्धी बिम्ब उनकी अपनी विशेषता है :

घबराए प्रतीक और मुस्कुराते रूपचित्र
लेकर मैं घर पर जब लौटता हूँ
उपमाएँ द्वार पर आते ही कहती हैं
सौ बरस और तुम्हें जीना ही चाहिए।

और व्याकरण या भाषाविज्ञान से सम्बन्धित ऐसे बिम्ब भी :

किसी काले डैश की घनी काली पट्टी ही
आँखों पर बँध गई
किसी खड़ी पाई की सूली पर
टाँग दिया गया।

—अँधेरे में

बिम्बों के ऐन्द्रिक आधार की ओर ध्यान देते ही यह बात बहुत मुखर होकर सामने आती है कि मुक्तिबोध के काव्य में दृश्य बिम्बों का आधिक्य है, जबकि अज्ञेय में अन्य इन्द्रियों से सम्बन्धित, खासतौर से श्रव्य बिम्ब भी खूब हैं। ध्वनियों, गन्धों और स्पर्शों का एक ऐश्वर्यपूर्ण संसार उनके काव्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवतरित है। इसे उनके काव्य-बिम्बों की एक प्रमुख उपलब्धि माना जा सकता है और अज्ञेय को एक ऐन्द्रिक विलासवादी कवि कहा जा सकता है। उनके अधिकांश बिम्ब ऐन्द्रिक सुख और तुष्टि से पूर्ण हैं। विशेषतः 'असाध्य वीणा' में ऐसे बिम्बों की भरमार है। किन्तु इस कविता के बारे में यह अवश्य कहा जा सकता है कि यद्यपि इसके बिम्ब स्वतन्त्र रूप में पर्याप्त प्रभावक प्रतीत होते हैं, तथापि वे कुल मिलाकर किसी संश्लिष्ट प्रभाव की सृष्टि करने में असमर्थ रहते हैं। ऐसा लगता है कि द्विवेदीयुगीन कवियों के वस्तुपरिगणन की तरह अज्ञेय ने इस कविता में बिना काव्य का अंग बनाए विविध ऐन्द्रिक अनुभूतियों का एक विस्तृत सूची-पत्र तैयार कर दिया है।

मुक्तिबोध की रंग-चेतना अवश्य अज्ञेय की अपेक्षा अधिक विकसित मालूम पड़ती है। अज्ञेय के इन बिम्बों में दो ही रंग-बिम्ब प्राप्त हुए हैं : एक नीला आकाश और दूसरा सुनहला पंछी। पर मुक्तिबोध का रंग-संसार कहीं अधिक विस्तृत और विविधतापूर्ण है। उनके यहाँ काले और साँवले रंगों के अतिरिक्त, जिनके बिम्ब एकाधिक बार आए हैं, भूरे, ख़ाकी, पीले, लाल, नीले, धुँवाले, मटमैले, गोरे, गेरुए, कत्थई, मोतिया, चम्पई, गुलाबी और सुनहले रंगों के बिम्ब प्राप्य हैं। उनके काव्य में सुनसान साँवले चौराहे, वीरान गेरुआ घंटाघर, कत्थई बुज़ुर्ग गुम्बद और घंटाघर के चार पीले घड़ी चेहरे सहज ही देखे जा सकते हैं। कहीं-कहीं तो उन्होंने मात्र एक रंग विशेषण के आधार पर ही एक जटिल-अर्थपूर्ण बिम्ब की सृष्टि की है :

ज़िन्दगी भूरी ही नहीं,
ख़ाकी है।

—चाँद का मुँह टेढ़ा है

सक्रिय बिम्बों की दृष्टि से निश्चय ही अज्ञेय का पलड़ा भारी है। मानव-क्रियाओं से सम्बन्धित बिम्बों पर विचार करते हुए भी हमने उनके बिम्बों की सक्रियता की ओर संकेत किया था। ऐसा लगता है कि भले ही सामाजिक कर्म में अज्ञेय की अधिक रुचि न हो, प्राकृतिक और मानव-शारीरिक क्रियाओं में उनकी खूब रुचि है। उनके अधिकांश बिम्ब की जाती हुई किसी-न-किसी क्रिया से संयुक्त हैं।

लेकिन बिम्बों की नवीनता और मौलिकता की दृष्टि से मुक्तिबोध का बिम्बविधान कहीं अधिक उपलब्धिपूर्ण है। उनके लगभग दो-तिहाई बिम्ब नवीन हैं, जबकि अज्ञेय में नवीन बिम्ब उनके द्वारा प्रयुक्त कुल बिम्बों का बीस ही प्रतिशत हैं। एक आधुनिकतावादी काव्यान्दोलन (प्रयोगवाद—नई कविता) के प्रवर्तक माने जाने वाले कवि के काव्य में नवीनता और परम्परागतता का यह विषम अनुपात सचमुच आश्चर्यजनक है। यह तथ्य निश्चय ही गहराई में अज्ञेय के शास्त्रीयतावादी-परम्परावादी रूप को व्यक्त करता है।

यहाँ सैद्धान्तिक रूप से नवीन और परम्परागत बिम्बों की आपेक्षिक काव्योचितता पर विचार-विमर्श की गुंजाइश नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि अज्ञेय ने अधिकतर परम्परागत बिम्बों का ही परिष्कार किया है, जबकि मुक्तिबोध ने अनेक नवीन बिम्बों का सृजन भी किया है।

बिम्ब-विधान की दृष्टि से दोनों कवियों की कुछ विशिष्ट रुझानों की ओर संकेत के बाद हम इस चर्चा को समाप्त करेंगे।

अज्ञेय के बिम्बों में आधुनिकता के प्रति उनका उपेक्षाभाव उभरकर सामने आता है। आधुनिक नागरिक जीवन के उपकरणों का बिम्बात्मक प्रयोग, एक तो उनके यहाँ बहुत विरल है और दूसरे जहाँ है वहाँ भी अधिकतर जुगुप्साजनक या तिरस्कारपूर्ण संदर्भ में ही :

शहरों की ढँकी लोलुप
विषैली वासना का साँप

—हमारा देश

नागरिकों से
जिनकी भाषा में
अतिशय चिकनाई है साबुन की
किन्तु नहीं है करुणा।

—हरी घास पर क्षण भर

यही कारण है कि उद्योग-विज्ञान-सम्बन्धी जो थोड़े-से बिम्ब उनके काव्य में मिलते हैं, वे भी प्रायः जीवनानुभूति के अंग कम, पुस्तकीय अधिक प्रतीत होते हैं :

मैंने देखा, वहाँ करोड़ों भभकों में फिर उफन-उफन कर
भस्मीभूत अस्थियों के अनगिन स्तर की छननी में छन
कर
एक मनमोहक उन्मादक झिलमिल निर्झर रूप ग्रहण कर
वही रक्त बढ़ता आता था मेरी मोहक मदिरा बनकर !

—रक्तस्नात वह मेरा साकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ जो अस्थियों की छननी का बिम्ब है, वह शक्कर उद्योग से सम्बन्धित है, जिसमें शक्कर को श्वेत बनाने के लिए 'बोन चारकोल' का प्रयोग किया जाता है। लेकिन यह प्रक्रिया भारत के शक्कर उद्योग में प्रचलित नहीं है, कारण भारतीय शाकाहारी मानस की हड्डियों के प्रति घृणा-भावना है। सिर्फ़ विदेशों में प्रचलित इस प्रक्रिया का बिम्बात्मक प्रयोग, पुस्तकीय ही कहा जा सकता है।

मुक्तिबोध ने भी आधुनिक जीवन के कई उपकरणों का व्यंग्यात्मक या तिरस्कारपूर्ण प्रयोग किया है, पर अधिकतर इन उपकरणों के प्रति उनकी रुझान रुचिपूर्ण है :

कहाँ है पश्यत कैमरा जिसमें
तथ्यों के जीवनदृश्य उभरते
कहाँ-कहाँ सच्चे सपनों के आशय
कहाँ-कहाँ क्षोभक-स्फोटक सामान
भीतर कहीं पर गड़े हुए गहरे तलधर अन्दर
छिपे हुए प्रिंटिंग प्रेस को खोजो
जहाँ कि चुपचाप ख़यालों के परचे
छपते रहते हैं, बाँटे जाते
इस संस्था के सेक्रेटरी को खोज निकालो
शायद उसका ही नाम हो आस्था
कहाँ है सरगना इस टुकड़ी का
कहाँ है आत्मा ?

—अँधेरे में

वीभत्स, भयानक और विराट् बिम्ब भी अज्ञेय में लगभग नहीं हैं। मुक्तिबोध के इन तीन सौ बिम्बों में तीन वीभत्स, दो भयानक और चार विराट् बिम्ब प्राप्त होते हैं। वीभत्स-बिम्ब का एक उदाहरण लिया जाए :

अस्थिरूप, यकृत-स्वरूप उदराकृति
आँतों के जालों से
बाजे वे दमकते हैं भयंकर

—अँधेरे में

एक विचित्र-से विराट् बिम्ब को भी यहाँ देखा जा सकता है :

फिर भी, यशस्काय दिक्काल सम्राट्
तुम कुछ नहीं हो, फिर भी हो सब-कुछ !
काल्पनिक योग्य की पूँछ के बालों को काट कर
होंठों पर मूँछ लटका रखी है
ओ नट नायक, सारे जगत पर रौब तुम्हारा है
तुमसे जो इनकार करेगा
वह मार खाएगा
और उस मूँछ के हवाई बाल जब
बल खाते, धरती पर लहराते, मँडराते चेहरों पर हमारे
तो उनके चुभते हुए खुरदुरे परस से
खरोंच उभरती है लाल-लाल
और हम कहते हैं कि
नैतिक अनुभूति हमें कष्ट देती है !

—एक अरूप शून्य के प्रति

वीभत्स, भयानक और विराट् बिम्बों की उपस्थिति को मुक्तिबोध के विस्तृत यथार्थ-बोध का एक प्रमाण माना जा सकता है।

पहले कहा जा चुका है कि अज्ञेय का बिम्ब-संसार दृश्यों, ध्वनियों, स्पर्शों और गंधों का एक सुखपूर्ण संसार है, पर मुक्तिबोध के बिम्बों में जीवन और जगत् का वैसा सुखपूर्ण रूप कम ही उभरता है। उनके यहाँ तो उसकी द्वन्द्वात्मकता ही अधिक मुखर है :

हर शब्द निज प्रतिशब्द को भी काटता
वह रूप अपने बिम्ब से भी जूझ
विकृताकार कृति है बन रहा
ध्वनि लड़ रही अपनी प्रतिध्वनि से यहाँ।

—ब्रह्मराक्षस

अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों के बिम्बों में बिलकुल अमूर्त स्थितियों को एकाध मूर्त विशेषण या क्रिया के द्वारा मूर्त करने की प्रवृत्ति मिलती है, शायद यह नयी कविता की एक सामान्य प्रवृत्ति हो :

अपनी धकधक में
दर्दीले फैले-फैलेपन की मिठास

—मुक्तिबोध, पता नहीं

शून्य के अवलेप का प्रस्तार

—अज्ञेय, शिशिर की राका निशा

अर्थ-हीन आकारों की यह अर्थ-हीन-तर भीड़
निरर्थकता का संकुल
निर्जल पारावार न-कारों का
यह उमड़ा आया।

—अज्ञेय, अंधकार में दीप, आँगन के पार द्वार

समग्रतः अपने काव्य-बिम्बों के आईने में ये कवि कैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई पड़ते हैं ? मुक्तिबोध एक सामाजिक चेतना-सम्पन्न आधुनिक जीवन के विभिन्न, विशेषतः वैज्ञानिक उपकरणों और इस जीवन की विभिन्न समस्याओं के प्रति सजग, पर ऐंद्रिक संवेदनाओं के प्रति अपेक्षाकृत तटस्थ-से, जीवन के आनन्दपक्ष की अपेक्षा उसकी द्वन्द्वात्मकता के प्रति अधिक सचेत कवि मालूम पड़ते हैं; तो अज्ञेय एक प्रकृति-प्रेमी, ऐंद्रिक विलासवादी, स्मृतियों और कल्पनाओं के जगत् में अधिक विचरणशील स्वच्छन्दतावादी, ऐंद्रिक संवेदनाओं की बारीकियों और सुखों के पारखी लेकिन आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक जीवन से कुछ विरक्त और साहित्यिक दृष्टि से अपेक्षाकृत परम्परावादी कवि प्रतीत होते हैं।

अन्त में हम विनम्रतापूर्वक अपने इस अध्ययन की कुछ सीमाओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चाहते हैं। पहली बात तो यह है कि एक निश्चित कसौटी के बावजूद उसे लागू करने और बिम्बों के श्रेणीकरण में कुछ मतभेद और कुछ व्यावहारिक त्रुटियों की गुंजाइश स्वाभाविक है। दूसरी यह कि यहाँ हमने इन कवियों पर केवल उनके बिम्ब-विधान के आधार पर ही विचार किया है, जबकि हम इस बारे में सजग हैं कि बिम्ब काव्य-सौंदर्य का एक उपकरण ही है, उसका पर्याय नहीं। इसलिए इस अध्ययन के निष्कर्ष इस सीमा के भीतर ही सही होने का दावा कर सकते हैं। फिर बिम्बों के अध्ययन का एक प्रमुख आयाम उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी है। पर अपनी, समय की और इस अध्ययन की मर्यादाओं के कारण हम उसे नहीं छू सके हैं, इसलिए यह अध्ययन अपने क्षेत्र में भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

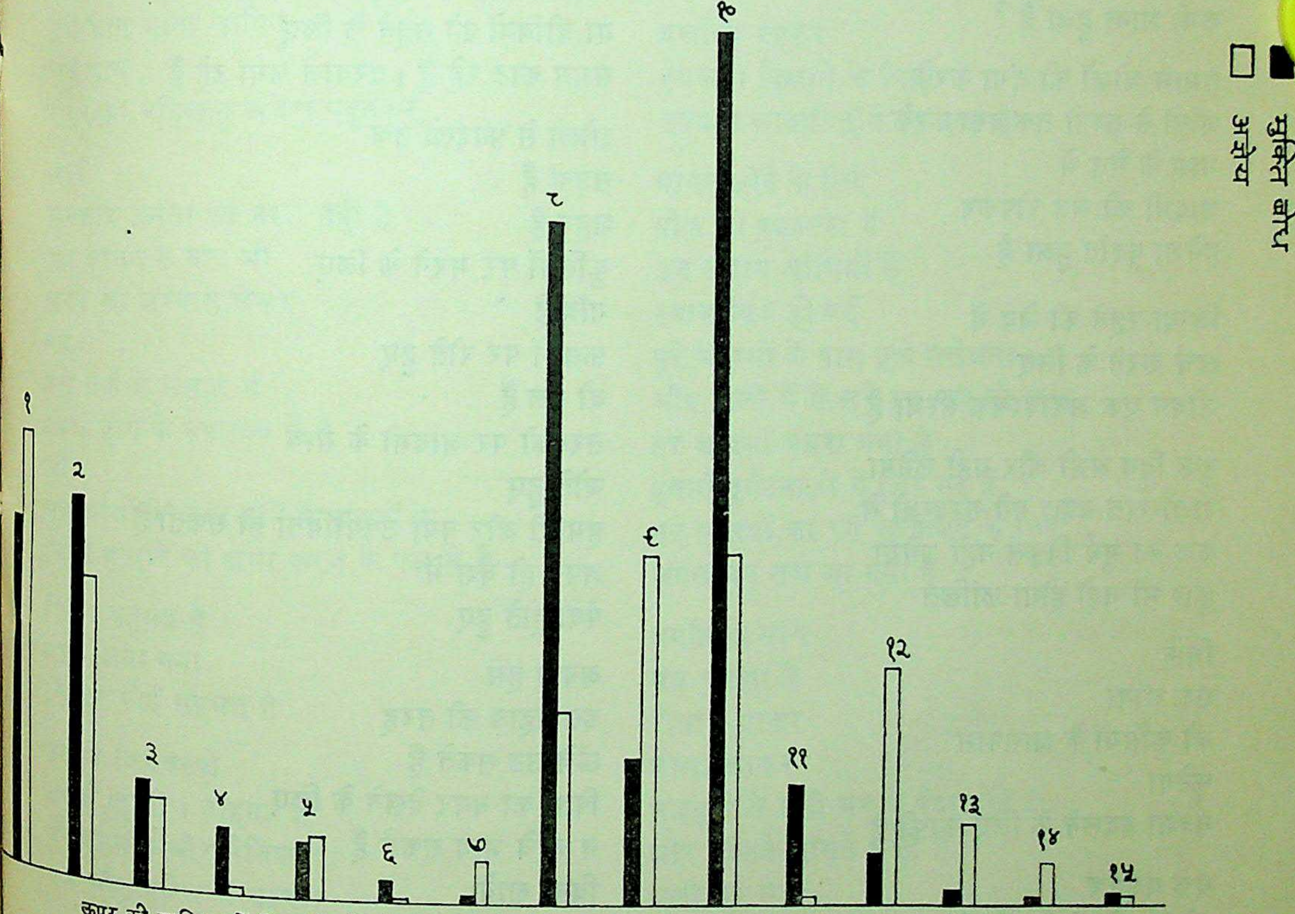

ऊपर की तालिका में जिन विषयों को तुलनात्मक दृष्टि से अंकित किया गया वे क्रमशः इस प्रकार हैं: १. प्रकृति, २. मानव-जीवन, ३. दैनिक जीवन की वस्तुएँ, ४. विज्ञान, ५. पुराण-धर्म-लोक-विश्वास, ६. साहित्य, ७. संगीत, ८. नवीन बिम्ब, ९. सक्रिय बिम्ब, १०. दृष्टि-बिम्ब, ११. रंग-बिम्ब, १२. ध्वनि-बिम्ब, १३. स्पर्श-बिम्ब, १४. गंध-बिम्ब और १५. स्वाद-बिम्ब।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस व्यवस्था में | *लीलाधर जगूड़ी*

आदमियों की इस आतंकित दिशा में
बहुत कुछ रंग की तरह उड़ गया
समय
एक और कोना बनाकर। मुड़ गया
पुराने हल्ले के सामने
नया हल्ला
कभी शान्त हुआ है ?

तमाम चीज़ों को नंगा करके
जाँघों से छाती तक दंगा करके
मांस के खेत में
आदमी की जड़ रोपकर
हमेशा पूर्वांत हुआ है

ज़िन्दा रहने की जेब में
ख़र्च करने के लिए
जीवन एक अनावश्यक संस्था है

कुछ दिन अभी और यही लगेगा
रातों-रात बदल गये सम्बन्धों से
कल का सूर्य विकृत नहीं उगेगा
कुछ भी नहीं होगा लांछित

सिर्फ़
एक लावा
जो कुर्सियों के आसपास
फूटेगा
नक्शा बदलने के लिए काफ़ी है

एक षड्यंत्र
जो देश में ही देश के लिए
किया जाएगा
मानवता का चेहरा मोड़कर
कोई भी तारीख़ ऐतिहासिक हो जाएगी

फ़िलहाल। सब्ज़ी से लौटकर
लोग फिर ख़बरें उगा रहे हैं
ऑफ़िस जाने के लिए
या बीवियों को सहने के लिए
समय काट रहे हैं। दरवाज़े लगा रहे हैं

झोलों से फ़ाइलों तक
सड़कें हैं
शहर हैं
कुर्सियों पर मरने के लिए
गाँव हैं
फ़सलों पर रोते हुए
दो बैल हैं
तरक्की पर आदमी के साथ
जोते हुए
हमारी और क्या उपयोगिता हो सकती है
अपने ही वंश में
पैदा होते हुए

अब न हम
इस पहाड़ की तरह
ऊँचे उठ सकते हैं
पिता का नगर देखने के लिए
न नीचे भाग सकते हैं
बिना खाये
हम सिर्फ़ हो सकते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब-कुछ के बदले
तो पीले हो सकते हैं
या फिर उमड़ सकते हैं
भीतर से अपने कपड़ों तक

अपने-आपमें अविदित
किस विस्फोट की तरह फूट लिया जाए
इस ध्वंस में
दोपहर १२ और १ बजे के बीच
हमें पी लेना चाहिए
स्प्रिंग कसने का वक्त
इस मेज़ पर
ज़िन्दा होने का सबूत जुटाने के लिए
तनकर
हमें भाग जाना चाहिए
कई हाथ
शहर का बहिष्कृत अँधेरा पहनकर

जहाँ
सरकार जनता की नस्ल नहीं है
यह जानने के बाद भी
मरने का अभ्यास लेकर
वह
इस तर्क के संसार में
स्पष्ट होने के उपलक्ष्य में है
और
सुविधाओं के ज़ब्त होने के ख़तरों से
किसी हत्यारे को क्षमा करने के पक्ष में है

जिधर बहुमत है
मान लिया गया
कि हर कोई सहमत है

उसकी दिलचस्पी
अच्छी ख़ासी। तोहमत है
जो मान्यता और नैतिकता
यंत्र और चरित्र से उठकर
अख़बार में
युद्ध और भूख के समाचार ढूँढती है

यह जानकारी कितनी साहित्यिक है
कि चुनाव से पहले
नेता के जेब की सद्भावना
तमाम फ़ायदों से शरीर भाषा तक
हर बार। उल्टा मूँडती है

कपड़ों के नीचे छिपी हुई नैतिकता के लिए
क्या सबकी नसों में
सही घमण्ड है ?

वह इतना जानता है
कि अपराधों के अँधेरे में

बर्ख़ास्त रहकर
हथकंडा दिखाने के लिए
सभ्यता आदमी होने का दण्ड है

पागल होने के लिए
पोज़ की व्यवस्था में
इन तमाम आँधियों में
स्वाभाविक हो गई
पूरे मनुष्यों के पास एक उत्तेजना
और टोली में से छूटे हुए पशु की तरह
हर आदमी घबरा गया है
हवाएँ दुर्घटनाओं में चिर गई हैं
नई पत्तियों का रंग पहचानने के लिए
जंगल घर तक आ गया है

प्रगति के साथ
सब चलता है
रोना। गाकर
धोखा खाकर
मजबूरी से उसी घर में पैदा होते हैं
और खाँसते-खाँसते मरते हैं
उसी घर में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आख़िरी बार
एक बहुत अच्छा काम करते हैं
ऐन मौके पर
जब सारे महल्ले के बुद्धिमान लोग
रोटी खाने के बाद गुदगुदा रहे हैं

स्त्रियों की धर्महीन गारण्टी पर
राष्ट्रीयता के स्तर पर मोहर मार रहे हैं

वह सोचता है
ऊटपटाँग देश के लोग
अनुशासन और भय
कानून और प्रेम के बाबत
पुरानी किताबों का विश्वास चरते हैं

ठीक उस समय
जब पवित्र चेहरों वाले लोग
खतरनाक विचारों से भरे हुए
संस्कृति के हज़ार विनाश सुलगाकर
उसे
सम्पूर्ण मानव की तरह उड़ाना चाहते थे

उसने क्या बुरा किया
उस घर की लड़की को
माता और मादा का अन्तर समझाने के लिए
दीवार के विरुद्ध एक छेद बना दिया

उजाला हर कोण से
दाग की तरह पड़ता है
अँधेरे के अफ़सोस से बरी होकर
मुख पर। दिन
अपनी शुरुआत
थप्पड़ की तरह जड़ता है

बहुत कुछ सहा जा सकता है
हिन्दी। अंग्रेज़ी में
सारा दुःख-दर्द
कहा जा सकता है

पाँच वर्ष बाद। 'जातीय' ज़मीन पर
देशवासी हो जाना
प्रजातंत्र का मसविदा है

और हर फ़िल्म-शो के बाद
बजता हुआ राष्ट्रगान
पचास सेकण्ड की असुविधा है
अब अगर
'वह' 'मैं' और 'तुम'
एक-दूसरे की असुविधा में
गुम
साझीदार हैं। पर मालदार नहीं हैं।
तो मेरे पास एक सलाह है
जो उसके या तुम्हारे काम आ सकती है
सरकारी भाषा में
आदमी होने के लिए
मुझे तुम्हारे शोषण से यश तक पहुँचा सकती है

पशुओं के साथ जीना
निहायत ज़रूरी है—
यह ख़याल ही एक बहुत बड़ी
यातना है
लेकिन
अमर्यादित होना
फिर से सही होने के लिए
अनिवार्य प्रार्थना है

जब तुम्हारे पास
यह दरिद्र छोड़ दिया गया है
इस खम्बे और अलमारी के
सिलसिले में
तुम्हें १० से ६ के बीच
निचोड़ लिया गया है
तो तुम कुछ मत करो
तुम्हें राहत मिलेगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखो,
इस देश की हर सड़क
तिजोरी तक जाती है
और तुम्हारे लिए पोस्टकार्ड की कीमत बढ़ जाती है
चीज़ों और नामों से भरी
इन चौड़ी जगहों पर
तबीयत अचानक उखड़ने लग जाती है
तब तुम्हें हर बार यही क्यों लगता है
—मकान में और शहर में बड़ा भारी भेद है

अर्थ उगते हैं
गोया
तुमने इन्हें नहीं बोया
ज़रूर कहीं कोई छेद है
जो तुम्हारी आँख से होकर उतना नहीं
जितना तुम्हारे अण्डरवीयर
और बनियान से है
या
तुम्हारी बीवी के नाड़े और खदान से है

नौकरी के लिए पढ़कर
सिफ़ारिश से कुर्सी पर चढ़कर
इस दरमियान
मैंने जाना है
जनतंत्र में
बिल्कुल नया ज़माना है
नागरिकता पर
सबसे बड़ा रन्दा । थाना है

बीड़ी और बीवी के बीच
माचिस की तरह बजकर
कुटुमदारी निबाहते हुए
चारों ओर जो शोर है
इसका जो भी मतलब हो
इस व्यवस्था में
हर आदमी कहीं-न-कहीं चोर है

पिछले साल
मैंने नारा लगाया था
तुरन्त
दुकानदार ने
मुझे अन्दर बुलाया था
और जास्ती राशन देकर
एक सिगरेट पिलाया था

जब दीवारें उठ गई हैं
और छत पड़ गई है
तब भी क्यों लग रहा है
कि शहर के चेहरे पर दाढ़ी बढ़ गई है
लुट जाने के बाद
हालत इतनी बकवास हो गई
कि हर किसी को
आज़ादी के नाम पर
अदालत जाने की
लत पड़ गई है
आदमी की जात कहीं से भी दबोचो
ढीली पड़ गई है
मोटी दोपहर की चौड़ाई में
नाटी इमली की हर पत्ती
पीली पड़ गई है

किताबों के भीतर
नज़रों का खेल खत्म हो जाने के बाद
कुछ नहीं मिलता है
कहने को वहाँ
कहानी है
कविता है

कुछ पता नहीं चल रहा है । लड़कर
सूर्य । अपनी
किस दिशा में ढल रहा है
ज़माने के साथ-साथ
उखाड़ने के
आखिरी औज़ार पर चढ़कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सख़्त अफ़सोस है
कुछ नहीं हो पा रहा है
न विद्रोह । न युद्ध । न शासन
कुछ नहीं मिल पा रहा है
न धन्धा । न चन्दा । न राशन

देखा
एक नयी हवा चली है
और जंगल सिर्फ़ सिर हिला रहा है
बड़ी दुविधा है

इतिहास के
शिक्षित और कुटिल तेवर के ख़िलाफ़
चेहरा एक सुविधा है
लेकिन वह जहाँ पर सही है
वहाँ पर नहीं है

यह सवाल बड़ा हो जाएगा
कान खाते-खाते
घर आते-आते
तुम असमर्थता के सज्जन हो
ठीक समय पर
कुछ नहीं लगा सकते
न धारा । न पेड़ । न चाँटा
डिगे हुए लोगों का दल
एक दिन तुम्हारे साथ खड़ा हो जाएगा
मैं उस दिन की प्रतीक्षा करूँगा
और हो सकेगा तो ठहरकर मरूँगा

जब कोई भी किसी से पूछता है
—आपने एक आदमी को देखा
तो किसी का भी मतलब तुमसे नहीं होता

बहादुर और खूँखार और पिद्दी
एक ही राशन से मर रहे हैं
इच्छा जब ज़िद हो गई है
संस्कृति के नाम पर
औरतों को रद्दी कर रहे हैं

मेरे साथ
आओ
तुम बहुत धुँधले पड़ गए हो
मैं तुम्हें कालेज से कॉफ़ी-हाउस तक ले जाता हूँ

जिसके बीच
रोज़ । वह । घर के कमरे में
अभिनेत्रियाँ टाँगकर
टाफ़ियाँ खाता है
लड़कियाँ लाँघकर गाना गाता है
दोस्तों में विशेष जमने के लिए
संयुक्त सरकार से गुज़रता हुआ
अपनी गली में दुबक जाता है

पिता को देवता । माँ को देवी
बहिन को चरित्र समझने के लिए
अपने बारे में चिन्तित होकर
जड़ता को

कुर्सी के सन्दर्भ में खड़ा कर देता है
और
मेज़ पर
सिर को मुकद्दमे की तरह रख देता है

बहिन छत से उतरती है
झट
बिजली जलाकर
कमरा कुतरती है
कोई भी वजह हो
अगर खिड़की से बाहर
ये पेड़
अपने प्रसंगों को घना कर देंगे
हवाओं के लिए
एक स्थिति तैयार करके
लीलाधर जगूड़ी को
अंट-संट बकने के लिए
टहनियों के रास्ते मना कर देंगे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घर में फिर भी गुंजाइश रहेगी
जंगल उगाकर मरने के लिए
और नौकरी से नौकरी तक
झाड़ू देने के लिए

तुम इस तरह
उस तरह
किसी भी तरह
नहीं कह सकते कि क्या होगा ?

कर्तव्यों के पीछे
सुविधा विचारते हुए
आँखों तक ऊब और व्यस्तताएँ लेकर
डींग मारते हुए
नैतिकता एक ख़लल रही है

सब रोज़ लड़ना एक युद्ध
पिता की बंदूक से सम्भव नहीं होगा
फ़ौजी दस्ते की तरह। अँधेरे में
एक भाषा
खाइयाँ बदल रही हैं
और शब्दों को गोलियों की जगह भर रही है
उधर धुआँ उठना ही चाहिए
जिधर नक़ली नज़र रही है

हमारी आत्महत्या से पहले
टेढ़ी हड्डियोंवाले लोग
हवा धोना चाहते हैं—

दरअसल अपनी रक्षा का यह एक बहाना है
मंत्र और लड़कियाँ साँपों की नदी में छोड़कर
पिछले दिन
ग़लतफ़हमी के
गवाह होना चाहते हैं
उस रास्ते पर जहाँ से अब किसी को नहीं आना है
तुम देख सकते हो
घरों में भरे हुए पुर्ज़े

कहीं फ़िट नहीं हो पा रहे हैं
इन कभी-कभी की
सुविधाओं में
अनर्गल हो जाना
अब
सम्भव हो सकेगा रोज़ाना

मौका और धोखा लेकर
भीड़ जिधर जाएगी
मुड़ेगी
प्रसिद्ध उपस्थितियाँ
रिआयती भाषा में बोलेंगी

बस
यही एक ऐसी घड़ी है
जब बात बिगड़ जाती है
याने तुम पर
तुम्हारी अक्ल औंधी पड़ जाती है
तुम नहीं कह सकते
वे लालटेनों के पीछे छिपे हुए
अपने-अपने अँधेरे में नंगे हैं
इन दीवारों के बाहर
अथाह पानी में
लोग सिर्फ़ आन्दोलन या दंगे हैं

हाथों-हाथ
समझदार लोग
अधिकारों के बहाने
तुम्हें बाँट लेते हैं
शक और रोग
सीटी बजाते हुए
एक माहौल को चूतिया बनाकर
सूर्योदय छाँट लेते हैं

तब ग़लत क्या है
तुम देह खोदते हो
और बातें चोदते हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब अगर
तुम्हें कोई इल्म नहीं है
तो वह कोई फ़िल्म नहीं है
जो मैं तुम्हें दिखा दूँ
ठीक-ठाक दिखने की कोशिश में
सीधी बात है
जो पूरी-की-पूरी तुम्हारे हाथ है
यहाँ
अगर विनम्रता को चाल बना सकते हो
तो तुम अपनी दाल
किसी के भी बर्तन में गला सकते हो
होता ऐसा है
जो जैसा है उसी रूप में पैसा है
अगर तुम्हारे पास भी वह हो
तो तुम सारी व्यवस्था को
बूट की ठोकर से चला सकते हो

लेकिन तुम्हारे सामने फेंका हुआ
एक टुकड़ा है। जो कहीं-न-कहीं से
दया के नाम पर उखड़ा है
छोड़ी हुई जगहों पर
फोड़ी हुई चीज़ों ने तुम्हें बूढ़ा बना दिया
अब तुम कहो तो मैं तुम्हें समूचा उलट दूँ
हो सकता है
तुम्हारे पैरों पर सिर उगे
जो सब-कुछ ठीक तरह समझने लगे

तुम्हें इनका पता है
जो लोग शहर में नहीं थे
शहर में आ गये हैं
इनके आदमियों ने
इन्हें चिट्ठियाँ लिखी थीं
—ये पटरियों पर सो गये हैं
और सबने इनके चेहरों पर
व्यापार-चिह्न खोद लिये हैं

रात के एक बजे बाद
चौराहा सामने की गली में घुसना चाहता है
उस ठंडे अँधेरे में
जहाँ आदमी हैं
आदमियों की तरह दुर्घटना करते हुए
किसीको भी नहीं देखा मैंने
यहाँ। अपनी मौत मरते हुए

तुमसे किसी ने ग़लत कहा
कि मैं देश-सेवा करता हूँ
बात ऐसी है
वह बहुत दुखी है जो स्वदेशी है
यही कारण है
कि वेतन मिलते ही बहुत तेज़ी से जीता हूँ
तरीका बहुत साधारण है

बिस्तर को
रात-भर
मैदान समझकर मारता हूँ

पता नहीं मुझसे क्या ग़लती हो गयी है
आज़ादी के बाद
देशभक्ति
मेरे कंधे से सिर टिकाकर सो गयी है

अनुशासन के सारे देशी शरीर पर
खुजली की तरह
ज़बरदस्त बेकारी हो गयी है

अपनी हालत की वकालत
करते-करते
मौसम बदतमीज़ी की हद से
बाहर हो गया है
जहाँ मैं हूँ
जहाँ तुम हो
पहिये पहनकर
पद से
पहचान का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हर आदमी कायर हो गया है

जमात में भेड़ों की
जो नंगा नहीं है
और भारी है
चरित्र का प्रमाणपत्र लेकर
जो लफ़ंगा नहीं है
वह आधा सेठजी का
आधा सरकारी है

समय के सिलसिले में
तुम पूस की तरह ठंडे हो रहे हो
दूसरों की आमदनी में अंडे दे रहे हो
और यह सवाल रोज़ का है
तब यह कैसे ठीक नहीं है
ख़ून से वह पंजा बाहर कर दें
जो रोग का है
उजाले का उद्दण्ड-बोधलेकर
ख़ाली जगहों में घुसने के अलावा
यह होना या न होना
एक उत्तेजना पर निर्भर है

दरअसल
मैं खड़ा हूँ
बड़ा नहीं हूँ
तुम्हें सिर्फ़ ग़लतफ़हमी है
कि मैं अपनी हालत के साथ
कतई अलग कटड़े में हूँ
जो शहर । खेत । और विवेक ।
खा रहा है
अगले आइटम की तरह
मैं भी तुम्हारे साथ उसी जबड़े में हूँ

जहाँ
एक चढ़ाता है
दूसरा उतारता है
नोट और वोट का तख़्ता
पेट से टाँग अड़ाता है

पराजय और विनाश के बीच
आदर्श एक चालाकी है
लूटने के अनुशासन में । पुलिस की तरह
सबकी वर्दी ख़ाकी है

भारत एक वर्ष है
और 'स्वतंत्र' एक दल है
'सेवक' कार पर
और 'जन' पैदल है
फिर भी लोग बहुत-कुछ सहते हैं
मैं नहीं सह सकता
अपराध मुझे जीविका देते हैं

दो साल पहले मेरे पास तौलिया नहीं था
और कहीं का । एक तुम्हारे जैसा आदमी
फुसफुसा नहीं पाया था
उसने सिर्फ़ हाथ से कहा था
मैं तुमसे कुछ नहीं छिपाऊँगा
फिर भी दबे हुए गले के नीचे
चाकू धँसाकर
उस दिन मैंने पाँच रुपया कमाया था
—मरने के बाद
आदमी को रुपयों की दरकार
नहीं रहती है
आदमी को मारते हुए
हर बार
मेरी ज़रूरत मुझसे यही कहती है

मैं कल भी झूठ बोलूँगा
अमर्यादित होना । पापमुक्ति के लिए
अनिवार्य प्रार्थना है
किसी का पीछा करता हुआ
थाने के सामने से गुज़र जाऊँगा
संगीन पुलिस किसी रंगीन अपराधी को
पकड़ती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मुझे अपने देश के दिमाग़ पर खुशी होती है
चकमेबाजियाँ बतायेंगी
कि प्रतिभाएँ प्रजातंत्र में अपराध करती हैं
परसों कानून की किताब के
कुछ और पेज जला दूंगा
लोकसभा के पीछे। खुद के विरुद्ध
अविश्वास प्रस्ताव रखूँगा
और पास कर दूंगा
किसी षड्यंत्र के लिए अपना निर्वाचन···

भूख के अस्पताल में
मैं नचिकेता नहीं हूँ
मुझे ज्ञान नहीं निर्वाचन ने मारा है

जीते हुए। हारे हुए
आपस में सिद्धान्त बाँटते हुए
मेरे लिए
ये उत्सव। ये लोग। पिट गये हैं
अपने ही जूते से
अनुपात में घट गये हैं
और मेरे पास प्रमाणपत्र हैं
जो मुझे प्रमाणित नहीं करते
मैं भी आखिरी नहीं हूँ
समय में धँसता हुआ
कोई भी दिन आखिरी नहीं होगा
सामान खरीदने के बाद
लोग फिर सामान खरीदेंगे
जीवन-भर चीज़ों के लिए
कुछ करते रहेंगे
नौकरी। चोरी। हत्याएँ या षड्यंत्र
अब तुम मुझे गाली दो
मैं किसी लड़की को बहुत देर तक
नहीं सह सकता

मुझे गाली दो
मेरा किसी व्यापार में हिस्सा नहीं है
और आँसू नहीं आते हैं
किसी बुजुर्ग को पिता
किसी औरत को माँ नहीं कह सकता
सब स्वाद बदलना चाहते हैं

मुझे गाली दो
मैं कठिन भाषा नहीं बोल सकता
और कविता की मौत मुझे चिंतित नहीं करती

इतना जानता हूँ
टामा पिलाना मानवीय है
और—भूखा हूँ—
यह सबसे अधिक राष्ट्रीय है
अब भी अगर तुम नहीं चाहते हो
कि मैं तुम्हें समूचा उलट दूँ
याने बातों-ही-बातों में निबट लूँ
तो फिर आओ
तमाम चीज़ों के विरुद्ध प्रार्थना-पत्र लिखें
और प्रमाणपत्र दिखा-दिखाकर बिकें
क्योंकि ज़्यादा लोग
पीठ पर पेट ढो रहे हैं
सुबह से शाम तक
ज्योंही परिस्थिति भूख जोतती है
सारी शक्ति
फटाक से दिमाग़ में वेतन बोती है

वह मकान
जिसका द्वार आँगन के पार खुलता है
गेहूँ के बोरों से चिन दिया गया है
लोकसभा से संयुक्तराष्ट्र संघ तक
हमारी कोई उपयोगिता नहीं
विश्वयोनि में बहुत दिन तक
हम चरित्र की तरह नहीं खुजला सकते

पत्थर लुढ़काने के बाद
जंगल की आतुरता देखते हुए
क्या तुम्हारा इन नगरों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी नाक की सीध पर
तोड़ने का इरादा बन गया है
तो नुकसान से दोस्ती गाँठें
जो भीतर-ही-भीतर
कुतरता
सबके करीब पहुँच गया है
हमारी ओर आनेवाली नदी से
जो समझौता कर चुके हैं
वे नेहरू को अठन्नी पर छाप रहे हैं
और देश को दौरे से नाप रहे हैं

सब-कुछ के बाद
एक गलत ज़िक्र की तरह
हमारा होना। हम बच्चे पड़ गये हैं

कानून की जड़ बटुए में लेकर
ये शेष लोग
इस सारी व्यवस्था के साथ सच्चे पड़ गये हैं

सारे समाज को खबर की तरह फैलाकर
फंदे और धंधे लेकर
दुनिया रहने काबिल नहीं रही

युद्ध में
समुद्र और आसमान दोनों खो गये हैं
और शेष दृश्यों के सभी पात्र
घरवाले दृश्य में शामिल हो गये हैं
सचमुच यह दुनिया रहने काबिल नहीं रही
रात। घिसने के लिए
कमरों समेत
आदमी जीवन-भर मरता है
किराये पर
इस सारी व्यवस्था को सच करता है

कुछ और शक पैदा करें
ग़लती और क्षमा खोटी है
जेब से आँखों में
उतर गये। ठंड के समुदाय
कुछ उपाय करो
बड़ी चीज़ रोटी है

यहाँ ख़ाली नहीं होना चाहिए
यह भी एक दर्जा है
ग़रीबी का
आदमी पर सबसे बड़ा कर्ज़ा है
दुनिया की पीठ पर
शर्त के रूप में बँधा हुआ
कानून
रँगे हाथों पकड़ा गया
तमाशा है
चीज़ों की व्यवस्था में
तुम्हारा इस तरह ग़ायब हो जाना
मेरे लिखने की भाषा है

हर बार
तुम्हें खोजने की कोशिश में
लापता हो जाता हूँ
और संशय की भाषा में बड़बड़ाता हूँ
जो न क्रान्ति होता है
न नज़रिया न विचार···

सूचना विभाग के हर पोस्टर पर
खुशहाली है। चारों ओर
कंगाली के पास। आटा नहीं
गाली है
और जिस पर कोई नहीं
खाना चाहता
आज़ादी एक जूठी थाली है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज की कविता का व्याकरण : कुछ संकेत-सूत्र

काशीनाथ सिंह

आज से सौ वर्ष पहले भारतेन्दु के ज़माने में साहित्य की भाषा जनजीवन के सम्पर्क में आई। किताब और पत्रिका की भाषा ने अपनी शक्ति की खोज लोकभाषा में की। कालान्तर में युग ने अपने को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित करना आरम्भ किया तो साहित्यिक भाषा ने भी आधार और स्रोत के रूप में संस्कृत को चुना। फिर तो भारतेन्दु की भाषा सुसंस्कृतों के मध्य आई और मध्यवर्ग के दायरे में फँसती चली गई। मध्यवर्गीय कवियों-लेखकों की ओर से भाषा को अधिक-से-अधिक साहित्यिक बनाने की चेष्टा हुई और वह लोक से अलग जा पड़ी।

आज़ादी के बाद हमारी आँखों के सामने जब नंगा, भूखा और बेहाल देश आया तो हमने कोशिश की कि घर के अन्दर भले ही फटी बनियान और निकर में रहें; बाहर साफ़-सुथरे कपड़ों में निकलें। अन्दर सूखी रोटी तोड़ें लेकिन बाहर शालीनता के साथ किसी अच्छे रेस्तराँ में बैठें। यहीं से बनियान के ऊपर कुर्ता और उसके ऊपर जाकिट अथवा बनियान के ऊपर कमीज़, उसके ऊपर टाई और उसके ऊपर कोट फिर ओवरकोट का चढ़ना शुरू हुआ। हड्डियों का ढाँचा रंग-बिरंगे कपड़ों में ढँक गया। वस्तु छिप गई और विशेषण उजागर हो गया। **कांग्रेस सरकार के दस-पन्द्रह साल साहित्यिक भाषा के इतिहास में विशेषणों के साल रहे हैं।** हमें जब भी किसी बाहरी अतिथि को दिखाना हुआ, हमने भाखड़ा-नंगल, दामोदर घाटी, दुर्गापुर, भिलाई, ताजमहल, लालकिला, अजन्ता, एलोरा, मीनाक्षी मन्दिर दिखाया, लेकिन पनारू का घर आँखों से परे रखा। हमने तरक्की की और भूखे रहे। एक तरह से यह सचाई को **योजनाबद्ध ढंग** से भारी-भरकम विशेषणों और नारों से ढँकने की साज़िश रही है।

विशेषणों के प्रयोग के दो स्तर होते हैं; एक तो वस्तु को सही सन्दर्भ देने या उसकी अहमियत को और तीखा बनाने के लिए, दूसरा वस्तु की हीनता या रहितता की ओर दृष्टि न जाने देने के लिए। यदि आज़ादी के आरम्भिक दस-पन्द्रह साल की कविता में विशेषणों का धुआँधार प्रयोग हुआ तो स्पष्ट है कि उसका मकसद प्रयोग के दूसरे स्तर से था। चूँकि संज्ञाओं का महत्त्व खत्म हो रहा था, शब्द घिसकर क्षीण हो रहे थे, इसलिए उन्हें महत्त्वपूर्ण और वज़नी बनाने के इरादे से विशेषणों का इस्तेमाल बड़े व्यापक पैमाने पर चल पड़ा।

अज्ञेय को छायावाद का आखिरी कवि और मुक्तिबोध को अपवाद मान लेने के बाद "भाषा की दृष्टि से नई कविता गूँजहीन शब्दों का घना अन्धकार" है। शब्दों की गूँज ही उसका अर्थ होता है। ये कविताएँ अर्थ के स्तर पर विपन्न हैं। जैसे, 'हल्के फीरोज़ी रंग की चूड़ियों का साया', 'धानिया चूनर में लिपटी तुम्हारी काया' (लक्ष्मीकान्त वर्मा), 'करोड़ों वायवी अनुभूतियों का निचुड़ता सागर', 'मृदुल संख्यातीत लच्छोंभरा बादल' (साही), 'किरण-वल्गा', 'विहग उड़ते अश्व', 'तारों की अन्ध गलियाँ' (कुँवर नारायण), 'विवेक का पीले सान्ध्य फूलों वाला पेपरवेट' (सर्वेश्वर), 'फेन का शिरस्त्राण', 'सिवार का कवच', 'निर्जीव मछलियों का धनुष', 'लहरों का नीला अवगुंठन' (भारती), 'टिकुली की कसक', 'सपनों के अक्षर', 'ओठों की लाली के गीत', 'लोरी की कलियाँ' (मलयज) आदि। ज़रा ग़ौर से देखिए तो कविता के ये तरल और लच्छेदार मुहावरे या तो संज्ञाशेष विशेषणों के दलदल हैं या उपमा और रूपकों के बहाने वस्तुओं की सत्ता के इनकार के नखरे। जिस प्रकार विशेषणों का प्रयोग वस्तु के अस्तित्व को ठेस पहुँचाता है, उसकी अहमियत पर पर्दा डालता है, उसी प्रकार उपमा और रूपक भी सही वस्तु को हटाकर उसके स्थान पर दूसरी बाहर की वस्तु को ला खड़ा करते हैं। परिणाम यह होता है कि वस्तु या यथार्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी जगह अदृश्य हो जाता है और कविता के ये मुहावरे एक खास किस्म का रूमानी वातावरण पैदा करके अपने दायित्व से मुक्ति पा लेते हैं।

नई कविता की भूमिका की कविता में ज़्यादातर इसी प्रकार के शब्दों, विशेषणों और मुहावरों के जाल हैं जो सरलता से पाठक को वस्तुगत यथार्थ के समीप नहीं जाने देते।

यदि हम विशेषणों की प्रकृति पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि भाषा के अधिकांश विशेषण **औरत** और **प्रकृति** के साहचर्य के परिणाम हैं। अगर औरत है तो पृष्ठभूमि में प्रकृति का होना ज़रूरी है वैसे ही जैसे बग़ल में प्रेमिका हो तो आसमान ज़रूरी है, बादल ज़रूरी है, चाँद, तारे, नदी, झरने, फूल, पत्ते, पार्क—सब ज़रूरी है। 'बाँहों का यह कत्थई फूल, गोरी-गोरी बाँहों पर बेहद फबता है' में फूल के पहले 'कत्थई' और बाँहों के पहले 'गोरी-गोरी' या साँवली-साँवली। इन्हीं के इर्द-गिर्द विशेषण पनपते भी हैं—हिन्दी का रीतिकाल इस तथ्य का गवाह है। चूँकि हमारे सारे विशेषण इन्हीं के आसपास मँडराते हैं, इसलिए स्वभावत: औरत और प्रकृति का प्रेम कवि को विशेषण-प्रेम की ओर ले जाता है।

इस तरह नई कविता व्यवस्थित ज़िन्दगी की रूमानी दृष्टि की कविता है। उदाहरण के लिए भारती की कविता के बोल हैं—

शब्द···शब्द···शब्द
मेरे लिए सब अर्थहीन है
यदि वे मेरे पास बैठकर मेरे रूखे कुन्तलों में उँगलियाँ
उलझाए हुए
तुम्हारे काँपते अधरों से नहीं निकलते।

'इससे शब्दों के अर्थहीन रह जाने का रहस्य खुलता है। शब्द सार्थक तभी होंगे जब किसी के पास बैठकर रूखे कुन्तलों में उँगलियाँ उलझाए हुए कवि कविता लिखे। और इसमें सन्देह नहीं कि इन कवियों की कविताओं की भाषा वहीं जीवन्त भी है जहाँ ये कुन्तलों, पुतलियों, बरौनियों, कन्धों, होठों, कपोलों, बाहुओं, उरोजों, उरुओं, पिंडलियों, एड़ियों और तलवों के आसपास होती है। यहाँ तक कि कवि जब गोरे अंगों की भाषा को भूल जाना चाहता है तो उसे कचोट भी उसी भाषा में होती है—

१. मेरी वाणी
···············
भूल गई गोरे अंगों को
फूलों के वसनों में कसना। (भारती)

२. लगा कि
सिरहाने बैठीं तुम
मेरे उलझे बालों को
कोमल-कोमल सुलझाती हो। (अजित कुमार)

रचना के ऐसे क्षणों में चित्रण के विशेषण भी सुलझे हुए होते हैं।

भाषा-स्तर पर सौन्दर्य-चित्रण में जो भूमिका विशेषण निभाते हैं उससे कम महत्त्वपूर्ण भूमिका अनिश्चयवाचक सर्वनाम नहीं निभाते। ये अनिश्चयवाचक सर्वनाम छायावाद के प्रश्नवाचक सर्वनाम ('क्यों' 'कहाँ' 'कैसे') के स्थानापन्न हैं। ये व्यक्तिवाचक संज्ञा की अनुपस्थिति में कवि के लिए आत्मरति का सुख देते हैं और विशेषणों के समानान्तर 'कोई' 'किसी' 'कुछ' के धारावाहिक प्रयोग सामाजिक जीवन में आत्मरक्षा के उपकरण का कार्य करते हैं। इनके प्रयोग से जवाबदेही से मुक्त भी हुआ जा सकता है और कविता को रूमानी भी बनाया जा सकता है। इनके अतिरिक्त 'जाने' 'अनजाने' 'क्या जाने' 'न जाने' जैसे क्रियाविशेषणों के अधिसंख्यक प्रयोग भी अनिश्चयवाचक सर्वनामों के क्रम में जहाँ एक ओर लुभावने हैं वहीं दूसरी ओर अतीत के प्रति आश्वस्त और भविष्य के प्रति आशावान बनाते हैं।

इन सर्वनामों और क्रियाविशेषणों की खपत नए कवियों की कविताओं में अब तक हो रही है।

एक तरह से नई कविता की परिभाषा रही है **सचाई पर पर्दा डालते हुए भाषा में भाग खड़ा होना।** सही बात को छिपाना कविता रहा है और इस छिपने में सबसे अधिक मदद विशेषणों के झाड़-झंखाड़ से मिली है। सच कहिए तो सन् '६० ई० तक कवि अपने कथ्य की कमी और कायरता को शब्दों के जौहर से पूरा करते रहे हैं, जबकि इन्हीं कवियों के मसीहा स्टीफ़ेन स्पेंडर कह चुके हैं कि कविता साधारण भाषा में न कहे जा सकने वाले अनुभवों की आसान और सीधी भाषा है। लेकिन कहाँ एक ओर स्पेंडर की यह परिभाषा और दूसरी ओर जगदीश गुप्त का यह रीतिकालीन लाक्षणिक उद्गार—

दूरवीक्षण यंत्र से भी देखने पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुतलियों के अतल तम में
आँख के तारे न दीखें।

मगर जब अनुभव की प्रक्रिया ही टेढ़ी हो तो भाषा कैसे सीधी हो सकती है ? वैसे यह भी है कि भाषा की यह शाह-खर्ची साहित्य में जीवन की व्यवस्था से आती है।

'नई कविता' के कवियों की संवेदना ने अपने लिए एक बड़ी ही धूर्त और बातूनी भाषा की रचना की है जो एक ओर तो अपनी प्रकृति में सर्वहारा वर्ग की ज़बान से मेल खाती है और दूसरी ओर स्थिति की सफ़ाई के लिए सेठों के घरों की मुहताज रहती है। वह रोज़मर्रा की ठोस चीज़ों को धुएँ की लकीरों में बदल देती है और चीज़ों की अपनी शख्सियत को मिटाकर उनमें घपला पैदा कर देती है। नतीजा यह होता है कि चीज़ों का फ़र्क मिट जाता है और शब्द अर्थच्युत होकर वस्तुस्थिति को धुँधला बना देते हैं। 'फ़र्क नहीं पड़ता' कविता में केदार ने इसी भाषा की ओर संकेत किया है—

तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'
वहाँ लिख दो 'सड़क'
फ़र्क नहीं पड़ता।

सब जानते हैं कि 'प्यार' और 'सड़क' दो चीज़ें हैं, बग़ल में बैठे हुए दोस्तों के चेहरे अफ्रीका की धुँधली नदियों के छोर नहीं होते और न सेठ मज़दूर होते हैं, लेकिन नए कवियों ने भाषा के जिस समाजवाद से चीज़ों के चेहरों का भेद मिटाया है वह किताब के पन्नों से दुनिया देखने का परिणाम है। ऐसे लोगों के बारे में गोर्की का एक पात्र ('तीन पीढ़ी') मिरोन कहता है कि वे गाय और घोड़े में फ़र्क नहीं बता सकते। इस-लिए नहीं बता सकते कि वे इनकी या चीज़ों की पहचान कविता के क्रम में देखते हैं।

जो हो, भाषा का यह समाजवाद नए कवि को हाथीदाँत के कल्पित मीनारों से तो निकाल लेता है लेकिन उसे सेठ की तिजोरियों के पास जा बिठाता है। उसकी भाषा तो जन-साधारण की रहती है, लेकिन बिम्ब, चित्र, उपमाएँ सम्पन्न और अमीर घरानों के। जिस तरह उसे सूर्य व्यापारी नज़र आता है: 'बादल के पाल तान, दिन के व्यापार बाद/जाता था दूर देश, लाखों के माल लाद'—कुँवर नारायण। उसी तरह चाँद सिंधोरा:सलमे सितारों के काम वाली/नीली मख-मल का खोल चढ़ा/अम्बर का बड़ा सिंधोरा'—सर्वेश्वर; और चाँदनी स्कार्फ (सर्वेश्वर) या रुपया (अजितकुमार) जिसमें चमक है, पर खनक ग़ायब है। यही नहीं, नई कविताओं में 'जार्जेट की साड़ी, 'जूड़े के फूल', 'नकली बाल', 'नेल पालिश' 'लिपस्टिक', 'सिंगारदान', 'सिलकेन ब्रेसियर्स', 'रूज़', 'शो-विण्डो', 'फ़ैशन परेड' बिखरे पड़े हैं।

दरअसल इन वस्तुओं की ओर नये कवि का आकर्षण अज्ञेय की परम्परा से प्राप्त बौद्धिक आभिजात्य की देन है। कभी-कभी तो उसकी कविता में इस बौद्धिक आभिजात्य को पूरी तरह न निभा सकने के दर्द का आभास मिल जाता है। उदाहरण के लिए, 'नहीं रहा वह रवि, जिसे होना चाहिए था /···मुझे पैदा होना था अमीर घराने में (श्रीकांत वर्मा) मुझे कुछ और करना था / पर मैं कुछ और कर रहा हूँ (रघु-वीर सहाय), लेकिन अक्सर पाठक उसकी भाषा के धोखे में आ जाता है और कवि को अपने बीच का आदमी मान बैठता है।

सच पूछिए तो नए कवि में बौद्धिक आभिजात्य परम्परा की देन है लेकिन उसकी संवेदनाओं का स्रोत उसका निजी कार्यक्षेत्र है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए विपिन कुमार अग्रवाल ने नए कवि को क्लर्क या शिक्षक की मनो-वृत्ति का कवि कहा है। उसकी कविताओं में जहाँ 'दिनचर्या' की शुरुआत 'टाइपराइटर' से होती है, वहीं रात का आसमान भी पिनकुशन जैसा नज़र आता है—

सुबह होते-होते
आकाश की नीली पिनकुशन ख़ाली थी।
तारों की एक-एक आलपीन चुक गई थी। (सर्वेश्वर)

एक बाबू की हीन-भावना का जितना बोध नए कवि के बिम्बों-चित्रों से नहीं होता, उससे कहीं ज़्यादा उसके अनुप-स्थित सम्बोधनों से होता है। जैसे; 'दर्द के इस महासागर से कहो, मेरे सामने न चीखे। (क्योंकि मैं दफ़्तर की फ़ाइलों में व्यस्त हूँ।) चुप रहो हाँ, चुप रहो। (सर्वेश्वर) आने दो, ये मुझसे मिलने आए हैं। (रघुवीर सहाय) यह किससे कहा जा रहा है ? क्या यह छायावाद की सम्बोधित संज्ञा पेड़, नदी, निर्झर, धूप, विहग, लहर, तारे या छाया है ? जाहिर है कि कवि ने अपने अहं को टेक देने के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को चुना है जिसका सम्बन्ध दफ़्तर की दुनिया से है !

आज की कविता की तरह यह सम्बोधित संज्ञा कोई वृहत्तर वर्ग या जनसमुदाय नहीं, बल्कि नौकर या चपरासी-नुमा व्यक्ति है जो स्तर भी दृष्टि से कवि की तुलना में हीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही नहीं, उसके अधीन है। 'नई कविता' की रचना इसी 'आभिजात्य' और 'हीन भावना' के बीच होती रही है। इसीलिए सम्बोधन के एक छोर पर कोई अज्ञात 'पिता' या 'प्रभु' हैं, तो दूसरे छोर पर अनुपस्थित 'सेवक'।

असल में बाहरी समस्याओं के दबाव के कारण कवि को जहाँ साहस के साथ उनका सामना करना चाहिए था वहाँ उसने उनसे संघर्ष करने की बजाय अपने ही घर की चार-दीवारी में मुसकराते हुए 'देशनिकाला' स्वीकार किया। यहाँ तक भी ठीक था लेकिन उस दबाव में अनुभूत संवेदनाओं के सम्पूर्ण दायरे के अनुकलन के लिए जिस सजग भाषा की जरूरत थी उसकी भी उपेक्षा कर उसने या तो परम्परित बिम्बों को संशोधन के साथ अपना लिया या चालाकी के साथ 'कविता' दिया यानी सुविधाजनक 'शार्टकट' अख्तियार कर लिया।

अपने युग के सर्वांगीण मानवीय विघटन का मुकाबला करने के लिए जिस संगठित शब्द-शक्ति की आवश्यकता होती है, वह 'नई कविता' में नहीं दीखती। नए कवियों में कुछ ने एक वस्तु-स्थिति का सामना न कर सकने के कारण उसके एवज़ में दूसरा स्थानापन्न तलाश लिया और कुछ भाषा के साथ खेलने लगे। पहली स्थिति केदार और कुँवर नारायण के साथ है और दूसरी रघुवीर सहाय, श्रीकान्त और सर्वेश्वर के साथ।

अ. १. धूप चुपचाप एक कुर्सी पर बैठी
किरणों के ऊन का स्वेटर बुनती रही।
(कुँवर नारायण)

२. ओसभरे, कँपते गुलाब की टहनी पर
तितली के पंखों सी सटी हुई
धूप। (केदारनाथसिंह)

आ. १. शान्ति दो, शान्ति दो
चाहे वह कान्ति की बहन ही क्यों न हो?
और वह नहीं दो तो कान्ति ही दो
फिर चाहे शान्ति भी दे देना / (रघुबीर सहाय)

२. मैं हरेक पहाड़ / ढो रहा हूँ / मैं सुखी / हो रहा हूँ / मैं दुखी / हो रहा हूँ / मैं सुखी दुखी होकर / दुखी सुखी / हो रहा हूँ। (श्रीकांत वर्मा)

सब मिलाकर 'नई कविता' सर्वेश्वर के उस 'थर्मस' की तरह है जिसके—

बाहर तो महज़ शोख भड़कीला रंग है
सामर्थ्य का प्रदर्शन है, बेलौस काया है
भीतर असहाय रिक्तता है
शून्य है, निर्वात है।

'नई कविता' की भाषा का यह भ्रम युवा कवियों के आगे धीरे-धीरे टूटने लगा, क्योंकि कांग्रेस अपनी योजनाओं, आश्वासनों और कार्यों को लच्छेदार भाषणों में छिपा नहीं सकी। लोगों का उनके भाषणों पर से विश्वास उठता गया, क्योंकि सचाई मवाद की तरह शब्दों को फोड़कर बाहर बहने लगी।

संयोग ही कहिए कि इसी समय देश पर चीन का आक्रमण हुआ। असल में वह आक्रमण देश की जनता या जवानों के विरुद्ध नहीं; देश के नेताओं के नारों, शब्दों और विशेषणों के विरुद्ध था। चीन की पूरी लड़ाई हमारे जीवन में व्याप्त उस झूठी, नकली और घटाटोप भाषा के खिलाफ़ थी जो हमें अपनी जगह और दुनिया के सामने ग़लत ढंग से रख रही थी। चीनी सैनिकों ने इन्हीं शब्दों के उछलते समारोह को अपनी गोलियों से छिन्न-भिन्न कर दिया।

वास्तव में इस आक्रमण का कविता या कहानी पर सीधा कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि यह सीमा की लड़ाई थी। यह लड़ाई देश के अन्दर सिर्फ़ चन्दा होकर आई थी। लेकिन इतना हुआ कि लोगों की दिलचस्पी देश में बढ़ गई। जिस रेडियो का अर्थ लोगों के लिए 'सीलोन' था, वह कुछ ही दिनों के लिए सही, लेकिन 'ऑल इंडिया रेडियो' हो गया।···लोगों ने सुना कि हमारी फ़ौजें बड़ी बहादुरी से पीछे हट रही हैं। उन्हें कोई खुशी नहीं हुई क्योंकि 'विशेषण' (बड़ी बहादुरी) के नकली चेहरे से ज़्यादा सच और कड़वी क्रिया (पीछे हटना) थी। उन्होंने पहली बार महसूस किया कि उनका धड़ उन्हीं के पैरों पर है। अपना सलीब उन्हें खुद ढोना है (ध्यान देने की बात है कि उन दिनों कहानियों और कवियों में बड़े भोंडे और भयानक रूप में 'सलीब के प्रतीक का इस्तेमाल आरम्भ हुआ था।)

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि नेताओं का देश उनका अपना देश है और देश में दिलचस्पी का अर्थ है अपने में दिलचस्पी, अपने बच्चे, माँ, भाई, बहन, पिता, पत्नी यानी पड़ोस में दिलचस्पी। दिल चस्पी का मतलब प्यार भी हो सकता है और नफ़रत भी; लेकिन यह प्यार या नफ़रत किसी बाहरी और ग़ैर आदमी का मनोविकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं, बल्कि उस व्यक्ति का 'अस्तित्व' है जो हर माने में परिवार और बाज़ार का अनिवार्य हिस्सेदार है। इस दृष्टि से आज की कहानी या कविता एक आत्मीय व्यक्ति के प्यार या और नफरत का सही चेहरा है।

इस दिलचस्पी—जिसे आलोचना की भाषा में 'चेतना' भी कह सकते हैं—का निकटतम सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी ज़रूरतों से है जिन्होंने इसे जन्म दिया है। ज़रूरतें हर बार उसे पड़ोस (भले ही वह पत्नी क्यों न हो) और बनिए की दुकान के आगे खड़ा कर देती हैं। ऐसी स्थिति में उसके लिए न तो उस या इस हाहाहूती नगरी में अकेला होने का सवाल उठता है और न अपनी ज़रूरतों के प्रति निर्लिप्त या तटस्थ होने का। वह समझ गया है कि तटस्थ होने का अर्थ है निर्जीव होना और तटस्थ केवल पेड़ हो सकता है क्योंकि उसे कभी राशन के लिए बनिए की दुकान पर नहीं जाना पड़ता।

आज की कहानी या कविता इसी शामिल व्यक्ति की ज़रूरतों की कहानी या कविता है। कहने का मतलब यह नहीं कि साहित्य के भीतर परिवर्तन की यह प्रक्रिया चीनी हमले के बाद आरंभ होती है। वह हमला सिर्फ़ इस प्रक्रिया की पहचान को पुख़्ता करता है, विश्वस्त बनाता है। असल में यह पहचान तभी आरंभ हो गई थी जब लेखक पर [illegible] खुद का रहस्य खुलने लगा था। निःसन्देह कहानी में यह पहचान पहले आई क्योंकि कहानी आदमी की असलियत और ज़बान के सीधे सम्पर्क में थी। कविता में थोड़ी देर से आई क्योंकि कविता और आदमी के बीच अब भी भाषा थी और 'नई कविता' इस भाषा पर इतमीनान से बैठ गई थी।

आज के कवि ने जब अपनी ज़रूरतों का सामना किया तो स्पष्ट रूप से कविता में दो परिवर्तन नज़र आए : एक तो कविता में आक्रोश का स्वर दिखाई पड़ा, दूसरे कविता नंगी हुई।

आज की कविता में आक्रोश का स्वर इसलिए आया कि कवि पहली बार उपेक्षित समस्याओं और अपनी ज़रूरतों के सामने खड़ा हुआ। समस्याएँ पहले भी थीं लेकिन कविता उनके बाहर थी। या तो नए कवि में उनका सामना करने का साहस नहीं था या फिर ख़तरा था। ख़तरा मोल लेने की अपेक्षा सुविधा का भोग करना उनके निस्बत ज़्यादा मुफ़ीद था। वे समस्याओं को झेलते थे और सत्य का भोग लगाते थे। और जहाँ सचाई को झेलने के सिवा कोई चारा नहीं होता, वहाँ अपनी स्थिति पर दुखी होने के सिवा और कोई रास्ता भी नहीं होता। रघुवीर सहाय की कविता है—'शक्ति दो, बल दो, हे पिता / जब दुख के भार से मन थकने आय।' श्रीकांत ने तो साफ़-साफ़ लिखा है कि 'मेरी कविता में / सन्ताप है / शोक है।' उनकी कविता में यह शोक कम-से-कम यहाँ तुक की टोक नहीं है क्योंकि इसके आगे-पीछे कहीं भी 'कोक' या 'श्लोक' नहीं है।

आज की कविता का यह आक्रोश नई कविता के शोक, सन्ताप, दुख से कहीं ज़्यादा सच, ईमानदार और क्रियापरक है। यह आक्रोश उस शोक और सन्ताप के ही ख़िलाफ़ नहीं जो देश का वृहत्तर वर्ग झेल रहा है, बल्कि उस गुस्से के भी ख़िलाफ़ है जो पूँजीवादी दिमाग़ में एक निश्चित शक्ल धारण कर चुका है। क्योंकि वह जानता है कि—'यह सारा जोश / यह सारी ऊब / यह सारा रोष / उसके लिए केवल तमाशा है।' (धूमिल)

सरसरी तौर पर देखने से यह आक्रोश समकालीन सामाजिक परिवेश में लिखी आज की सभी कविताधाराओं में एक जैसा दिखेगा, किन्तु व्यंजना ही नहीं; रचना के स्तर पर भी उसके सही रूप को आसानी से अलगाया जा सकता है। भूखी पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी वगैरह की कविताओं में आक्रोश उस औरत के गुस्से की तरह है जो कुछ न कर सकने की असमर्थता में या तो अपना ही माथा दीवार पर पटकने लगती है या साड़ी, ब्लाउज़, चोली, साया खोलकर फेंकना शुरू कर देती है और रोने लगती है। गुस्से की यह भी एक क्रियात्मक शक्ल होती है, लेकिन इसे रचनात्मक कतई नहीं कहा जा सकता। आज की युवा-कविता में यदि 'चीज़ों को नए सिरे से बदलने की बेचैनी है, रोष है, तो लोगों की ऊब को सही आकार देने की आकांक्षा और उत्साह भी है—

अब वक्त आ गया है कि तुम उठो
और अपनी ऊब को आकार दो। (धूमिल)
कुछ हो कि रंग बदले
सुफ़ेद मुर्दनी का। (गिरिधर राठी)

आक्रोश क्यों और कहाँ से आता है? इससे सभी परिचित हैं। आचार्य शुक्ल लिख गए हैं कि 'क्रोध दुख के चेतन कारण के साक्षात्कार या परिज्ञान से होता है।' यह तो नहीं कहा जा सकता कि नये कवि ने दुख के चेतन कारण का साक्षात्कार नहीं किया था। लेकिन यह तय है कि उसमें सब-कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकस्मात बदल जाने की आत्मपीड़क प्रतीक्षा थी। ['प्रतीक्षा या 'इन्तज़ार' का यह स्वर 'नई कहानी' में काफ़ी मुखर है।] उसकी आँखों के आगे सब-कुछ घटित हो रहा था लेकिन वह 'बीच' में नहीं पड़ना चाहता था। वह उस ओर से निःसंग और तटस्थ था। ['स्वाधीन कवि'—रघुवीर सहाय] इस दृष्टि से कोई कहना चाहे तो 'नई कविता' को बहुत-कुछ एक उपराम और बाहरी व्यक्ति की मनःस्थिति की कविता कह सकता है। जब कोई भी अपने को बाहरी और निःसंग समझेगा तो ज़ाहिर है कि उसके आगे का 'घटित' उसके लिए व्यर्थ और बेमानी होगा—"बेमानी लगती है अब / किसी भी मानी की खोज।" (कुँवर नारायण) या "मनुष्य वकील हो, नेता हो, सन्त हो, मवाली हो / किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता" / (श्रीकान्त वर्मा) केदार ने तो स्पष्ट लिखा है—

बहस किस बात पर हो रही है
यह जानना व्यर्थ है।

इसके समानान्तर आज की कविता उस व्यक्ति की कविता है जो उस 'घटित' को भी जानता है और उसके कारण को भी। वह आज की हर 'बहस' को अपने से जोड़कर देखता है क्योंकि वह बहस की पृष्ठभूमि में खड़े लोगों को पहचानता है—

चन्द चालाक लोगों ने
बहस के लिए / भूख की जगह
भाषा को रख दिया है। (धूमिल)

आज दुख के चेतन कारण के / परिज्ञान का सबसे अधिक प्रामाणिक सूत्र राजनीति का जीवित सन्दर्भ है और युवा लेखन के विषय में यह स्वीकार किया जा चुका है कि उसके लिए राजनीति "आज की सबसे गत्यात्मक, प्रत्यक्ष और क्रूरतम वास्तविकता" है। यह वास्तविकता नए कवियों के लिए पृष्ठभूमि थी, क्योंकि उनकी नागरिकता के रास्ते में नहीं आई थी। और आई भी थी तो नागरिकता और संविधान का सम्बन्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के स्तर पर ठीक-ठीक व्याख्यायित नहीं हो सका था। पिछले वर्षों में इस व्याख्या के अनेक अवसर आए और जैसे-जैसे भूख और पी० एल० ४८० और देश के कर्णधार दिमाग़ों के बीच के रिश्ते साफ़ होते गए, आज की कविता की बुनियाद दृढ होती गई। यही वजह है कि इनमें से अधिकांश कविताएँ आरंभ तो कवि के अपने दायरे—बिस्तर, घर, पड़ोस, बाज़ार, दफ़्तर—से होती हैं लेकिन रोज़मर्रा की समस्याओं के बीच से गुज़रते हुए उन सन्दर्भ-सूत्रों तक चली जाती हैं जो संविधान की आड़ में सक्रिय हैं। हिन्दी कविता में इधर जो जनतंत्र, लोकतंत्र, प्रजातंत्र, स्वाधीनता, जनता, नागरिकता, समाजवाद, राजनीति जैसे शब्दों को नए सिरे से परिभाषित करने की तत्परता दिखाई पड़ती है, वह इसी 'वास्तविकता' के साक्षात्कार का परिणाम है।

जब ये कविताएँ अपने विरुद्ध चल रहे अमानवीय भयानक षड्यन्त्र को बार-बार तोड़ना चाहती हैं और रचनात्मक स्तर पर निरन्तर तोड़ते रहने के क्रम में ही स्वयं को निर्मित करती चलती हैं, तो कहा जाता है कि यह सपाटबयानी है। अर्थात् "कभी नहीं बदलूँगा / अक्षय असत्य हूँ / ओ अर्द्धविकसित / अनुकरण करो मेरा (लक्ष्मीकान्त वर्मा); क्षमा करें महिलाएँ / मैं अपने कमरे में खड़ा हूँ नग्न' (श्रीकान्त वर्मा); मेरे जीवन में एक ऐसा वक्त आ गया है / जब खोने को / कुछ भी नहीं है मेरे पास (श्रीकान्त वर्मा); मैंने सोचा कुछ और बताऊँ / चूहों को क्यों नफ़रत करता हूँ, समझाऊँ (सर्वेश्वर) जैसे ठोस (?) वक्तव्य कविताएँ हैं और—

यदि एक ही जगह पेड़ के नीचे खड़ा हुआ वह मालिक
आदमी था
तो उसके लिए
मैं दौड़ता हुआ, जूते पहने हुए था जिसमें घोड़े की तरह
नाल ठुकी थी। (विनोदकुमार शुक्ल)
पेट और प्रजातंत्र के बीच आदमी दरार की तरह
खड़ा है
और हर दरवाज़े पर बवंडर पर्दे की तरह पड़ा है।
(लीलाधर जगूड़ी)

जैसी कविताएँ वक्तव्य या सपाटबयानी।

सच पूछिए तो आज की कविता ही उस कवि के लिए बयानबाज़ी है जिसके दिमाग़ में "दो शब्दों के बीच के अन्तराल की नीरवता कविता है।" आज की कविता शब्दों के बीच कोई अन्तराल या दरार नहीं छोड़ती, वह उस दरार को भी 'आदमी' की शक्ल में प्रस्तुत करती है। इसीलिए युवा कवि के लिए कविता 'माध्यम' या 'इष्ट' नहीं, आदमी का चेहरा है। इस चेहरे पर एक अर्से तक भाषा की चर्बी रही है। आज युवा कवि कभी भी कविता को 'कविता' मानकर नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखता, वह उस 'आदमी' को लिखता है जो अनेक सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भों से जुड़ा हुआ है। चूँकि कवि अपने सामाजिक जीवन में सबसे पहले 'आदमी' है इसलिए वह 'कविता' में 'कवि' होकर आने से इनकार करता है। उसके निकट 'कवि' सिर्फ़ आदमी की दृष्टि है। इसीलिए आप उसके लिखे को कविता समझें या सपाटबयानी, समझा करें—

मैंने कोरे कागज़ पर सिर्फ़ अँगूठा ही चस्पाँ किया है
पर उन्हें क्या समझाऊँ
जो कहते हैं—कविता की है। (देवेन्द्र कुमार)

आज की कविता 'कविता' की रूढ मान्यता से कितनी बाहर निकल आई है, युवा कवि की इस आत्मस्वीकृति से स्पष्ट है।

किसी कवि ने लिखा है कि भाषा लेखक के लिए चुनौती है। समर्थ लेखक वे हैं जो भाषा को अधिक-से-अधिक सक्षम रखते हैं। और भाषा को सक्षम रखने का अर्थ है उसे सही, सटीक और साफ़ रखना। 'वस्तु' के प्रतीक शब्द स्वभाव से ही यादृच्छिक और अनेकार्थ होते हैं। उन्हें सही आकार सन्दर्भगत पड़ोसी शब्दों की तनावपूर्ण स्थिति और वज़न के दबाव में मिलता है। दरअसल शब्दों में अर्थ की सम्भावना वाक्य के व्याकरणिक ढाँचे के भीतर ही खुलती है। इस तरह कविता में वाक्य के भीतर छन्द अथवा 'अर्थ की लय' के प्रवाह में आने वाले शब्द अगर अनावश्यक न हों तब भी उनके धुँधले और अस्पष्ट होने की अकसर आशंका रहती है।··· वास्तव में शब्दों का यही धुँधलापन है जो छायावाद और 'नई कविता' में अनेक अर्थों की सम्भावनाओं के लिए गुंजायश निकालता है।

आज की कविता के बारे में प्रायः कहा जाता है कि वह दूर तक नहीं जाती। यह उस रीतिकालीन पाठक की मनोवृत्ति है जो कविता में एक शब्द से अनेक अर्थ निकालने का आदी है। जब भी 'वस्तु' और 'शब्द' के बीच संवाद की स्थिति रहेगी, शब्द सिर्फ़ वही अर्थ देगा, जिसे 'वस्तु' माँगती है। आज कवि सही शब्द का सही अर्थ में प्रयोग करने का पक्षपाती है। वह शब्द से 'संकेत' नहीं करता, उससे 'वस्तु' का काम लेता है।

कहीं एजरापाउंड ने लिखा है कि किसी भी लेखक की पहचान का सबसे पहला और आसान तरीका यह देखना है कि उसकी रचना में कितने ऐसे शब्द हैं जो सुस्त और व्यर्थ हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग लेखक की अक्षमता का सूचक है। और कहना न होगा कि छन्द का प्रवाह और 'अर्थ की लय' शब्दों के अपव्यय के लिए लाचार कर देती है।

इस अपव्यय के बोध ने यदि आज के कवि को गद्य के समीप कर दिया है तो इसे कविता की शक्ति के रूप में लेना चाहिए। किसी दरवाज़े, किसी बैठके में चार-छः लोग। सुरती ठोंकते, तमाकू जगाते बैठ जाते हैं। किस्सा छोड़ते किसी साल का, जब ठाकुर की / सात-सात भैंसें एक-एक कर सिवान में / अचेत हो गई थीं / (कमलेश)। या प्रेम-निवेदन से पूर्व उसने ग़ौर से देखा / और घोड़ों और बैलों और कुत्तों के बारे में सोचकर / मुसकरा दिया। आने वाली मुसीबत को सोचकर उसने / तारीफ़ में कुछ कहा (सौमित्र मोहन)। कविताओं के ये हिस्से, कविता के नहीं किसी कहानी के अंश मालूम पड़ते हैं। इनमें किसी लय की तरलता नहीं, ज़िन्दगी की सरलता और सादगी है। इसी तरह जगदीश चतुर्वेदी, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, दूधनाथसिंह, ऋतुराज की अनेक ऐसी कविताएँ हैं जिन्हें कथ्य की अनिवार्यता के कारण गद्य होना पड़ा है। कविता के ये गद्य 'नई कविता' के उन गद्यों से भिन्न हैं जो लम्बी कविताओं के बीच प्रयोग-सुख के लिए डाले गए-से दीखते हैं।

'वस्तु' के निकट जाने की कोशिश जब बीच से विशेषण वगैरह को हटाकर कविता को सीधे 'संज्ञा' के सम्पर्क में लाती है तो भाषा अनिवार्यतः सघन हो जाती है। यह सघनता पिछली कविताओं की क्रिया-परसर्गरहित 'समास-पद्धति' या 'पद-वल्लरियों' से एकदम भिन्न है। यहाँ न ज़बान के साथ किसी तरह की ज़्यादती है और न दिमाग़ के साथ और न ही शिल्प का कोई अस्वाभाविक व्यायाम। आज की सारी कला और सारा श्रम जटिल-से-जटिल स्थिति को सीधी-से-सीधी भाषा के ज़रिए कहने में है। ज़ाहिर है कि भाषा की सघनता और कुछ नहीं, कथ्य की ही सघनता है। उदाहरण के लिए: "मेरा स्वतन्त्र देश / एक पक्षी था जो पिंजड़े सहित पेड़ पर जाकर बैठ गया था (विनोदकुमार शुक्ल); दिमाग़ एक विस्तृत आकाश है अलग-अलग / किस्मों की चिड़ियों को बटोरे हुए घोंसले जिनके / खिड़कियों में बन्द हैं। (कमलेश), आसमान / रेगिस्तान से सुन्दर कभी नहीं रहा है (देवेन्द्र कुमार) / यहाँ तक कि कविता कहीं-कहीं इतनी सघन हो जाती है कि वह कविता नहीं, 'सूत्र' या 'रिमार्क'-जैसी मालूम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ती है। इस तरह के काव्यात्मक सूत्र धूमिल की कविताओं में भरे पड़े हैं।

ऐसा नहीं कि आज कविता में विशेषण रह ही नहीं गए हैं। यह ज़रूर है कि वे पहले की कविता की तरह सज्जापरक नहीं, कार्यपरक हैं। ये संज्ञा की शोभा नहीं, उसके अनिवार्य अंग हैं। 'ये शरद के चाँद से उजले धुले से पाँव' (भारती) और 'शहर अधिक सुविधा देता है नंगे पाँवों के लिए' (लीलाधर जगूड़ी) वाक्यांशों के 'पाँव' तो अलग-अलग हैं ही, उनके विशेषणों के रंग भी अलग-अलग हैं। यही नहीं कि पहले 'पाँव' के विशेषण रंगीन और सजावटी हैं बल्कि उस पाँव के उनके अतिरिक्त भी दूसरे विशेषण संभव हैं, लेकिन दूसरे वाक्यांश में 'पाँवों' का 'नंगे' विशेषण, विशेषण ही नहीं है, यदि है तो आवश्यक होने के साथ-साथ किसी 'स्थानापन्न' और 'विकल्प' के लिए गुंजाइश नहीं रखता।

आज कविता में विशेषणों के प्रयोग का एक दूसरा स्तर दिखाई पड़ता है। लगता है विशेषण किसी संज्ञा के मुहताज नहीं, स्वयं सार्थक होना चाहते हैं जैसे उन्हें विशेष्य से बाहर अपने अस्तित्व की फ़िक्र हो आई हो। 'कच्चे है, नये हैं / शब्द ज़मीन पर आकर बिच्छू बन गए हैं। (देवेन्द्र कुमार) यहाँ 'कच्चे' और 'नये' ने 'हैं' के सहारे जैसे ही अपने लिए अलग ज़मीन चुनी है, और एक तरह से अपनी स्थिति सुदृढ कर ली है। 'संज्ञा' के दबाव के कारण जहाँ विशेषणों का स्वतःस्फूर्त अर्थ आहत होता है, वहाँ से उन्होंने मुक्ति पा ली है।

'वस्तु' तक पहुँचने में हमेशा से बहुत बड़ी बाधा प्रकृति रही है। यही प्रकृति है जिसने हिन्दी में सुमित्रानन्दन पंत की रचना की है। उनके अतिरिक्त भी बहुत-से कवियों ने प्रकृति के चित्रण से 'आदमी' का भ्रम पैदा किया है। 'मैं नीरभरी दुःख की बदली' में 'मैं' नहीं, 'नीरभरी दुःख की बदली' ही खास चीज़ है। वास्तव में यह विरोधाभास ही है कि जिस प्रकृति ने विज्ञान को जन्म दिया है, वही इस देश या किसी देश की सबसे बड़ी परम्परा है। वह विज्ञान के विरुद्ध व्यक्ति को पीछे ले जाती है, आदिम बनाती है।

आज कविता ने सीधे जब 'वस्तु' या 'आदमी' का सामना किया तो उसके इर्द-गिर्द की प्राकृतिक वस्तुएँ अपने-आप बाहर निकल गईं। आज पहले की तरह स्वतंत्र रूप से सौन्दर्याभिभूत होकर शायद ही किसी कवि ने प्रकृति-चित्रण किया हो। फिर भी ऐसा नहीं कि आज की कविता में प्रकृति नहीं है, लेकिन वह जहाँ कहीं है, 'नई कविता' जैसी ललित और सौन्दर्य-मर्मर नहीं है। जो जुहू की सन्ध्यावेला का सूर्य भारती के लिए—सेज की सलवटों में छूटी गिरी बेंदी / सरीखा सागर पर' है, उसी के लिए एक युवा कवि ने लिखा है कि—'और वह जो खलियाया सा किनारा है / जुहू का है, जहाँ सूरज को / चिल्लू भर पानी में डूब मरते / देखने हज़ारों बड़े उत्साह-उछाह से आते हैं (नरेश सक्सेना)।

सौन्दर्य के प्रति दो पीढ़ी की दृष्टियों में क्या फ़र्क है, उपर्युक्त उदाहरणों से साफ़ हो जाता है। यही नहीं, प्रकृति के बारे में आज का कवि तो यहाँ तक कहता है कि 'लहलहाती हुई फ़सलें / बहती हुई नदी / उड़ती हुई चिड़ियाँ··· / यह सब सिर्फ़ तुम्हें गूँगा करने की चाल है। (धूमिल)।

सब मिलाकर; आज की कविता का मूल्यांकन अच्छी और बुरी के सन्दर्भ में नहीं, 'सामयिकता' और 'आवश्यकता' के सन्दर्भ में होना चाहिए। आवश्यकता की अनिवार्य शर्त है सामयिकता और जो काव्य-आन्दोलन इतिहास की बग़ल में पूरी ईमानदारी से साथ-साथ नहीं चल पाता, वह यही नहीं कि पीछे छूट जाता है बल्कि यह भी कि व्यर्थ हो जाता है। किसी भी रचना की सार्थकता उसकी ऐतिहासिक भूमिका में ही निष्पन्न होती है और इसमें सन्देह नहीं कि आज की कविता ऐतिहासिक ज़रूरतों के प्रति 'नई कविता' के समानान्तर अधिक सजग और सतर्क है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध की वास्तविकता और विद्रोह की कविता

विष्णुचन्द्र शर्मा

अचानक चौथे चुनाव के बाद हमारी राजनीति में एक ख़ौफ़नाक बदलाव आ गया था। कांग्रेस की कसी हुई मज़बूत खूँटियाँ उखड़ गई थीं और एक भूचाल या अन्धड़ के बाद का माहौल हर बुद्धिजीवी के सामने तस्वीर की तरह खड़ा था। एक ऐसा माहौल जिसमें स्वतंत्रता के पन्द्रह साल की कांग्रेस की ज़्यादतियाँ नंगी हो गईं थीं और हर आदमी यह महसूस करने लगा था कि इस नंगी लाश पर सबसे ज़ोरदार कोड़ा उसीने लगाया। हर आदमी अपने भीतर की बेचैनी से जैसे बदला ले रहा था, और उसे सन्तोष था कि इस तूफ़ान ने एक बड़ी ताकत को कोड़े लगाकर गिरा दिया है।

यह माहौल आज नहीं है। आज अगर शीशे में हिन्दुस्तान की जनतांत्रिक पार्टियाँ अपना-अपना चेहरा देखेंगी, तो उसमें उन्हें एक ख़ौफ़नाक खीझ अपनी-अपनी आँखों में मिलेगी। एक ऐसी ख़ौफ़नाक खीझ, जो लाचार आदमी में होती है जो अपनी अकेली कूवत को जानता है, लेकिन उसे पता है कि अकेला आदमी बहुत जोश में आने पर केवल चौराहे पर नंगा हो सकता है, या अपनी ही उलटबाँसियों में कोई हल न खोज पाने के बाद केवल बेचैन रह सकता है।

बग़ल में जनता की मुसीबतों का न सुलझने वाला दस्तावेज़ पड़ा हो और एक अपना आदमी दिल के दौरे में जयबहादुर की तरह उस खुले दस्तावेज़ को पढ़ते हुए सो गया हो। और बेचैन आदमी केवल बर्फ़ की सिल्लियों को पिघलते हुए देख रहा हो, एक मायूस माहौल में एक-दूसरे से आँख बचा रहा हो, ताकि जयबहादुर की खुली हुई रिपोर्ट या दस्तावेज़ को उसे न सौंप दिया जाय। हर आदमी, जो जनतंत्र पर विश्वास करता है, जिसे समाजवाद की बुनियादी समस्याओं का हल खोजना है, वह केवल इस माहौल में लोहिया की तरह एक साथी की मौत पर एक ख़ौफ़नाक चुप्पी आँखों में भरकर यह कह सकता है, "एक दिन सब मेरी शवयात्रा में भी इसी तरह···!"

और मैं कुछ नहीं सुन पाता। उस दिन मैं कुछ नहीं सुन सका था, जब कृष्णनाथ बार-बार मुझे अस्पताल में मौत और ज़िन्दगी से खेलने वाले लोहिया की सुगबुगाहट को बता रहे थे।···और लोहिया भी मर गए। मैंने कहा, व्यक्तिगत स्तर पर विद्रोह करने की बात एक करुण गाथा से अधिक नहीं होती।

एक आदमी बिना आराम किए सिर्फ़ निरर्थक परेशानी और भागदौड़ के बाद अपने स्नायु पर और दवाव नहीं सह सकता। और स्नायु का दवाव हर आदमी का अलग-अलग होता है।

किसी ने कहा था, "जो स्पष्टता से सोच सकता है, वही स्पष्टता से व्याख्या कर सकता है।" लेकिन स्वतंत्रता के बाद और आम चुनाव के इस ख़ौफ़नाक मोड़ के बाद शायद कुछ भी स्पष्ट नहीं रहा। न सोचना स्पष्टता से हो सका, न कार्य-क्रम स्पष्टता से उभरकर आया और न ही एक-एक आन्दोलन की व्याख्या ही स्पष्टता से जनता के दिल-दिमाग़ में घर कर सकी।

जनता के दिल-दिमाग़ में जिस तरह आम चुनाव के बाद की तस्वीर सत्य की तरह स्पष्ट थी, उतनी ही आज आम चुनाव के बाद धुँधलके में जनता पीछे छूट गई है और दल-बदलू विधायकों की कुण्ठाएँ उभरी हैं। दरार अधिक चौड़ी हुई है और राजा-रजवाड़ों के प्रीवी-पर्स समाप्त करने, बैंकों के राष्ट्रीयकरण, जनतांत्रिक संयुक्त मोर्चे की सरकारें और जनतांत्रिक संयुक्त मोर्चे की एकता अस्पष्टता के अँधेरे में एक चीख़ की तरह खो गई है। मुश्किल से अगर कहीं आंदोलन हुए भी हैं, बड़े राष्ट्रीय स्तर पर विरोधी दलों के आंदोलन—तो उन्हें या तो तोड़ दिया गया है—पश्चिमी बंगाल की तरह या राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाब और उत्तर प्रदेश, बिहार और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी-अभी सरकारी कर्मचारियों की हड़ताल में, उसी कांग्रेस ने, जो हारी हुई लग रही थी, अपनी संचित ताकत से विरोध को कुचल दिया है।

और मैं कुछ भी स्पष्ट नहीं देख पा रहा हूँ। केवल कुछ रेंगती हुई चीखें सुनाई पड़ रही हैं। मैंने इसीलिए चौथे आम चुनाव के माहौल को ख़ौफ़नाक कहा था, क्योंकि सत्य हमारी आँखों में स्पष्ट नहीं था। एक आन्दोलन का सत्य, एक दृढ संकल्पशील जननेता का सत्य, एक संगठित संयुक्त मोर्चे का सत्य। मैं उस ख़ौफ़नाक माहौल में सत्य की अग्निपरीक्षा देख रहा था।

एक मज़दूर से गोर्की ने पूछा था, "तुम्हारे देखने में लेनिन के विशेष गुण क्या हैं?"

"सरलता! वह सत्य की ही तरह सरल हैं।" उसने बिना किसी हिचकिचाहट के ऐसे उत्तर दिया, जैसे एक प्रतिष्ठित बात को दोहरा रहा हो।

आम चुनाव के बाद यह सत्य को बेझिझक पहचानने वाली जनता फिर घुटाले में पड़ गई। एक बड़े घुटाले में। एक ऐसा वैधानिक और विधान-विरोधी दौर शुरू हुआ, जिसमें वह बुनियादी तस्वीर, जिसने चौथे आम चुनाव के बाद देश में आत्म-विश्वास पैदा किया था, धूल में मिल गई। राज्यपाल और राजनेताओं के अधिकार का एक संवैधानिक युद्ध छिड़ गया और देखते-देखते जन-आन्दोलन या मतदाताओं का आत्म-विश्वास राजनेताओं की जेबों में और नौकरशाही के अधिकार में कैद हो गया। मैंने इसे घुटाला इसलिए कहा है, क्योंकि यह जनतांत्रिक अधिकारों का युद्ध नहीं था, विधान की धाराओं की काट-छाँट का युद्ध था। बड़ी ताकतें संविधान को अपने अनुकूल काट-छाँटकर सुधार देना चाहती थीं। नौकरशाही ताकत उसमें अपने बल-बूते को मज़बूत दिखाना चाहती थी और देश के बड़े पूँजीपति अपनी चोरी और सीनाज़ोरी को अपने व्यक्ति-स्वातंत्र्य की धाराओं में मोड़ देना चाहते थे और खिताब और पदक बेचने वाले राजा-रजवाड़े अपने प्रीवी-पर्स के हक के लिए यूनियन में शरीक हो रहे थे।

यह संसद और विधान-सभाओं की चख-चख का वैधानिक सुधारवाद था और जनतांत्रिक पार्टियाँ या तो अपने कार्यक्रम को काट-छाँटकर छोटा करने में लगी हुई थीं या विरोध की मुद्रा में बहिर्गमन के लिए प्रस्तुत थीं और घूम-फिरकर वही समझौते का घुटाला, स्वर्ण-नियंत्रण का कंकाल और भाषा-विधेयक का मोल-भाव और पिछड़ी जातियों का अपमान और खुलेआम साम्प्रदायिक दंगों की खून-खराबी! यह मोटे हरूफ़ों की खबरें हैं, जिन्हें चीरकर आप जनतंत्र की आत्मा तक पहुँच सकते हैं।

यानी, जिस लाश को मतदाताओं ने कोड़े लगाए थे, वह लाश आज एक बड़ी मायूसी के स्तर पर मतदाताओं पर हावी है। आप कह सकते हैं, पूरे देश पर एक ठण्डी लाश बिछा दी गई है और जनतंत्र का एक मंत्री एक हरिजन बच्चे को कोड़े लगा रहा है। एक विधायक, एक व्यापारी के गोदाम से गल्ले की तरह बाहर और भीतर रखा जा रहा है और कुछ चूहे जहाँ-तहाँ हमारे संविधान पर धब्बे या तस्वीरें बना रहे हैं।

एक पिटी-पिटाई दृष्टि है और जनता फिर-फिर पिटे-पिटाए विधायकों को, संसद-सदस्यों को अपने-अपने इलाके का प्रतिनिधि कहने को बाध्य है। यह बाध्यता संसद में और विधानसभाओं में तमाशे के स्तर तक नंगी हो चुकी है, लेकिन अब किसी भी नंगई का जवाब देने वाली जनता फ़िलहाल अकेली पड़ गई है।

सबसे बड़े नेता के बूढ़े हो जाते ही उसके पीछे एक कम बूढ़ा लद जाता है और कुर्सियाँ भरी-भरी रहती हैं और पाँच साल बाद जड़ से बदल देने वाला सिद्धान्त अकेला पड़ जाता है। पूरे देश को अन्याय दीमक की तरह खाता है और राजनीतिक पार्टियाँ एक मुश्किल से गुज़रकर दूसरी मुश्किलों में कैद हो जाती हैं।

यहीं से हिन्दी की विद्रोह की कविता शुरू होती है। प्रतीक्षा करते हुए ख़ौफ़नाक कवि की, जो इतना दुख देख नहीं सकता। लेकिन वह दुख देखता भी है और झेलने को भी विवश है—

'कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में
जहाँ सदा मरता है एक और मतदाता'
(रघुवीर सहाय : कोई एक और मतदाता)

यह मतदाता शमशेर की तरह अपने सीने पर एक ख़ामोश 'अर्थहीन कहानी' का दबाव महसूस कर रहा है :

गर्म हवा, खुश्की का दबाव बराबर (साँस लेता)
मेरे सीने पर एक घेर हाँफता हुआ
उस धूप का अन्दाज़, जो मेरे दिमाग़ को शीशे की
नसों के जाल की तरह चमकाकर रचती है।
(शमशेर बहादुर सिंह : कहानी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शमशेर की अर्थहीन तटस्थता में, उनका निजी, अबोध विस्मय है। वे अपने सीने के एक घेर में अपने होम होने की गीतात्मक संवेदना को पहचान रहे हैं। यह गीतात्मक संवेदना की पहचान करने वाला कवि आम चुनाव के बाद 'अपनी अबोध वासना के हठ में' अपने 'निजी होम' को बेचैनी से पहचान रहा है। लेकिन उसकी यह 'निजी होम' की बेचैनी किसी राजनीतिक और आर्थिक दबाव की तात्कालिक उत्तेजना से उसे जोड़ती नहीं है। वह अपनी सर्वथा 'निजी खुश्की का दबाव' अपने सीने में महसूस करते हुए अकेले से अकेला होता जाता है।

व्यक्तिगत स्तर पर बेचैन रहने वाला कवि किसी व्यापक असन्तोष का हल नहीं ढूंढ़ पाता है। और वह अकसर अपनी निजी प्रतिक्रियाओं से टकराकर केवल अपना-अपना प्रतिनिधि बना रह जाता है—उस एक आदमी की तरह, जो अपनी प्रेमिका से झगड़ने के बाद दीवार पर अपना सिर फोड़ने लगता है।

आम चुनाव के बाद जो अपने-अपने प्रतिनिधियों का अलगाव, एकाएक एक बड़े षड्यंत्र के रूप में सबको घुला-मिला गया था, वह प्रभाव 'अनूठे रस' की कविता या 'गम्भीर बातों को हल्के ढंग से कह देने में' समाप्त हो जाता है।

प्रयोगवादियों ने कविता को और कवि को 'अहं के खोखलेपन' तक लाकर उलझा दिया था और कवि मदमाता और अकेला बन गया था। वहाँ इस आम चुनाव के बाद की मन:स्थिति ने गर्व से मदमाते अन्तर्गुहावासी कवि को, उसकी व्यक्ति की सार्थक पंक्ति से धकेलकर, व्यापक सामाजिक सत्य के सामने खड़ा कर दिया।

अज्ञेय का अद्वितीय ईश्वर अपनी अद्वितीय पंक्ति में अकेला पड़ गया था, और उसकी सुविधाजीवी आत्म-रक्षा की मन:स्थिति को एकाएक मिश्रवर्णी चीवर की सार्थक संवेदना आकर्षक लगने लगी थी। यह व्यक्ति की आध्यात्मिक कायाकल्प की सार्थकता आम चुनाव के बाद के आदमी की, वैयक्तिक सार्थकता या चेतना से अलग-थलग थी। जहाँ 'अँधेरे में' मुक्तिबोध भयानक छायाओं से टकराकर, एक खीझ महसूस कर रहे थे, वहीं अज्ञेय और 'आत्मजयी' कुँवरनारायण अपनी व्यक्तिगत संवेदनाओं को दबाने के साथ-साथ देश की तात्कालिक उत्तेजनाओं से बचने के लिए खूबसूरत बहाने तलाश कर रहे थे। मुक्तिबोध के व्यक्तित्व में, जहाँ खीझ, झुंझलाहट, कठोरता और फेंटेसी का षड्यंत्र उलझन पैदा कर रहा था और वे उस अँधेरे में भगवा झण्डे, खूँखार आकृतियों, ब्रह्मराक्षस, ओरांग-उटांग का अपनी व्यंग्यात्मक अनुभूति में सामना कर रहे थे, वहीं प्रयोगवादी कवि अज्ञेय और 'आत्मजयी' के कुँवरनारायण आत्मा पर पड़े हुए मृत्यु के धब्बों की पड़ताल कर रहे थे। यह एक सीधी, विभाजक रेखा थी, जिसके एक ओर अज्ञेय और कुँवरनारायण थे—अपने-अपने विश्ववर्गी चीवर में सुरक्षित, और दूसरी ओर मुक्तिबोध के साथ दबाव महसूस करने वाले अनगिनत कवि थे—'ठण्डे अँधेरे यात्रान्त की प्रतीक्षा में'।

इन कवियों के पास 'समय' था—बेचैन और मूल्यों से टकराता हुआ 'समय' (कमलेश)।

> एक विदा और दूसरी प्रत्याशा के बीच
> पानी की तरह बहता समय।'

यह समय उस विरोध की कविता का समय था, जो सारे अन्तर्राष्ट्रीय संसार में, छात्रों में सुगबुगाहट पैदा कर रहा था। अमरीका का नीग्रो संघर्ष, मेक्सिको का छात्रविद्रोह, रोम-इटली-बर्लिन में छात्रों की उत्तेजना और वियतनाम का युद्ध। विरोध का कवि यहीं अपने-आपको 'इस्तेमाल' करने वालों के विरुद्ध खड़ा था, और यह महसूस कर रहा था कि—

> 'यह समय है जब आदमी को
> चमत्कार के बारे में फिर से सोचना चाहिए।'
>
> (केदारनाथ सिंह)

ग़लत और बेमानी जिन्दगी से आदमी को सिर्फ़ तैयार रहना चाहिए—यह घोषित करने वाला कवि विरोध का कवि है, सार्थक संवेदना का कवि।

यह विरोध की सार्थक संवेदना का कवि जनतंत्र और समाजवाद का कवि है। सच्ची, मानवीय प्रतिक्रिया का कवि, जो विरोधियों के सामने अपनी कविता रखकर जोखिम उठाने को तैयार है। और जोखिम उठाने के लिए वह खुद को अपने समय की ऐतिहासिक जटिलताओं से कहीं अलग नहीं होने देता है। वह कहीं स्थिति की भयानकता से बचते हुए भी अपने-आपको एक व्यापक परिवेश में महसूस करता है। सौमित्र मोहन की कविता 'लुकमान अली' धूमिल की लम्बी कविता 'पटकथा' और मणिमधुकर का 'खण्ड-खण्ड पाखंड पर्व' इसी तीखे और सच्चे अस्वीकार को व्यक्त करता है। ये कवि अपने 'आन्तरिक द्वन्द्व से उभरती हुई एक पूरी पटकथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्रस्तुत कर' रहे हैं। इसीलिए इनकी कविताओं में एक षड्यन्त्र, एक ख़ौफ़नाक माहौल और रोजमर्रा की साधारण-से-साधारण वस्तुओं का असर एक चोट करती हुई पीड़ा और घृणा को उभारता है। यह पीड़ा एक व्यक्ति की आन्तरिक पीड़ा है। और यह घृणा उच्च वर्ग की नैतिकता, उनके सौन्दर्यवादी रुझान और उनके अकेले-से-अकेले तक की अद्वितीयता की ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया है।

'यहाँ से वहाँ तक चुनाव के बाद का असन्तोष लेकर
पेट और प्रजातन्त्र के बीच आदमी दरार की तरह खड़ा है
और हर दरवाजे पर बवण्डर पर्दे की तरह पड़ा है
पागल और ग़रीब की जात नंगी हो गई,
कमरे, मौसम, वनस्पतियाँ और धुआँ
इन सबके विपरीत मेरा कुछ अर्थ बन रहा है
मिट्टी को जूते मारते हुए मैं आत्महत्या कर सकता हूँ
अपने सारे शरीर को राष्ट्रीय समझकर
उस पर थूक सकता हूँ—
भाषण या वादे या भजन···
अपने-आपको तोड़ने के अलावा मेरे पास कोई नारा नहीं
सारी सभ्यता का उजाला चाटकर मुझे कैंसर हो गया है
मैं न समाज हूँ, न व्यक्ति, न नाम
मुझसे सिर्फ़ बचा जा सकता है
या फिर घृणा की जा सकती है।'

(लीलाधर जगूड़ी)

इस जनतन्त्र का बीस वर्ष का माहौल सिर्फ़ आदमी के हर सम्बन्ध को 'रोटी पर छेद करके अदालत तक ले जाता है' (मंगलेश डुगगल) और वह आदमी जो इस छेद से गुज़र रहा है, 'रोटी से ऑफ़िस तक' जाता है और अपने-आपको 'किसी षड्यन्त्र से जुड़ा हुआ' महसूस करता है।

भूख, नौकरी और तनाव के बीच कविता भी अपने चेहरे को नुस्खे की तरह बाँट रही है। आदमी की ढीली नसों की उत्तेजना, 'चौराहों पर लटकाये गए ख़तरे' और 'दुर्घटनाओं के आगे दौड़ती अपराध बनती हुई कविता' सिर्फ़ आदमी की जानकारी की कविता नहीं है। 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' की तरह अपने-आपमें कूवत और ताकत महसूस करने वाले आदमी की कविता है, जो इस ज़माने की मुसीबतों के सामने खुद को किसी बड़े अपराध के लिए ख़तरे पर चढ़ रहा है। मुक्तिबोध ने इसी ख़तरे का सामना किया था और यह महसूस किया था कि सिर्फ़ 'सचाई आदमी को कुछ नहीं दे पाती, सचाई को सामने लाने के लिए भी ज़ोर और ताकत की ज़रूरत होती है। ऐसी सचाई, जो आदमी में ज़ोर नहीं पैदा कर पाती, वह सिर्फ़ जानकारी बनकर रह जाती है।'

आम चुनाव के बाद जो सचाई जनता के नाम पर संयुक्त कार्यक्रम बन गई थी, वह एकाएक विषबुझी अराजक बेचैनी में बदल गई है। एक ऐसी थका देने वाली बेचैनी, जहाँ हैण्ड बम फेंकने वाली छोटी-छोटी पत्रिकाओं का विस्फोट भी कोई बदलाव नहीं ला रहा है। और एक अमानवीय कृत्य चारों ओर अपने ख़ूँख़्वार पंजे फैला रहा है। वह कहीं अध्यादेश बनकर इन्द्रप्रस्थ भवन में आदमी की लाशें निचोड़ रहा है और हक के लिए दृढ़ इच्छा-शक्ति के नाराज़ लोगों को बर्ख़ास्त करने पर आमादा है और कहीं एक हरिजन पर कोड़े बरसाने वाला मंत्री अपना बयान वापस ले रहा है और कहीं खुलेआम साम्प्रदायिक दंगे भड़काने वाली आग जनतन्त्र के चेहरे को झुलसा रही है। बड़ी बात यह है कि इस माहौल में भी विरोध का कवि रोमांटिक विद्रोह की उत्तेजना में नहीं है। वह कहीं गीतात्मक विद्रोह के लिए 'शहर से दूर के तनाव-दबाव' की वकालत नहीं कर रहा है। वह एकान्त में अज्ञेय की तरह यह नहीं महसूस कर रहा है कि 'कहूँ, तो सुनने के लिए कोई पास न हो।' निश्चित है, इस जनतन्त्र की सचाई की जानकारी देने वालों के पास कोई नेक इरादे से नहीं आएगा। केवल अराजक बेचैनी में जीने वाला कवि ही यह महसूस कर सकता है कि गोली उसके बग़ल वाले इन्द्रप्रस्थ भवन के अपने दोस्त पर लगी है। और जहाँ सचाई को पूरे ज़ोर से पहचानने वाले लोग होंगे, वे मुक्तिबोध की बात को असली हत्यारों तक पहुँचा देंगे।

'इन दिनों हम
यानी, मैं और मेरे दोस्त
एक ताज़ा हत्याकाण्ड की रोशनी में बैठकर
जंगली चिड़ियों का व्याकरण सीख रहे हैं
इस धुँधली-सी उम्मीद में
कि शायद इस तरह
असली हत्यारे तक पहुँचा जा सके।

(केदारनाथ सिंह)

जनतन्त्र के इस नाटक में, जहाँ 'आत्मा और जूते के बीच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दूरी कम हो गई है'—एक विरोध की कविता का दौर शुरू होता है। यह एक अलग सवाल है कि उसमें अँधेरा, योनि, जूते, अजगर, जंगल, तन्त्र, राक्षस, बलात्कार, भेड़िये, गाय, गोबर, सड़क, चौराहे, दमा, कैन्सर और शून्य की इकाइयों का जमघट लग गया है। लेकिन, इन प्रतीकों में आज के माहौल की टूटन है और एक गलीज अस्तित्व की बुदबुदाहट है। एक बड़ा शून्य है, जहाँ लोहिया के बाद संयुक्त सरकारों का पटड़ा बैठ गया है और बची-खुची केरल और मद्रास की सरकारों को उखाड़ने का षड्यन्त्र चल रहा है। एक षड्यन्त्र और भी है, जिसमें पचास हज़ार बर्खास्त कर्मचारी, बाढ़ में मरे हुए डेढ़ हज़ार आदमी और सूखे में दम तोड़ते हुए लोग हैं और इन लोगों के बीच से विरोध का कवि ताज़ा हत्याकाण्ड की रोशनी में असली हत्यारे तक पहुँचना चाहता है।

इस चुनाव के बाद एक बहुत बड़ी जमात सामने आई है: भगवानसिंह, रमेश गौड़, अतुल भारद्वाज, सौमित्र मोहन, चन्द्रकान्त देवताले, मणि मधुकर, धूमिल, बलराज पंडित, इब्बार रब्बी, श्रीराम शुक्ल, मोना गुलाटी, लीलाधर जगूड़ी, सकलदीप सिंह, रमेश साही, मंगलेश डुग्गल, विनोदकुमार शुक्ल, त्रिनेत्र जोशी, प्रभाती नौटियाल, प्रयाग शुक्ल, नरेश सक्सेना, कमलेश आदि कवि व्यवस्था की ऊब, घृणा और पीड़ा को सचाई के पूरे ज़ोर से उभार रहे हैं। ये लोग आत्मा पर मृत्यु के धब्बे नहीं देख रहे हैं, ये अपने-अपने 'आइवरी टावरों'-में सुरक्षित नहीं हैं, ये अवकाश-प्राप्त या पेन्शनयाफ़्ता तथाकथित समाजवादी नहीं हैं, और न ही ये अपने कमाये हुए अनुभव के बैंक-बैलेंस के बल पर सुरक्षा का कवच पहने हुए हैं। ये महज़ हड़तालियों की तरह ज़ोर अज़माने वाले आदमी हैं:

'जिसमें कहीं भी
'लेकिन', 'शायद', 'अगर' नहीं है।'

(धूमिल)

यह पीढ़ी इत्मीनान के साथ निराला, मुक्तिबोध और राजकमल चौधरी को अपना कह सकती है, क्योंकि वे अपनी मौत तक 'कविता से बाहर नहीं' रहे। यानी तात्कालिक उत्तेजनाओं से बचने के लिए वे 'धर्मयुग' के चुटकुले नहीं बने, नकली चेहरे लगाकर नई पीढ़ी को नपुंसक कहने वाले लेखक नहीं बने, स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री की पत्नी को कवयित्री बनाने के लिए पन्ने काले करने नहीं आए और प्रधान-मन्त्री के इर्द-गिर्द दुमछल्ले बनने को तैयार नहीं हुए।

ज़ोर और ताकत आज़माने वाला आदमी निराला था, क्योंकि उसमें गांधी और नेहरू से सीधे सवाल पूछने की ईमानदारी थी जबकि बड़े इत्मीनान से 'धर्मयुग' के सम्पादक, 'दिनमान' के कवि और लखटका पुरस्कार देने वाले भारतीय ज्ञानपीठ संस्थान ने मुक्तिबोध, निराला को उनके जीवनकाल में कविता से बाहर रखने की बड़ी साज़िश की थी और आज भी उन लोगों के पीछे लगा हुआ है, जो एस्टेब्लिशमेंट के, पूँजीपतियों के, नौकरशाही के सामने भौंकते हैं, गुर्राते हैं और पूँछ हिलाने की अलग-अलग शैलियाँ ईजाद करते हैं। मुक्तिबोध की रचनाओं के साथ जुड़े हुए नई पीढ़ी के लोग इन्हीं पूँछ हिलाते, नकली लोगों को ऐन चौराहे पर नंगा करने में लगे हुए हैं। एक ख़ौफ़नाक खीझ के वातावरण में जहाँ तमाम राजनीतिक, जनतान्त्रिक दल अपने मोर्चे में ढीले पड़ रहे हैं और अपनी सुविधा के अनुसार अपने कार्यक्रम को काटने में लगे हुए हैं, वहाँ अस्वीकारों के ये कवि विरोध को एक सम्भावना के स्तर पर जीवित रखने के प्रति प्रतिबद्ध हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छे गद्य की पहचान

रामविलास शर्मा

शमशेरबहादुर सिंह के 'दोआब' के निबन्ध बीस साल पहले लिखे गये थे। विभिन्न पत्रिकाओं में छपे, संकलित हुए और बीस साल में निबन्ध-संग्रह का दूसरा संस्करण न निकला। इससे आधुनिक हिन्दी साहित्य की रफ़्तार का अन्दाज़ हो सकता है। ये निबन्ध हिन्दी-उर्दू साहित्यकारों पर लिखे गये हैं, छायावादी कवियों पर निबन्ध हैं; और उन कवियों पर भी जो छायावाद के बाद हिन्दी में आधुनिकता-बोध लेकर आये। हिन्दी के आधुनिक काव्य के विकास में स्वयं शमशेर बहादुर सिंह ने काफ़ी हाथ बँटाया है। इसलिए भी इन निबन्धों से पाठकों को दिलचस्पी होनी चाहिए थी। इस कारण के अलावा शमशेर हिन्दी के उन थोड़े-से कवियों में हैं जो बहुत अच्छा गद्य लिखते हैं। उनकी पीढ़ी के कवियों ने बीस साल पहले जैसा गद्य लिखा था, उसे देखते हुए शमशेर के निबन्धों का गद्य बहुत ही पुष्ट, सुथरा और कलात्मक है। पिछले दिनों उन्होंने जैसा गद्य लिखा है—गजानन माधव मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल आदि के काव्य और व्यक्तित्व का विवेचन करते हुए—वैसा सुन्दर गद्य आज का कोई कवि नहीं लिखता। उनके गद्य में निरन्तर एक विकास दिखाई देता है और उनके व्यक्तित्व की निरन्तरता—परिवर्तनशीलता के बावजूद—जैसे उनके गद्य में निहित है, वैसे उनके पद्य में नहीं। और शमशेर के लेखन में जो पद्य नहीं है, वही सबसे महत्वपूर्ण है, चाहे वह गद्य उनके निबन्धों में हो, चाहे उनकी कविताओं में।

गद्य का विरोधी भाव प्रकट करने वाला शब्द पद्य है, कविता नहीं—यह बात काफ़ी प्रसिद्ध है। शमशेर की कविताओं के गद्य की चर्चा करना उनकी तौहीन करना नहीं है। अच्छी पद्यबद्ध कविताएँ लिखना काफ़ी मुश्किल काम है, कविताओं में अच्छा गद्य लिखना बहुत मुश्किल काम है। आजकल गद्यबद्ध कविताएँ लिखने का चलन काफ़ी हो गया है। लेकिन इनके रचनाकारों से बहुत पहले शमशेर ने कविता में गद्य का महत्त्व पहचाना था। जुलाई १९४१ के 'हंस' में मुक्त छन्द पर उनका एक लेख छपा था जिसमें उन्होंने इस मुक्त छन्द की भूमिका के बारे में लिखा था, "कवियों और गद्य-लेखकों का सामान्य अन्तर इसने मिटा-सा दिया है।" यह बात हिन्दी काव्य पर उस समय पूरी तरह लागू न होती थी, आज कितनी सच है, हर कोई देख सकता है।

शमशेर की कविताओं का महत्त्व कई आलोचकों ने पहचाना है, लेकिन उनके गद्य पर किसी ने ध्यान दिया हो, ऐसा मेरे देखने में नहीं आया। गद्य में विचारों का महत्त्व पहचानना आसान भी नहीं है। विचारक की मौलिकता, दूरदर्शिता, अन्तर्दृष्टि, तर्कयोजना, उसके चिन्तन का घनत्व वही पहचानता है जिसकी अपनी मेधा परिपक्व और विकसित हो। हिन्दी गद्य पर कितनी किताबें हैं। और हिन्दी गद्य पर? उपन्यास, कहानी, आलोचना की विषयवस्तु पर नहीं, गद्य के कलात्मक प्रयोग पर? नहीं के बराबर। लोग कविता का सम्बन्ध मुख्यतः भाव से जोड़ते हैं, भाव से जल्दी प्रभावित होते हैं, जहाँ विचार की गहराई हुई या काव्य-निर्माण में रचनाकार ने मेधा का चमत्कार दिखाया, वहाँ विवेक कुछ कहे-सुने बिना चुपचाप बग़ल से निकल जाता है। इसलिए शमशेर के गद्य पर लोगों ने ज़्यादा ध्यान न दिया तो आश्चर्य नहीं।

शमशेर के लिए साहित्य का अध्ययन एक सजीव अनुभूति है और उस अनुभूति का प्रतिबिम्ब वह पाठक के मन में गद्य के द्वारा वैसे ही उतारना चाहते हैं जैसे अपनी किसी प्रेम या सौन्दर्य की अनुभूति का प्रतिबिम्ब—गद्य के ही द्वारा कविता में। सुभद्राकुमारी चौहान की कविताएँ मन पर कैसा

१. यह निबन्ध 'दोआब' के नये संस्करण की भूमिका के रूप में शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबिम्ब बनाती हैं ?

"गम्भीर, तो जैसे कोई शपथ ले रहा है, उद्दाम और मस्त, तो जैसे झमाझम बारिश हो रही है, सरल और सरस, तो जैसे हवाएँ मल्हार गा रही हों।"

आप मानेंगे, यह एक कवि का गद्य है।

शमशेर में बहुत बड़ी क्षमता इस बात की है कि वह राजनीतिक उतार-चढ़ाव को सीधी-सादी लेकिन समर्थ शैली में मूर्तिमान कर सकते हैं। सन् बीस में हिन्दू-मुस्लिम एकता के दृश्य और बाद को हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को याद करते हुए उन्होंने सुभद्राकुमारी चौहान वाले निबन्ध में लिखा है, "उस अपराजेयता की बँधी हुई मुट्ठी को साम्राज्यवाद की बेमिसाल कूटनीति ने किस तरह मसल-मसलकर धीरे-धीरे ढीला किया है—तब से आज तक का इतिहास यही है—उसको आज कुछ नेताओं की ज़ख्मी उँगलियों की दुखती नसें और जोड़-बंद ही जानते हैं—कलाई से पंजा जैसे अलग हो गया है, और उँगलियाँ आपस में नहीं मिलतीं।"

शमशेर बोलचाल के गद्य की लय पहचानते हैं। बोलचाल के गद्य की यह लय उनकी कविताओं के गद्य की भी लय है। उनकी वाक्य-रचना बदलती है, कभी सीधे-सादे वाक्य, कभी अनेक वाक्यांशों को गूँथकर रचे हुए लम्बे वाक्य, जवाहरलाल नेहरू की शैली में ठहर-ठहरकर बढ़ने वाले वाक्य, आगे के हिस्से पीछे और पीछे के हिस्से आगे—कभी तत्सम शब्द ज़्यादा, कभी हिन्दी का उर्दू रूप—लेकिन चाहे जैसी वाक्य-रचना हो, चाहे जैसा शब्द-चयन हो, उनके गद्य की लय प्रायः एक-सी रहती है। इस गद्य को आप जल्दी नहीं पढ़ सकते, जल्दी पढ़ना उसकी हत्या करना होगा। उसमें तेज़ प्रवाह नहीं है, सन् '४८ में लिखे हुए गद्य में भी नहीं, जब हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों का गद्य आमतौर से प्रवाहपूर्ण होता था। उसकी चाल धीमी है, धीमी चाल में भी थोड़ी-थोड़ी देर में रुकना, ज़रूरी होता है। कुछ उदाहरण :

"गाँव की प्रकृति एक सार्थक शक्ति है।
वह फलदा है और मानो कर्म से मुक्त है।
मोहमुक्त एकदम नहीं, पर चिन्तनरहित है।
वह गाँव का परिचित-अपरिचित स्वर्ग है।
ग्राम-निवासियों के आन्तरिक दुखों की एक क्षीण छाया
कभी-कभी उस पर पड़ जाती है,
पर वह शीघ्र ही कहीं खो जाती है।"

ये वाक्य मैंने 'ग्राम्या' पर शमशेर के निबन्ध से लिये हैं। उनका क्रम यही है, केवल लय की विशेषता प्रकट करने के लिए उन्हें अलग-अलग कर दिया है। यहाँ वाक्य-रचना एवं स्वाभाविक शब्द-चयन में तत्सम रूपों की प्रधानता है, पर चाल का धीमापन स्पष्ट है।

दूसरा उदाहरण :

"आज के आर्ट में जो भी चीज़ पेश की जाती है,
उसमें ख़ालिस कोई एक चीज़ पेश की जाती हो—
या करना मुमकिन भी हो—
यह नहीं है।
आज के दिन चारों तरफ़ के संघर्षमय जीवन ने
हर प्रकार से हमें इस तरह ढँक लिया है—
हमारा सबका जीवन आज इस तरह चल रहा है—
कि सिर्फ़ एक किसी चीज़ को लेकर हम कुछ समझ ही
नहीं सकते,
उस चीज़ के बारे में, या किसी भी चीज़ के बारे में।
क्योंकि उस चीज़ पर जो रंग पड़ रहा है वातावरण का,
आसपास की घटनाओं का,
स्वयं हमारे और हमारे साथियों के विचारों का,
उस सबको हम उस चीज़ का
एक अंग समझने के आदी हो चले हैं।"

उर्दू-अंग्रेज़ी से प्रभावित यह दूसरी शैली है—कुछ-कुछ जवाहरलाल नेहरू के इलाहाबादी रंग में। पहले वाक्य के अन्त में हिन्दी के लिए अनोखा—'यह नहीं है', और दूसरे वाक्य में—आगे की चीज़ पीछे—'उस चीज़ के बारे में, या किसी भी चीज़ के बारे में।' 'क्योंकि' से शुरू होने वाला तीसरा वाक्य, वातावरण का, घटनाओं का, विचारों का—एकसे वज़न के ये तीन टुकड़े, वक्तृत्व-कला को सजाते हुए। आधुनिकता-बोध से इस तरह की वाक्य-रचना का गहरा सम्बन्ध है। पर वाक्य-रचना जैसी भी हो, चाल में वैसा ही धीमापन है जैसा पहले के उदाहरणों में।

गद्य की यह धीमी लय मन पर अवसाद की छाया छोड़ जाती है। कलाकार चाहे गद्य लिखे, चाहे पद्य, उसके मन की वास्तविक दशा उसके गद्य-पद्य की लय से ही प्रकट होती है, सचेत होकर व्यक्त किये गये भावों और विचारों से नहीं। गद्य की लय उपचेतन मन का दर्पण है और इन निबन्धों को लिखते समय शमशेर का अन्तर्मन विषादग्रस्त रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने सचेतन मन से जो भाव और विचार प्रकट किये हैं, उनमें और गद्य की अवसादग्रस्त गति में काफ़ी अन्तर है। शमशेर का सचेत मन दूसरों से प्रभावित होता है, विचार ग्रहण करता है, उन्हें अन्तर्मन पर आरोपित भी करता है पर ये विचार अन्तर्मन की भावधारा में घुल-मिलकर अपना अलगाव नहीं खो पाते। शमशेर का अन्तर्मन बड़ा हठी है, किसी की बात नहीं मानता, शमशेर की भी नहीं। पर वह अचल, अडिग, अपरिवर्तनशील नहीं है। 'आलोचना' में केदारनाथ अग्रवाल पर उनका जो निबन्ध छपा था, उसमें उनके गद्य की लय काफ़ी बदली हुई मालूम हुई और इससे शमशेर की बदलती हुई मनोदशा का परिचय मिलता है। उनका मन पहले से अधिक अकुंठित, अधिक विषादमुक्त और जीवन की ओर अधिक उन्मुख है।

'दोआब' के निबन्धों में शमशेर बहादुर सिंह ने कवियों के रोगी, अस्वस्थ मन की बार-बार चर्चा की है। उनके विषाद और निराशा की बार-बार आलोचना की है। इस आलोचना के द्वारा शमशेर स्वयं अपने मन की निराशा और विषाद से लड़ रहे थे। एज़रापाउंड और इलियट आदि जो अंग्रेज़ी में लिखने वाले कवि उन्होंने पढ़े थे, वे सब विषादग्रस्त थे, इलाहाबाद में रहते हुए पंत, महादेवी वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र की जो रचनाएँ पढ़ीं, उनमें भी विषाद की कमी न थी। स्वस्थ काव्य की खोज करते हुए शमशेर ने छायावादी कवियों का जो मूल्यांकन किया है, उसमें विषाद पर बहुत ज़्यादा ज़ोर है।

छायावादी कविता के विकास में 'पल्लव' की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें जो भावनाएँ व्यक्त हुई थीं, वे शमशेर के अनुसार 'बेहद रंगीन और मोहक' थीं, रोमानी छायाओं में लिपटी हुई थीं। 'उच्छ्वास' में बिखराव है, उसमें सबसे बड़ी कसर यह है कि 'यह चीज तन्दुरुस्त नहीं थी, किसी कदर बीमार थी।' 'वियोगी होगा पहला कवि' आदि पंक्तियों का अर्थ यह है कि 'बीमार को अपनी बीमारी से मोह था।' परिवर्तन में 'तन्दुरुस्त, मगर बहुत नाकामयाब कोशिश' की गई है, कवि की लिरिक-भावना अपनी एकांग सरसता में बहुत भारी होकर 'पाठक से हार मनवाने के अलावा, उसे विशेष कुछ देती नहीं।'

'पल्लव' के इस मूल्यांकन से हिन्दी कविता का विकास समझने में बहुत मदद नहीं मिलती। पहले तो 'पल्लव' में मानवीय और प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति पंत का दृष्टिकोण स्वीकृति का है अस्वीकृति का नहीं। शब्दों के सौन्दर्य से लेकर फूल-पत्तों के सौन्दर्य तक पंत ने अनेक वर्णों-रूपों वाले मानवीय परिवेश को बड़े कौशल से चित्रित किया है। उन्हें हिन्दी-आलोचकों ने सौन्दर्यवादी कवि के रूप में सहज ही स्वीकार किया और ठीक ही स्वीकार किया। दूसरे 'पल्लव' में जो विषाद है, वह रोगी मन का विषाद नहीं है, उल्लास और आनन्द चाहने वाले मन का विषाद है, जैसा शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ आदि रोमांटिक कवियों में है। वह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में 'डेकेडेंट' कवियों के विषाद से भिन्न है, हिन्दी में छायावादोत्तर 'बच्चन' जैसे कवियों के विषाद से भिन्न है। तीसरे 'पल्लव' का ऐतिहासिक महत्त्व तभी जाना जा सकता है जब सन् '२०-'३० में प्रचलित, रीतिवादी, नीतिवादी, राष्ट्रीय काव्य-धाराओं को पाठक भुला न दे। 'पल्लव' ने हिन्दी पाठकों और बीसियों युवक कवियों के मन में नयी सूक्ष्म संवेदनाएँ जगाईं, उनकी आँखों के सामने एक नया अनूठा काव्य-जगत् आलोकित कर दिया, पहले जिसकी उन्होंने कल्पना भी न की थी। हिन्दी के रीतिवादी आलोचकों ने ही 'पल्लव' का विरोध सबसे ज़्यादा किया, इसलिए जिनमें रीतिवाद से भिन्न आधुनिकताबोध है, उन्हें उसे अधिक सहानुभूति से देखना चाहिए। निराला ने अवश्य 'पल्लव' की नुक्ताचीनी की लेकिन यह भी सही है कि 'पल्लव' के सौन्दर्य पर उनसे ज़्यादा मुग्ध दूसरा कवि नहीं था।

'पल्लव' के बाद 'गुंजन' में एक 'मधुर दार्शनिक वृत्ति' के दर्शन होते हैं, लेकिन मौलिकता की दृष्टि से विषयों में कवि को 'ग़रीब' कहा जाएगा। यों 'चाँदनी', 'नौका-विहार' इस युग की कविता के 'अछूते रत्न' हैं। 'ज्योत्स्ना' कवि की 'एकदम सफल और एकदम असफल चीज़ ठहरी है।' कला की दृष्टि से इसके गीत सुन्दर हैं 'मगर व्यंजना की मार्मिकता इनमें किंचित् खोई हुई है। प्रतीक छुईमुई-से हैं।' इनके मुकाबले 'युगान्त' में पंत अधिक विकसित कवि के रूप में सामने आते हैं। उनकी 'बापू' कविता "प्रथमतः अपने विचारों के बल से ही श्रेष्ठ है।"

'रूपाभ'-काल में पंत ने सचेत मन से छायावाद की भूमि त्यागकर प्रगतिवाद की ओर कदम बढ़ाया। छायावाद की अनेक ख़ामियाँ दिखाने के साथ पंत ने उसकी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों को नज़रंदाज़ भी किया—विशेष रूप से निराला-काव्य के संदर्भ में। विचार-क्षेत्र में उन्होंने विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौलिकता का परिचय नहीं दिया। मार्क्सवाद और गांधीवाद का समन्वय करने में उन्होंने विचारों को बहुत उलझाया भी। पर यह सब उनकी कविता के लिए घातक नहीं था। जो चीज़ घातक थी वह यह कि पंत—बहुत-कुछ मैथिलीशरण गुप्त और सनेही की तरह—अपने विचारों को संवेदनाशून्य शैली में शब्दबद्ध करने को कविता समझने लगे थे। मैथिलीशरण गुप्त और स्नेही की राजनीतिक कविताओं में उनके विचार भाव-रंजित हैं, इसलिए उतने प्रभावशून्य नहीं हैं, जितने पंत की राजनीतिक कविताओं में। शेली और बॉयरन की राजनीतिक कविताओं से पंत के 'युगान्त' की तुलना करें तो सफल और असफल राजनीतिक कविता का अन्तर स्पष्ट हो जाएगा।

'पल्लविनी' पर शमशेर का लेख—जिसमें उन्होंने पंत-काव्य का उपर्युक्त विहंगावलोकन किया है—मार्च १९४१ के 'हंस' में प्रकाशित हुआ था। प्रगतिशील आन्दोलन को जन्म लिए अभी पाँच साल भी न हुए थे। आन्दोलन के सूत्र-धार शीघ्रता से आन्दोलन को व्यापक और समर्थ बना लेना चाहते थे। यदि अपने रचना-कौशल से वे साहित्य को समृद्ध करने की बात सोचते तो उन्हें बरसों मेहनत करने के लिए तैयार होना पड़ता। छायावादी कवियों ने कितनी लंबी साधना की थी तब कहीं जाकर उन्हें मान्यता प्राप्त हुई थी। फिर नया प्रगतिशील क्रान्तिकारी साहित्य! पाँच साल में ही मैदान सर। आन्दोलन को व्यापक बनाने के लोभ में इसके सूत्रधार अवसरवाद के शिकार हुए। वे ऐसी रचनाओं को श्रेष्ठ बताने लगे जो पुरानी राष्ट्रीय और जनतांत्रिक विचारधारा के हिसाब से भी प्रगतिशील नहीं थीं, ऐसी कवि-ताओं को उच्चकोटि का काव्य कहने लगे जिनमें भावोत्कर्ष और कलात्मक सौन्दर्य का नितान्त अभाव था। 'युगान्त' को 'पल्लव' और 'गुंजन' से श्रेष्ठ मानने का कारण यह अवसर-वाद था। आधुनिकता-बोध के हामी समझते हैं कि वे हिन्दी कविता को 'परिमल', 'अनामिका', 'पल्लव', 'गुंजन' और 'कामायनी' से बहुत आगे खींच ले गये हैं। ऐसे लोग सन् '४१ के प्रगतिवादियों की अपेक्षा अवसरवाद के दलदल में और भी गहरे धँसे हुए हैं।

'ग्राम्या' में 'पल्लव' के कवि का वह सहज विकास है जहाँ छायावाद प्रगतिशील काव्य के नये रूप ग्रहण करता है। पंत ने ग्रामवासियों के प्रति अपनी बौद्धिक सहानुभूति की बात की है, फिर भी यह सहानुभूति ग़नीमत थी—हार्दिक सहानुभूति 'ग्राम्या' से काफ़ी पहले निराला के 'चतुरी चमार' में प्रकट हुई थी। छायावादी कवि मैथिलीशरण-वर्ग के कवियों की अपेक्षा भारतीय ग्राम-समाज को ज़्यादा सहानु-भूति से देखते थे। इस सहानुभूति का विकसित फल 'ग्राम्या' थी। शमशेर ने बहुत पते की बात कही है कि 'युगवाणी' में जो लिरिक-भावना खो गई थी वह 'ग्राम्या' में अधिक प्रौढ़ होकर लौट आई है। दरिद्रता और अन्धविश्वासों के वर्णन के साथ पंत ने प्रकृति का चित्रण किया। शमशेर ने इस सब की तारीफ़ की। उनके व्यंग्य और कटूक्तियों की विशेष प्रशंसा की, 'ग्राम्या' में ऐसी बातें भी थीं जो पंत को पीछे की ओर ठेल रही थीं। उस समय इन पर लोगों ने विशेष ध्यान न दिया था।

'रूपाभ' में पंत के सहयोगी नरेन्द्र शर्मा ने छायावादोत्तर काव्य के विकास में विशेष योग दिया था। राजनीतिक कविताएँ लिखने में उन्हें सबसे ज़्यादा सफलता मिली थी। केवल गिरिजाकुमार माथुर ने '४६-'४७ के दौरान कुछ बहुत ही सुन्दर राजनीतिक कविताएँ लिखी थीं जो नरेन्द्र की कविताओं से भी अधिक सुन्दर थीं। भाषा के सहज प्रवाह द्वारा जीवन की साधारण घटनाओं को काव्य का आलंबन बनाकर छायावाद के बाद नये यथार्थवाद की भूमि पर नरेन्द्र आगे बढ़े थे। साथ ही उनकी रचनाओं में यौन-कुंठाओं से उत्पन्न विषाद की मात्रा भी काफ़ी थी।

'दोआब' के निबन्धों में नरेन्द्र की राजनीतिक कविताओं की चर्चा नहीं है। थकन और निराशा पर काफ़ी ज़ोर है। 'पलाशवन' में "एक थका, टूटा, बिखरा व्यक्तित्व, सच्ची शान्ति के लिए तड़पता हुआ और अपने संस्कार-निर्देशित पूर्व आदर्शों में जीवन का आधार खोजता और उन्हें समझता-सा हुआ...।" यह वाक्य कितने आधुनिक कवियों पर चस्पाँ नहीं किया जा सकता? थका, टूटा, बिखरा व्यक्तित्व—बहुत-से कवियों का यह जीवन-दर्शन बन गया है। रोमांटिक कविता का विरोध करने वाले 'आधुनिक' कवि उसी रोमांटिक भाव-धारा को नया जामा पहना रहे हैं, वे यह नहीं जानते। रोमांटिक काव्य के उत्कर्षकाल में यह थकने-टूटने वाला भाव दबा हुआ था, उत्तरकाल में वही भाव प्रमुख हो जाता है। 'आधुनिक' कवि इस उत्तरकालीन-ह्रासोन्मुख रोमांटिक-भावधारा से जाने-अनजाने प्रेरणा ग्रहण करते हैं। शमशेर ने इस कुंठा-प्रेम की आलोचना करते हुए लिखा था, "सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धों का जो सौन्दर्य और आकर्षण जीवन के अवरुद्ध द्वार खोलकर व्यक्ति की सब शक्तियों को मुक्त और उल्लासपूर्ण नहीं करता, एक खुली हँसी की चमक-सी उसके अंग-अंग में नहीं भरता वह एक बहुत ग़लत और बीमार चीज़ है।"

शमशेर ने नरेन्द्र की प्रशंसा में लिखा है कि भाषा के अपनाव में और मुहावरे में और उसके संस्कार में, अभिव्यंजना की स्वस्थ स्वाभाविकता में, कवि का अपना 'आधुनिक' व्यक्तित्व है। इसमें इतनी बात मैं और जोड़ना चाहूँगा कि व्यक्तित्व की आधुनिकता केवल भाषा में प्रकट नहीं हुई, वह नरेन्द्र की भावना और विचारधारा में भी व्यक्त हुई है।

छायावादोत्तरकाल में 'निशा निमंत्रण' के बाद बच्चन ने 'सतरंगिनी' में एक नई दिशा की ओर कदम उठाया। यह वही दिशा थी जिसकी ओर पंत और नरेन्द्र बढ़ रहे थे। शमशेर ने 'सतरंगिनी' में बच्चन की 'पिछली रचनाओं के रंग और झलकियाँ' देखीं, साथ ही उन्होंने कवि के उस 'नये व्यक्तित्व' का उल्लेख किया जो 'आँधी, पानी और तूफ़ान के बाद एक नये धीरे-धीरे खुलते हुए आसमान के नीचे, जैसे इन्द्रधनुष की छाया में, उभर-उभर उठा है।' संघर्ष, आशा, विश्वास—यह सब बच्चन की सतरंगिनी में।

'सतरंगिनी', 'पलाशवन', 'ग्राम्या'—इन तीन नामों से तत्कालीन हिन्दी काव्य के विकास की दिशा पहचानी जा सकती है। जेल से छूटने पर कांग्रेसी नेताओं ने अपना कम्युनिस्ट-विरोधी अभियान शुरू किया, साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद से शान्तिपूर्ण सत्ता-दान के लिए सुलह-समझौते की बातें शुरू कीं। 'सतरंगिनी', 'पलाशवान', 'ग्राम्या' आदि के कवियों ने अपनी दिशा बदली। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' इस दिशा-परिवर्तन की चमकीली पताकाएँ थीं जिन्हें हिन्दी-संसार दूर-दूर से देख सकता था।

इस दिशा-परिवर्तन से कुछ पहले 'तारसप्तक' का प्रकाशन हुआ। इसके सात कवियों की एक सामान्य फ़ासिस्ट-विरोधी राजनीतिक भूमि थी। वात्स्यायन ने दिल्ली के फ़ासिस्ट-विरोधी सम्मेलन में सक्रिय भाग लिया था; प्रभाकर माचवे स्तालिनग्राद के वीरों की प्रशस्ति में कविता लिख चुके थे या लिखने वाले थे। गिरिजाकुमार माथुर साम्यवादियों के सहयात्री थे, शेष कवि साम्यवादी थे। ये कवि अंग्रेज़ी की रोमांटिक और हिन्दी की छायावादी कविता से एक हद तक प्रभावित थे, एक हद तक उससे अलग अपने लिए नई राहें बना रहे थे।

'दोआब' संग्रह में सबसे दिलचस्प लेख 'सात आधुनिक कवि' है। यह 'नया साहित्य' में छपा था और यह उल्लेखनीय है कि 'नया साहित्य' उस समय प्रगतिशील साहित्य का प्रतिनिधि पत्र था।

शमशेर ने सबसे पहले प्रयोगशीलता का प्रश्न लिया है—अज्ञेय की भूमिका के कारण। भूमिका के अनुसार सातों कवि इस विषय पर सहमत थे कि 'कविता प्रयोग का विषय है।' शमशेर ने लेख का आरम्भ यों किया :

"प्रयोग ही 'तारसप्तक' का नारा है।

इस दिशा में 'तारसप्तक' की क्या विशेषता है ? एकदम स्पष्ट कहा जाए, 'तो कोई ख़ास नहीं।'

पहला कारण यह कि 'तारसप्तक' के प्रयोग अन्य कवियों के संग्रहों में मिल जाएँगे। निराला में, पंत में, नरेन्द्र शर्मा में जिनकी एक कविता 'बटनहोल' भी पाठकों को अपरिचित न होगी। शमशेर ने प्रयोग का क्षेत्र ज़्यादातर छन्द को माना है, 'बटनहोल' के उल्लेख से उन्होंने कविता की विषयवस्तु की ओर भी ध्यान दिलाया है। 'बटनहोल' में प्रयोग की नई बात क्या है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया।

'दूसरा कारण जो 'तारसप्तक' के प्रयोगों को न्यून करता है, यह कि वे बहुत कम सफल हुए हैं, यहाँ सिवाय अज्ञेय और रामविलास के।'

यह वाक्य पचास फ़ीसदी ठीक तो है ही।

गिरिजाकुमार माथुर के प्रयोगों की सफलता हिन्दी में एक सुन्दर चीज़ है, पर वास्तव में वह भी इतनी मौलिक नहीं जितनी लगती है ऊपर से देखने में। माचवे के बिम्बचित्र कवि की ओर से काफ़ी दायित्वहीनता का परिचय देते हैं। 'गजानन मुक्तिबोध की अभिव्यक्ति उनके कला-प्रकारों के अनुरूप सूक्ष्म और पुष्ट नहीं।'

इस प्रकार प्रयोगशीलता की दृष्टि से 'तारसप्तक' कोई मौलिक युगान्तरकारी महत्त्व नहीं है।

फिर 'कैसी भावभूमि हमें मिलती है इन कवियों में ?'

मुक्तिबोध-कवि की मान्यताएँ नकारात्मक हो गई हैं।

अज्ञेय—अपने चारों ओर वर्जनाओं का संसार देखते हैं, उनका 'हम'—'जनता का 'हम' नहीं, व्यक्ति का अपने 'जाग्रत अतीत' से प्राप्त 'हम' है।'

गिरिजाकुमार माथुर—उसकी भावुकता का ख़ज़ाना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri.

तो पीछे अतीत में है', आज के हृदय में तो उदासी है, थकावट है, सूनापन है, खोई हुई-सी परछाइयाँ हैं।"

प्रभाकर माचवे—उनकी ज्ञान की झोली में संशय के दो कण हैं, वर्ना रूखे-से व्यंग्य, फीकी-सी कटुता, कलापक्ष की ओर से उदासीनता।

नेमिचंद्र और भारतभूषण—जनता की शक्तियों के साथ आना चाहते हैं, 'और भावुकता में उस ओर बढ़ते भी हैं, मगर अपनी अन्दरूनी उलझनों को सुलझा नहीं सके हैं।'

'तारसप्तक' का यह मूल्यांकन उस समय की प्रगतिवादी आलोचना का अच्छा प्रतिनिधित्व करता है। स्वस्थ-अस्वस्थ, अतीत-वर्तमान, आशा-निराशा, व्यक्ति-समाज के जोड़े हर जगह दिखाई देते हैं, हर जोड़े में परस्पर निरपेक्ष, एकदम भिन्न दो इकाइयाँ हैं—विशेष रूप से व्यक्ति और समाज की इकाइयाँ। 'तारसप्तक' में कवियों ने अपने व्यक्तित्व के कौन-से नये पहलू उजागर किये, अपनी उलझनों को कितनी तटस्थता से काव्यरूप दिया—इन प्रश्नों की छानबीन करते हुए भी 'तारसप्तक' का मूल्यांकन संभव है।

'दोआब' के दो दिलचस्प लेख हॉली, मैथिलीशरण गुप्त और इकबाल पर हैं। शमशेर हिन्दी के उन थोड़े से लेखकों में हैं जो उर्दू कवियों पर साधिकार लिखते हैं। इस संग्रह में उर्दू साहित्य पर और कई लेख भी हैं। हिन्दी-उर्दू साहित्य एक ही जाति का साहित्य है, इसलिए जातीय साहित्य के दोनों रूपों पर एक साथ लिखना बहुत सही तरीका है। शमशेर का रागात्मक सम्बन्ध उर्दू काव्य से अधिक है, हिन्दी काव्य से कम। कई जगह उनकी काव्यरुचि फ़िराक की याद दिलाती है।

'हमारी आधुनिक सभ्यता का वास्तविक नग्न दिग्दर्शन हमें अपने किन हिन्दी छन्दों में मिला है? यह भीषण राग, जिसको सुनकर हमारे कान बधिर हो जाएँ, वहाँ हमारी चेतना-शक्ति को जाग्रति से तेजपूर्ण करता है?···

'बस, निराशा ही निराशा है, हृदय के मूक गान, सुख-दुःख के बुद्‌बुद्। हमारी उर्दू में भी···लेकिन यहाँ कम-से-कम इकबाल का एक गम्भीर आधुनिक स्वर है जो वर्तमान सभ्यता के स्तर-स्तर को भेद जाता है।'

ख़ैर, अपनी-अपनी रुचि। हिन्दी के सभी कवियों के मुकाबले शमशेर को इकबाल पसन्द हों, इस पर मुझे आपत्ति नहीं जब तक इकबाल की उर्दू कविता को वह उसी जाति के साहित्य का अंग समझें जिसने हिन्दी साहित्य रचा है। लेकिन हिन्दी-उर्दू के प्रगतिशील लेखकों में और बहुत-से कम्युनिस्ट नेताओं में यह विचारधारा बहुत गहराई से जड़ जमाये हुए है कि देश में हिन्दुओं की एक संस्कृति है, मुसलमानों की दूसरी। यह विचारधारा काफ़ी खुले रूप में सन् '४७ के आस-पास प्रकट की जाती थी। शमशेर के निबन्धों पर इस विचार-धारा का असर जहाँ-तहाँ दिखाई देता है। हॉली के 'मुसद्दस' और मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' में दो संस्कृतियों का परिचय दिया गया है—'मुसद्दस' में मुस्लिम संस्कृति का, 'भारत-भारती' में हिन्दू संस्कृति का। लेकिन 'हॉली में किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता की बू कहीं दूर तक भी हमें नहीं मिलती।' मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'जातिगत कटुता अथवा संकुचित दृष्टिकोण' नहीं आने दिया, केवल बौद्ध धर्म के सिलसिले में कवि का भाव 'संकुचित-सा हो गया है'। मुख्य बात यह कि 'भारत-भारती' में 'भविष्यत् मानो अतीत का ही प्रतिदर्पण है', जमाना आगे बढ़ गया है पर मैथिलीशरण गुप्त अपने समय की प्रगति से कुछ पीछे पड़ गए-से जान पड़ते हैं।

यहाँ मैथिलीशरण गुप्त की अतीत-भविष्य-सम्बन्धी कल्पनाओं के बारे में कुछ नहीं कहना। मुख्य प्रश्न यह है कि 'भारत-भारती और मुसद्दस' को हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के ग्रन्थ कहना क्या उचित है?

हिन्दू धर्म या इस्लाम का नाम लेने से या उनसे प्रभावित होने से किसी कवि की रचना जातीय संस्कृति से ख़ारिज नहीं हो जाती। जितना हिन्दू-धर्म और इस्लाम 'भारत भारती' और 'मुसद्दस' में है, उससे बहुत ज़्यादा मात्रा में ईसाई धर्म दान्ते और मिल्टन के महाकाव्यों में है। फिर भी वे काव्य इतालवी और ब्रिटिश जातियों के महाकाव्य माने जाते हैं। किसी ने ईसाई और ग़ैर-ईसाई संस्कृतियों के आधार पर यूरोप के साहित्य का विभाजन नहीं किया।

लेकिन इकबाल ने धर्म के आधार पर देश के विभाजन की माँग की। हॉली मुसलमानों की उन्नति चाहते थे लेकिन मुसलमानों का अलग राज्य बनाने का प्रचार उन्होंने न किया था। इकबाल ने राष्ट्रीय एकता की ज़मीन छोड़कर साम्प्रदायिक संकीर्णता का रास्ता अपनाया था। इस परिवर्तन के बारे में शमशेर ने क्या मत प्रकट किया है?

"अस्तु, देश-प्रेम के लोकप्रिय तरानों का स्थान इकबाल की बाद की कविता में इस्लामी धर्म से अभिभावित एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापक प्रकार के आदर्शवाद ने ले लिया जिसमें इस्लामी दुनिया का सांस्कृतिक और धार्मिक संगठन का भाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। वास्तव में स्वदेश-प्रेम से ऊपर उठकर इकबाल ने अपने धर्मानुयाइयों को जिस आदर्श की ओर प्रेरित किया है, उसे हम अनुदार कदापि नहीं कह सकते, यद्यपि कुछ पाठकों का इसके बारे में हमसे भिन्न मत है, क्योंकि इकबाल के 'मुस्लिम' की व्याख्या करने पर हम उसे संसार-समाज का एक आदर्श व्यक्ति पाते हैं।"

तब इकबाल ने पाकिस्तान का अलग राज्य बनाने की बात कैसे सोची? इकबाल ने जो कविताएँ फ़ासिस्टवाद के अभ्युदय के बाद लिखीं, उन पर फ़ासिस्ट विचारधारा का असर काफ़ी है। भारत की परिस्थितियों में इस फ़ासिस्ट विचारधारा ने घोर साम्प्रदायिक संकीर्णता का रूप लिया और यह संकीर्णता साम्राज्यवाद की जिस हद तक सहायक थी, यह देश के बँटवारे से साबित हो गया। उर्दू में बहुत-से राष्ट्रवादी और प्रगतिशील मुसलमान लेखकों ने इकबाल की साम्प्रदायिक संकीर्णता की कड़ी आलोचना की। शमशेर ने जिन कुछ पाठकों से मतभेद की बात कही है, वे ऐसे ही लोग हैं।

इकबाल के सम्बन्ध में शमशेर का मत मेरी इस स्थापना को पुष्ट करता है कि सन् '४८ से पहले अनेक प्रगतिवादियों में ऐसी विचारधारा प्रचलित थी जो सामान्य राष्ट्रीय और जनतांत्रिक विचारधारा को देखते हुए भी अवैज्ञानिक और प्रतिक्रियावादी थी, मार्क्सवाद से तो वह कोसों दूर थी ही। उस विचारधारा का पूरी तरह मूलोच्छेद आज भी नहीं हुआ है।

आधुनिक कविता के विकास के लिए यह ज़रूरी है कि हम अपने देश के साहित्यिक-सांस्कृतिक विकास को सही-सही समझें। जो संस्कृत नहीं जानते, वे कम-से-कम तुलसीदास और सूरदास की रचनाएँ पढ़ें, उनकी काव्यकला और शब्द-भंडार से लाभ उठाएँ। हिन्दी-उर्दू के रीतिवाद की भूमिका को सही ऐतिहासिक संदर्भ में देखें। शमशेर का मन एक ओर उर्दू के रीतिवाद से बँधा हुआ है, दूसरी ओर यूरोप-अमरीका की बहुत-सी ह्रासकालीन कविता से। हिन्दी-काव्य-परम्परा से उनका रागात्मक सम्बन्ध बहुत उथला है। वह जानते हैं कि उर्दू में रीतिवाद का जोर है, उर्दू में रीतिवाद के अलावा भी बहुत-कुछ है, फिर भी रीतिवाद उन्हें मोहता है। उर्दू का विकास वह एक रूपक के माध्यम से यों समझाते हैं। उर्दू मर्माहता विषाद नगरी दिल्ली की भोली बालिका है, जिसका स्वर कुछ बचपन से ही करुण रहा है, जब उसने लखनऊ का ऐश देखा तो पलकों में विलास जाग उठा, और कपोल सुहास से खिल उठे, "पर आज उसका यौवन-स्वर बहुत गम्भीर—बहुत कोमल तथा मधुर—किन्तु बहुत गम्भीर हो गया है।"

इधर हिन्दी कवियों का क्या हाल है? फ़िराक के स्वर में हिन्दी कवियों को फटकारते हुए उसी लेख ('उर्दू कविता') में शमशेर कहते हैं, "अब यह नहीं कि इंगलैण्ड के पिछली शताब्दी के कवियों की काल्पनिक उड़ान का दम भरते रहने में या रवीन्द्रनाथ की तत्सम संस्कृत शब्दावलियों को उन्हीं के प्रतिस्वर में झंकृत करते रहने में हम अपनी उत्कृष्टता समझते रहें···" अर्थात् हिन्दी की काव्य-संपदा अंग्रेज़ी बंगला की उतरन है।

उर्दू के विकास पर जो बातें शमशेर ने कही हैं, वे पूरी तरह सही नहीं हैं, हिन्दी काव्य की जो झलक उन्होंने दी है, वह भी ग़लत है। पर इससे उनकी आन्तरिक वृत्तियों का पता चलता है।

हिन्दी में कवयित्रियों का अभाव है—यानी शमशेर ने जब 'उर्दू कवयित्रियाँ' लेख लिखा था, तब उन्हें ऐसा अभाव दिखाई देता था। इसका कारण हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का अन्तर है। सामान्य गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी मुसलमान स्त्रियों के लिए आत्माभिव्यक्ति अथवा व्यक्तित्व-प्रकाशन जिस प्रकार सहज और स्वाभाविक रहा है—कला या किसी भी क्षेत्र में—उस प्रकार हिन्दू स्त्रियों के लिए वह संभव भी नहीं हो सकता।

गृहस्थ नारियों ने ही उर्दू कविता का विकास नहीं किया। उनसे भिन्न स्त्रियों का एक वर्ग और है।

"इसके अलावा और जिस वर्ग के लिए काव्य-रचना, विशेषकर ग़ज़ल कहना, एक स्वाभाविक और सुगम बात रही है (और आवश्यक भी) वह है सुसंस्कृत तवायफ़ों का भावुक वर्ग। अक्सर अच्छे-अच्छे शायर जाकर अपनी ग़ज़लें इनसे गवाते थे, इसके अतिरिक्त, संगीत और नृत्य-कला के साथ-साथ रसिक दरबारों की सोहबत उन्हें यों ही कवि बना देती थी। अस्तु, इस रूप के बाज़ार में, जहाँ यौवन की रंगरलियों में हृदय की दौलत लुटती हो, बहुतों का सुन्दर शृंगारी कवि न हो जाना ही आश्चर्य की बात होती।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शमशेर ने बड़ी सहानुभूति से यह सब लिखा है। सहानुभूति का कोश इस तरफ़ इतना ख़ाली हो गया कि हिन्दी कवियों के लिए उसका बहुत कम हिस्सा बच रहा।

आधुनिक कवि की चेतना चक्करदार रास्तों से होकर विकसित हो रही है। मानसिक उलझनें मुक्तिबोध या 'तार-सप्तक' के कवियों में ही नहीं हैं, वे 'दूसरा सप्तक' के कवियों में भी हैं, इन सप्तकों के और बहुत-से कवियों और लेखकों में हैं। हम इनसे आँखें नहीं चुराते, इन्हें खुली तर्कभूमि पर खींच लाते हैं, उन पर बहस करते हैं जिससे सही रास्ता पहचानने में मदद मिले। ऊपर अलगाव की जिन बातों का उल्लेख किया गया है, वे रास्ते की रुकावट हैं, उन्हें हटाना ज़रूरी है। पर शमशेर के निबन्धों में उनके अलावा और बहुत-कुछ है। पूँजीवादी शोषण के बारे में कुछ कहना आजकल साहित्यिक 'एटीकेट' के ख़िलाफ़ है, समाजवादी व्यवस्था में आस्था प्रकट करना आधुनिकता-बोध के अनुकूल नहीं माना जाता। फिर भी पूँजीवाद है, पूँजीवादी शोषण है, मनुष्य की विचारधारा का उससे गहरा सम्बन्ध है, और इस शोषण से निकलने का एक ही उपाय है, समाजवादी व्यवस्था कायम करना। इस व्यवस्था के हज़ार रूप हो सकते हैं, लेकिन अगर वे समाजवाद के ही रूप में हैं तो उनमें एक चीज़ सामान्य होनी चाहिए—पूँजीवादी शोषण की समाप्ति, उत्पादन और वितरण के प्रमुख साधनों पर श्रमिक जनता का अधिकार।

सुभद्राकुमारी चौहान वाले निबन्ध में शमशेर ने लिखा है—"हर तरफ़ ऊपरी तबका नीचेवालों की गर्दन पर सवार है और अपने पूँजी के हित उस पर ढोकर, उसे पसलियों के बल चलाना चाहता है। हुकूमत, व्यापार, नौकरी और धन्धा—सब पर दाँव लगा हुआ है। बाहरवालों का भी और घरवालों का भी, बल्कि मिलकर।"

ये बातें मार्च '४८ में जितनी सही थीं, उससे ज़्यादा सही सन् '६८ में हैं। हिन्दी-उर्दू के अधिकांश प्रगतिशील लेखक सन् '४८ में स्थिति के इस विश्लेषण से सहमत थे। फिर तरह-तरह के बहाने करके वे पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण पर पर्दा डालने लगे और समाजवाद के लक्ष्य से मुँह मोड़ने लगे। पिछले पन्द्रह साल के दौरान प्रगतिशील लेखकों के बिखराव का यह मुख्य कारण है।

सन् '२० की राष्ट्रीय एकता को याद करते हुए शमशेर ने उसी निबन्ध में लिखा है, "हफ़्तों, बल्कि महीनों से—किस शौक के साथ त्यौहारों का इन्तज़ार रहता था, हिन्दू-मुसलमान सबको। आख़िर मेला तो मेला, जिसमें सब शरीक, और बरस-बरस के त्यौहार, सभी की मुरादों के दिन। फिर क्यों न हिल-मिलकर अच्छी तरह सारे पर्व मनाये जाएँ, विजया-दशमी, राखी, जन्माष्टमी की झाँकियाँ···मोहर्रम के ताज़िये। और फिर उन दिनों के कांग्रेस के जलसे, जिनमें पहली बार, सचमुच 'जागा देश हमारा'। समूचा भारत। देश का पहला सच्चा भरा-पूरा राष्ट्रीय उत्थान, जैसे अल्हड़ जवानी में पहला कदम कोई रखे।"

इस एकता में बहुत-सी ख़ामियाँ थीं। सबसे बड़ी ख़ामी यह कि इस एकता का आधार किसानों और मज़दूरों के संगठन न थे। ख़िलाफ़त के प्रश्न पर कांग्रेसी नेताओं ने अवसरवादी रुख़ अपनाया था। इसीलिए वह एकता प्रति-क्रियावाद के हमले बर्दाश्त न कर सकी। लेकिन अड़तालीस साल बाद समाजवादी राजनीतिज्ञों ने मुस्लिम-लीग और जनसंघ के साथ मिलकर मंत्रिमंडल बनाने का जो काम किया, उसमें अवसरवाद कम नहीं है। सन् बीस की तुलना में यह अवसरवाद कहीं ज़्यादा घृणित और घातक है।

शमशेर ने जनता की एकता और उसकी अजेय शक्ति में दृढ विश्वास प्रकट करते हुए आगे लिखा है, "सारे जहान की ताकत इन्सान के इरादों में उस वक्त होती है—पृथ्वी का सारा अटल विश्वास उसकी आवाज़ में बोलता है। और अपने सच्चे जन्मसिद्ध अधिकारों के लिए जब ऐसी आवाज़ें एक होकर उठती हैं तब कौमों की किस्मत का फ़ैसला कर देती हैं। अमल अनुभव की तीसरी आँख खोल देता है, जिसकी प्रखर रोशनी में अपनी कमज़ोरियाँ और वैरी दुश्मन के मनसूबे सब जल जाते हैं। बशर्ते कि वह आँख खुली रहे—अमल के रास्ते की तरह, अबाध जन-शक्ति की तरह। बन्द न हो। क्योंकि अन्त में विजय तो उसी की है।"

और इस सबसे एक नतीजा कवि के लिए निकलता है, "इसलिए उन आवाज़ों के साथ मिलकर अगर कोई गायेगा, तो जनगान की बड़ी मज़बूत धारा उसके स्वर में गूँजेगी।"

कविता केवल जनगान नहीं, उसमें जन-संघर्षों की गूँज के अलावा और बहुत-कुछ है। उसमें व्यक्तित्व की उलझनों के लिए जगह है, लेकिन सामाजिक दायित्व और जन-आन्दोलनों से कटकर कविता केवल व्यक्तिगत कुंठाओं के दायरे में घुमड़ती रहे, यह भी एक अस्वाभाविक क्रिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस समय राष्ट्रीय पैमाने पर जनशक्ति में बिखराव है, जन-आन्दोलन असंगठित हैं। इसलिए कवियों की रचनाओं में भी इस बिखराव की झलक मिलती है। लेकिन मनुष्य का मन परिस्थितियों के प्रतिबिंब दिखाने वाला निष्क्रिय दर्पण नहीं है। वह गतिशील, विकासमान, रचना-सामर्थ्य से सम्पन्न है। वह परिस्थितियों से ऊपर उठकर बिखराव को दूर करने में सहायक हो सकता है। फिर परिस्थितियों में बिखराव-ही-बिखराव नहीं है, एकता और संगठन की शक्तियाँ भी हैं।

शमशेर बहादुरसिंह के इन निबन्धों का ऐतिहासिक महत्त्व है क्योंकि इनमें वे चक्करदार रास्ते दिखाई देते हैं जिनसे होकर बहुत से कवि और लेखक आगे बढ़े हैं। इन निबन्धों को पढ़ना इसलिए ज़रूरी है कि शमशेर की पुरानी मान्यताओं में बहुत-कुछ मूल्यवान है जिसे आज के बहुत-से कवि भूल गए हैं और उनमें बहुत-सी ख़ामियाँ हैं जिन्हें न पहचानकर कुछ लोग आज भी अलगाव की राहों पर चल रहे हैं।

शमशेर के इन निबन्धों का साहित्यिक महत्त्व बहुत दिन तक ताज़ा रहेगा। वे एक अत्यन्त संवेदनशील कवि के निबन्ध हैं जो रचनाओं पर मुग्ध होता है, गद्य में अपनी अनुभूति व्यक्त करता है, जो विवेकशील तार्किक-मात्र नहीं है। ये निबन्ध उन रचनाकारों पर लिखे गये हैं जो हिन्दी-उर्दू साहित्य की प्रगति पर अच्छा-बुरा असर डालते रहे हैं। निबन्धों की यह पुस्तक उन थोड़ी-सी किताबों में है जिनमें हिन्दी-उर्दू साहित्य की समस्याओं पर एक जगह विचार किया गया है।

इस पुस्तक का सर्वाधिक महत्त्व स्वयं शमशेर के रचना-विकास के सन्दर्भ में है। हिन्दी कविता के नये कलात्मक विकास में उनका योगदान बहस की चीज़ नहीं। उनके जो विचार, संस्कार, संवेदनाएँ आज हैं, उनमें पिछले बीस साल में मूलतः परिवर्तन नहीं हुआ। कवि शमशेर के विकास को समझने के लिए यहाँ दुर्लभ सामग्री है। यही नहीं, उनकी कविता के गद्य का मज़ा बहुत जगह इन निबन्धों के गद्य में भी है।

शमशेर ने कहा—'दोआब' का दूसरा संस्करण होने जा रहा है।

उसकी भूमिका लिखने में मैंने गौरव का अनुभव किया।

आशा है, 'दोआब' अपने दूसरे संस्करण में पाठकों को—निकट भविष्य में—अवश्य सुलभ होगा। और इधर शमशेर ने जो बहुत सुन्दर निबन्ध लिखे हैं, उनका संकलन भी शीघ्र प्रकाशित होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखो न हक़ीक़त हमारे समय की[1] | *विश्वनाथ त्रिपाठी*

भीड़ ने महल पर पत्थर फेंके
वे पत्थर मेरे पास आकर
कविता की पंक्ति बन गए
मैंने एक कविता लिखी
और वह भीड़ के हाथों
पत्थर का टुकड़ा बन गई
देखो न हक़ीक़त हमारे समय की
कि पत्थर के टुकड़ों की सार्थकता कविता बनने
और कविता की सार्थकता
पत्थर के टुकड़े बनने में है।

मैंने एक बड़े आदमी से पूछा
'तुमने यह कोट कहाँ से पाया'
उसने मुझे घूरकर देखा
और कोट उतारकर फेंक दिया।
मैंने उससे पूछा
'तुमने यह चश्मा कहाँ से पाया'
उसने चश्मा भी उतारकर फेंक दिया
और अंधा हो गया।
जब मैंने पूछा
'बड़े आदमी! तुम आदमी तो हो न!'
तो वह नंगा हो गया और मर गया
देखो न हक़ीक़त हमारे समय की
कि लोगों से उनका और चीज़ों का रिश्ता पूछो
तो वे नंगे होकर मर जाते हैं।

१. शमशेर बहादुर सिंह की सुप्रसिद्ध कविता 'अमन का राग' की एक पंक्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलात्मक प्रतिज्ञा

दि० के० बेडेकर

कवि को या कलाकार को निरंकुश माना गया है, प्राचीनों की यह धारणा रही और आज भी यही धारणा प्रबल है। 'दिगम्बर' पंथियों का कहना है कि परम्परा से और प्रतिष्ठित संस्थाओं से वे मुक्त हैं। रूढ मूल्यों को वे 'बंधन' मानते हैं, उनसे छुटकारा पाना यही उनका ध्येय है।

निरंकुशता की यह धारणा उपयुक्त है। कलाकार मुक्त होगा तो सर्जन कर सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन 'मुक्त' होने से सर्जन की प्रक्रिया होने की सिर्फ़ संभावना होती है, ज़्यादा कुछ नहीं होता। 'मुक्ति' केवल नकारात्मक होती है। मुक्ति सर्जन नहीं है। हमारे प्राचीन दर्शनों में 'मुक्ति' की धारणा है। वह मुक्ति संसार से है। लेकिन संसार से छुटकारा पाना आध्यात्मिक पथ पर चलने में सिर्फ़ प्रथम पदन्यास है। अन्तिम श्रेय है ईश्वर को प्राप्त करना या ब्रह्म से एकरूप होना। इसी तरह कलाकार की मुक्ति भी केवल प्रथम पदन्यास है। सर्जन की प्रक्रिया वहाँ से सिर्फ़ शुरू होती है।

मुक्ति के बारे में यह दृष्टिकोण माना जाता है, फिर भी मुक्ति को ही कलात्मक सर्जन का प्राण मानने की चेष्टा की जाती है। मुक्ति को सर्जन का अन्तिम श्रेय भी माना जाता है। कलास्वरूप शास्त्र (एस्थेटिक्स) में 'मुक्ति' के सिद्धान्त को ठीक न समझने से कई ग़लतफ़हमियाँ दृढमूल हो गई हैं। इसलिए 'मुक्ति' का निषेधात्मक (नेगेटिव) रूप ध्यान में रखना उचित होगा।

कलासर्जन सिर्फ़ मुक्ति नहीं है, इस बात को आज नवसाहित्यकार भी मानते हैं। नवसाहित्यकार 'लेखक की कमिटमेंट' को आज महत्त्व की बात मानते हैं। 'कमिटमेंट' का अर्थ कुछ भी हो, वह मुक्ति नहीं बल्कि बन्धन है। (मराठी नवसाहित्यकारों ने 'कमिटमेंट' का पर्याय शब्द 'बांधिलकी' बनाया है, जिसका सरल अर्थ है 'बन्धन')।

'कमिटमेंट' क्या है? यूरोप के साहित्यकारों ने इस तत्त्व को किस तरह समझा यह बात सोची जा सकती है। लेकिन हमें इस तत्त्व को अपना अर्थ और आशय देना होगा। साहित्यिक अपने-आपको किसी बन्धन से बाँध लेता है। इस बन्धन को हम 'उसका कमिटमेंट' कह सकते हैं। इस प्रकार के बन्धन की कल्पना नयी नहीं है। इसीको प्रतिज्ञा कहा जाता था। भीष्म की प्रतिज्ञा थी कि वे आमरण ब्रह्मचारी रहेंगे। क्षत्रियों की प्रतिज्ञा रहती थी कि वे युद्ध में पीठ न दिखाएँगे। प्राचीन संस्कृति में प्रतिज्ञा-भंग को बड़ा पाप समझा गया था। कुछ प्रतिज्ञाएँ जाति या कुल की परम्परा से व्यक्ति को बाँध देती थीं, कुछ व्यक्ति की स्वयं स्वीकृत प्रतिज्ञाएँ होती थीं।

आज हम कह सकते हैं कि साहित्यकारों को बाँधने वाली 'कलात्मक प्रतिज्ञा' होती है। यह प्रतिज्ञा उनको किसी दर्शन से, सामाजिक सिद्धान्त से, या धार्मिक रूढि से नहीं बाँध देती। इन बाह्य बन्धनों से कलाकार मुक्त होता है। लेकिन फिर भी वह अपनी प्रतिज्ञा से बद्ध होता है। इस प्रतिज्ञा को 'कलात्मक प्रतिज्ञा' कहना उचित होगा।

इस प्रतिज्ञा के बारे में कुछ और कहना आवश्यक है, इसलिए कि 'प्रतिज्ञा' के तत्त्व को विपरीत या ग़लत रूप में माना जा सकता है। कलाकार या साहित्यकार अपनी प्रतिज्ञा से बद्ध होता है, इस सिद्धान्त को लेकर कहा जाता है कि वह अपने मन में जो कुछ भी आता है उसे लिखने को बाध्य है। यह बात खोखली है, और 'निरंकुशता' का तत्त्व ही 'प्रतिज्ञा' के छद्म-रूप में यहाँ माना जाता है। दूसरी तरफ़ कुछ लोग मानते हैं कि 'प्रतिज्ञा' का तत्त्व मानने पर कलाकार के सर्जन-स्वातंत्र्य को मानना ग़लत होगा। लेकिन 'कलात्मक प्रतिज्ञा' का यह अर्थ नहीं होता। सर्जन तो कला का प्राण है, 'प्रतिज्ञा' से इस प्राण को कुछ हानि पहुँचना असंभव है। 'कलात्मक' प्रतिज्ञा का पालन करना सर्जन को पोषक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा।

कलात्मक प्रतिज्ञा का अर्थ सर्जन के सन्दर्भ में ही लेना होगा। प्रत्यक्ष रूप में हम देखेंगे, और महान् कलाकृतियों की महात्मता पर सोचेंगे, तो प्रतीत होगा कि इन कृतियों के कलाकारों ने प्रतिज्ञा का पालन दो तरह से किया :

(१) उन्होंने अपनी जीवन-दृष्टि से बाह्य सृष्टि को या मानवीय जीवन को देखा, और जैसा जो कुछ देखा उसको वैसे ही सामने रखा। अनुभव लेने में और उसे आविष्कृत करने में उन्होंने दूसरों की दृष्टि का, या किन्हीं पारंपरिक, राजनीतिक या नैतिक संस्कारों का, प्रभाव अपने मन पर पड़ने नहीं दिया।

(२) आविष्कार के कार्य में अपने आविष्कार को मूर्त करने के लिए उन्होंने कुछ माध्यम (मीडियम) स्वीकृत किये, और उनसे वे ईमानदार रहे। उदाहरण के लिए, अपने अनुभव को नाटक के रूप में आविष्कृत करने की प्रतिज्ञा करने पर नाटक के नियमों का पालन वे करते रहे। जहाँ पारंपरिक नियम उनको अच्छे न लगे वहाँ उन्होंने नये संकेत बनाये, लेकिन इसमें 'नाटक' के माध्यम को समर्थ करने की कोशिश उन्होंने की।

प्रतिज्ञा के ये दो रूप या पहलू एक ही तत्त्व पर आधारित हैं। कलाकार वंचना नहीं करता, न आत्मवंचना करता है, न 'माध्यम-वंचना' करता है। 'प्रतिज्ञा'-पालन का दूसरा अर्थ क्या हो सकता है?

महान् कलाकारों को छोड़कर हम किसी सामान्य कलाकार को भी लेंगे तो यही प्रतिज्ञापालन की आवश्यकता महसूस होगी। किसी सामान्य लेखक को लीजिये, जो कि मनोरंजक हास्य-विनोद का साहित्य लिख रहा है। व्यक्तियों और समाज के जीवन में जो विचित्र विसंगतियाँ, दम्भ और भ्रष्टताएँ होती हैं उनको वह सामने लाता है। विनोद का स्तर अच्छा हो तो यह साहित्य सभी को दिलचस्प लगता है।

विनोद की दृष्टि रखने वाला यह लेखक अपनी दृष्टि से पूरे जीवन को देखता है, और लिखता जाता है। लेकिन, यह भी कभी-कभी होता है कि वह अपनी दृष्टि को खो बैठता है और दूसरी किसी दृष्टि को अपनाकर क्रोध से या मत्सर से भरा हुआ विनोद करने लगता है, या किसी की चापलूसी करता है। अब उसका साहित्य विनोद के बाह्य वेष में होने पर भी प्रचार-साहित्य बन जाता है। यह उसके लिए असल में 'प्रतिज्ञाभंग' मानना चाहिए।

प्रतिज्ञा-भंग होने की दूसरी संभावना यह होती है कि लेखक अपने लेखन में भाषा के माध्यम को भ्रष्ट करने की ग़लती कर बैठता है। उसकी आत्मा भ्रष्ट नहीं होती और वह अपनी प्रतिज्ञा का पालन मन से करना चाहता है। लेकिन भाषा का उपयोग करने में वह असफल रहता है, और इस तरह अपने कार्य को कर नहीं पाता। यह भी 'प्रतिज्ञा-भंग' ही हो जाता है।

आज के साहित्य में हम देखते हैं कि दोनों प्रकार के 'प्रतिज्ञा-भंग' हो रहे हैं। यह तो जैसे आज होता है वैसे प्राचीन काल में भी होता रहा, और भविष्य में भी होता रहेगा। मनुष्य प्रतिज्ञा करने के लिए समर्थ है लेकिन उसका सफलता से पालन करने के लिए समर्थ नहीं होता। ज्ञान के, नीति के, सामाजिक और राजनीतिक कर्तव्यों के क्षेत्रों में भी प्रतिज्ञापालन इसी तरह होता है। धर्मराज और गांधीजी भी प्रतिज्ञा-पालन में कुछ सीमा तक समर्थ रहे, फिर औरों की बात तो क्या? तो यह बात माननी होगी कि मनुष्य-मात्र की मर्यादा ध्यान में लेते हुए किसी क्षेत्र में पूरा प्रतिज्ञा-पालन नहीं हो सकता।

भय इस मर्यादा में नहीं है, असमर्थता में नहीं है। भय मर्यादा को न पहचानने में है। कलाकार की प्रतिभा 'दिव्य और अलौकिक' होती है, उसे सौंदर्य का पूरा दर्शन हो जाता है, उसका आविष्कार भले ही दूसरों को दुर्बोध लगे, वह परिपूर्ण होता है, इस तरह की धारणाओं से भय है। प्राचीन काल से ये धारणाएँ कलाकारों और उनके समर्थकों ने (रसिकों और समीक्षकों ने) अपनाई हैं। आज कुछ नई धारणाएँ प्रबल हुई हैं। अस्थापना से (ऐस्टेब्लिशमेंट से) विद्रोह, नग्नता, दुर्बोधता—ये नये 'तत्त्व' आज साहित्यकारों में प्रतिष्ठित हो रहे हैं।

इन सब प्राचीन और आधुनिक धारणाओं का भी अपनी-अपनी मर्यादाओं में अर्थ होता है। लेकिन इनकी आंशिक और सामयिक उपयोगिता है, यह बात मानना आवश्यक है। 'दिव्य और अलौकिक' सर्जन करना कलाकार की प्रतिज्ञा नहीं हो सकती, 'नग्नता' भी प्रतिज्ञा नहीं हो सकती। इसी तरह, आज की साहित्यिक चर्चाओं में आने वाले 'तत्त्व' या 'सिद्धांत' आंशिक और सामयिक होते हैं। इनमें से कुछ 'तत्त्व' यूरोप की साहित्य-चर्चाओं से अनायास और अनावश्यक तरीके से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयात (इंपोर्टेड) होते हैं। लेकिन यह बात महत्त्व की नहीं है। अच्छी चीज़ आयात करना लाभदायक क्यों न होगा? पिछले सौ-डेढ़सौ वर्षों में हमने बहुत सारे सिद्धान्त हर क्षेत्र में दूसरों से लिये हैं, तो साहित्य-क्षेत्र में दूसरों से लाभ उठाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। सच बात तो यह है कि आज हम प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र से जो कुछ लेते हैं वह भी 'आयात' ही होता है, इसलिए कि आधुनिक देश-भाषाओं के साहित्य के बारे में वे प्राचीन भारतीय सिद्धान्त काल की दृष्टि से 'बाह्य' होते हैं।

यूरोप के हों या प्राचीन भारतीय हों, सभी साहित्यिक सिद्धान्त अपने देश-काल की मर्यादाओं में पैदा हुए हैं और प्रबल हुए हैं। उनको समझ लेना उचित होगा, लेकिन इनमें से किसी एक सिद्धान्त से सर्जन की प्रक्रिया का मार्ग-दर्शन नहीं हो सकता। सर्जन की प्रक्रिया तो कलाकार को अपने मन से करनी होगी, और उसमें अपनी समस्याओं का उत्तर अपने-आप ही खोजना होगा। साहित्यिक और कलाकार सिर्फ़ इतना ही सोच सकता है कि, मैं अपना एक धर्म, एक प्रतिज्ञा, जानता हूँ। इसलिए 'प्रतिज्ञा' का तत्त्व, मैं समझता हूँ, कलाकार के लिए मार्गदर्शक है। दूसरी सब बातें उसके लिए उपकारक नहीं हैं, बल्कि बाधा डालने वाली हो सकती हैं। और 'प्रतिज्ञा' भी सादी, सरल और नये-पुराने 'तत्त्वों' से न दबी हुई होनी चाहिए। वरना वह 'प्रतिज्ञा' नहीं रहती, वह किसी 'तत्त्व' का, या 'संकेत' का, या 'विद्रोह' का अंधमार्ग हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्रता का स्वरूप

यशदेव शल्य

स्वतन्त्रता के प्रश्न पर अनेक सन्दर्भों में विचार हो सकता है, किन्तु ये सब सन्दर्भ दो वर्ग बनाते हैं—अन्यों की इच्छा के शासन से अनधीनता और अपनी प्रकृति के शासन से अनधीनता। एक प्रकार से, प्रथम प्रकार की स्वतन्त्रता दूसरे प्रकार की स्वतन्त्रता को पूर्वापेक्षित करती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जिसे दूसरे प्रकार की स्वतन्त्रता उपलब्ध है उसे प्रथम प्रकार की स्वतन्त्रता भी उपलब्ध हो। किन्तु यह कहा जा सकता है कि, जिसे दूसरे प्रकार की स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं है उसके लिए प्रथम प्रकार की स्वतन्त्रता का भी कोई अर्थ नहीं है।

दर्शन के लिए समस्या केवल दूसरे वर्ग की स्वतन्त्रता को लेकर ही है, क्योंकि प्रथम वर्ग की स्वतन्त्रता की समस्याएँ या तो व्यावहारिक हैं अथवा दूसरे वर्ग की समस्याओं पर निर्भर करती हैं।

दूसरे वर्ग की समस्याओं का स्रोत एक अनुभूत वस्तुस्थिति का एक मौलिक बौद्धिक कोटि से विरोध है। यह बौद्धिक कोटि है कारण-कार्य सम्बन्ध की—प्रत्येक घटना अथवा अवस्था किसी अन्य घटना अथवा अवस्था का कार्य है। यह जितना भौतिक घटनाओं के लिए सही है उतना ही मानसिक घटनाओं के लिए भी सही है। यद्यपि मानसिक घटनाओं को कारण-कार्यात्मक सन्दर्भ के बजाय प्रयोजनात्मक सन्दर्भ में भी समझा जाता है, किन्तु तात्कालिक सुविधा के लिए हम इसे भी एक अन्य प्रकार का कारण-कार्य सम्बन्ध मान सकते हैं। कारण-कार्य सन्दर्भ में प्रत्येक घटना अन्य घटना का कार्य होने से कोई घटना प्रथम नहीं हो सकती और न उसका अपना कोई तन्त्र ही हो सकता है—उसका कोई परिच्छिन्न स्वरूप नहीं हो सकता। किन्तु हम अपने आन्तर अनुभव में एक परिच्छिन्नता का अनुभव करते हैं, हमें प्रतीत होता है कि क्रिया का कारण 'मेरा' संकल्प है और मेरे संकल्प का अन्य कोई नियोजक नहीं है।

किन्तु इस अनुभूत परिच्छिन्नता का बहुत आसानी से प्रत्याख्यान किया जा सकता है, यह दिखाया जा सकता है कि यह संकल्प किसी प्रयोजन से नियोजित है, प्रयोजन हमारी किसी कामना का पूरक है, कामना किसी अन्य कारण से—शारीरिक से या अन्य कामना से अथवा आवेग से—नियोजित है, और ये किसी अन्य विषय से या उद्दीपन से नियोजित हैं। इस प्रकार से मनुष्य को या ईश्वर को आदि कारण के रूप में प्रतिष्ठित करने के इस प्रकार के प्रयत्न कोई समाधान करते प्रतीत नहीं होते, उनमें एक प्रकार की यादृच्छिकता दिखाई देती है। अरस्तू की इस स्थापना में कि "डण्डा पत्थर को हिलाता है और यह स्वयं हाथ से हिलाया जाता है, और हाथ को मनुष्य हिलाता है" (फ़िज़िक्स, २५६ ए) तथा न्याय द्वारा ईश्वर की जगत् के निमित्त कारण के रूप में कल्पना में और स्वयं उसके निमित्त कारण के रूप में किसी की माँग न करने में ऐसी ही यादृच्छिकता दिखाई देती है। मेरा यह कहना नहीं है कि यह असंभव है कि हाथ को हिलाने वाले मनुष्य को प्रेरित करने वाला कोई नहीं हो, किन्तु यह जिस बौद्धिक कोटि के अन्तर्गत कल्पित है उसी पर यह सीमा लगाता है, जिसका इस कोटि के अन्तर्गत कोई औचित्य नहीं है।

कारणता का निषेध स्वतन्त्रता नहीं अनिर्धारितता देता है—यदि सब घटनाएँ, या कुछ घटनाएँ, अन्य घटनाओं का कार्य नहीं हैं तब वे 'स्वतन्त्र' हैं, ऐसा कहना उचित नहीं है, तब वे अनिर्धारित कही जाएँगी, अर्थात् उनके सम्बन्ध में कोई नियम संभव नहीं होगा, यद्यपि आगमनात्मक अनुमान सम्भव

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के त्रयोदश अधिवेशन में 'स्वतन्त्रता का स्वरूप' गोष्ठी में पठित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा। ह्यूम तथा चार्वाकों की घटनाएँ इसी प्रकार की हैं, आधुनिक अनुभववादियों का भी यही अभिमत है।

यहाँ उन लोगों की भूल भी देखी जा सकती है जो मानव-स्वतन्त्रता को मनुष्य की नकारने की सामर्थ्य में, भविष्य-वाणियों को झुठलाने की उसकी सामर्थ्य में, देखते हैं। उसकी नकारने की सामर्थ्य का स्रोत आवश्यक रूप से उसकी स्वतन्त्रता का सूचक नहीं है, क्योंकि नकारना केवल विशेष उद्दीपनों की विशेष प्रतिक्रिया-मात्र हो सकता है, और न भविष्यवाणियों को झुठलाना ही स्वतन्त्रता का सूचक है, क्योंकि यह हाइज़न्बर्ग के परमाणु भी करते हैं। अनिर्धारितता-वाद की कुछ और भी कठिनाइयाँ हैं। अनिर्धारिततावाद के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल 'मनुष्य' को अनिर्धारित माने और उसके शरीर तथा अन्य विषय-वस्तुओं को निर्धारित माने। क्योंकि यदि शरीर भी अनिर्धारित होगा तब मेरे हाथ उठाने का संकल्प करने पर यह सम्भव होगा कि हाथ नहीं उठे, और डण्डे के लिए कभी यह सम्भव होगा कि वह पत्थर के संसर्ग में नहीं आए, अथवा किसी पत्थर के लिए कभी यह सम्भव होगा कि वह डण्डे से नहीं हिले। उस अवस्था में मनुष्य की स्वतन्त्रता न केवल निष्फल होगी बल्कि वह अकल्पनीय भी होगी, क्योंकि कोई नियम नहीं होगा जिसे यह स्वतन्त्रता नकारेगी। पुनः, यदि नकारने की सामर्थ्य केवल अनिर्धारितता है तब स्वयं संकल्प भी कर्ता के वश में नहीं होगा। इसलिए स्वतन्त्रता के प्रश्न को कारणता और अकारितता के सन्दर्भ में देखना ही अनुचित है।

× × ×

मैं अपनी ज्ञानमीमांसा में घटनाओं, वस्तुओं तथा अर्थों को चैतन्य की विभिन्न वृत्तियों के रूप में कल्पित करता हूँ।[1] किन्तु, इस ज्ञानमीमांसा के अनुसार, चैतन्य का अपना कोई स्वरूप नहीं है, उसका स्वरूप वृत्तियों के स्वरूप में ही परि-लक्षित होता है अथवा, तात्त्विक पदावली में कहें तो, 'चैतन्य' 'वृत्ति' का ही एक विश्लिष्ट पक्ष है, अथवा कहें, 'वृत्ति-प्रत्यय' 'चैतन्य-प्रत्यय' का समावेशी है। हमारे लिए 'वृत्ति' और 'विषय' पद पूर्णतः समानार्थी हैं। इस प्रकार से, चैतन्य विषय का आकार है, यदि हमें गलत नहीं समझा जाय तो हम कहेंगे तार्किक आकार है। 'तार्किक आकार' कहने से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि विषयों के स्वरूप का निर्धारण तार्किक बुद्धि से होता है, बल्कि यह कि विषयों के आकार को बुद्धि ही उनसे विश्लिष्ट करती है। ये विश्लिष्ट आकार विभिन्न कोटियाँ बनाते हैं। 'बुद्धि' स्वयं एक विश्लिष्ट आकार की संज्ञा ही है और परिणामतः वृत्तियों अथवा विषयों की एक कोटि है। इसी प्रकार से 'मनुष्य' और 'पशु' भी विश्लेषणात्मक कल्पनाएँ हैं, अथवा कहें, तार्किक कोटियाँ हैं। इस प्रकार से 'आहार, निद्रा, भय, मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्' का हमारी पदावली में अनुवाद होगा, 'इन कोटियों के विषय पाशव विषय हैं, थोड़ी और विश्लेषणात्मक पदावली में कहा जाय तो—जब चैतन्य इन कोटियों के विषयों में अधिष्ठित होता है तब वह पाशव-चैतन्य होता है। मानव-चैतन्य की वृत्तियाँ संरचनात्मक अर्थ-मूलक होती हैं।

कारणता, जिसे वस्तु-विश्व के, अथवा सम्पूर्ण प्रतिभास के ही, स्वभाव के रूप में कल्पित किया जाता है, स्वयं संरचनात्मक अर्थमूलक एक कोटि है। यह कोटि एक प्रकार के विषयों का निर्माण करती है। विषयों के अनेक अवधारण-प्रकार हैं, और इन अन्य, अर्थात् कारण-कार्येतर अवधारण-प्रकारों के अन्तर्गत विषय निर्धारित या अनिर्धारित नहीं होते। इन अन्य प्रकार के विषयों को प्रतीकात्मक या संरचनात्मक विषयक कहा जा सकता है। विज्ञान, गणित, भाषा, संगीत, चित्रकला आदि ये सब इसी प्रकार के विषय हैं। स्वयं कारणता भी इसी प्रकार का विषय है, क्योंकि यह संरचनात्मक व्यापार है जो उन विषयों को धारण करता है जिन्हें हम कारण-शृंखलाबद्ध देखते हैं। इस प्रकार से, मेरे हाथ का हिलना कारण-नियम-शासित है, मेरी इच्छाएँ भी कारण-नियम शासित हैं, किन्तु इनको इन नियमों में शासित देखने वाला मैं इस नियम से शासित नहीं हूँ, क्योंकि यह नियम स्वतः कारण-कार्यात्मक नहीं है। यही गणित के लिए या संगीत के लिए भी सही है—वे कारण-कार्यात्मक नियम-शासित नहीं हैं।

संरचनात्मक अर्थ के विषयों में एक अनिवार्यता रहती है—इनमें एक स्थिति, घटना या समग्र का आकार संरचना के नियम की अनिवार्यता को धारण किए रहता है, किन्तु यह अनिवार्यता नियोजनात्मक नहीं होती। उदाहरणतः, यदि ख क का कार्य है तो क में ख के सम्बन्ध में नियोजनात्मक शक्ति है, यदि पत्थर को डण्डे की धकेल हिला सकती है तो डण्डे की धकेल पत्थर के हिलने को नियोजित करती है, यदि मलेरिया के कीटाणु शरीर में ज्वर उत्पन्न करते हैं तब ज्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनसे नियोजित होता है, यदि मेरा अवसर-विशेष पर क्रुद्ध होना विशेष उद्दीपनों-जन्य शरीर-क्रिया का व्यापार है तो वे मेरे क्रुद्ध होने को नियोजित करती हैं। कुछ लोगों को 'नियोजन' शब्द पर आपत्ति होगी, मेरा उसके लिए कोई आग्रह नहीं है, यद्यपि 'निर्धारित' शब्द में यह शब्द निहित है। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि क ख के 'घटित होने' को उस प्रकार से अनिवार्य करता है जिस प्रकार से '२+२'='४' को नहीं करता है, अथवा जैसे भारतीय संगीत भैरवी राग के होने को अनिवार्य नहीं करता है, यद्यपि इनके घटित होने के लिए यह अनिवार्य है कि एक संरचनात्मक संस्थान (गणित का, भारतीय संगीत का, राग भैरवी का) विद्यमान हो।

संरचनात्मक अर्थ की विशेषता उसके वास्तव और आदर्श रूपों में तनाव होने में है। प्रत्येक संरचनात्मक अर्थ एक आत्यन्तिक समंजसता और आत्यन्तिक व्यापकता को आक्षिप्त करता है, जिसे व्यवहार में हम न्यूनाधिक ही सिद्ध कर पाते हैं। "आर्केस्ट्रा में एक समंजस एकत्व रहता है, किन्तु जबकि आत्यन्तिक समंजसता आर्केस्ट्रा की आत्मा है, व्यवहार में आत्यन्तिक समंजसता केवल एक आदर्श है जिसे चरितार्थ करने का प्रयत्न आर्केस्ट्रा का संयोजक कलाकार जीवन-भर करता है। यह उतना ही सही तान और नृत्य के लिए भी है—कलाकार की साधना कभी पूर्ण नहीं होती। किन्तु तब भी, पूर्ण समंजसता तान, नृत्य और आर्केस्ट्रा की आत्मा है, यह इनके जन्म के साथ ही उपजती है, यह केवल अभिव्यक्ति के प्रयत्न में, अपने चरितार्थन की प्रक्रिया में, अनुपलब्ध रहती है। यही बात सिद्धान्त के लिए भी कही जा सकती है। सिद्धान्त की आत्मा उसकी तार्किक समंजसता में और आत्यन्तिक व्यापकता में है, इसके लिए यह स्वाभाविक है कि इसका जन्म आत्यन्तिक सामंजस्य और सर्वविष्टिता के साथ हो, किन्तु इसकी यह निहित समंजसता और सर्वविष्टिता अपने चरितार्थन की प्रक्रिया में केवल अपूर्णतः ही उपलब्ध होती है। इस प्रकार से, जबकि मूल में पूर्ण समंजसता और सर्वविष्टिता इनका स्वभाव है, अभिव्यक्ति में यह केवल पार्यन्तिक कल्पना है, जिसके हम समीप से समीपतर पहुँच सकते हैं, किन्तु जिसे हम प्राप्त नहीं कर सकते।[२] संरचनात्मक अर्थों के आदर्श रूप की यह अचरितार्थ सत्ता अपने अन्तर्गत सब प्रयत्नों, कल्पनाओं या अवधारणाओं को एक अनिवार्यता देती है, क्योंकि इनके अन्तर्गत सब प्रयत्न इनके आदर्श रूप का अनुसरण किये बिना अप्रतिष्ठित रहते हैं, किन्तु यह अनिवार्यता बाध्यतापरक नहीं है—कोई तर्क में वदतोव्याघात कर सकता है, कोई बेसुरा गा सकता है, कोई गलत गुणा-भाग कर सकता है—और वास्तव में इस आदर्श के पार्यन्तिक होने का अर्थ ही है कि हम सदैव न्यूनाधिक बेसुरा गाते हैं, हम सदैव वदतोव्याघात की सम्भावना के साथ तर्क करते हैं, अनेक मानव-सन्ततियाँ इस पूर्णता की ओर निरन्तर प्रयत्नरत रहकर भी अपनी अपूर्णता के बोध से विकल रहती हैं।

मनुष्य की वास्तविक स्वतन्त्रता का स्रोत यह रचनात्मक अर्थ ही है, क्योंकि यह मनुष्य को स्वत्व के लिए अपेक्षित 'तन्त्रमयता' देता है। वास्तव में तन्त्रमयता 'स्वत्व' की पूर्वापेक्षा है, क्योंकि अन्यथा 'स्वत्व' के लिए अपेक्षित एकत्व असम्भव होगा। यह एकत्व कारण-शृंखला या उसका निषेध दोनों ही नहीं दे सकते, क्योंकि कारण-शृंखला घटनाओं का कारण-घटनाओं में अन्तर्भाव कर देती है और कारण-शृंखला का निषेध घटना अथवा वस्तुस्थिति को स्वभाव-हीन बना देता है। इसीलिए न पत्थर स्वतन्त्र है, न पशु और न हाइज़ेन्बर्ग के परमाणु।

किन्तु संरचनात्मक अर्थ स्वतन्त्रता दे सकता है यह स्वतः 'व्यक्ति' को देने के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इसकी अन्तर्वस्तु (कांटेंट) सार्वभौमिक होती है। गणित अथवा उसकी कोई प्रतिपत्ति, भारतीय शास्त्रीय संगीत अथवा राग, मल्हार, अथवा उसका कोई स्वर-संयोजन सार्वभौम हैं—ये देश-काल-व्यक्ति निरपेक्ष हैं, व्यक्ति इनमें भाग ले सकते हैं, ये किसी व्यक्ति में अद्वितीयतः भाग नहीं लेते। इस प्रकार से, जब ये चैतन्य की वृत्ति के रूप में प्राप्त होते हैं तब चैतन्य स्वतन्त्र तो होता है किन्तु यह वृत्ति उसे वैयक्तिकता अथवा वैयक्तिक स्वत्व, नहीं देती, यह उसे सर्वस्व देती है, यह उसे एक या दूसरे ब्रह्म में लीन करती है—गणित-ब्रह्म में या नाद-ब्रह्म में।

स्वत्व के अधिष्ठान के लिए एक ऐसे अनुभूत एकत्व की अपेक्षा होती है जिसके अक्ष पर विभिन्न अनुभूतियाँ और अर्थ अरों के समान अवस्थित हो सकें, अथवा जो विभिन्न अनुभूतियों और अर्थों में प्रविष्ट होकर उन्हें अद्वितीय संस्थान अथवा आकृति दे सकता हो। संस्कृतियों में ऐसे एकत्व की अन्तर्वस्तु एक सर्व-संयोजक जीवन-दर्शन होता है,[३] जैसे भारतीय संस्कृति का ब्रह्म था और आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भौतिक विज्ञान है।

किन्तु व्यक्ति के अनुभूत एकत्व की अन्तर्वस्तु क्या है? एक उत्तर हो सकता है—अभिमान, जो स्मृतियों और अपेक्षाओं से, तथा इन स्मृतियों और अपेक्षाओं के अधिष्ठाता होने के बोध से, घटित होता है। (इस तीसरे घटक के बिना शरीर भी व्यक्तित्व के पद का दावा कर सकता है।) किन्तु यह अभिमान, यदि स्मृतियाँ केवल इच्छा और प्रत्यक्षमूलक ही हैं, व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि स्मृतियों, प्रत्यक्षों और अपेक्षाओं का अधिष्ठातृत्व उसे शरीराधिष्ठित करता है, अर्थात् इस अभिमान का अधिष्ठान शरीर-वृत्ति होता है, इसमें अधिष्ठाता शरीर से अपना अभेद-स्थापन करता है। परिणामतः यह अभिमान कारण-कार्यात्मक होता है। अधिकांश व्यक्ति, और अधिकांश में सब व्यक्तियों का स्वरूप या स्वत्व कारण-कार्यात्मक ही होता है और अतएव उन अवस्थाओं में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं होता।

व्यक्ति उस समय स्वतन्त्र होता है, अथवा व्यक्ति का स्वातन्त्र्य उस अवस्था में उपलब्ध होता है, जब चैतन्य ऐसी अभिमान-वृत्ति में अधिष्ठित होता है जो कारण-कार्यात्मक संदर्भान्तर्गत नहीं है, जो संरचनात्मक अर्थ के अन्तर्गत है। यह अभिमान चैतन्य को शरीर-वृत्ति में स्थित नहीं करता। यह उसे कारण-कार्य-बाह्य व्यवस्था में अधिष्ठित करता है। इस संरचनात्मक अर्थ की व्यवस्था में अभिमान वास्तव कर्तृत्व प्राप्त करता है, क्योंकि यहाँ वह अर्थों के सर्जन की प्रक्रिया में, अथवा कहें उनके वास्तवीकरण की प्रक्रिया में, अपना साक्षात् करता है। तर्क या दर्शन अथवा विज्ञान की किसी समस्या का समाधान और कुछ नहीं है सिवाय पूर्ण विज्ञान, पूर्ण दर्शन आदि की दिशा में अग्रसरता के। संरचनात्मक अर्थों के बिना कर्तृत्व की सम्भावना नहीं हो सकती और कर्तृत्व के बिना संरचनात्मक अर्थ असम्भव हैं, ये परस्परानुषंगी हैं। इस प्रकार से, संरचनात्मक अर्थ सार्वभौमिक होते हुए भी कर्तृत्वाभिमान पर, व्यक्ति पर, (अथवा संस्कृति पर), अपने अस्तित्व के लिए निर्भर करते हैं। इस प्रकार से, व्यक्ति करणीय अर्थों में और अर्थ कर्त्ता व्यक्ति में जन्म लेते हैं।

संरचनात्मक अर्थों की सार्वभौमता व्यक्ति को देश-काल निरपेक्ष बनाती है, यद्यपि वास्तवीकरण अथवा कर्म काल को पूर्वापेक्षित करते हैं। वास्तवीकरण एक निरन्तर प्रक्रिया है जो व्यक्ति को जन्मान्तरों में ले जाती है और संस्कृतियों में परम्पराओं को जन्म देती है। किन्तु कर्तृत्वाभिमान की समृद्धि पर कोई मर्यादा नहीं लगाई जा सकती, यह कितना भी समृद्ध हो सकता है और कितना भी निर्धन हो सकता है। यह बुद्ध और वाल्मीकि की समृद्धि में एक ओर, और संततियों द्वारा रचित महाभारत तथा बौद्ध-मूर्तिकला में दूसरी ओर, देखा जा सकता है।

अभिमान के उपरोक्त निरूपण से स्पष्ट है कि यह संस्कृति और व्यक्ति की सामान्य विशेषता है। मेरे विचार में, व्यक्ति और संस्कृति में इस दृष्टि से कोई मौलिक अन्तर नहीं होता। यह अन्तर केवल एक में संवेदन होने तथा दूसरे में नहीं होने में है। इस प्रकार से व्यक्तित्व में संवेदन एक अनिवार्य घटक हो जाता है, किन्तु जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, यह अत्यन्त क्षुद्र घटक है।

× × ×

कर्तृत्व का उपरोक्त विवेचन 'व्यक्ति के स्वतन्त्र निर्णय' के प्रत्यय की भी उचित व्याख्या करता है, और इसे, इस निर्णय को, व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखता है। 'स्वतन्त्र' निर्णय को नैतिक कर्म के सन्दर्भ में देखा गया है, अर्थात् कर्म के औचित्य-अनौचित्य के सन्दर्भ में। क्योंकि यदि कर्ता स्वतन्त्र है तभी उसके कर्म को उचित या अनुचित कहा जा सकता है। इस प्रकार से, 'क का कर्म र उचित है' का अर्थ है 'क ने अपने स्वतन्त्र निर्णय से यह कर्म किया।' यह सही है, किन्तु यहाँ 'स्वतन्त्रता' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। मेरे विचार में, 'स्वतन्त्रता' का सर्वस्वीकृत अर्थ यहाँ होगा इच्छाओं, वासनाओं, संस्कारों आदि से ऊपर उठकर विशुद्ध विवेकपूर्वक निर्णय। किन्तु तब क को 'अनुचित' कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि 'अनुचित' कर्म केवल वह होगा जो व्यक्ति वासनाओं आदि की अधीनता में करेगा। किन्तु वासनाओं आदि के अधीन कर्म करता हुआ व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता और परिणामतः उत्तरदायी भी नहीं कहा जा सकता। ग़लत विवेक को 'अनुचित' नहीं कहा जा सकता, उसे भ्रान्त कहा जा सकता है। सम्भवतः 'अनुचित' कर्म उस व्यक्ति के कर्म को कहा जाएगा जो उचित करने में समर्थ हो, जो विवेक कर सकने पर भी वासनाओं का अनुसरण करता हो। जो भी हो, यहाँ कठिनाई स्पष्ट है—विवेक की केवल सामर्थ्य स्वतन्त्रता नहीं है—यह कहने वाले दुर्योधन को कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

,जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति, जानामि पापं न च मे निवृत्ति' स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

किन्तु यह कठिनाई 'उत्तरदायित्व' को बाहर से आँकने पर जैसी रहती है वैसी स्वयं कर्ता की ओर से आँकने पर नहीं रहती—नैतिक कर्तृत्व व्यक्ति की अपनी प्रतिमा के अर्थ का अनुसरण करने अथवा उससे भ्रष्ट होने में है[४]—विवेक का अनुसरण न कर पाना मुझे मेरी असामर्थ्य दिखाता है और परिणामतः ग्लानि उत्पन्न करता है। यह असामर्थ्य व्यक्ति में किसी नैसर्गिक न्यूनतामूलक नहीं होती–मेरा उत्कृष्ट नहीं गा सकना मुझमें ग्लानि उत्पन्न नहीं करेगा, खेद उत्पन्न कर सकता है, ग्लानि कर्तृत्व में भ्रष्ट होने से उत्पन्न होती है, जो कर्तृत्व स्वयं मेरी प्रतिमा के सर्जन में प्रतिफलित होता है। इस प्रकार से, सत्य बोलने में मेरा इस कारण से संकोच कि इसके परिणाम मेरे परिवार के लिए घातक होंगे, मुझमें इसलिए ग्लानि उत्पन्न करेगा क्योंकि मैं अपने में इतना साहस नहीं बटोर पाया। इसी प्रकार से, मेरे संगीताभ्यास में इसलिए शिथिलता रहना कि मैं अपने-आपको सामान्य मनोविनोद से नहीं रोक सका, मुझमें ग्लानि उत्पन्न करेगा। दोनों का अनौचित्य एक ही प्रकार का है, एक ही स्तर का चाहे नहीं हो। स्तर का यह अन्तर परीक्षा के महत्व से आता है।

व्यक्ति की अपनी प्रतिमा कर्तृत्वाभिमान के आत्म-साक्षात्कार में उपलब्ध होती है। कर्तृत्वाभिमान के आत्म-साक्षात्कार का अर्थ कर्मों के अधिष्ठाता के रूप में अपने अर्थ की परिपृच्छा है। इसके संरचनात्मक अर्थ होने से इसमें पुनः आदर्श पूर्णता और वास्तव अपूर्णता का तनाव रहता है। किन्तु यह तनाव हमारी सम्पूर्ण सत्ता को आवेष्टित करता है, क्योंकि यहाँ समग्र कर्मों का अनुशासन अभिप्रेत होता है। किन्तु यहाँ एक अन्य कठिनाई उपस्थित होती है—'अपने कर्मों' का क्या अर्थ है? क्या वे सब कर्म 'मेरे कर्म' हैं जिनके साथ 'मेरी अभिमान वृत्ति' संयुक्त है? किन्तु अभिमान वृत्ति उन कर्मों के साथ भी संयुक्त होती है जिनका अधिष्ठातृत्व मुझे प्राप्त नहीं है—स्वप्न इसका स्पष्टतम उदाहरण है, वे अन्य कर्म दूसरे उदाहरण हैं जिनमें मैं अपनी प्रतिमा से भ्रष्ट होता हूँ। यदि ये 'मेरे' ही कर्म हैं तब 'मेरी' स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है? क्या मैं अपनी प्रतिभा हूँ या कि वह सम्पूर्ण हूँ जिसमें तथाकथित भ्रष्ट कर्मों का भी समावेश है।

इस कठिनाई का समाधान सहज नहीं है, किन्तु यह उसी दिशा में मिल सकता है जिसमें अन्य संरचनात्मक विषयों के वास्तव और आदर्श रूपों में अन्तर का। मेरी प्रतिमा से भ्रष्ट कर्म उसी प्रकार से मेरी वास्तव सत्ता के अंग होते हैं जिस प्रकार से किसी गाये जा रहे राग के विसंवादी स्वर—विसंवादी स्वर राग के अंग नहीं होते, किन्तु **गीत राग** के वे अंग होते हैं। ठीक यही स्थिति अननुशासित, प्रतिमा-भ्रष्ट, कर्मों की है, ये 'मेरे' होते हैं और नहीं भी होते—मैं अपना स्वरूप इनको संवादी बनाकर प्राप्त करता हूँ। इस आत्यन्तिक संवादिता में ही मानव-कर्म की और निर्णय की स्वतन्त्रता निहित है, जो वास्तव में अपूर्णतः ही उपलब्ध रहती है।

—'दार्शनिक' त्रैमासिक के सौजन्य से

पाद-टिप्पणियाँ

१. यशदेव शल्य—ज्ञान और सत्, प्रवेश तथा अ. राजकमल, १९६७।

२. यशदेव शल्य—संस्कृति का अधिष्ठान, तत्त्वचिन्तन, वर्ष १, अंक १, १९६८।

३. वही।

४. यशदेव शल्य—नैतिक मूल्य, आलोचना त्रैमासिक, जून १९६८, तथा दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई १९६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़िंदगी के शिखरों से

ऑत्तिला योझ़ेफ़

ऑत्तिलॉ योझ़ेफ़ (१९०५-१९३७) : बीसवीं सदी की मॉजॉर (हंगेरियन) कविता के प्रमुख कवियों में से एक। परवर्तियों पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव। ग़रीबी, प्रेम, व्यक्ति-समाज और व्यष्टि-समष्टि के अन्तर्द्वन्द्वों से उद्भूत भीषण तनाव में बिताये गये ३२ वर्षों की परिणति पागलपन में। रेल से कटकर आत्महत्या। फ्रांस में उनकी कविताओं के अनुवाद अत्यन्त सम्मानित।

(१)

मैं
यहाँ मैं बैठा हूँ चमकती दीवार पर।
हल्की युवा ग्रीष्म-हवा
उठती है सांध्य-भोज के सुखद स्वागत की तरह।

हृदय को करता हूँ चुप्पी का अभ्यस्त :
दुष्कर नहीं।
यहाँ
फिर मैं पा जाता हूँ जो मैंने खोया था,
सिर झुकाता हूँ,
हाथ लटक जाता है।

मेरी आँखें हैं पहाड़ों की आयाल पर—
तुम्हारी दीप्त भवें,
हर पत्ती आग पर।
सड़क पर—कोई नहीं, कोई नहीं;
देखता हूँ हवा से उठी तुम्हारी स्कर्ट।
तुम्हारे केश बिखरे हैं महीन पत्तियों तले,
देखता हूँ तुम्हारे नरम उरोज
थरथराते हुए—
जैसे सिनवा झरना बहता है—
ओह क्या देखता हूँ मैं :
एक जादुई हँसी
चमकती हुई तुम्हारे दाँतों पर,
गोल सफ़ेद पत्थरों पर।

(२)

ओह किस क़दर मैं प्यार करता हूँ तुम्हें !
तुम मुखरित कर सकी हो
ब्रह्माण्ड—

और सूनापन, हृदय के अन्तस्तल में
बुनता हुआ अपने चपल छलावे।

अब, जैसे प्रपात को छोड़ जाती है अनुगूंज,
तुम छोड़ रही हो, तुम भाग रही हो पराजित,
जब तक
चीख़ता नहीं मैं ज़िन्दगी के शिखरों से,
गाता नहीं धरती और स्वर्ग के बीच लटके
क्षितिजों से,
कि मैं प्यार करता हूँ तुम्हें कि वह तुम हो,
प्रिय और पीड़ित जीव, जिसे मैं प्यार करता हूँ।

(३)

मैं प्यार करता हूँ तुम्हें जैसे बच्चा अपनी माँ को
प्यार करता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे ख़ामोश गुफा अपनी गहराइयों को प्यार
करती है,
मैं प्यार करता हूँ तुम्हें जैसे कमरे सूर्य की रोशनी
को प्यार करते हैं;
जैसे आतमा प्यार करती है उष्णता को और शरीर
आराम को।
जैसे मृत्यु-धर्मी मनुष्य प्यार करता है जीने को
और कसमसाता है उसकी भुजाओं में मृत्यु-द्वार तक।
मैं प्रहरी हूँ तुम्हारे शब्दों, तुम्हारी मुस्कानों,
तुम्हारी हलचलों का—हर वस्तु का, जैसे धरती
देखती रहती है वह सब जो गिरता है।
अपने मन में, जैसे धातु पर अम्ल से,
उकेर लिया है तुम्हें मैंने अपने संवेदनों से, मेरी प्रिय,
तुम्हारे अनमोल सत्त्व से हूँ मैं
संपूर्ण।

शोर मचाते हुए गुज़र जाते हैं क्षण :
मूक रहती हो तुम, मूक, और मेरे
कान हैं सिर्फ़ तुम्हारे लिए।
जगमगाते हुए तारे—वे डूबते जा रहे हैं,
पर तुम हो सदा अडिग मेरी दृष्टि में।
गुफा में चुप्पी की साँस : तुम्हारी सुरभि
सर्द कर देती है पतंग; अक्सर तुम्हारा
नाज़ुक तन्तुमय हाथ झुकेगा
पानी के ग्लास के गिर्द धुंध रचता हुआ।

(४)

ओह मगर मैं निर्मित हूँ किस तत्व से,
तुम्हारे ऋजुतम दृष्टिपात से ढलता और रूप लेता ?
कैसा मस्तिष्क, कैसा प्रकाश और चमत्कार
जिससे पहुँच सकूँ मैं
तुम्हारी उर्वर देह की सौम्य घाटियों में,
नकुछपन के कोहरे से गुज़रता हुआ ?
जैसे शब्द मुक्त होता है बुद्धि से,
मैं पैठ सकूँ उसकी गुत्थियों में !…

तुम्हारी शिराएँ थरथराती हैं झाड़ियों की तरह,
निरन्तर, गुलाबों की झाड़ियाँ।
वे घूमती हैं सनातन प्रवाह में
सँवारने प्यार तुम्हारे चेहरे में
और वहन करने उदर में उसका फल।
उत्कृष्टतम जड़ों से रोपी गयी हैं
संवेद्य मिट्टी तुम्हारे जिस्म की,
वह रचती और तोड़ती हैं ग्रन्थियाँ बारीक रेशों की,
जिससे, लघु कोशिकाओं के रस
संपुंजित हो जायँ एक वर्धमान पिण्ड में,
और फेफड़ों की पत्तीदार झाड़ी
गुनगुना उठे उसका यश !

और गहरा अमर्त्य द्रव्य बढ़ता है
उसकी दीर्घाओं में गाता हुआ और ऐश्वर्यमंडित
जीवन फूटता है
अजस्र स्रोतों से, जलते हुए गुर्दे के
उद्दाम गह्वर-प्रवाहों से।

तुममें, उभरती हैं पहाड़ियाँ,
नक्षत्र झिलमिलाते हैं,
झीलें लहराती हैं, और कारख़ाने चलते हैं :
लाखों जीव, क्षिप्र
कीट-पतंग,
शैवाल,
निर्ममता और सौहार्द;
जगमगाते हैं सूर्य, उषाएँ पड़ जाती हैं स्याह—
यहाँ, तुम्हारे विराट् सत्त्व में,
सनातन अचेतन भटकता है।

(५)

चीथड़ों में, ख़ून के थक्कों की तरह,
ये शब्द
डाल दिये गये हैं तुम्हारे पथ पर।
अस्तित्व लड़खड़ाता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल क़ानून की आवाज़ साफ़ है।
मेरी सजग संज्ञा, दिनानुदिन पुनर्जात,
तैयार हैं इस समय भी
चुप्पी के लिए।

लेकिन अब तक हर वस्तु चीख़ती है ज़ोर-ज़ोर से—
दो सौ करोड़ में से चुनी गयी,
एकमात्र तुम, जीवित शैया तुम,
सुखावह झूला तुम, भयावह समाधि तुम;

अपने भीतर मैं—अपने भीतर—मैं
याचना करता हूँ—मुझे ग्रहण करो।

(भोर का आकाश कितना गहरा
फ़ौलाद के प्रकाश में चमकती हैं सेनाएँ।
चौंध से दुखती है मेरी आँख।
मैं खो गया हूँ, मैं यह महसूस करता हूँ।
निश्चय ही टूट जाना चाहिए मेरा हृदय,
प्रकाश में धड़कते हुए।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

रंगदर्शन : एक विवेचन

वीरेन्द्र नारायण

रंगमंच से सम्बन्ध रखने वाली लगभग ढाई सौ पृष्ठों की किताब का सुरुचिपूर्ण प्रकाशन, हिन्दी में, अपने-आपमें एक महत्त्वपूर्ण घटना है। वैसे प्राध्यापकीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर मोटी किताबें पहले भी प्रकाशित होती रही हैं। इस किताब से इसलिए भी प्रसन्नता है कि यह रंगमंच से गहरी दिलचस्पी रखने वाले विचारक की दो-टूक अभिव्यक्ति है जिसके पीछे रंगमंच को सुधारने और आगे बढ़ाने की स्पष्ट भावना है।

पुस्तक के कई अध्याय हैं जिनको एक सूत्र में बाँधने का प्रयास प्राक्कथन में किया गया है। उनका तारतम्य बिठाना मेरे लिए कुछ मुश्किल पड़ गया है इसलिए अध्यायों की अलग-अलग चर्चा ही युक्तिसंगत लगती है।

प्रारंभ : हमारे सांस्कृतिक जीवन में नाटक का जो स्थान है वही इस अध्याय का प्रतिपाद्य है। लेखक ने यह बड़े कौशल से सिद्ध किया है कि नाटक ही ऐसी सार्वजनिक अभिव्यक्ति है जिसमें लेखक से लेकर दर्शक तक रससिक्त होते हैं और इसके लिए आधुनिक सिद्धान्तों से लेकर नाट्यशास्त्र तक की चर्चा की गई है। जहाँ जिस सहज ऐतिहासिक तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाना अनिवार्य था वह यह था कि दृश्यात्मक मनोरंजन के अन्य आधुनिक साधनों के बावजूद नाटक आज भी जीवित है इसलिए इसमें निश्चय ही वे तत्त्व हैं जो अन्य प्रदर्शनों में दर्शक को उपलब्ध नहीं होते।

नाटक का अध्ययन : साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक का अध्ययन जिस विशेष दृष्टिकोण की माँग करता है उसका अच्छा निरूपण है। यदि इस पर ध्यान दिया जाए तो बहुत सारी रचनाएँ कथोपकथन के रूप में नाटक की संज्ञा की अधिकारिणी बनकर छप जाया करती हैं उन्हें यह कष्ट न उठाना पड़े। लेकिन इस प्रसंग में युग की सीमाओं और नाटककार की प्रतिभा के सम्बन्ध में कई भ्रामक संकेत आ गये हैं। दरअसल नाट्य-लेखन और प्रदर्शन जैसी जटिल सृजनात्मक प्रक्रिया को किसी चौखटे में बाँध देना ही भ्रम का कारण बन सकता है। ऐसे नाटककारों की कमी नहीं जिन्होंने अपने दर्शक-वर्ग से ऊपर उठकर नाट्य-रचना की है और मृत्यु के बहुत बाद उनकी रचनाओं का आदर हुआ है। महान् कलाकार युग से सम्बद्ध तो रहता है पर उससे सीमित नहीं।

नाटक की रचना-प्रक्रिया और अभिनेयता स्वाभाविक रूप से सामने आता है। साहित्य की अन्य विधाओं की तरह इस पर भी उन सभी कलात्मक मूल्यों को लागू करना ही चाहिए। इस सहज तथ्य की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता कि नाटक भी एक प्रकार का काव्य ही है। दृश्यत्व के कारण इसकी सीमाएँ और सम्भावनाएँ दूसरी हो जाती हैं।

इस सम्बन्ध में एक चर्चा अनिवार्य थी कि लेखक, निर्देशक, रंगकर्मी और दर्शक की उपलब्धियाँ अलग-अलग होती हैं और यह ज़रूरी नहीं कि दर्शक लेखक के दृष्टिकोण को अपना ले। महत्त्व इस बात का है कि दर्शक लेखक और निर्देशक के दृष्टिकोण तथा कथ्य को समझे और सहानुभूतिपूर्वक समझे।

नाट्य-प्रदर्शन के तत्त्व—दो धरातलों पर बिखर गया है। कुछ हद तक तो सैद्धान्तिक चर्चा है और उसके बाद व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया गया है। दोनों का तारतम्य बिठाना कठिन लगता है। जहाँ-तहाँ प्रचार की बू आती है। उदाहरण के लिए इब्राहीम अल्काजी द्वारा प्रस्तुत कुछ नाटकों की चर्चा की गई है, कलकत्ता की अनामिका के प्रदर्शनों का नाम गिनाया गया है। व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह

रंग-दर्शन : लेखक—नेमिचन्द्र जैन, प्रकाशक—अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य बीस रुपए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता हूँ कि निर्देशन के क्षेत्र में जैसे साहसिक और मौलिक प्रयोग हबीब तनवीर ने किए हैं, उनकी चर्चा निश्चय ही की जानी चाहिए थी। मेरा तो यह विश्वास है कि नाट्य-प्रदर्शन के क्षेत्र में इब्राहीम अल्काजी और तापस सेन (प्रकाश व्यवस्थाकार) की उपलब्धियाँ एक ही स्तर की हैं। एक की सफलता दृश्यबन्ध में निहित है और दूसरे की प्रकाश-व्यवस्था में। किसी नाटक को मौलिक दृष्टिकोण से देखने का साहस, निर्देशक की हैसियत से हबीब तनवीर ने निश्चय ही किया है।

इसी प्रकार दिखावटी और यान्त्रिक सज्जा के मोह पर पहला आघात इप्टा ने नहीं किया था। बल्कि इस दिशा में पहला प्रयास रवीन्द्रनाथ का था और शान्तिनिकेतन तथा कलकत्ते के कई प्रदर्शनों में वह स्वयं उपस्थित थे। तथ्य तो यह है कि साधनहीनता के कारण इप्टा को यह रास्ता अपनाना पड़ा जबकि कलात्मक अभिव्यक्ति की मान्यताओं ने रवीन्द्रनाथ को यह रास्ता दिखाया था।

अभिनय और नाटकघर वाला अंश साप्ताहिक पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख के स्तर पर उतर आया है। नाटकघर के प्रश्न पर और गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है क्योंकि नाट्य-प्रदर्शन की शैलियाँ इतनी विभिन्न हैं (विशेषकर इस देश की लोक-नाट्य-परम्परा को ध्यान में रखने पर) कि किसी एक प्रकार की प्रदर्शन-शैली के अनुकूल नाटकघर बनाने की दलील देकर हम वही ग़लती करेंगे जो रवीन्द्र रंगमंच के बनाने वालों ने की है।

संस्कृत और पश्चिमी नाटकों का प्रदर्शन, लोक-नाट्य तथा नाट्य-प्रदर्शन के कुछ विशिष्ट प्रकार का तारतम्य बिठाना कठिन जान पड़ता है। यदि इन अध्यायों में लेखक ने पिछले दिनों के प्रदर्शनों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है तो उसकी संगति समझ में नहीं आई। नाटक के आस्वादन की चर्चा चल रही थी, पाठक अच्छे नाटक और नाट्य-प्रदर्शन से परिचय प्राप्त कर रहा था और सहसा यह आलोचना! फिर यह है भी बहुत अपूर्ण और अधूरा। न तो यह हिन्दी क्षेत्र तक ही सीमित है और न सारा देश ही इसकी परिधि में है।

यदि प्रदर्शन की शैलियों का सैद्धान्तिक विवेचन रहता और उसके उदाहरणस्वरूप इन प्रदर्शनों की चर्चा होती तो बात कुछ समझ में आती। फिर हर शहर में चौंकाने वाले प्रदर्शनों के अलावा भी प्रदर्शन होते रहते हैं। यदि लेखा-जोखा ही प्रस्तुत करना है तो उनकी भी चर्चा अनिवार्य थी और प्रवृत्तियों का ज़िक्र करना था तो उनका उचित वर्गीकरण कर उनका विवेचन होना चाहिए था।

रंगमंचीय संगठन का रूप के दो पहलू हैं। एक तो यह कि इस समय उसकी अवस्था क्या है और दूसरी यह कि आदर्श रूप में उसे क्या होना चाहिए। दोनों पहलुओं से यह अध्याय हमारे काम का साबित नहीं होता। यह अध्याय तो आज़ादी के पहले ज़माने के देशभक्तिपरक लेख या भाषण जैसा प्रतीत होता है जहाँ सभी कुछ अस्पष्ट और उद्बोधक है। लेखक को यह कहना चाहिए था कि मराठी व्यवसायी रंगमंच पर लोकप्रिय नाटकों की प्रमुख भूमिकाओं के लिए अलग-अलग अभिनेताओं की फ़ीस निश्चित है और पैसा लगाने वाला सेठ अपने बजट के हिसाब से उनको इकट्ठा कर लेता है। संगीत नाटकों में बड़े-बड़े गवैयों को बुलाया जाता है और नाटक के बहाने दर्शक गाना सुनकर वापस आ जाते हैं।

नाट्य-प्रशिक्षण अपने-आपमें अच्छा लेख है। शायद आज इस बात पर सबसे अधिक ज़ोर देने की ज़रूरत है कि नाट्य-प्रदर्शन में भाग लेने वाले विभिन्न लोगों को प्रशिक्षण की आवश्यकता है क्योंकि इसे ही अभिव्यक्ति का सबसे सरल माध्यम मान लिया जाता है। उचित शिक्षा और अभ्यास के बिना कोई चित्रकार या संगीतज्ञ बनने की कल्पना भी नहीं कर सकता। लेकिन नाट्य-प्रदर्शन में भाग लेते समय शायद ही यह एहसास होता है कि इसके प्रशिक्षण की भी आवश्यकता थी। यदि यह एहसास होता तो प्रशिक्षण के अभाव में अध्ययन का सहारा लिया जाता।

लेखक ने यह उचित ही कहा है कि प्रशिक्षण का यह अर्थ नहीं कि वह प्रशिक्षार्थियों को तरह-तरह के बाह्य साधनों का मुखापेक्षी बना दे। लेकिन इस समस्या का दूसरा पहलू भी है। वह है प्रदर्शन की सभी शैलियों पर उचित अनुपात में बल! प्रशिक्षण के समय ही यह तथ्य स्पष्ट होना चाहिए कि अपने-आपमें कोई शैली अच्छी या बुरी नहीं। नाटक की आवश्यकता और सम्भावनाओं के आधार पर शैली का चुनाव होता है जो कभी-कभी दर्शकों के कारण भी सीमित हो जाता है।

नाट्यालोचन में सैद्धान्तिक पहलू की अपेक्षा थी। बल है व्यावहारिक पक्ष पर। इसलिए इतना महत्त्वपूर्ण विषय भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह गहराई नहीं पा सका है जो इसका प्राप्य है। मैं सदा-सर्वदा सिर्फ़ अंग्रेज़ी को गाली देकर समस्या का समाधान नहीं देख सकता। दैनिक पत्र चाहे अंग्रेज़ी के हों अथवा अन्य भाषा के, एक ही बीमारी के मरीज़ हैं। लोग अंग्रेज़ी पत्रों को अधिक पढ़ते हैं, यह बिलकुल दूसरी बात है।

नाट्यालोचन में प्रदर्शन के व्यक्तित्व की चर्चा अनिवार्य लगती है। उसी सन्दर्भ में प्रदर्शन के विभिन्न अवयवों के योग-दान की चर्चा भी की जा सकती थी।

राज्याश्रय, व्यावसायिकता और लोकप्रियता तथा भारतीय रंगदृष्टि की खोज दो अखबारी लेख हैं। इनसे अधिक कुछ कहना संभव नहीं लगता। बल्कि यों कहें कि पुस्तक के सुन्दर समापन का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए 'भारतीय रंगदृष्टि की खोज' इसमें शामिल कर दिया गया है। संस्कृति के व्यापक संदर्भ में ही भारतीय रंगदृष्टि की खोज संभव है।

परिशिष्ट के अंश की चर्चा यहाँ निरर्थक लगती है। बल्कि यों कहें कि परिशिष्ट का वर्गीकरण निरर्थक लगता है।

पुस्तक में कुछ बहुत अच्छे चित्र हैं।

पूरी किताब पढ़ने के बाद किताब का कोई समन्वित व्यक्तित्व सामने नहीं आता। सैद्धान्तिक, व्यावहारिक और चालू (यदि ऐसा शब्द प्रयुक्त हो सकता हो तो) सतहों पर कोई बात उभरकर सामने नहीं आती। विभिन्न अवसरों पर लिखे गये लेखों को एकत्र करने के कारण कुछ बातें बार-बार दोहराई गई हैं और कुछ की हल्की-सी चर्चा है। जैसे प्रदर्शन की शैलियाँ, दर्शक की उपलब्धि, प्रदर्शन में भाग लेने वाले विभिन्न शिल्पियों की उपलब्धियाँ और उनका स्तर आदि सैद्धान्तिक प्रश्न या तो छोड़ दिये गये अथवा दस-पाँच पंक्तियों में समाप्त हो गये। पूरी किताब पढ़ जाने के बाद भी शायद ही किसी पाठक को यह एहसास हो कि अच्छे नाटक में उसे क्या ढूंढना चाहिए और किन धरातलों पर वह संतृप्ति की आशा रख सकता है। यदि किसी नाटक में उसकी भावानुभूति आलोड़ित नहीं होती तो क्या उसे कुछ प्राप्त नहीं होता? क्या कोई नाटक सिर्फ़ बौद्धिक धरातल पर उसे झकझोरकर अपना काम पूरा नहीं कर देता अथवा उसके सौंदर्यबोध को परितृप्ति मिले तो क्या नाटक सफल नहीं कहा जाएगा और कहा जाएगा तो कितना सफल कहा जाएगा?

निरर्थक बातों के कारण पुस्तक की काया-स्फीति हो गई है। बल्कि यह कहना उचित होगा कि असंगत बातों ने धार कुन्द कर दी है और यह उचित होगा कि दूसरे संस्करण में इस पर ध्यान दिया जाए।

यही प्रवृत्ति चित्रों में भी दिखाई पड़ती है। आखिर इन चित्रों का चुनाव तो किया ही गया होगा। उसका आधार क्या रहा होगा? यदि किसी में दृश्यबन्ध बहुत ही आकर्षक हो तो इसकी चर्चा होनी चाहिए थी। यक्षगान का पात्र या तो शैली की दृष्टि अथवा रूपसज्जा की दृष्टि से देखने लायक है। इस तरह इन चित्रों का पुस्तक के कथ्य से कोई सम्बन्ध निर्धारित होता। अभी तो सिर्फ कुछ आकर्षक तस्वीरों तक ही बात खत्म हो जाती है।

फिर भी यह किताब एक बहुत बड़ी कमी को पूरा करती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह किताब रंगमंच से सम्बन्ध रखने वाले हर व्यक्ति को छेड़ेगी, जहाँ एक सवाल की ओर ध्यान खींचेगी वहीं उससे सम्बन्धित दस सवाल सामने आ जाएँगे। इस तरह नाटक को समझने, नाट्य-प्रदर्शन के मूल्यांकन और आस्वादन आदि में बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम मानना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामायनी और आधुनिक समीक्षा-दृष्टि

जगदीश शर्मा

'कामायनी' पर बहुत लिखा गया है, किन्तु गतानुगतिकता से मुक्त और परीक्षोपयोगिता से ऊपर उठी हुई समीक्षाएँ उँगलियों पर गिनी जा सकती हैं। 'मिथक और स्वप्न' से पूर्व कामायनी की समीक्षा के इतिहास में डॉ० फतहसिंह की पुस्तक 'कामायनी-सौन्दर्य' और गजानन मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कृति 'कामायनी : एक पुनर्विचार' उल्लेख्य समीक्षाएँ हैं। डॉ० नगेन्द्र की पुस्तक 'कामायनी के अध्ययन-अध्यापन की समस्याएँ' मूलतः अध्यापकीय दृष्टि का उन्मेष है और इसलिए 'परीक्षोपयोगिता' से असम्पृक्त नहीं है, फिर भी लेखक की गहन अंतर्दृष्टि के परिणामस्वरूप वह भी कामायनी की समीक्षा के क्षेत्र में एक उपलब्धि मानी जा सकती है। मेरी पुस्तक 'कामायनी का प्रतिपाद्य : मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' और 'मिथक और स्वप्न' लगभग साथ-ही-साथ प्रकाशित हुई हैं। 'मिथक और स्वप्न' उपर्युक्त उपलब्धियों से आगे कामायनी की समीक्षा को एक नया मोड़ देती है।

'मिथक और स्वप्न' शीर्षक को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत कृति को 'कामायनी की मनस्सौन्दर्य सामाजिक भूमिका' उपशीर्षक भी दिया गया है जो इस पुस्तक की समीक्षा-दृष्टि का भान कराता है। 'मनस्सौन्दर्यसामाजिक' जैसा मिश्रित शब्द हिन्दी के लिए कुछ नया है और शायद इसलिए अटपटा-सा भी लगता है, किन्तु पुस्तक पढ़ने पर उसकी सार्थकता समझ में आ जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि विषय-सामग्री और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से यह लम्बा मिश्रित शब्द बहुत व्यंजक है।

प्रस्तुत पुस्तक में डॉ० रमेश कुंतल मेघ ने तीन दृष्टि-बिन्दुओं से कामायनी का अनुशीलन किया है—(१) मनोविश्लेषणात्मक, (२) सौन्दर्यबोधपरक और (३) समाजशास्त्रीय। पुस्तक में ये तीनों बिंदु परस्पर बहुत घुले-मिले हैं। डॉ० मेघ की दृष्टि प्रधानतया समाजशास्त्रीय है और मनोविश्लेषण तथा सौन्दर्य-विश्लेषण उसके अंग-रूप में आये हैं। इसके साथ ही दार्शनिक तथा पाठालोचनात्मक दृष्टि का उन्मेष भी जहाँ-तहाँ हुआ है। अब तक कामायनी की दार्शनिक पीठिका का विवेचन प्रत्यभिज्ञा शैव-दर्शन के आधार पर ही किया जाता रहा है, किन्तु डॉ० मेघ ने उसके साथ ही वेदान्त, सांख्य और अस्तित्ववाद की दृष्टि से भी कामायनी का अनुशीलन किया है। फलतः कामायनी-विषयक चिन्तन बहुमुखी होकर प्रकट हुआ है, किन्तु ये विभिन्न दृष्टि-बिन्दु एक-दूसरे में उसी प्रकार फँसे-अटके हुए हैं जिस प्रकार 'मन· स्सौन्दर्य समाजशास्त्रीय' में विभिन्न शब्द एक-दूसरे के साथ उलझ गये हैं। परिणाम यह हुआ है कि प्रारंभिक अध्यायों को छोड़कर शेषांश में दर्शन, समाजशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र और मनोविश्लेषण एक-दूसरे में इस प्रकार गड्ड-मड्ड हो गये हैं कि पाठक के समक्ष अच्छी-खासी उलझन खड़ी हो जाती है और यदि उसमें असाधारण धैर्य तथा पुस्तक को पूरी पढ़ लेने की कटिबद्धता नहीं है तो वह प्रारंभिक अध्यायों को पढ़ लेने के उपरान्त शायद आगे नहीं बढ़ सकेगा। लेखक की दृष्टि बार-बार स्खलित होकर भटक गई है। मनस्तत्त्व पर विचार करते हुए वह दार्शनिक ऊहापोह में लग गया है, 'प्रकृति से सौंदर्य-साक्षात्कार' की तैयारी में देर तक सौन्दर्यबोध में उलझा रहा है और प्रकृति देर तक छूटी रही है, 'रूप-स्वरूप' का विश्लेषण करने जाकर मनु के प्रतीकार्थ को ले बैठा है, 'इतिहास-दर्शन की खोज' करते हुए आध्यात्मिक प्रतीकों और विचार-तत्त्व से उलझ गया है और इसके बीच ही में सौन्दर्य-विधान का विवेचन भी जहाँ-तहाँ घुस आया है। दृष्टि-स्खलन, विषयान्तर और भटकाव से पूरी पुस्तक आक्रान्त

मिथक और स्वप्न : कामायनी की मनस्सौन्दर्य सामाजिक भूमिका; लेखक—डॉ० रमेश कुन्तल मेघ; प्रकाशक—ग्रंथम्, कानपुर; मूल्य ७ रुपये, पृ० संख्या ३१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, फलतः लेखक बार-बार घूम-फिरकर कुछ निष्कर्षों को दोहराता रहा है, जैसे—कामायनी आधुनिकता से पराङ्मुख और यथार्थ का अतिक्रमण है, कामायनी मध्यकालीन बोध का काव्य है, कामायनी की अंतिम परिणति तांत्रिक है, कामायनीकार सामाजिक दृष्टि के निर्वाह में असफल रहा है, कामायनी प्रथम अस्तित्ववादी काव्य है···आदि-अदि। फांतासी, कल्पलोक, यूतोपिया, मिथक, प्रारूप विवेचन के आधारभूत शब्द हैं और इन्हीं के इर्दगिर्द अधिकांश विवेचन घूमा है।

यदि 'मिथक और स्वप्न' की पुनरावृत्तियों, भटकनों, उलझनों और आग्रहपूर्ण दृष्टि को धैर्यपूर्वक पी लिया जाए तो इस पुस्तक से कामायनी के अध्ययन के लिए नया प्रकाश अवश्य मिल सकता है। कामायनी की रचना-प्रक्रिया पर संभवतः पहली बार इसी पुस्तक में प्रकाश डाला गया है जो अपूर्णता के बावजूद महत्त्वपूर्ण है; अस्तित्ववादी दृष्टि से कामायनी की मीमांसा पहली बार इसी पुस्तक में की गयी है, कवि की सौन्दर्य-दृष्टि और सौन्दर्य-सृष्टि की सफल पकड़ भी इस पुस्तक की एक उपलब्धि है और मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि का प्रथम उन्मेष भी संभवतः इस पुस्तक में ही पहले-पहल हुआ है—मनोविश्लेषण-सम्बन्धी प्रतीकों, रंग-रुचि आदि को पकड़ने की चेष्टा की गई है। मिथक, स्वप्न, कल्पलोक, प्रारूप (मॉडल) आदि की दृष्टि से भी किसी काव्य का विवेचन पहली बार यहाँ किया गया है। फलतः विश्लेषण की शब्दावली में ताज़गी है जो समीक्षक की अत्याधुनिकता का आतंक पाठक के मन पर छोड़ने में समर्थ है।

'कामायनी' की रचना-प्रक्रिया का अनुशीलन अन्तस्तत्त्वों तथा बहिरंग उपकरणों के आधार पर किया गया है। 'कामना' और 'एक घूंट' से कामायनी का सादृश्य खोजते हुए सिद्ध किया गया है कि कामायनी की रचना एक लम्बी अन्तर्यात्रा का परिणाम है और 'कामना', 'एक घूंट' और 'कामायनी' एक ही रचनाक्रम की परिणतियाँ हैं। कामायनी की पाण्डुलिपि और प्रकाशित काव्य की तुलना कर यह प्रतिपादित किया गया है कि कामायनी की पंक्तियों पर कम-से-कम एक बार पुनर्विचार अवश्य हुआ है। इससे यह संकेत मिलता है कि कामायनी एक सुविचारित कृति है और इसलिए कामायनी में वैचारिक जागरूकता का जो स्खलन डॉ० मेघ मानते हैं, इस परिप्रेक्ष्य में उसकी सम्भावना बहुत कम रह जाती है। रचना-प्रक्रिया की अंतरंग खोज के प्रयास में डॉ० मेघ ने प्रसाद के बाल्यकाल, कैशोर्य और यौवन की कुछ स्थूल घटनाओं के आधार पर मनोविश्लेषणात्मक निष्कर्ष निकालने की कोशिश की है जिसमें वे सफल नहीं हुए हैं। मनोविश्लेषण के लिए बहुत साहस अपेक्षित है और समय की दृष्टि से इतने नज़दीकी लेखक की मनोग्रंथियों में पैठने का साहस कर कौन समीक्षक अपने को मुसीबत में डालना चाहेगा! फिर भी 'अग्निशिखा'-जैसे प्रतीकों और रंग-रुचि के लक्षणों को विश्लेषण का आधार बनाकर डॉ० मेघ ने इस क्षेत्र में जो नूतन पद-प्रक्षेप किया है वह अभिनंदनीय है। एकाध स्थान पर प्रणयातृप्ति का संकेत भी किया गया है, लेकिन इस सम्बन्ध में डॉ० मेघ कोई प्रामाणिक तथ्य प्रस्तुत नहीं कर सके हैं।

कामायनी में अस्तित्ववादी स्थितियों की गवेषणा कर लेखक ने पुराने पंडितों को चौंकाने की ज़बर्दस्त चेष्टा की है, किन्तु कामायनी में अस्तित्ववाद की गवेषणा सुदृढ आधार पर प्रतिष्ठित नहीं है। यह तो सही है कि कामायनी में अस्तित्व को अनस्तित्व की चुनौती है, अस्तित्व की सार्थकता का प्रश्न भी उठाया गया है, अस्तित्व की निरर्थकता तथा उसके खोखलेपन की अभिव्यक्ति है, अकेलेपन और आत्म-परायेपन की अनुभूति के दर्शन भी वहाँ किये जा सकते हैं, स्वतंत्रता (उच्छृङ्खलता) का स्वर बहुत प्रबल है; लेकिन क्या इस सबसे कामायनी अस्तित्ववादी काव्य सिद्ध हो जाता है? स्वयं डॉ० मेघ मानते हैं कि "प्रसाद के समय तक पश्चिमी अस्तित्ववाद का प्रभाव कतई नहीं था। प्रसाद कियर्केगार्द या सार्त्र से भी अपरिचित थे। वास्तव में जब कभी भी अमूर्त तत्त्वों और मिथकीय चिरंतनता की भूमिका पर अन्वीक्षा होती है तब जो समस्या उभरती है वह है अस्तित्व के बोध तथा घाव की। कामायनी अस्तित्ववादी बोध का पहला हिन्दी-महाकाव्य भी है।" (पृ० १७६) यदि प्रसाद ने अस्तित्ववादी प्रभाव पश्चिम से ग्रहण नहीं किया तो यह उनकी अपनी ही दृष्टि से निष्पन्न हुआ होगा। तब तो प्रसाद स्वयं प्रथम भारतीय अस्तित्ववादी दार्शनिक सिद्ध होते हैं। यह तो कम श्रेय की बात नहीं है, लेकिन ऐसा है नहीं। जिन मुद्दों को लेकर डॉ० मेघ कामायनी को अस्तित्ववादी काव्य सिद्ध करना चाहते हैं वे कामायनी के प्रतिपक्ष (एण्टी थीसिस) से सम्बन्धित हैं, पक्ष (थीसिस) से नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतएव यदि कामायनी में अस्तित्ववाद का समाहार स्वीकार कर लिया जाए तो वह उसका प्रतिपक्ष ही बन सकेगा। स्वतंत्रता (उच्छृङ्खलता) कामायनी का प्रतिमूल्य है, मूल्य नहीं। इसलिए डॉ० मेघ ने बार-बार इस बात पर जो बल दिया है कि कामायनी प्रथम अस्तित्ववादी काव्य है, वह एक बड़ी भ्रांति है।

कामायनी में व्यक्त प्रसाद की सौन्दर्य-दृष्टि को डॉ० मेघ ने अच्छी तरह पकड़ा है। परमाणु-आश्रित सौन्दर्य-बोध, 'बाह्यता से अंतर्मुखीनता में प्रवेश', 'उदात्तीकरण के चेतन आग्रह के कारण यौन-आकांक्षा पर गम्भीर मर्यादा का अवगुंठन', 'अवचेतन लोक की मुक्त उड़ान', 'दूरान्वित अनूठे सौन्दर्य-चित्रों' से समन्वित सौन्दर्य-बोध को बड़ी बारीकी से डॉ० मेघ ने पहचान लिया है। यहाँ सौन्दर्य और रमणीयता की विभेदात्मक व्याख्या का जो प्रयत्न किया गया है वह कृत्रिम और आरोपित प्रतीत होता है।

सौन्दर्य-विधान की मीमांसा करते हुए डॉ० मेघ ने काव्य-सौन्दर्य के साधक तत्त्वों को शास्त्रीय जड़ता से मुक्त रखा है। उन्होंने काव्य-सौन्दर्य के वाहक बिन्दुओं में 'एक पूर्ण सौन्दर्यात्मक प्रभाव' (टोटल ऐस्थेटिक इफैक्ट) की गवेषणा की है।

डॉ० मेघ कामायनी के सौन्दर्य-बोध और सौन्दर्य-विधान से अनुशीलन में सफल रहे हैं, उतने ही उसके सत्य—विचार-धारा—के परिज्ञान में वे असफल रहे हैं। यद्यपि उन्होंने इस बात की चर्चा बार-बार की है कि कामायनी में 'मानवता का मनोवैज्ञानिक इतिहास' प्रस्तुत करना प्रसाद का उद्देश्य था, फिर भी वे कामायनी में मानवता का मनोवैज्ञानिक इतिहास न खोजकर सामाजिक विकास का इतिहास खोजते रहे हैं और इस प्रकार कामायनी पर बलात् अपनी दृष्टि थोपने का प्रयत्न किया है। ऐसी दशा में उनकी निराशा स्वाभाविक है। सारस्वत नगर के मनोवैज्ञानिक रूपक की समाजशास्त्रीय और राजनीतिक इतिहासपरक व्याख्या से निराशा हाथ आये तो इसमें कृति की नहीं समीक्षक की असफलता है। डॉ० मेघ कामायनी को **मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास** मानने को अप्रस्तुत हैं। वे पूछते हैं—"चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, ईर्ष्या, कर्म, स्वप्न, संघर्ष आदि में कौन-सा मनोवैज्ञानिक इतिहास है?" (पृ० १५१) कामायनी के सर्गों के शीर्षक में मनोवैज्ञानिक इतिहास की खोज अवश्य ही निरर्थक है, किन्तु काव्य के भीतर वह विद्यमान है और उसका अनुशीलन भी किया जा चुका है। (द्रष्टव्य—कामायनी का प्रतिपाद्य : मनोवैज्ञानिक विश्लेषण) यदि रूपक की मनोवैज्ञानिक अर्थवत्ता को डॉ० मेघ ने आत्मसात् किया होता तो वे किलात-आकुलि के नेतृत्व में प्रजा के विद्रोह को स्वेच्छाचारी शासक के विरुद्ध जनता का विद्रोह समझने की भूल नहीं करते। इसी प्रकार त्रिपुर-दाह और कैलास-आरोहण को आधुनिकता से तांत्रिकता में पलायन मानना भी रूपक को ठीक से न समझ पाने का परिणाम है।

कामायनी में जो समाजशास्त्रीय संकेत हैं, उनका विश्लेषण भी बहुत रोचक हो सकता है और 'मिथक और स्वप्न' में कहीं-कहीं उनकी बड़ी सुन्दर व्याख्या भी की गई है। इड़ा के रूप में स्वतंत्र व्यक्तित्व-सम्पन्न, अधिकार-चैतन्य और असमर्पणशील आधुनिका का बहुत अच्छा विश्लेषण किया गया है, जो स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के आधुनिक मोड़ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, लेकिन इड़ा के प्रतीकार्थ को आधुनिका में सीमित कर देने से आगे की कथा का तारतम्य बिगड़ जाता है। स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध के मोड़ जैसे विषय कामायनी के गौण प्रश्न हैं और उनका महत्त्व केवल प्रासंगिक दृष्टि से स्वीकार किया जा सकता है। इस दृष्टि से इड़ा परकीया-सम्बन्ध का प्रतिनिधित्व भी करती है, किन्तु डॉ० मेघ ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है क्योंकि उनकी दृष्टि समाज-दर्शन से बँधी हुई है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देवासुर संग्राम का सांस्कृतिक विवेचन भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है। डॉ० मेघ ने दो-एक बार देवासुर-संस्कृति का प्रश्न उठाया तो है, किन्तु वे देवासुर-द्वन्द्व के माध्यम से संकेतित दो प्रकार की जीवन-दृष्टियों को नहीं पकड़ पाये हैं। इस प्रकार की व्याख्या उनकी पकड़ में आते-आते रह गई है।

कामायनी में काम की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण रही है और उसका स्वरूप काफी विवादास्पद भी रहा है। डॉ० मेघ ने सौन्दर्यबोधात्मक कोण से काम और रति के विविध रूपान्तरणों को अपनी दृष्टि में आँक लिया है, लेकिन काम की मनोवैज्ञानिक जटिलता में वे नहीं उतरे हैं।

डॉ० मेघ की भाषा में प्रबल अभिव्यक्ति-सामर्थ्य और दृढ़ता है, किन्तु वह एक प्रकार के रूखेपन और पांडित्यारोप से कुंठित हो गई है। डॉ० मेघ अपनी बात दूसरों को समझाना चाहते हों—ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानो वे अपना ज्ञान उँडेल डालना चाहते हों। इस आवेश में न तो उन्हें पुनरावृत्ति का ध्यान रहा है न कथ्य के क्रमिक संयोजन का। यही कारण है कि 'मिथक और स्वप्न' के परस्पर-सम्बन्धित अध्याय कहीं-कहीं बहुत दूर पड़ गये हैं जिससे विचारों की अन्विति को आघात पहुँचा है। दूरान्वय और खंडित विचार-सूत्र के परिहार के लिए लेखक को कहीं-कहीं अध्याय के अंत में सम्बन्धित अध्याय के सम्बन्ध में टिप्पणी देने को भी विवश होना पड़ा है, जो निश्चय ही प्रबंध-शैथिल्य का लक्षण है।

'मिथक और स्वप्न' में डॉ० मेघ की मनस्वितापूर्ण और पांडित्यमय उपलब्धियों से एक सीमित वर्ग लाभान्वित हो सकेगा, फिर भी इसमें उनके विपुल अध्ययन और उनकी प्रतिभा का जो प्रकाशन हुआ है, उसका मूल्य कम नहीं है और उसके नाते यह कृति शुभाशंसा की अधिकारिणी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिमय

साहित्यिक कलाकृति का स्थान-निर्धारण

लोठार लुट्से

इधर आलोचना में 'काव्य-भाषा और शैली-विज्ञान'[1] लेख छपा है। प्रस्तुत विचारों की प्रेरणा मुझे इसी लेख से मिली, इसके लिए मैं सम्पादक एवं लेखक दोनों का आभारी हूँ। मैं समझता हूँ, लेखक भाषा-वैज्ञानिक है और अब इसी कसौटी पर साहित्यिक आलोचना को कसना चाहता है। कुछ समय से मैं यह देखने में लगा हूँ कि क्या आलोचना के लिए भाषा-विज्ञान की कोई कसौटियाँ हो सकती हैं ? हम दोनों के दृष्टिकोणों में जो साम्य अथवा विरोध है उसकी पृष्ठभूमि यही है।

मैंने अपने एक लेख में साहित्य अथवा सर्जनात्मक लेखन की परिभाषा करते हुए उसे "भाषायी सामग्री की पुनर्व्यवस्था" बताया है। इस परिभाषा को आधार मानकर अब हम आगे बढ़ते हैं। 'पुनर्व्यवस्था' में 'किसी व्यवस्थित वस्तु की व्यवस्था' का भाव निहित है, प्रस्तुत संदर्भ में भाषा की व्यवस्था। 'कलात्मक' कहने से बोध होता है कि साहित्य में भाषा की पुनर्व्यवस्था का सिद्धांत 'कला' नाम की किसी वस्तु पर आधारित है। और है भी यही। एक साहित्यिक अभिव्यक्ति में एक साम्य होता है।

(क) किसी भाषायी अभिव्यक्ति से,

(ख) किसी कला-कृति से (संगीत-रचना, चित्र इत्यादि)।

और अब हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि वह बिन्दु, जहाँ भाषा और कला एक-दूसरे को काटते हुए मिलते हैं, ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का केन्द्र है।

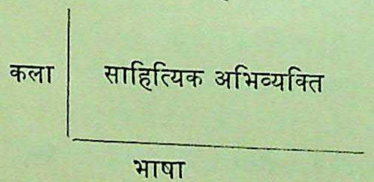

विनोग्रादोव का दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है। वह 'कलात्मक शैली' को 'भाषायी शैली' तथा 'साहित्यिक शैली' का मिश्रण मानता है।[2] जहाँ तक कोई साहित्यिक अभिव्यक्ति एक भाषायी अभिव्यक्ति है (क) वहाँ तक ज़ाहिर है कि भाषाविज्ञान इस स्थिति में होगा कि वह उसे परखे और उसी को यह करना भी होगा। यह बात हुई 'सामान्य भाषा' से 'समानता' तथा 'असमानता' के संदर्भ में : किसी साहित्यिक अभिव्यक्ति की 'विशिष्टता' का निर्धारण सम्भवतया तब तक नहीं हो सकता जब तक उसमें अन्तर्हित 'सामान्य ढाँचे' का सही पता न हो।

भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत शैली-शास्त्र ही सर्वाधिक सहायक 'स्तर' होगा, क्योंकि व्याकरण केवल व्याकरण-सम्मत को व्याकरणेतर से पृथक् करता है, जबकि शैली-शास्त्र व्याकरण-सम्मत में विकल्पों को परखता है।

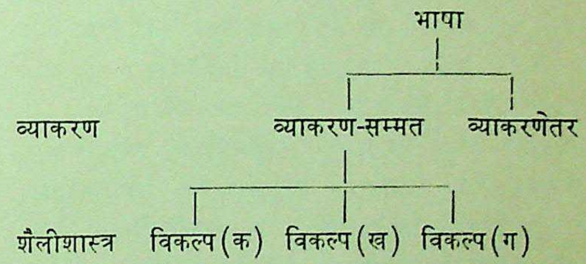

शैली विकल्प है, चाहे वह किसी विज्ञापन की शैली हो, जिसका उद्देश्य ध्यानाकर्षण होता है। चाहे किसी कानूनी मसौदे की शैली हो, जिसका उद्देश्य अस्पष्टता को दूर करना हो, और चाहे वह टी० एस० इलियट की काव्य-शैली हो। लेकिन वह क्या चीज़ है जो 'दि वेस्टलैण्ड' की शैली को विज्ञापन अथवा कानूनी मसौदे की शैली के विपरीत कलात्मक बनाती है और इस कविता को एक कलाकृति बना देती है। किसी संगीत-रचना अथवा किसी चित्र आदि (ख) से इस कविता का साम्य क्या है, और व्यवस्था के वे कौनसे सिद्धांत हैं जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी संगीत-रचना, किसी चित्र और साथ ही 'दि वेस्टलैण्ड' की शैली का निर्धारण करते हैं ? अगर हम मान लेते हैं कि ऐसे सिद्धान्तों का अस्तित्व है, तो क्या कोई साहित्यिक अथवा कोई अन्य कला-कृति सही अर्थों में 'स्वायत्त' होती है ?

इन प्रश्नों के उत्तर सम्भवतया यह स्पष्ट करेंगे कि किसी साहित्यिक अभिव्यक्ति में भाषा-विज्ञान से पृथक् क्या है और वे उत्तर हमें भाषा-विज्ञान की परिधि से बाहर उस अनुशासन की सीमा में ले जाएँगे, जिसे हम अन्य किसी बेहतर संज्ञा के अभाव में सौंदर्य-बोध कहते हैं। अन्य कहीं के भी अतिरिक्त साहित्यालोचन के लिए इसी क्षेत्र में अधिक काम करने को पड़ा है : सौंदर्य-बोध की बहुत-सी परम्परागत धारणाओं को फिर से परखने की आवश्यकता है। यदि एक व्याप्त अस्पष्टता से बचना है, तो नये उपाय सोचने होंगे। सूचना-सिद्धान्त के आधार पर साहित्यिक कलाकृतियों की आँकड़ायी 'नापजोख' तो केवल एक श्रीगणेश है।[3]

१. रवीन्द्र श्रीवास्तव, 'काव्य-भाषा और शैली-विज्ञान', आलोचना ४२, अप्रैल १९६८, पृ० ११-२०।

२. वही, पृ० १८।

३. एच० जे० क्योलराइटर, डायलाग, ६०, नयी दिल्ली, पृ० ८०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखकों द्वारा बलात्कार

यशदेव शल्य

इधर कुछ वर्षों से हिन्दी की पत्रिकाओं में, ऐसी पत्रिकाओं में भी जिनसे उच्च स्तर की अपेक्षा की जानी चाहिए, ऐसे लेख प्रकाशित हो रहे हैं जिनकी भाषा देखकर मन वित्रस्त हो उठता है। इसका कारण सभी अवस्थाओं में मैंने एक ही पाया है, और वह यह कि लेखक इंगलिश में कुछ पढ़कर उसे बिना समझे हिन्दी में लिखकर प्रतिष्ठालाभ के लिए उतावले रहते हैं। किन्तु इसमें दोषी केवल वे ही नहीं हैं, सम्पादक भी उतने ही दोषी हैं, क्योंकि निरर्थक, या अशुद्ध भाषा वाले, लेख उनकी पत्रिकाओं में प्रकाशित होने का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। मुझे ऐसा लगता है कि सम्पादक लोग ऐसी अवस्थाओं में अधिकांशतः समझते हैं कि यदि उन्हें लेख समझ में नहीं आ रहा है तो अवश्य ही कोई बहुत गंभीर तत्त्व की बात उसमें होगी। इस प्रकार के 'गम्भीर' लेखों की इधर बहुत अधिक बहुतायत है, किन्तु ऐसे लेखों में मूर्धन्य श्री रमेश कुंतल मेघ के लेख हैं। एक बार माध्यम के सम्पादक महोदय को मैंने उस पत्रिका में प्रकाशित श्री मेघ के लेख "भारतीय बुद्धिजीवियों का आत्मपरायापन" के प्रकाशन के विरोध में एक व्यक्तिगत पत्र लिखा था और इस बात पर खेद प्रकट किया था कि 'माध्यम' जैसी पत्रिका में ऐसी भाषा को स्वीकृति दी जाती है। किन्तु उसका कुछ असर दिखाई नहीं दिया। उसके बाद आलोचना में उनके, कुछ और महाशयों के भी, लेख देखे। अब इधर आलोचना के ही जून १९६८ अंक में उनका एक और लेख आया है और यह "दुर्भाग्यपूर्ण दिशा में निरन्तर प्रगति" का द्योतक है। यदि 'आलोचना' जैसी पत्रिका में भी यह सब संभव है तब हिन्दी के भविष्य के सम्बन्ध में आँख-कान बन्द कर बैठा जा सकता है। किन्तु सोचता हूँ, एक बार 'सोर्ध्व बाहु विरोदन' कर देखूँ, यदि इस बेचारी भाषा और इसके बेचारे पाठकों के प्रति कोई दया करने को तैयार हो जाए। संकोच केवल यही था कि श्री मेघ मेरे स्नेही मित्र हैं और उन्हीं को मैं उदाहरण रूप में रखने को बाध्य हूँ। किन्तु इस स्थिति के कष्टकर होने के बावजूद मैंने अपने को कर्त्तव्य-कर्म के लिए तैयार किया है। आश्चर्य और खेद की बात यह है कि अन्य किसी ने इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाई है।

क्योंकि अन्य बहुत-से लेखक ऐसी गड़बड़ करते हैं और क्योंकि श्री मेघ के उन सब लेखों में ये दोष हैं जो मैंने इधर देखे हैं, इसलिए मैं केवल उदाहरण के रूप में आलोचना के जून १९६८ अंक में प्रकाशित उनके लेख 'साधारणीकरण का द्वन्द्व न्याय' के केवल प्रथम पृष्ठ की ही आलोचना करूँगा।

यहाँ सर्वप्रथम यह द्रष्टव्य है कि श्री मेघ हिन्दी के अध्यापक हैं, इस लेख में चर्चा का विषय भी भारतीय विचार-सम्बन्धी ही है, किन्तु तब भी शायद ही कोई पारिभाषिक शब्द इस लेख में, या उनके अन्य लेखों में भी, हो जिसको इंगलिश के किसी शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया हो। मानिये हिन्दी स्वयं कुछ व्यक्त नहीं कर सकती।

अब इन शब्दों को देखिये—श्री मेघ ने 'मैटाफ़िज़ीकल' शब्द के लिए 'आधिभौतिक' पर्याय का प्रयोग किया है। 'आधिभौतिक' का अर्थ होता है भौतिक प्रपंच-सम्बन्धी, और 'मैटाफिज़ीकल' का इससे दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु इस ग़लती का कारण एक गहरा अज्ञान है। 'मैटाफिज़ीकल' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है "फ़िज़िक्स (अर्थात् द्रव्य भूत विषयक सिद्धान्त) से ऊपर या उपरान्त।" इस शब्द का प्रयोग कुछ इसी अर्थ में अरस्तू की कृतियों के एक सम्पादक एंड्रोनिक्स ने ई० पू० ७० में अरस्तू के साहित्य के कुछ अंश के लिए किया था। किन्तु बाद में यह शब्द उस प्रकार की दार्शनिक चर्चा के लिए रूढ हो गया जिस प्रकार की चर्चा अरस्तू के इस साहित्य में की गयी थी। इस तरह से अब यह शब्द रूढार्थ में ही प्रयुक्त होता है यौगिक अर्थ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। इसी अर्थ में यह श्री मेघ के वाक्य में उपयुक्त हो सकता है, यदि हो तो, किन्तु श्री मेघ को अपने वाक्य का अभिप्राय ज्ञात नहीं है, इसलिए उन्होंने इस शब्द के यौगिक अर्थ का हिन्दी पर्याय देने का प्रयत्न किया। किन्तु हिन्दी शब्द का वह अर्थ भी नहीं है। इस ग़लती का कारण यह है कि श्री मेघ ने समझा कि 'अधि' उपसर्ग का अर्थ अतिक्रमण होता है, जोकि नहीं होता, यदि होता भी, तो भी एक उपसर्ग शब्द-भेद के साथ भिन्न अर्थ देता है। अतिक्रमण के लिए अति उपसर्ग का उपयोग होता है, जैसे 'अतीन्द्रिय' में। इस प्रकार से यहाँ 'अतिभौतिक' शब्द उपयुक्त होता। फिर 'आधिभौतिक' बहुत प्रचलित शब्द है। श्री मेघ ने सांख्य की चर्चा की है, उसी में यह भौतिक प्रपंच-जन्य ताप के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'मैटाफिज़िक्स' के लिए उपयुक्त हिन्दी पर्याय है 'तत्त्वमीमांसा'। किन्तु दुर्भाग्यवश श्री मेघ के वाक्य में 'मैटाफिज़ीकल' शब्द किसी भी अर्थ में अप-प्रयुक्त है, क्योंकि मध्ययुगों के दृष्टिकोण को 'मैटाफिज़ीकल' या 'तत्त्वमीमांसात्मक' कहने का कुछ अर्थ नहीं है, आप उसे धार्मिक कह सकते हैं, अधिक-से-अधिक आध्यात्मिक कह सकते हैं, 'मैटाफिज़ीकल' कैसे कह सकते हैं? यह कौन-सा दृष्टिकोण होता है?

ऐसी ही अज्ञता का द्योतन 'फिनोमिना' के लिए 'संघटना' और 'यूनीवर्सल' के लिए 'वैश्वक' पर्यायों में हुआ है। 'संघटना' शब्द मेघजी 'घटना' से बना रहे हैं किन्तु 'संघटना' का अर्थ रचना-प्रकार, निर्माण, कंपोज़ीशन होता है। पुनः 'फिनोमिना' के अनेक अर्थ हैं जिनमें एक अर्थ घटना, अधिकांशतः महान् या महत्त्वपूर्ण घटना, होता है। मेघजी के इस वाक्य में यह अर्थ नहीं है, यहाँ यह 'नौमिना' (निरपेक्ष सन्) के विपरीतार्थक के रूप में अभिप्रेत है, इसलिए इसका हिन्दी पर्याय होना चाहिए 'प्रतिभास'। किन्तु इस अभिप्रेत अर्थ में भी यह शब्द (फिनोमिना या प्रतिभास शब्द) अपप्रयुक्त है। क्योंकि 'मैटाफिज़ीकल' फिनोमिना (मेघजी की पदावली में, आधिभौतिक संघटना) क्या होता है, यह तो वदतोव्याघात ही है, क्योंकि मैटाफिज़िक्स फिनोमिना के पीछे नौमिना का स्वरूप बताने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार से 'वैश्वक' शब्द में घपला है। पहले तो 'वैश्वक' कोई शब्द ही नहीं है, 'वैश्व' शब्द होता है, दूसरे 'यूनीवर्सल' का यह अर्थ नहीं है। 'वैश्व' का अर्थ है विश्व-सम्बन्धी, जबकि 'यूनीवर्सल' के दो अर्थ हैं और एक भी अर्थ 'विश्व-सम्बन्धी' ऐसा नहीं है। ये अर्थ हैं किसी विशेष देश-काल से निरपेक्ष-सर्वतोपलब्ध, इसके इस अर्थ में इसका पर्यायवाची 'सार्वभौम' शब्द है और दूसरे अर्थ में पर्यायवाची 'जाति' और 'सामान्य' शब्द हैं। श्री मेघ के वाक्य में यह पर्टिकुलर (विशिष्ट) के विपरीतार्थक के रूप में प्रयुक्त होने से इसका हिन्दी पर्याय 'जाति' या 'सामान्य' होना चाहिये था।

दूसरी कोटि उन शब्दों की है जो दिये गए या अभिप्रेत इंगलिश शब्दों के सही पर्याय हैं, किन्तु अन्यथा अशुद्ध हैं। ये हैं 'चक्राक', 'रेखाक', 'अन-देशिक', 'अन-कालपरक' तथा 'भाषिकीय'। ये क्रमशः होने चाहिए, 'चक्रिक', 'रैखिक' या 'रेखीय', 'अ-दैशिक' और 'अ-कालिक' तथा 'भाषीय'। उनके पहले ही वाक्य में प्रयुक्त 'स्व-युगीन' अनुपयुक्त शब्द है, यहाँ या तो 'उस युग की' होना चाहिए या इस युग की, जो भी लेखक को अभिप्रेत हो। 'स्वयुगीन' इस प्रकार के वाक्य में प्रयुक्त होना चाहिए : 'कोई भी व्यक्ति स्वयुगीन...' क्योंकि 'स्वयुगीन' का अर्थ 'अपने युग की' होता है, इसकी अनुपयुक्तता श्री मेघ के वाक्य में इस पद को 'अपने युग की' पद से स्थानान्तरित करके देखी जा सकती है।

किन्तु बात यहीं तक समाप्त नहीं होती, मेघजी सांख्य में 'त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति के कारण' द्वन्द्व-न्याय देखते हैं। उन्होंने शायद समझा कि थीसिस, एंटीथीसिस और साइंथीसिस क्योंकि तीन हैं और इसी प्रकार से 'सत्त्व, रज और तम' भी तीन हैं, इसलिए सांख्य में द्वन्द्व-न्याय है। अब ऐसी दार्शनिक सूझ पर आगे चर्चा व्यर्थ है। इसी दार्शनिक सूझ के आधार पर लेख का शीर्षक रखा गया है। इससे और उपरोक्त अन्य निरर्थकताओं से यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि लेखक कोई लेख नहीं लिख रहा है, उसके वाक्य तक वास्तव में वाक्य नहीं हैं, वाक्याभास हैं, शब्द तक निरर्थक हैं। ऐसी स्थिति में वह यदि केवल ध्वनि-संकेतों से पृष्ठ नहीं रंग रहा है तो और क्या कर रहा है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079550

एक गुमराह बोध की दुर्भाग्यपूर्ण दिशा

रमेश कुंतल मेघ

उपर्युक्त टिप्पणी में मेरे मित्र यशदेव शल्य ने मुझे माध्यम बनाकर आधुनिक लेखन की एक व्यापक पहेली तथा चुनौती के बावत सवाल उठाया है। आधुनिक लेखन का वाक्य-विन्यास तथा शब्द-निर्माण कैसा हो ? जब 'सामान्य हिन्दी' और 'अच्छी हिन्दी', 'कार्यालयी हिन्दी' और 'व्यावहारिक हिन्दी' आदि के भी बहुरूप उभर रहे हैं तो यह भी आवश्यक है कि कम-से-कम एक ओर मानक शब्दकोश स्वीकृत हों तो दूसरी ओर संप्रेषण के लिए केवल अर्थ की केंचुल से ही न चिपटा जाए।

पूर्व-परम्परा में शब्द के सम्बन्ध मूलरूपेण 'अर्थ' से ही जोड़े जाते रहे हैं। आज शब्द को 'कर्म' से भी जोड़ा जाता है। अतएव केवल व्युत्पत्तिपरक अथवा रूढ अर्थों से अब काम नहीं चलेगा, बल्कि अभिप्राय, तात्पर्य, प्रयोजन आदि को मुख्यरूपेण लेना पड़ेगा।

एक सरल बात है कि भाषा प्रयोग-मूलक है। इसमें वस्तु और उसका **युगीन** 'बोध' संयुक्त रहेगा। वस्तु और बोध का संयोग ही शब्द को **सार्थक** शब्द बनाता है। शल्य को दोहरी शिकायत है कि 'निरर्थक' या 'अशुद्ध' भाषा वाले लेख इसलिए प्रकाशित हो रहे हैं कि हिन्दी के नये लेखक इंगलिश में कुछ पढ़कर और हिन्दी में उसे बिना समझे लिख-कर प्रस्तुत करते हैं; और सम्पादक भी बेसमझी से ऐसे बेचारे लेखों को गम्भीर और तात्त्विक समझकर छाप देते हैं। मैं अपनी विशेष कैफ़ियत पेश नहीं करना चाहता, क्योंकि आधु-निक भाषा की खोज में मैं स्वयं बेहद आत्मयंत्रणा से इसलिए गुज़रता हूँ कि मैं रस, रीति, भक्ति जैसे मध्यकालीन क्षेत्रों की आधुनिक सामाजिक व्याख्याएँ करता हूँ। मुझे स्वयं यह कठिनाई महसूस होती है कि अंग्रेज़ी पुस्तकों में जो संस्कृत शब्दावली अनूदित होती है वह भी केवल अभिप्राय का संकेत कर पाती है, अर्थाभिव्यक्ति नहीं। इसलिए मुझे यह लगता है कि प्रधानतः आधुनिक भाषा-प्रयोग (जिसे विटगेंस्टाइन 'भाषाक्रीड़ा' कहते हैं) ही इस निरर्थकता, तत्त्वहीनता और बेचारेपन को दूर कर सकता है। शब्द-प्रयोगों में मेरी त्रुटि या सीमाएँ हैं। उन्हें मैं स्वीकार करता हूँ। लेकिन इसकी वजह मानक शब्दकोषों की कमी तथा साहित्येतर हिन्दी में लिखे गये लेखों की विरलता भी तो है।

पूर्ण अर्थ का ज्ञान शब्दों से नहीं, पूरे वाक्य से होता है। शब्दार्थ 'वस्तु' के बजाय तथ्य (की यथार्थता) का 'बोध' कराता है। यह **बोध** वस्तु का निर्देश करता है, तथ्यों का ज्ञापन करता है, भावों को आविर्भूत करता है तथा कर्म में प्रेरित भी करता है। शल्य दर्शनक्षेत्र के विद्वान हैं। अतः वे 'निर्देशी भाषा' के व्यवहार करने वाले हैं। वे शब्द के अर्थ-बोधन की सीमा को यदृच्छया जकड़ रहे हुए लगते हैं। जो आक्षेप उन्होंने लगाये हैं वैसे ही उन्नीसवीं शती में ब्रजभाषा के रसिक खड़ी बोली को उर्दू-ए-मुअल्ला होने का लगाते थे; अथवा महावीरप्रसाद द्विवेदी के खेमे के लोग 'छायावादी' भाषा पर लगाते थे। अब आधुनिक लेखन में अगर नये शब्दों को लेखक गढ़ते हैं तो वे आधुनिकताशास्त्र रचने के लिए अथवा 'बलात्कार करने के लिए' मुजरिम हैं; और अगर पुराने शब्दों के रूढार्थ से चिपकते हैं तो मध्यकालीन, एके-डेमिक, जड़भरत आदि उपाधियों से विभूषित होते हैं। हम केवल यही कह सकते हैं कि ज्ञात अभिधार्थ के सहारे हम नये अभिधार्थ का ज्ञान करें—इसके लिए नये शब्द के व्यवहार के प्रति लचीले बनें। आज भाषा का सम्बन्ध केवल अर्थ से ही नहीं, बल्कि अर्थोत्तर अभाष अनुभव और अर्थोपरान्त कर्म से भी है। इसलिए आज शब्द के तात्पर्य ज्यादा जरूरी हैं। इसके द्वारा ही भाषा के अभिधेयार्थ से सम्बन्धित मिथकीय अर्थांतरों की ओर बढ़ा जा सकता है। यह आक्षेप बेहद दकियानूस होगा कि 'इधर कुछ वर्षों से' केवल इंगलिशपठन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का 'निरर्थक एवं अशुद्ध भाषा में' अनुवाद-मात्र हो रहा है।

पत्रलेखक ने उदाहरण के लिए मेरे द्वारा व्यवहृत तीन शब्दों को लिया है—मेटाफ़िज़िक्स, यूनिवर्सल और फिनोमिना'। उन्हें इनके हिन्दी पारिभाषिकों से आपत्ति है। हो सकता है कि यह ज्यादा ग़लत न हो। किन्तु इस स्थिति के लिए मानक शब्दकोश तथा उनके अनिवार्य प्रचलन की भी कमी है। तथापि अगर हम आधुनिक समाजशास्त्र तथा मानविकी ज्ञानों का इस्तेमाल करेंगे तो हमेशा ही प्राचीन शब्दों के अर्थ के यथार्थ में, बोध के तथ्य में, और शब्द के सत्य में दूरी होगी। जब उन्हें दूसरे सांस्कृतिक पैटर्न के दर्शन के प्रकरणों में रखेंगे तब तो उनके अर्थबोध विचित्र भी हो सकते हैं। फिर भी भाषा-क्रीड़ा अपनी बात पूरी कह देती है। भाषा-क्रीड़ा का प्रमुख स्रोत 'रूपक' हैं जो काव्य, दर्शन और विज्ञान—तीनों को एक उद्गम से जोड़ देते हैं। इसीलिए सभी मध्यकालीन चिन्तनों में मूर्तिपूजा से लगाकर रहस्यवादी ध्यान तक के अनुभव मिलते हैं; और उनके लिए विभिन्न सांस्कृतिक प्रतीक भी। हमारा चिंतन भी कुछ सामान्यताओं तथा विशिष्टताओं के अन्तवर्गों से द्वन्द्वपूर्ण है। इसलिए यहाँ भी नये अनुभवों तथा ज्ञान को 'शक्तियों', 'न्यायों' और 'रूपकों' द्वारा ही संप्रेषित किया गया है। हमने भी एक परम्परा का ही पालन किया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'मिथ' के लिए 'मिथक', 'लीजेंड' के लिए 'निजंधर', 'एलीगरी' के लिए 'अन्यापदेश', 'एब्नार्मल' के लिए 'अवर्नमिल' शब्द गढ़े हैं; नंददुलारे वाजपेयी ने अभिनवगुप्तसम्मत 'व्यक्ति' को 'व्यक्तित्व, अर्थात् पर्सनेलिटी के अर्थ में टकसाली बना दिया था। अतः अच्छी हिन्दी के साथ हमें आधुनिक जीवन के व्यवहारों तथा अनुभवों का वहन करने वाली सम्भवा-हिन्दी भी तो चाहिए। वह हिन्दी व्याकरण से तो बनेगी ही, किन्तु सृजनात्मक अनुभवों तथा तुलनात्मक ज्ञान से भी बनेगी। स्पष्टतः तब नवनिर्मित शब्द—ऐतिहासिक अर्थमीमांसा के कारण—अपनी तत्त्वमीमांसा से दूर चले जाएँगे। ऊपर के कुछ उदाहरण हमने दिये ही हैं।

मैं एक-दो और मिसालें देता हूँ अपनी आत्मयन्त्रणा को प्रकट करने के लिए। अंग्रेजी में 'psyche' शब्द है। इसके लिए 'अन्तःकरण' और 'मनस्तत्व' का व्यवहार किया गया। मुझे ये अधूरे और एकांगी लगे। अतः मैंने 'चिति' का प्रयोग शुरू किया। अंग्रेज़ी में function, act, action, activity, work, labour आदि हैं। भेद करने के लिए मुझे अर्थ रूढ़ करने पड़े; क्रमशः प्रकार्य, कृत्य, कर्म, क्रियात्मकता, काम, तथा श्रम ग्रहीत हुए। शब्दों की रचना ध्वन्यर्थव्यंजक भी होती है। अतः मैंने panoramic के लिए 'पाणिवृत्तीय' और 'kaleidescopic' के लिए 'कलादशकोणीय' भी टकसाली बनाये। अगर यह न किया जाए तो कब तक इन्तज़ार हो और लिखने में रघुवीर, बुल्के, रामचन्द्र वर्मा के कोशों के कितने पारिभाषिकों में से चुनाव किया जाए? फिर भी मैं मानक पारिभाषिकों के हक में अपने तात्पर्यव्यंजक शब्दों को कम ठीक मानता हूँ। पत्रलेखक ने मेरे जिन तीन शब्दों को लेकर 'वितण्डावाद' उठाया है वहाँ ऊहापोह भी है: metaphysical' 'अतिलौकिक' भी है; 'अतिभौतिक' भी। मैंने 'आधि' उपसर्ग लगाया है और आधि श्रेष्ठ, बड़ा, अतिरिक्त का द्योतक है। 'universal' के लिए 'वैश्वक' शब्द बनाने में सार्वत्रिक तथा सार्वभौम के अर्थ में देश के साथ काल निरपेक्ष्यता का समावेश लक्षित रहा है। 'phenomena' के लिए 'सं-घटना' ठीक है क्योंकि मम्मट ने संरचना (गुंफ) में रसधर्मी गुणों के चमत्कार के भी समावेश के लिए इसे इस्तेमाल किया है। मैंने इसे 'सं+घटना' के अर्थ में लिया जो 'phenomena' के नज़दीक है। जहाँ तक सांख्य या साधारणीकरण से 'द्वन्द्वन्याय' (dialectics) की स्वीकृति की बात है; वह वेतुकी है। द्वन्द्वन्याय एक वैज्ञानिक पद्धति है जो केवल सांख्य पर ही नहीं, वेदान्त और न्यूक्लिअर भौतिकशास्त्र पर भी लागू हुई है। इसे अस्वीकार करना मानो न्यूटन के पहले गुरुत्वाकर्षण के नियम की ही अस्वीकृति होगी; मानो न्यूटन ने इसका अन्वेषण न करके माया-निर्माण किया हो।

इसीलिए हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि अगर शल्य को 'कुछ वर्षों से हिन्दी पत्रिकाओं' में छपे लेखों की भाषा से आपत्ति है तो वे वैयाकरण और दार्शनिक दृष्टिकोणों से ही इस भाषा-संकट को न देखें। अगर वे यह मानते हैं कि उक्त लेखन इंगलिश में कुछ पढ़कर उसे बिना समझे हिन्दी में लिखकर प्रतिष्ठालाभ का 'उतावलापन' है तब तो वे भी बेहद संकीर्ण, कठमुल्ले अन्धपरम्परावादी और शंकराचार्य के मठ के भाष्यकार होते जाएँगे, और आधुनिकताबोध को 'अभारतीय' अथवा 'अमौलिक' कहकर त्याज्य बताते रहेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकादेमी के नए प्रकाशन

समसामयिक हिन्दी साहित्य

इस ग्रन्थ में स्वतन्त्रता के उपरान्त १९४७ से १९६० के हिन्दी साहित्य की बहुविध प्रगति एवं विकास का सर्वांगीण और सर्वतोमुखी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसके सम्पादक हैं हरिवंशराय बच्चन, नगेन्द्र और भारतभूषण अग्रवाल। इस ग्रन्थ के महत्त्व का कुछ परिचय अध्यायों के शीर्षकों और उनके लेखकों के नामों से मिल जायगा : परम्परा : डा० श्रीकृष्णलाल; परिवेश : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; कविता : डा० शम्भूनाथसिंह; उपन्यास : डा० रणवीर रांग्रा; कहानी : डा० लक्ष्मीनारायणलाल; नाटक : डा० सुरेश अवस्थी; आलोचना : डा० बच्चनसिंह; समीक्षात्मक निबन्ध : डा० सुरेशचन्द्र गुप्त; ललित निबन्ध : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी; अन्य गद्य-विधाएं : डा० रमेश कुंतल मेघ; ज्ञान का साहित्य : श्री महेन्द्र चतुर्वेदी। डिमाई साइज के ४२४ पृष्ठ। मूल्य १०.००।

चुनी हुई सिन्धी कहानियाँ

इस पुस्तक में सिन्धी भाषा के २६ प्रमुखतम कथाकारों की चुनी हुई कहानियों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। इन कहानियों में पुरुष की बेवफ़ाई, स्त्री-शिक्षा, लड़कियों का नौकरी करना, सिन्धी लोगों के विस्थापन से पूर्व तथा पश्चात् की सिन्ध की परिस्थितियों और शरणार्थी-कैम्पों के जीवन का यथातथ्य अंकन देखने को मिलता है। पुस्तक का सम्पादन गोविन्द माल्ही और कला रीझसिंघानी ने किया है और अनुवादक हैं मोतीलाल जोतवाणी। क्राउन साइज़ के २१० पृष्ठ। मूल्य ६.५०।

प्रोफ़ेसर

मलयालम के प्रख्यात साहित्यकार जोसेफ़ मुण्डश्शेरी एक समीक्षक के रूप में जाने-माने जाते हैं। इस उपन्यास में उन्होंने केरल के शिक्षकों की जीवन-चर्या की झाँकी प्रस्तुत की है। क्योंकि वे स्वयं भी शिक्षक हैं, अतः आत्मानुभूत सत्य की चरम परिणति इस उपन्यास में दृष्टिगत होती है। भारत के एक महत्त्वपूर्ण, किन्तु उपेक्षित वर्ग की यह मार्मिक कहानी हमारे पाठकों को अवश्य ही प्रभावित करेगी। इसका अनुवाद श्री सुधांशु चतुर्वेदी ने बड़ी ही प्रांजल भाषा में किया है। क्राउन साइज़ के ८४ पृष्ठ। मूल्य ३.५०।

रवीन्द्रनाथ की कविताएँ

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की १०१ चुनी हुई कविताओं के इस संकलन का हिन्दी अनुवाद क्रमशः हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामधारीसिंह 'दिनकर', हंसकुमार तिवारी और भवानीप्रसाद मिश्र ने किया है। प्रारम्भ में प्रो० हुमायुन कबिर की विस्तृत भूमिका में कवि के रचना-सौष्ठव का सम्यक् परिचय दिया गया है। डिमाई साइज़ के ३३६ पृष्ठ। मूल्य १२.००।

पंजाबी कवितावली

श्रीमती अमृता प्रीतम द्वारा सम्पादित और श्री हरिवंश द्वारा अनूदित इस ग्रन्थ में तेरहवीं शताब्दी के कवि सन्त फ़रीद से लेकर आज तक के लगभग १०० पंजाबी कवियों की चुनी हुई कविताएँ संकलित की गई हैं। इसकी रचनाओं में जहां पंजाब के जन-जीवन के विभिन्न पक्षों की झाँकी देखने को मिलती है वहाँ लोक-गीतों में वहाँ के निवासियों की मस्ती, अल्हड़ता, प्रेम-परायणता और सहज विनोदप्रियता के भी दर्शन होते हैं। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता और उपादेयता इसी से सिद्ध हो जाती है कि ग्रन्थ की सम्पादिका ने अपनी भूमिका में पंजाबी कविता की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करके उसका संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया है। डिमाई साइज़ के ४४० पृष्ठ। मूल्य १२.००।

प्राप्ति-स्थान :

साहित्य अकादेमी

रवीन्द्र भवन, ३५, फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्वपूर्ण आलोचना ग्रन्थ

केशव का आचार्यत्व

डा० विजयपालसिंह,
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय

२०.००

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में जिन कलाकारों ने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व की भी पदवी प्राप्त की, उनमें केशव का स्थान सर्वोपरि है। डी० लिट् के लिए स्वीकृत इस शोध-प्रबन्ध से केशव के पूर्ववर्ती, परवर्ती और समकालीन काव्य परम्पराओं की विशद पीठिका पर उनके स्वरचित ग्रन्थों के आधार पर उनके आचार्यत्व का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। सभी पुस्तकालयों तथा साहित्य के अध्येताओं के लिए संग्रहणीय।

बच्चन का परवर्ती काव्य
डा० श्यामसुन्दर घोष — ६.००

हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य
डा० भास्करन नायर — १५.००

हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन
डा० जी० सुन्दर रेड्डी — ४.००

हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन
डा० एस० एन० गणेशन — १५.००

आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली
डा० रांगेय राघव — १०.००

हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास
डा० दशरथ ओझा — १२.००

संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद
डा० देवेन्द्रकुमार — १३.००

काव्य में उदात्त तत्व
डा० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन — ३.००

समीक्षा शास्त्र डा० दशरथ ओझा — ६.००

तुलसी और उनका काव्य रामनरेश त्रिपाठी — १०.००

तुलसीदास : चिंतन और कला
डा० इन्द्रनाथ मदान — ६.००

केशव और उनका साहित्य
डा० विजयपाल सिंह — १५.००

कवियों में सौम्य संत : सुमित्रानन्दन पन्त
डा० हरिवंशराय बच्चन — ५.००

आज का भारतीय साहित्य, सं०
साहित्य अकादमी — ८.००

राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(67)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri